इस सनातनधर्मोद्धार के, लिखवाने में जिस विख्यात महाशय ने सहायता (लेखकों का वेतन, कागज, स्याही दो चार मुद्रितपुस्तक) दी थी और छपाने में जिन मेरे सुहृद् देशीय धर्मानुरागी महाशयों ने सहायता दी है, उन को शतशः धन्यवाद दे कर उन की नामावली को सहर्ष प्रकाशित करता हूँ।

१०८
२/२७

(१) श्रीमान् पं० माननीय मदनमोहन मालवीय, श्रीप्रयाग
(२) श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य, श्रीस्वामी जगदीशानन्दगिरि जी महाराज,
(३) श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य, श्रीस्वामी रामकृष्णानन्दगिरिजी महंत बाघंबरी, श्रीप्रयाग।
(४) श्रीमान् हरिबंशप्रसाद त्रिपाठी, मौ० रामपुर जि० गोरखपुर।
(५) पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रधानाध्यापक इ० सी हाई-स्कूल—खुर्जा-जि० बस्ती।
(६) श्रीमान् महाबीरप्रसाद शुक्ल, मौ० संपही जि० बस्ती।
(७) बाबू महादेवप्रसाद गुप्त, मैनेजर गोरखपूरबैंक।
(८) श्रीमान् बाबू सरयूप्रसाद पांडे, मौ० कोटिया, जि० बस्ती।
(९) श्रीमान् बाबू जगतबहादुरसाहि, मौ० डुमरिया, जि० चंपारन।
(१०) पं० श्रीहरिहरकृपाल द्विवेदी, प्रधानाध्यापक तनसुखराय-पाठशाला-पटना।
(११) श्रीमान् नागेश्वरप्रसाद मिश्र, बांसी-जि० बस्ती।
(१२) श्रीमान् बाबू उत्तमश्लोकराव, मौ० साहिजनवा. जि० गोरखपूर।
(१३) श्रीमान् रामकृष्णशुक्ल, मौ० बनगाईं जि० बस्ती।
 प्र. स्वामीनाथशुक्ल
(१४) पं० श्रीव्रजमोहन पाठक, मौ० सिसवा जि० बस्ती।
(१५) पं० श्रीरमाकान्त मिश्र, मौ० देवघाट जि० गोरखपूर।
(१६) पं० श्रीबच्चूराम द्विवेदी, द्वारपण्डित राजापड़रौना जि० गोरखपूर।
(१७) बाबू आदित्यप्रसाद वकील, बसन्तपूर, गोरखपूर।

PART II.

Minor objections answered

॥ श्री ॥

॥ सनातनधर्मोद्धार के सामान्यकाण्ड के द्वितीयखण्ड की विषयसूची ॥

पूर्वार्द्ध द्वितीयखण्ड ।

क्षुद्रोपद्रवविद्रावण २ प्र. अर्थात् वेद की स्वतःप्रमाणता पर दुर्बल २ विरुद्धमतों की समालोचना ।

परिखापरिष्कार ४ प्र. अर्थात् वेदरूपी किले की, स्मृति, सदाचार, आत्मतुष्टि, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद, रूपी ७ खाइयों में से प्राथमिक ३ का जीर्णोद्धार ।

परिखापरिष्कार ४ प्रकरण और धर्मप्रमाणप्रामाण्यनिरूपणरूपी पूर्वार्द्ध की समाप्ति

❀ श्रीः ❀

॥ सनातनधर्मोद्धार के सामान्यकाण्ड के द्वितीयखण्ड का शुद्धिपत्र ॥

॥ पूर्वार्द्ध द्वितीयखण्ड ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४११	१	विद्रावयाम्यव	विद्रावयाम्यत्र
,,	२९	आवृत्स	आवृत
४१५	४	प्रभृत्पवासीत्	प्रभृत्येवासीत्
,,	२४	मूल प्रकृति	मूलप्रकृति
४१६	१०	हाता	होता
,,	,,	ह	है
,,	२३	ह	है
४१८	१३	करता ह वैस	करता है वैसे
,,	३३	कही ह	कही है
४१९	१४	प्रमाणिक	प्रामाणिक
४२२	१३	दोप	दोष
,,	१९	सा	सो
४२३	३१	लिखान	लिखा
४२४	२९	सहेब	साहेब
,,	३१	द्वापरयु	द्वापरयुग
,,	३२	बेदवह्य	बेदवाह्य
४२६	११	यज	यजुष
,,	२८	आर	और
४२७	९	भमवती	भगवती
४२८	१	पूबमुपपादित्वाप्प- किंच। तं	पूर्वमुपपादित- त्वाच्च। किञ्च। तानि।
,,	२	पादुव्यवस्थाख्योक्त	पादव्यवस्थारूपोक्त
,,	३	लुप्तशिष्ठा	लुप्तशिष्टा
,,	६	एब	एव
,,	११	अहोस्वित्	आहोस्वित्
४२९	३	स्वयमेच	स्वयमेव
४२९	४	रुक्तेन	रुक्तेन
४३०	९	तिहासप्रमाण्य	तिहासप्रामाण्य
,,	,,	बणयिष्पते	बर्णयिष्यते
,,	२९	अवशश्यकता	आवश्यकता
४३१	१५	ह	है
,,	,,	आर	और
,,	,,	इस्यादि	इत्यादि
,,	१७	शतरुद्रा।द्धश्च	शतरुद्राद्धँश्च
४३२	१६	ब्रह्माविष्णुद्राणां	ब्रह्मबिष्णुरुद्राणाम्
,,	१७	तैजन	तैजसं
,,	२७	म	मैं
४३३	३३	अधार	आधार
४३५	२	सुंख	सुखं
,,	३	कौन्तय	कौन्तेय
,,	१६	सनान्ये	सेनान्ये
,,	३२	उबारने वाले	उतारनेवाले
४३६	१३	अन्तंपमपणे	अन्तर्यामिणे
,,	१६	माययेत्यथः	माययेत्यर्थः
,,	१८	परापरूपो	परापररूपो
,,	२०	बृषभौदारं	बृषभोदारं
,,	३०	बिरुपाक्ष	निरूपाक्ष
,,	३५	घर्म	धर्म
४३७	१८	खडमात्रधरम्	खड्गमात्रधरम्
,,	२०	धन्व धनुप्रेरकत्वेन- स्यास्तीति	धन्वं धनुःप्रेर- कत्वेनास्यास्तीति
,,	२१	मार्वी	मौर्वी
४४०	२८	गन्धमाइन	गन्धमादन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४१	२	योत्क्काङ्गानि	योक्काङ्गानि
,,	१०	विद्यत्कृत्वा	विद्युत्कृत्वा
,,	२१	योत्क्काणि	योत्क्काणि
,,	२६	शरपक्षपुञ्ज्वरू-षाणि	शरपक्षपुङ्खरू-पाणि
,,	३१	देवताओं ऋषियों	देवताओं और ऋषियों
४४२	६	तात्पयमीश्वरे	तात्पर्य्यमीश्वरे
४४३	१	क्रद्धस्या	क्रुद्धस्या
,,	११	ध्यात्वा	ध्यात्वा
,,	१२	शक्रादींश्च	शक्रादीँश्च
,,	३२	ब्रह्मज्ञ	ब्रह्मज्ञा
४४४	६	श्रत्वा	श्रुत्वा
,,	११	त्रिदशश्रेष्टो	त्रिदशश्रेष्ठो
४४५	६	घोरचान्या	घोराचान्या
४४६	५	यद्वत्कं	यद्वर्कं
४४९	३	भव्यं	भव्यं
,,	२०	तालव्यादिपाठे	तालव्यादिपाठे
४५०	१९	रुपेण	रूपेण
४५१	४	बायुर्विषमस्थेषु	बायुर्विषमस्थेषु
,,	१६	शुद्रो भोज्य इत्यर्थः	शूद्रो भोज्यइत्यर्थः
,,	१९	भोत्का	भोक्ता
४५२	१	तेजसी	तैजसी
,,	१२	भोक्त्री	भोक्ता
,,	१३	क्रोधाघाविष्टो	क्रोधाद्याविष्टो
४५३	८	देवदेवस्य	देवदेवस्य
,,	११	स्त्रोत्रं	स्तोत्रं
,,	२१	सृष्ठि	सृष्टि
४५७	३	यत्नविशेषमनव-र्थता	यत्नविशेषमन्व-र्थता
,,	३३	स्वाभाविक	स्वाभाविक
४५८	३	न्तराराण्यपि	न्तराण्यपि
,,	,,	रचायित्वा	रचयित्वा
,,	९	द्वितीयकिञ्चेत्या-दिना	द्वितीया किञ्चे-त्यादिना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५८	२६	नप्ट	नष्ट
४६१	२७	योरुपदेश	योरपदेश
४६२	५	सम्यादयन्ती	सम्पादयन्ती
,,	६	पुराणयु	पुराणेषु
४६३	६	तात्पर्यत्	तात्पर्यम्
,,	१०	महात्म्यम्	माहात्म्यम्
,,	३१	महात्म्य	माहात्म्य
४६४	९	त्वेनान्वेतिं	त्वेनान्वेति
,,	१३	पपदाभावेन	पपदाभावेन
,,	१५	केवल	केवल
,,	१८	यत्किञ्चिव्यक्ति	यत्किञ्चिद्व्यक्ति
४६६	१०	दुर्बारत्वात्	दुर्बारत्वात्
४६७	६	निबन्धंना	निबन्धना
,,	१८	स्थाख्यायिकारूपी	आख्यायिकारूपी
४६८	१५	मनल्यजल्पनैः	मनल्पजल्पनैः
,,	३४	जा चुका	जा चुका है
४७७	१९	इसं	इस
४७८	१९	करणस्पैव	करणस्यैव
४९०	५	समधिगतः	सममधिगतः
४९६	३४	तोनई	इतने
५०४	२०	लौकिकेतिं	लौकिकेति
५०५	२६	इतिहासिक	ऐतिहासिक
५०९	२९	प्रताकानिति	प्रतीकानिति
५१०	२	ब्राह्मणेपु	ब्राह्मणेषु
५२५	१३	तस्मात्	तस्मात्
५२७	७	मुभयतः सन्दंशे	मुभयतः सन्दंशे
५२९	३२	गेपाय	गोपाय
५३१	९	पुनश्छन्दांसीतिप्रदं	पुनश्छन्दांसीतिपदं
,,	१९	किंच	किञ्च प्रमा०(४)
,,	१४	न्बृहस्यते	न्बृहस्पते
५३३	१९	र्व्याख्ययो	र्व्याख्येयो
५४३	५	मित्येच्छाखार्थे	मित्येतच्छास्त्रार्थे
,,	२५	रुचर्ऋचा	रुचैर्ऋचा
५४४	१२	इद्धटके	तद्धटके
५४६	६	त्युच्यते	इत्युच्यते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४७	६	यथाक्त	यथोक्त
,,	१७	समपणीयम्	समर्पणीयम्
,,	२२	नियमा	नियमों
,,	३०	स	से
५४९	२३	लौकि वाक्य	लौकिकवाक्य
५५०	१७	आर	और
,,	२४	नहीं हे	नहीं है
५५६	१२	मन्त्रस्य ।	मन्त्रस्य
५७१	३२	द्वितीयंसूत्र	द्वितीयसूत्र
५७३	१४	क्रियन्ते	क्रियन्ते
५७५	१२	तत्रवाह्निके	तत्रैवाह्निके
५८२	२५	कवल	केवल
५८५	३३	श्रुंति	श्रुति
५८६	७	१	९
५८८	२	तास्मिश्च	तास्मिँश्च
,,	९	न्विवर्तेंतें	न्निवर्त्तेत
५८९	१२	त्सख्याया	त्सङ्ख्याया
,,	१४	२४	२३
,,	१५	२५	२४
५९०	३	२९	२८
,,	५	५१	५०
,,	७	५६	५५
,,	२०	मन्त्र	मन्त्र को
५९३	४	श्रुतिसामान्पा	श्रुतिसामान्या
,,	३२	निर्वयेत्	निर्वपेत्
५९४	१२	भूपसां	भूयसां
५९५	१०	सार्द्धान्यष्टौ	सार्द्धान्यष्टौ
,,	२८	प्रमाण दो २	प्रमाण दो
५९६	२४	बीसं १०२४	चौबीस १०२४
६०१	३०	स	से
६०४	८	त्कलश्रुति	त्फलश्रुति
,,	९	पर्णममी	पर्णमयी
६०५	११	ज्योतिष्टामे	ज्योतिष्टोमे
६०७	५	बिरोधेनव	बिरोधेनैव
६०८	२९	के	कर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६११	२२	गवा	गया
६१२	१२	हृति	इति
६१३	९	षुराण	पुराण
६१४	१५	प्रधान्येन	प्राधान्येन
६१५	१६	समझना	समझना
६१७	७	तथाऽष्टकादि	तथाऽष्टकादि
६१९	१	अतो नि	अतो
६२०	१	शा० मूलत्वा	शा० निर्मूलत्वा
६२२	२४	नही	नहीं
६२४	५	बिर्मूलमपि	निर्मूलमपि
६२८	७	सनुसार	अनुसार
,,	१७	नदी	नहीं
६३०	६	स्मृत्ते	स्मृते
६३१	२१	प्रमाणत्वे	प्रमाणत्वे
६३५	१९	आबृतियां	आवृत्तियां
६३६	२७	तत्त्व क	तत्त्व के
६३८	११	धर्मकञ्चुकच्छार्या	धर्मकञ्चुकच्छाया
६४३	६	सामर्थ्यमस्ति	सामर्थ्यमस्ति
६५१	१०	प्रयुक्तेर्वेद	प्रागुक्तेर्वेद
६५६	११	प्रयोगोनियमा	प्रयोगनियमा
६५७	८	अश्वलायन	आश्वलायन
६५८	२१	एंव	एवं
६६२	१८	मृह्य	गृह्य
६६६	२४	मी	भी
६६८	१०	बेदसारमपत्व	बेदसारमयत्व
६७०	१५	स्त्री शूद्र	स्त्रीशूद्र
६७१	२६	से अनेक	अनेक
६७६	१७	प्रमाणता	प्रमाणता
६८०	१६	मभ्यवदनू	मभ्यवदन्
६८५	१	निखि	निखिल
६८७	१	बाधाद्धारस्तषा	बाधोद्धारस्तेषा
,,	५	पुरुषाथपयवसा-यिता	पुरुषार्थपर्य्यवसा-यिता
,,	७	निबृत्युप	निबृत्त्युप
,,	३२	पुरषार्थ	पुरुषार्थ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६९३	४	बिस्मथावकाश:	बिस्मयावकाशः
७०१	१८	जिस क	जिस के
७०२	३	नुमन्तुमर्हः	अनुमन्तुमर्हः
,,	१६	पर्यावसायिताया	पर्य्यवसायिताया
७०४	३	प्यश्रुतवन्तः	प्यश्रुतवन्तः
७०९	२३	करते ऐसी	करते तब ऐसी
७१०	१८	मनु वाक्य	मनुवाक्य
७१३	९	अन्यान्य	अन्योन्य
,,	१२	वेदवाक्य का	वेदवाक्य की
७१५	३२	अम्त:करणों	अन्त:करणों
७१६	८	रन्थत्र	रन्यत्र
,,	१३	भ्यूहत्यर्ष	भ्यूहत्यार्ष
,,	२१	यदार्य	यदार्थम
७१८	५	वाहल्पा जार	वाहल्याजार
७१९	७	तपोबलन	तपोबलेन
,,	८	स्नहपितृभक्ति	स्नेहपितृभक्ति
,,	२९	थ	थे
७२०	२४	पमाण	प्रमाण
,,	,,	होता ह	होता है
,,	२७	प्रमाण	प्रमाण
७२१	६	पाण्डुपुत्राणोमक	पाण्डुपुत्राणामेक
,,	१२	अमुचित	अनुचित
७२२	७	एब	एव
७२३	१७	धर्मब्यातिक्रम	धर्मव्यतिक्रम
,,	२२	निन्घं	निघ्नं
,,	२६	(गुड की सुरा)	गुड़ की सुरा)१
,,	३२	निन्घं	निघ्नं
७२४	२	बब्रूबदत्यो	ब्रूब्रूवदत्यो
,,	७	'धथैवैक' निच	'यथैवैके' ति च
७२५	५	यद्याप	यद्यपि
७२६	३१	मरा	मेरा
७२७	७	यक्ता	युक्ता
७२८	२४	ओर	और
७३०	२९	खयं	स्वयं
७३१	२७	चतुर्य	चातुर्य
७३२	१	परबञ्चन	परवञ्चन
,,	३१	लाग	लोग
७३३	३३	कर	करै
,,	,,	ह	है
,,	३५	गत्य	त्याग
७३५	१४	जिधांसन्तं	जिघांसन्तं
७३६	२१	हें	हैं
७३८	७	ऽनुकस्पेनं	ऽनुकल्पेन

—❀—

* श्रीः *

सनातनधर्मोद्धारः

(सामान्यकाण्डस्य पूर्वार्द्धः)

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

क्षुद्रोपद्रवविद्रावणम्

अथ बाह्यान्वेददुर्गादपि क्षुद्रानुपद्रवान् ।
नव्यान्विद्रावयाम्यत्र धर्मराजस्य शासनात् ॥ १ ॥
अमूलान्केवलं वल्गत्कपोलबलकल्पितान् ।
क्लृप्तयुक्तिबलेनैव लोलूये दुरुपप्लवान् ॥ २ ॥
नामग्राहं न गृह्णामि तेषां जनयितॄञ्जनान् ।
कोऽभिद्रुह्येत्प्रियान्भ्रातॄनज्ञानेनापराध्यतः ॥ ३ ॥
अन्तर्यामिपराधीने पक्षपातविवर्जिते ।
सन्तः पश्यन्तु को दोषो ममास्तीह विचारणे ॥ ४ ॥
'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' ।
इति स्मरन्तो मृष्यन्तु भ्रेषान्पुंभूय भूयसः ॥ ५ ॥

॥ भाषा ॥

धर्म और बेद के बिषय में जो २ आक्षेप नास्तिकों के छ (६) दर्शनों के ओर से किये जाते हैं उनका, इन पूर्व दो प्रकरणों अर्थात् प्रथमखण्ड में प्रतिपदोक्त समाधान पूर्णरूप से हो चुका । और उक्तविषय में छोटे २ आक्षेप तो आप से आप इन दोनों प्रकरणरूपी चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश से अन्धकारवत् नष्ट हो गये तथा बेदरूपी दुर्ग (किला) से बहुत दूर रहने वाले अत्यन्त क्षुद्र आधुनिक अनेक दुष्टमतरूपी उपद्रव तो अपने स्थान हीं पर फटफट करते हैं उनकी पहुंच बेददुर्ग की परिखा (खाई) तक भी नहीं है । इस से उनके बिद्रावण (भगाना) में प्रयत्न करना यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि वे क्षुद्रउपद्रव अपने स्थानगतमनुष्यों में कुछ अज्ञान और अश्रद्धा फैलाते हैं इस कारण धर्मराज की आज्ञानुसार उक्त क्षुद्रउपद्रवों का भी अब बिद्रावण किया जाता है । उन उपद्रवों के मूलपुरुषों का नाम संस्कृतभाग में इस कारण नहीं लिया गया है कि वे लोग भी अपने भ्रातृवर्ग ही हैं और बेदतत्त्व को न जानने से उनका यह क्षुद्रउपद्रवरूपी अपराध है इस से उनके मतमात्र का खण्डन उचित है और उनका नाम लेना इस अवसर पर उचित नहीं है । उनके मत का जो बिचार अब किया जाता है उसको सत्पुरुष लोग देखैं कि जब मैं अन्तर्यामी के पराधीन हूं और किसी मत का पक्षपाती नहीं हूं तब इस बिचार में मेरा क्या दोष है । भ्रम, प्रमाद आदि सामान्य, पुरुषदोष से, मेरे इस बिचार में जो २ दोष हों सत्पुरुषलोग "सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" (जैसे धूम से अग्नि आवृत रहता है वैसे ही सब काम दोष से आवृत होते हैं)

तत्र— उद्दिश्य वेदं व्यपदिश्य खेदं यदूयोरपीयैर्निजभाषयैव।
बेदातिबाह्यैरुदितं निबन्धे परीक्ष्यते तत् प्रथमं तथाहि ॥ १ ॥

यत्तु केनचित्— प्रथमः समयो बैदिकनिबन्धश्चेत्युपक्रम्य ऋग्वेदादीन्बेदभेदान्परिगणय्य तेषां प्रत्येकं संहिता ब्राह्मणं सूत्रंचेति त्रयो भेदाः प्रदर्शिताः अनन्तरं च संहितादीनां स्वरूपाणि प्रदर्शयता प्रथमतः संहितानां स्वरूपं मिथःसबन्धश्च वर्णिते। तथाहि। तत्र ऋग्बेदस्य संहिता, स्वाभिजनात्सिन्धुनदीतटादार्य्यपुत्रैरानीतानां तेषां गेयवाक्यानां संग्रहो यानि प्रातरुपासनायां पश्वादिसमृद्धिफलिकायां तैः परिशीलितान्यासन् येषु चेन्द्रासुरसंग्रामस्तस्मादुत्तीर्णानां च जीवानां धन्यवादो बर्णितः तानि गीतानि यत्र यत्र कविकुले रचितानि तेषां तत्कविकुलनाम्नैव बिभागोऽस्ति। अत्र च यद्यपि बिभागक्रमो निर्दोषः तथाऽप्यसौ यज्ञादिकर्मक्रमानुसारोपयोगिनीभ्यां यजुःसामसंहिताभ्यामर्वाचीनः, ऋक्संहितामन्त्राणामेव तयोः प्रायश उपलम्भेन ताभ्यामेव ऋक्संहिताया उद्धृतत्वात्

॥ भाषा ॥

इस गीतावाक्य को स्मरण कर उन दोषों को क्षमा करैं। उन मतों में भी प्रथम योरपदेशवासी महाशयों के मत का बिचार किया जाता है। यद्यपि इस मत के ग्रन्थ द्वीपान्तर की भाषा में हैं तथापि उनके अनुवादग्रन्थों के अनुसार उन मतों का उपन्यास कर बिचार किया जाता है।

और इन मतों में भी प्रथम आल्ब्रेट् वेवर साहेब के बेदविषयकमत पर बिचार किया जाता है इस मत का मुद्रितपुस्तक वह है जिसके टाइटिल् पेज् पर यह लिखा है कि 'शास्त्रसार अर्थात् बेद, शास्त्र, पुराण, काव्य, साहित्य, कोश, चिकित्सा, ज्यौतिष और बौद्धदर्शन प्रभृति हिन्दुस्तानी शास्त्रों के इतिहासबर्णन में जो ब्याख्यान, आल्ब्रेट् वेवरसाहेब के अंग्रेजीभाष्य में छपे हुए हैं उनका हिन्दी अनुवाद ओरिएंटल कालेज् लाहौर के मुख्य संस्कृताध्यापक श्रीयुत पण्डित गुरुप्रसाद शर्मा ने पंजाब युनिवर्सिटी के निमित्त बनाया' इति।

आल्ब्रेट् वेवर का मत पृ. १० पं.१० से पृ. १५ पं. १३ पर्यन्त।

उक्त साहेब ने "पहिला समय और बैदिकनिबन्ध" लिख कर ऋग्बेदादि चार बेदों की गणना कर प्रत्यक बेद में तीन भेद, अर्थात् १ संहिता २ ब्राह्मण ३ सूत्र लिखा। तदनन्तर संहिता आदि का स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध इस रीति से लिखा कि ऋग्बेद की संहिता, केवल गाने योग्य वाक्यों का एक संग्रह है इसमें ऐसे गीतों का समूह है कि जिनको हिन्दूलोग अपने प्राचीन निवासस्थल सिन्धुनदी के तटस्थ देशों से लाए, जिसका वहां वे अपनी प्रातःकाल की उपासना में अपने पशुओं और अपनी, समृद्धि के लिये उपयोग में लाते थे, उन गीतों में बज्रपाणि अर्थात् इन्द्र और अन्धकारशक्ति अर्थात् तमोगुणी असुरों के युद्ध और उस युद्ध में बच रहने से स्वर्गीयजीवों का धन्यवाद बर्णन किया है। जिस कविकुल से जो गीत निर्मित हैं उन्हीं के नाम से उनका बिभाग है। बिभाग का क्रम सुरीतियुक्त है इसलिये यद्यपि कुछ अधिक नहीं कह सकते तो भी यह सम्भव है कि मूलपाठ का बिन्यास, जिन दोनों संहिताओं का बर्णन इनके अनन्तर ही हम करेंगे और जिनकी आवश्यकता यज्ञ की रीति आरम्भ होते ही हुई क्योंकि वे दोनों संहिताएं यज्ञादिकर्मोपयोगी हैं, उनसे नवीन हुआ होगा, क्योंकि सामसंहिता और यजुर्बेद की दोनों संहितायें केवल ऐसी ऋचाओं और यज्ञसम्बन्धी बिधियों से बनी हैं जो कि सोमयज्ञ तथा

नचासिद्धिः, यजुःसामसंहितास्थऋङ्मन्त्रापेक्षयांऽशेंऽशे भिन्नपाठवद्भिर्मन्त्रैर्ऋक्संहिताया घटितत्वात् । असौ पाठभेदश्च तादृशसंहिताद्वयगतानामृङ्मन्त्राणां यज्ञकर्मसु चिरतरोपयोगेनाभ्यस्तानामपरिवर्तनीयत्वेन सुरक्षिततया प्राचीनत्वादतिशुद्धत्वाच्च । ऋक्संहितापाठस्य तु गानमात्रोपयोगिनो यज्ञकर्मासम्बन्धेनातिसुरक्षितत्वाभावाच्च भवितुमर्हति । यद्वा यजुःसामसंहिते एव ऋक्संहितापेक्षया नवीने, यज्ञघटककर्मप्रकाशनानुसारेण ऋक्संहितामन्त्रपाठान्परिवर्त्य पश्चादेतयोरचनायाः संभवात् । अथवा यजुःसामसंहिते ऋकसंहितासमकालिक्यावेव । उक्तः पाठभेदस्तु येषु ऋषिवंशेषु पूर्वं संहितापाठः प्राचारीत् तत्र यथापूर्वावस्थमेवासीत् यत्र तु पश्चात्, तत्र परीवर्त्तमन्वभूदितिपाठप्रचारपूर्वापरभावनिबन्धनः । इदं च मदीयं ब्याख्यानत्रयं सर्वत्रैतादृशेऽवसरे न विस्मरणीयम् । किंच सामसंहिताया निबद्धा ऋङ्मन्त्राः प्राचीनाः, तद्घटकशब्दानां प्राचीनब्याकरणरीत्या साधुत्वात् । यजुषां शुक्लकृष्णसंहितयोरुपनिबध्यमाना ऋङ्मन्त्रास्तु तद्विपरीता इति तेषां पाठः पश्चात् संशोध्य स्थापित इत्यनुमीयते । अनन्तरोक्ततृतीयब्याख्यानस्य च सामयजुःसंहिते तुल्यमेवोदाहरणम् । संहितास्वसंख्यानामुक्तमन्त्रपाठभेदानां शाखाभेदानां च प्रत्यक्षमनुभूयमानानां

॥ भाषा ॥

अन्य यज्ञों मे पढ़ी जाती हैं, और ये ऋचाएं उसी क्रम से लिखी हैं कि जैसे इनका यज्ञों में काम पड़ता है, और की तो नहीं चलाते परन्तु यजुसंहिता में हमको निश्चय से ज्ञात है कि यही क्रम है। सामसंहिता में केवल ऋचा (पद्य) ही भरी हैं, परन्तु यजुर्वेदसंहिता में ऋचा और गद्य (वाक्य) दोनों हैं। ये सम्पूर्ण ऋचाएं कुछ थोड़ी सी ऋचाओं को छोड़ कर ऋग्वेद की संहिता में आती हैं, यहां तक कि सामसंहिता कोई नवीन वस्तु नहीं है किन्तु ऋग्वेदसंहिता के जो गान सोमयज्ञ में प्रयुक्त होते हैं उन्हीं में से उद्धृत है। सम्प्रति जो ऋचाएं सामसंहिता और यजुसंहिता में मिलती हैं वे किसी २ अंश में ऋग्वेदसंहिता के मूलपाठ से बहुत अदल बदल हुई हैं। इसका समर्थन तीन प्रकार से हो सकता है। पहिले तो यह कि इन संहिताओं का पाठ ऋक्संहिता के पाठ से प्राचीन और शुद्ध है क्योंकि इनका प्रयोजन यज्ञों में पड़ता है इस हेतु कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु जो केवल गानभाग है अर्थात् जिसका यज्ञ में साक्षात् सम्बन्ध नहीं है उनकी रक्षा कम हुई। दूसरे यह कि ये, ऋक्संहिता से नवीन हैं, और जिस प्रकार के यज्ञ में इनका उपयोग होता ठीक उसी के अनुरूप अर्थ वाले पद्य बना कर पढ़े जाने से चाहे पाठभेद हो गया हो। तीसरे यह कि वे ऋक्संहिता के समान ही हैं और विचित्रता वा भेद इन में यों पड़ा कि जिस प्रदेश और वंश में पहिले पहिल मूलपाठ प्रचलित हुआ उस में तो बड़ी प्रामाणिक रीति से सुरक्षित रहा और अन्यत्र अर्थात् जहां पीछे से इनका प्रचार हुआ वहां पर इनकी रक्षा उतनी न हुई। ये तीनों व्याख्यान एक से ही शुद्ध हैं और जहां कोई विशेष अवसर आन पड़े वहां अवश्य इन तीनों ही को मन में रखना चाहिये। परन्तु जब हम इन ऋचाओं के परस्परसम्बन्ध में अधिक ध्यान देते तो ऐसा कह सकते हैं कि जो ऋचाएं सामसंहिता में आती हैं वे अपने अतिप्राचीन मुख्यस्वरूप में हैं क्योंकि इनका शब्दसाधुत्व व्याकरण की अधिक पुरानी रीति से किया हुआ है। और जो यजुर्वेद की दोनों संहिताओं में आती हैं वे इसके बिपरीत, ऐसा ध्यान में आती हैं कि द्वितीयबार के संशोधन से सिद्ध हुई हैं। तीसरी रीति के व्याख्यान का उदाहरण सामसंहिता और यजुसंहिता

पूर्वव्याख्यानत्रयप्रतिपादितेभ्यः कारणेभ्योऽन्यत्कारणं न शक्यते वक्तुम्। नहि तदानीं कण्ठपाठमात्रस्य सत्त्वात्पाठव्यत्यासोऽभूत्, तस्मिन्प्राचीनसमये लेखरीतेरसत्त्वे प्रमाणाभावात्। नापि पाठपरीवर्तः शाखाभेदो वा नाभूदिति, तस्याद्याप्युपलभ्यमानत्वात्। यद्यपि ऋङ्मन्त्राः प्रायशः सिन्धुनदीतीर एव विरचितास्तथापि तेषां यथावत्संग्रहो, विशेषतः क्रमस्थापनं चार्यदेशेष्वेवाभूदिति संभाव्यते। किंतु कदाऽभूदिति न प्रतिपादयितुं शक्यते कतिपये च ऋक्संहिताभागा नवीनाः येषां रचनासमये ब्राह्मणादिजातिविभागो विशेषतः प्रचलित आसीत्, शाकल्यपाञ्चालबाभ्रव्ययोराख्याने हि तयोर्ऋक्संहितामन्त्रक्रमव्यवस्थापकत्वमुच्यते अतएव च विदेहपाञ्चालसमृद्धिसमये ऋङ्मन्त्रसंहितानिर्माणमनुमीयत इत्यग्रे वक्ष्यते। सामसंहितायाः पर्य्यालोचनेन तु न तद्रचनासमयो निर्णेतुं शक्यते, तस्या ऋग्भिरेव घटितत्वात् किंत्वेतावदेव ज्ञायते यदेतस्या रचनासमये ऋक्संहिताया नवीना भागा रचिता नासन्निति। परंत्वद्ययावदस्मिन्विषये समुचितमन्वेषणं नाभूत्। यजुषां शुक्लकृष्णसंहिते तु सिन्धुनद्याः प्राचीनेषु देशेषु ब्राह्मणलोकैर्धर्मेषु रचितेषु स्वप्रभुत्वजातिभेदतद्रीतिषु च स्थापितासु रचिते इति यजुर्गद्यरचनाभ्य एव लभ्यते। किंच शुक्लयजुः-

॥ भाषा ॥

दोनों में बराबर ही अर्थात् तुल्यसंख्यक देख पड़ता है। इस बात को अधिक दृढता से हम नहीं कह सकते कि ऋचा और सूक्त, मौखिक पठनपाठनरीति के हेतु बहुत ही परिवर्त्तित हो जाते रहे होंगे। क्योंकि उस प्राचीनसमय में लिखने की रीति से ही वे सुरक्षित हो सकते थे यह भी नहीं कह सकते बरुक ब्राह्मणग्रन्थों के समय में भी पाठपरिबर्तन नहीं हुआ यह नहीं कहा जा सकता है अर्थात् उस समय में परिबर्तन अवश्य मानना पड़ता है अन्यथा इन ग्रन्थों के मूलपाठ में भी जो असंख्य भेद हैं उनका तथा शाखाओं के भेदों का अन्य कारण नहीं कहा जा सकता। यद्यपि ऋक्, गान, अथवा उनमें से अधिकांश सिन्धुनदी के तीर पर रचे गये थे परन्तु उनका बिधिपूर्बक संग्रह और क्रमस्थापन मुख्य हिन्दुस्तान ही में हुआ होगा, पर यह नहीं कह सकते कि किस समय में हुआ। कुछ खण्ड ऐसे नवीनसमय के हैं कि जिनकी रचनासमय में जातिबिभाग भलीभांति प्रचलित हो गया था, शाकल्य और पाञ्चालबाभ्रव्य के आख्यान में ऐसा बर्णित हुआ है कि ऋक्संहिता के क्रमनियम में इन दोनों का प्रधानकर्तृत्व था इस से यह द्योतित होता है कि बिदह और पंचालों के समृद्धि के समय यह हुआ था, जैसा हम आगे दिखलावेंगे। सामसंहिता सर्बथा ऋग्बेद से ली हुई है इस हेतु यह अपने आदिनिर्माण के समय का पता नहीं देती है, इतना ही केवल हम लोगों को सूचित होता है कि इस के निर्माणसमय में ऋक्संहिता के नवीन भाग निर्मित नहीं थे। परन्तु इस बिषय का अच्छा अन्वेषण अब तक हुआ नहीं है। यजुर्बेद की दोनों संहिताओं के बिषय में हम लोगों को उनकी गद्यरचनाओं से जो कि उन्हीं में बिशेषता से पाई जाती हैं स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि ये दोनों अधिक करके सिन्धुनदी के पूरब हिन्दुस्तान में रचित हुई हैं अर्थात् कुरुपाञ्चालदेश में। यह बात भी सूचित होती है कि इनका निर्माण उस समय में हुआ जब कि ब्राह्मण लोगों के रचे हुए धर्म और उनका प्रभुत्व तथा जातिभेद की रीतियां पूरी २ बन गई थीं। इतना ही नहीं इसमें हमको बाह्य प्रमाण भी ऐसा अनुमान कराते हैं कि शुक्लयजुर्बेद की संहिता का बर्तमान बिन्यास सन् ई० से पहिले तीसरी सदी में हुआ है क्योंकि

संहिताया बर्तमानो बिन्यासः ख्रिस्ताब्देभ्यः पूर्वं तृतीयशतके जात इति ज्ञायते 'मेगेस्थनीज' नामक ऐतिहासिको हि 'मेडिवोडिनै' सञ्ज्ञकान् मनुष्यान् वर्णयति। इदं च नाम शुक्लयजुषो माध्यंदिनसंप्रदाये दृश्यते अत्राधिकमग्रे वर्णयिष्यते एवमथर्वसंहिताया आरम्भो ब्राह्मणलोकरचितधर्मप्राबल्यसमयात्प्रभृत्यवासीत् यतोऽत्र ब्राह्मणलोकप्रभुत्वसमयस्य गीतसमूहोऽप्यखिलमस्ति। इमानि गीतानि ऋग्गीततुल्यानि। ऋगथर्वसंहितयोस्तु भावौ वस्तुतः सर्वथैव भिन्नौ। तथाहि। ऋक्संहितायां मूलप्रकृतेरतिमनोहरो भावः प्रेमोत्साहपूर्वकः स्वाभाविको दृश्यते। अथर्वसंहितायां तु तस्याः परिणामभूतेभ्यो भयानकसत्वेभ्यो महद्भयं तेषां मायिकः प्रभावश्च वर्णिते, तथा ऋक्संहितायां मनुष्याणां स्वतन्त्रता कार्यतत्परता च दृश्यते अथर्वसंहितायां तु तेषां ब्राह्मणपरतन्त्रता मिथ्याविश्वासनिगडबन्धश्च। एवमथर्वसंहितायां बहूनि प्राचीनान्येवंविधानि वाक्यानि दृश्यन्ते यानि तुच्छजातीयेषु मनुष्येष्वतिप्रचलितान्यनुमीयन्ते ऋक्संहितागीतानि तु महाकुलीनेष्वेव। किंच कलहानन्तरमथर्वसंहिता चतुर्थी वेदपदवीमध्यारूढा। अपिच प्राचीनेषु ऋग्वेदादिब्राह्मणखण्डेषु नाथर्वगीतानामुल्लेखः, तेन तद्ब्राह्मणग्रंथखण्डरचनासमकालमेवाथर्वगीतानि निर्मितानीत्यनुमीयते अतएव ऋग्वेदादिब्राह्मणग्रंथानां नूतनेषु भागेष्वथर्वगीतचर्चाऽप्युपपद्यत इत्युक्तम्।

अत्रोच्यते सिन्धुनदीतटादार्यपुत्रैरानीतानामिति तावदयुक्तम्, प्रमाणाभावात् वेदे

॥ भाषा ॥

मेगेस्थनीज्, एक प्रकार के मनुष्यों का वर्णन जिन्हें लोग (मेडिवोडिनै) कहते, करता है और यह नाम माध्यंदिनों से, जो शुक्लयजु का प्रधान सम्प्रदाय है, मिलता है। इस विषय का अधिक वर्णन आगे होगा। अथर्वसंहिता का प्रारम्भसमय भी जब ब्राह्मणलोगों का रचित धर्म प्रबल हुआ था तब से ही है। और सब बातें इसकी ठीक ऋक्संहिता के समान हैं, और ब्राह्मण लोगों के इस प्रभुत्वसमय का गानसमूह भी इस में है। जो ग्रन्थ ऋक्संहिता का बहुत प्राचीन नहीं है उसमें भी ये गान बहुत से पाये जाते हैं। ऋक्संहिता के बिन्याससमय की नवीनतम योजना ये गान हैं, और अथर्वण में के ठीक उसी समय के हैं जिस समय वह वेद रचित हुआ था। इन दोनों संग्रहों का भाव वस्तुतः सर्वथा भिन्न है। ऋक्संहिता में मूलप्रकृति का अति मनोहर, प्रेम उत्साहपूर्वक, स्वाभाविक भाव देख पड़ता है और अथर्वण में इसके बिपरीत, उस मूल प्रकृति के भयानक सत्वों का महाभय और उनके माया के प्रभाव वर्णित हैं। ऋक्संहिता में मनुष्यों की स्वतन्त्रता और कार्यतत्परता पाई जाती है और अथर्वण में हम उनको ब्राह्मणों के प्रभुत्व और मिथ्या विश्वास के निगड (बेड़ी) में बंधे हुए देखते हैं। परन्तु अथर्वसंहिता में बहुतेरे अति प्राचीन वाक्य भी देख जाते हैं, जो अनुमान से लघुवर्ग के मनुष्यों में अधिक प्रचलित थे, और ऋक्संहिता के गान तो उत्तमकुल वाले मनुष्यों के मुख्य अधिकार में थे। बड़े भारी कलह के अनन्तर अथर्वण के गान चतुर्थ वेद की गणना में गिने गए। उनका नामोल्लेख ऋक्, साम और यजुर्वेद के ब्राह्मणग्रन्थों के अति प्राचीन खण्डों में कुछ भी नहीं है सच है कि वे इन ब्राह्मणग्रन्थों के समकाल ही में बने थे और इसी कारण उनके नवीन भागों ही में उनकी चर्चा आई है।

समालोचना।

"ऋक्संहिता को हिन्दू लोग सिन्धु नदी के तटस्थ देशों से लाए"

क्वचित्सिन्धुनद्याश्चर्चामात्रसत्त्वेऽपि तत एतादृशार्थलाभे मानाभावात् । किंच यानि यानि गीतानि यत्र यत्र कविकुले रचितानीत्याद्यपि कपोलकल्पनामात्रम्, मानाभावादेव। तथाहि। न तावद्रचना कस्यचित्प्रत्यक्षगम्याऽभूत् । तथासति रचितत्वे बिवादाभावप्रसङ्गात्, नहि घटादीनां रचितत्वे बिवदन्ते । नाप्यनुमेया, लिङ्गाभावात् । तन्नाम्ना तद्विभागप्रसिद्धिरेव लिङ्गमिति चेत्, न तथापि तद्रचितत्वस्यासिद्धेः। बिभागस्य रचनातोऽत्यन्तभिन्नत्वात्। किंच सिद्धे हि वस्तुनि बिभागो भवति नासिद्धे, रचनात्वसिद्धस्यैव नतु सिद्धस्य एवंच तद्रचितत्वसाधनाय तत्कर्तृकं बिभागं साधनतयोपन्यस्यता बेदबाह्येन स्वप्रतिकूलमेव स्वा-

॥ भाषा ॥

(१) यह बहुत ही अप्रामाणिक है क्योंकि बेद में सिन्धुनदी की चर्चामात्र से ऐसे बृत्तान्त का लाभ कदापि नहीं हो सकता इससे उक्त नदी की चर्चामात्र से इस बृत्तान्त का अनुमान करना मिथ्या साहस ही है क्योंकि यदि ऐसा हो तो गंगा आदि नदी की चर्चा भी बेद में है इस से उन नदियों के सम्बन्ध में भी ऐसे अनेक अनुमान खड़े हो जायंगे ।

(२) मैक्सम्यूलर साहेब के मत की समालोचना में पूर्णरीति से यह बात आगे दिखलाई जायगी कि बेद में क्रिया के भूतकाल का वाचक कोई शब्द नहीं होता । तब ऐसी दशा में बेद के किसी शब्द का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि हिन्दू लोग संहिता को लाये । "जिस कविकुल में जो गीतें निर्मित हैं उन्हीं के नाम से उनका बिभाग है"

(१) यह भी कपोलकल्पनामात्र ही है अर्थात् इसमें कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि उक्त कवियों को उक्त ऋचा की रचना करते समय यदि किसी ने प्रत्यक्ष देखा होता तो जैसे अन्य-ग्रन्थों के कर्ताओं का निश्चय होता है अथवा जैसे घटादिपदार्थों के कुलालादिरचित होने का निश्चय होता है वैसे ही ऋचाओं के भी उस २ कवि के रचित होने का निश्चय तब से आजतक चला ही आता और ऐसी दशा में यह बिवाद ही नहीं होता कि बेद, किसी का रचित है वा नहीं। और यह बिवाद भी नास्तिकों के साथ आस्तिकों का और आस्तिकों में भी तार्किकों के साथ बैदिक-दार्शनिकों का अनादिकाल से चला आता है सो भी न होता यदि बेद की रचना करते किसी को किसी ने कभी देखा होता । इस से यह सिद्ध है कि ऋचाओं की रचना होना प्रत्यक्षप्रमाण से नहीं सिद्ध है । और अनुमान भी इस विषय में नहीं हो सकता कि ऋचाओं की रचना ऋषियों ने किया, क्योंकि किसी हेतु से किसी साध्य का अनुमान होता है और उक्तबिषय में कोई हेतु नहीं है ।

साधन—जब उन २ ऋचाओं का बिभाग उन ऋषियों के नाम से आज तक प्रसिद्ध है तब यह प्रसिद्धि ही उक्त अनुमान के लिये समर्थ हेतु है ।

खण्डन—(१) उक्तप्रसिद्धि से इतना ही सिद्ध हो सकता है कि उन ऋषियों ने उन ऋचाओं का बिभागमात्र किया और यह बात बैदिकों के भी असम्मत नहीं है परन्तु उक्तप्रसिद्धि से ऋचाओं की रचना कदापि नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि बिभाग दूसरी वस्तु है और रचना दूसरी।

ख०—(२) बिभाग के बिषय में यह नियम सब के अनुभव से सिद्ध है कि जिस पदार्थ का जो बिभाग किया जाता है उस बिभाग से पूर्व, वह पदार्थ सिद्ध ही रहता है । और रचना के बिषय में उक्तनियम से पूर्णबिपरीत नियम यह है कि जिस पदार्थ की जो रचना होती है

नुकूलत्वेन गृहीतम्। तदरचितत्वे तन्नाम्ना विभागानुपपत्तिरित्याशय इति चेन्न। अन्यरचितस्याप्यन्येन विभागस्य दृष्टचरतया व्यभिचारात्। किंच तन्नाम्ना प्रसिद्धिरपि वैदिकेषु वा, वेदबाह्येषु वा, तदुभयसाधारणी वा, विवक्षिता। नाद्यः वैदिकेषु तादृशवेदभागानामरचितत्वस्यैव प्रसिद्ध्या हेतोरेवासिद्धत्वेनाभासत्वप्रसङ्गात्। अतएव न द्वितीयः तस्याः स्वतोऽसंभवेन वैदिकप्रसिद्धावेवान्तर्भावात्। नापि तृतीयः तत्कर्तृकविभागस्य स्वरसत उभयत्र प्रसिद्ध्यभावात्। अथ तेषां वेदवाक्यानामृषयो ये विश्वामित्रादयो वैदिकप्रसिद्धास्तैरेव तानि रचितानीत्याशय इति चेत्, तर्हि वैदिकप्रसिद्धिमाश्रित्य तत्तन्मन्त्राणां तत्तदृषिराचि-

॥ भाषा ॥

उस रचना से पूर्व, वह पदार्थ असिद्ध ही रहता है जैसे उस घट की रचना से पूर्व, वह घट। अब यह स्पष्टरूप से प्रकट होता है कि वेबर साहेब ने जो ऋचाओं का बिभाग सिद्ध किया उस से उलटे यह सिद्ध हुआ कि ऋचाओं के ऋषिकृत बिभाग से पूर्व, वे ऋचाएं अवश्य ही सिद्ध थीं क्योंकि यदि वे पूर्व में न होतीं तो बिभाग किनका होता ? और जब बिभाग से पूर्व में वे थीं तब उनकी अनादिता, बिभाग कहने वाले के मुख ही से सिद्ध हो गई।

सा०—यदि वे ऋचाएं उन ऋषियों की रचित न होतीं तो उनका बिभाग उन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध न होता।

ख०—(१) पिता आदि के रचित वस्तुओं को भी पुत्र आदि बिभाग करते हैं इस से यह कोई नियम नहीं है कि जिस वस्तु का जिस के नाम से बिभाग हो वह वस्तु उसी की रचित होती है और जब यह नियम ही नहीं है तब उन ऋषियों के नाम से बिभाग होने के कारण कदापि वे ऋचाएं उनकी रचित निश्चित नहीं हो सकतीं।

ख०-(२) बैदिकों में उन ऋषियों के नाम से उन ऋचाओं की प्रसिद्धि होने से यह अनुमान किया जाता है कि वे ऋचाएं उन ऋषियों की रचित हैं (१) अथवा बेदबाह्य मनुष्यों में उक्त प्रसिद्धि से उक्त अनुमान किया जाता है (२) किंवा अनुमान में उक्त प्रसिद्धिमात्र ही हेतु है चाहे वह प्रसिद्धि किसी प्रकार के मनुष्यों में हो (३) ?

पहिला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि बैदिकों में यह प्रसिद्धि ही नहीं है कि ऋचाएं ऋषियों की रचित हैं किन्तु इसके बिरुद्ध यह प्रसिद्धि है कि बेद किसी का रचित नहीं किन्तु अनादि है ऐसे ही द्वितीयपक्ष भी निर्मूल ही है क्योंकि बेदबाह्यमनुष्यों में उक्त प्रसिद्धि है ही नहीं। प्रसिद्ध है कि बेदवाह्य सब मत आधुनिक हैं और उन में जो प्रसिद्धि है वह भी पूर्वोक्त अनुमान ही से है न कि किसी शब्दप्रमाण से। और जब वे बेदबिरुद्ध हैं तब उन मतग्रन्थों में कही हुई प्रसिद्धि वादकथा में बैदिकों के प्रति हेतु बना कर बेदबाह्यों के ओर से कदापि नहीं कही जा सकतीं क्योंकि बैदिक लोग उस प्रसिद्धि को झूठी कहते हैं और यह भी कहते हैं कि ऋचाओं के बिभाग की प्रसिद्धिमात्र सत्य है परन्तु उस से रचना नहीं सिद्ध हो सकती। इन दोनों पक्षों के खण्डन से तृतीयपक्ष का भी खण्डन हो चुका।

सा० बैदिकसंप्रदाय में जिन मन्त्रों के जो ऋषि (बिश्वामित्र आदि) प्रसिद्ध हैं वे मन्त्र, उन्हीं ऋषियों के रचित हैं यही आन्तरिक आशय वेबर साहेब का है।

ख०—(१) इस आशयवर्णन से यही निकला कि बैदिकसम्प्रदाय ही में जो प्रसिद्धि

तत्वमुच्यत इत्यायातम् साच प्रसिद्धिरेवमाकारा, 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार' इत्यभियुक्ता निरुक्तकारादय आचक्षते। दर्शनं चोपदेशानपेक्षं प्राग्भवीयतत्तन्मन्त्राभ्यासविशेषात्तपोविशेषसहकृतात्परमेश्वरानुग्रहाद्वा स्वतःप्रतिभानम् सुप्तप्रतिबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगतानामर्थानाम्। तादृशमन्त्रप्रतिभाधिकारोपाधिकाचेयमृषिसञ्ज्ञेत्युक्तमधस्तान्मन्त्रोपयोगप्रकरणे। एवं विश्वामित्रादिरपि तत्तन्मन्त्रविषयकतथाविधप्रतिभाऽधिकारोपाधिकैवानादिः सञ्ज्ञा मन्वादिसञ्ज्ञावत्। यद्वा। तत्तन्मन्त्रस्वतःप्रतिभाविषयकज्ञानाभिव्यङ्ग्या एव विश्वामित्रत्वादयो जातिविशेषाः कठत्वादिवत्। तथाच नैमित्तिक्य एव विश्वामित्रादयः सञ्ज्ञाः लौकिकगवादिसञ्ज्ञावत्। उभ-

॥ भाषा ॥

है उसी के अनुसार वेबर साहेब मन्त्रों को विश्वामित्र आदि ऋषियों का रचित सिद्ध किया चाहते हैं। इस से अब वैदिकसम्प्रदाय में जो प्रसिद्धि है उसे दिखलाता हूं। उक्त प्रसिद्धि दो प्रकार की है एक यह कि निरुक्तकार आदि महाशय कहते हैं "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" इस का यह अर्थ है कि गुरु के उपदेश बिना अर्थात् आप से आप पूर्वजन्म के तपस्याविशेष और मन्त्रों के अभ्यासविशेष के बल से अथवा परमेश्वर के अनुग्रह से, जैसे रात्रि में शयन कर प्रातःकाल में जगा मनुष्य पूर्व-दिन के जाने हुए पदार्थों को बिना उपदेश के स्मरण करता है वैसे पूर्वसृष्टि में अनुभूत मन्त्रों का उत्तरसृष्टि के आदि में जिनके अन्तःकरणों में प्रतिभा होती है उन्हीं को ऋषि कहते हैं जैसे विश्वामित्र आदि। और जैसे 'ऋषि' नाम किसी व्यक्तिविशेष का नहीं है किन्तु अनन्तरोक्त लक्षण जिस में हो वही ऋषि कहलाता है वैसे ही मनु, व्यास, आदि पूर्वोक्तसञ्ज्ञा के नाईं 'विश्वामित्र' आदि शब्द भी किसी व्यक्तिविशेष के नाम नहीं हैं किन्तु पूर्वोक्त उन मन्त्रों के प्रतिभा का जो २ अधिकारी होता है वही विश्वामित्र आदि उन २ शब्दों से कहा जाता है अर्थात् भिन्न २ सृष्टियों में भिन्न ही भिन्न पुरुष विश्वामित्र होते हैं और यही रीति वसिष्ठ आदि में भी है, निदान व्यास आदि सञ्ज्ञा के नाईं विश्वामित्र आदि शब्द भी अधिकार के अनुसार औपाधिकी अनादि सञ्ज्ञा ही हैं न कि किसी पुरुषविशेष के नाम। और दूसरी प्रसिद्धि यह है कि जैसे वेद के अपौरुषेयत्व-प्रकरण में पूर्व हीं कहे हुए (पृ० १४४) "आख्याप्रवचनात्" इस मीमांसासूत्र के अनुसार कठत्व आदि जाति के वाचक कठ आदि शब्द हैं वैसे ही विश्वामित्रत्व आदि जाति के वाचक विश्वामित्र आदि शब्द हैं अर्थात् जिन मन्त्रों के विश्वामित्र ऋषि हैं उन मन्त्रों की पूर्वोक्त प्रतिभा, प्रत्येक सृष्टियों में प्रथम २ किसी विश्वामित्र ही जाति के पुरुष में होती है और उन सब पुरुषों में वह एक ही जाति है जिसका नाम विश्वामित्रत्व है। ऐसे ही अगस्त्यत्व आदि जाति को समझना चाहिये। और जैसे गो आदि शब्द, गोत्व आदि जाति के वाचक होने से नैमित्तिकी अनादि सञ्ज्ञा हैं वैसे ही विश्वामित्र आदि शब्द भी नैमित्तिकी अनादि सञ्ज्ञा हैं। उक्त इन दोनों प्रसिद्धियों के अनुसार यही सिद्ध होता है कि विश्वामित्र आदि सञ्ज्ञा अनादि ही हैं। तात्पर्य यह है कि 'विश्वामित्र' आदि शब्द, चैत्र मैत्र आदि शब्द के नाईं किसी एक अनित्य व्यक्ति के नाम नहीं हैं किन्तु प्राड्विवाक (जज) आदि शब्दों के नाईं अनादि उपाधि अथवा गो आदि शब्द के नाईं विश्वामित्रत्व आदिरूपी अनादि-जाति के बोधक हैं। और उचित भी यही है क्योंकि अनादि मन्त्रों के प्रतिभाऽर्थ अनादि ही संज्ञा अनुकूल है और इसी रीति से, वेद में ऋषियों की जो वंशपरम्परा कही है वह भी अनित्य व्यक्तियों की परम्परा नहीं है किन्तु उसका तात्पर्य भी अनादि जाति ही में है। अब ध्यान देना

यथैवच चैत्रादिवन्न कस्याश्चिद्व्यक्तेरसाधारण्यो विश्वामित्रादयः सञ्ज्ञाः। अनादीनां हि मन्त्राणामनादयएव सञ्ज्ञाः सम्प्रदायवृद्धावुपयोगिन्यो भवन्ति। एवमेव वंशपरम्पराऽपि वेदोक्ता नानित्यार्थिकेति। तथाचेमां प्रसिद्धिं प्रामाणिकीमभ्युपेत्य न तत्तदृषिरचितत्वं साधयितुं शक्यते, उक्तद्रष्टृत्वमात्रस्यैतत्प्रसिद्धिविषयत्वात्। यदित्विमां प्रसिद्धिमप्रामाणिकीमप्याश्रित्य तत्तदृषिरचितत्वमापाद्यते तदपि नोपपद्यते, आपादकानुरूपं ह्यापाद्यं भवति नच रचितत्वमनवगाहमानाया अस्याः प्रसिद्धेरचितत्वमनुरूपम्। नच वाक्यत्वेनैव भारतादिदृष्टान्तोपोद्बलितेन सामान्यतो रचितत्वमनुमायास्या द्रष्टृत्वप्रसिद्धेर्दाम्भिकत्वं प्रसाध्य तत्तदृषिरचितत्वे पर्यवसानमुच्यते बाह्येनेति वाच्यम्। अभुक्तवान्तित्वापत्तेः तन्नाम्ना विभागप्रसिद्धिमात्रमाश्रित्य हि बाह्येन तत्तदृषिरचितत्वसाधनमुक्तम् नत्वेवं पर्यवसानम्। किंच तत्तदृषिरचितत्वं विशेषरूपत्वात्प्रमाणविशेषमपेक्षते नच तदनुरूपा काचिद्वैशेषिकी

॥ भाषा ॥

चाहिये कि इन दोनों प्रसिद्धियों के अनुसार यही सिद्ध है कि वेद अनादि ही हैं रचित नहीं। तब ऐसी दशा में इन प्रसिद्धियों से वेद के रचित होने को सिद्ध करना, सूर्यमण्डल से अन्धकार उत्पन्न करने के तुल्य है।

सा० वेवर साहेब का यह आशय है कि उक्त प्रसिद्धियां प्रमाणिक नहीं हैं किन्तु वैदिकों की कपोलकल्पनामात्र हैं वस्तुत: जिस मन्त्र का जो ऋषि है वही उसका कर्ता है।

ख०—यदि यह आशय है तब प्रसिद्धि का अनुसरण करना व्यर्थ ही है और यह भी बतलाना पड़ेगा कि किस प्रमाण के अनुसार उक्त साहेब ने यह निश्चय किया कि जिस मन्त्र का जो ऋषि है वही उसका कर्ता है? क्योंकि उक्त रीति से, ऋषि होना अन्य वस्तु है और कर्ता होना अन्य। और इससे तो यही ज्ञात होता है कि जब मन्त्र के कर्ता होने में उक्त साहेब, कोई प्रमाण नहीं दिखलाते तब कर्ता होने की कल्पना ही उनकी कपोलकल्पना है।

सा०—उक्त साहेब का यह आशय है कि वाक्य जितने हैं सब, किसी के रचित ही होते हैं जैसे महाभारत आदि, और वेद भी वाक्यरूपी हैं इसी से अवश्य, रचित हैं और रचना करनेवाला जब कोई अन्य मनुष्य प्रसिद्ध नहीं है तब यही स्वीकार करना उचित है कि जिस मन्त्र का जो ऋषि है वही उसका रचना करनेवाला है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो वैदिकों को यह अवश्य कहना पड़ेगा कि ऋषियों से अन्य किसने वेद की रचना किया और जब वे वेद को अनादि मानते हैं तब रचना करने वाला किसको बतलावेंगे।

ख०—यह तो वही हुआ कि "अन्यद् भुक्तम् अन्यद् वान्तम्" (भोजन किया भात और वमन किया रोटी) क्योंकि उक्त साहेब ने यही कहा है कि उन ऋषियों के नाम से मन्त्रों का विभाग प्रसिद्ध है इसी से सिद्ध होता है कि ये मन्त्र उन ऋषियों के रचित हैं। और उक्त आशय के साथ इस कथन का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तथा यदि यही आशय उनका मान भी लिया जाय तो इसका खण्डन, वेद के अपौरुषेयत्वप्रकरण में पूर्णरूप से पूर्व खण्ड में हो चुका है। तथा इस बात पर भी ध्यान होना चाहिये कि उक्त साहेब, विशेषरूप से यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि ऋषियों की प्रसिद्धि किस समय से आरम्भ हुई? और किस २ वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, में किस २ ऋषि ने कहां २ किस २ मन्त्र की रचना की? और रचना करते किस २ ने देखा, तो

प्रसिद्धिरस्ति अयं मन्त्रोऽमुना ऋषिणाऽमुष्मिन्संवत्सरे मासे पक्षे तिथौ देशे च रचित इति। किं-चोक्तायाः प्रसिद्धेरपि नात्र पर्यवसानं संभवति, प्रमाणाभावात्, अनानुरूप्याच्च। सामान्यस्य हि विशेषे पर्यवसानं प्रमाणविशेषबलादेव भवति, नच द्रष्टृत्वस्य रचितत्वे पर्यवसाने प्रमाण-मस्ति प्रत्युत विरोधएव। किंच द्रष्टृत्वप्रसिद्धेर्दाम्भिकत्वोक्तिरपि न युक्ता, प्रमाणाभावात्, अनादित्वाच्च। अपिच वाक्यत्वहेतुकं रचितत्वस्य सामान्यतोदृष्टानुमानमपि पूतिकूष्माण्डा-यितमेव, वेदापौरुषेयत्वप्रकरणे पूर्वं निःशेषितत्वात्। किंच उक्तपाठभेदेन ऋक्संहिताया यजुःसामसंहिते अपेक्ष्य नव्यत्वानुमानमपि न संभवति। तथा हि। ऋक्संहितापदेन किं शा-कली विवक्ष्यते किंवा लुप्ता काचिदृक्संहिता। तत्र नाद्यः। लुप्तसंहितापाठानुसारित्वेनोक्तसं-हिताद्वयगतर्क्मन्त्रपाठस्योपपत्तौ संभवन्त्यां शाकलीपाठवैषम्यस्याप्रयोजकत्वात्। नचैवं शाक-लीमन्त्रपाठानुसारो यजुःसामसंहितास्थर्ङ्मन्त्रपाठः क इति वाच्यम्। लुप्तासु पूर्वोक्तासु बह्वीषु यजुःसामसंहितासु कस्यांचित्संहितायां भविष्यतीति सुवचत्वात्। सर्वासामेव संहितानां पाठस्ताभ्यामनुसर्तव्य इत्यत्र प्रमाणाभावाच्च। न द्वितीयः। तत्पाठस्योपलम्भे लुप्तात्वस्यैव व्याघातात् अनुपलम्भे तु पाठभेदस्यैव दुरवधारणत्वात्। एवंच पाठभेदस्योपपत्त्यर्थं प्रथम-व्याख्यानमुन्मूलितमाकलनीयम्। किंच उक्तेन पाठभेदेन ऋक्संहितामपेक्ष्य यजुःसामसं-हितयोरपि नैव नवीनत्वमनुमातुं शक्यते। पाठभेदान्यथोपपत्तेरनुपदमेव निवेदितत्वात्।

॥ भाषा ॥

ऐसी अवस्था में यही निश्चय हो सकता है कि वेद अनादि है और उसी के साथ ऋषियों की प्रसिद्धि भी वैसे ही अनादि है जैसे कि सृष्टियों और संहारों की परम्परा। और ऐसे अनादि पदार्थ को भी अप्रामाणिक कहना किसी रीति से उचित नहीं है।

"यजु और साम की संहिताओं की अपेक्षा ऋक्संहिता, नवीन है क्योंकि इनके पाठ की अपेक्षा ऋक्संहिता का पाठ भिन्न है"।

ख०—यहां 'ऋक्संहिता' शब्द से यह शाकलीसंहिता विवक्षित है जो कि इस समय प्रचलित है अथवा ऋग्वेद की लुप्तसंहिताओं में से कोई संहिता? यदि प्रथमपक्ष है तो यह कह सकते हैं कि लुप्तऋक्संहिताओं के पाठ के अनुसार यजु और साम की संहिता का पाठ है और ऐसी दशा में शाकलीसंहिता में पाठभेद होने से क्या हुआ क्योंकि शाकली का पाठ जैसा प्रथम रहा वैसा ही अब है और उसके नवीन होने का अनुमान नहीं हो सकता।

प्र०—यदि ऐसा है तो यह बतलाना चाहिये कि यजु और साम की किस संहिता में शाकली के मन्त्रपाठ के अनुसार ऋक्मन्त्र का पाठ है?

उ०—(१) यजु और साम की पूर्वोक्त लुप्तसंहिताओं में से किसी संहिता में होगा।

उ०—(२) यह कोई नियम नहीं है कि प्रचलित यजु और साम की संहिता का पाठ भी सब, ऋक्संहिताओं के पाठ का अनुसारी ही हो, इससे यदि यजु और साम की किसी संहिता का पाठ शाकलीसंहिता के पाठ का अनुसारी न हुआ तो हानि ही क्या है? कुछ भी नहीं।

उक्त द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब संहिता ही लुप्त है तब उसका पाठभेद कैसे ज्ञात हो सकता है और यदि पाठभेद ज्ञात होता है तो वह संहिता लुप्त कैसे कही जा सकती है? इस रीति से उक्त पाठभेद का अनुसारी प्रथम व्याख्यान, उक्त साहेब का पूर्णरूप से खण्डित

एतेन पाठभेदाक्षिप्तं द्वितीयमपि व्याख्यानं प्रतिक्षिप्तम् । किंच प्रचारपौर्वापर्यमात्रकृतः पाठ-भेदः, ऋक्संहिता तु तयोः समकालैवेति तृतीयव्याख्यानमपि न युक्तम्, उक्तरीत्याऽन्य-थैवोपपन्नस्य पाठभेदस्यानादितया तत्र प्रचारपौर्वापर्यस्याप्रयोजकत्वेन लुप्तशाखापाठानु-सारिणि सर्वथैव निर्दोषे तस्मिन् प्रचारदोषप्रयुक्तमिथ्याभूतदोषारोपस्य दूरतरानिरस्तत्वात् । समकालिकत्वोक्तिस्तु भूषणमेव संहितानाम्, भगवता कृष्णद्वैपायनेन तासां सङ्कलनायाः पौराणिक्याः पूर्वमुपपादितत्वात् । नचैतावता बेदस्य पौरुषेयत्वं शक्यमुत्प्रेक्षितुं वेदवाह्येन, संहितामन्त्राणामपौरुषेयाणां सङ्कलनमात्रस्य व्यासकार्यत्वाभ्युपगमात् । तस्मात्सुजनोक्ति-रेवेयं समकालिकत्वोक्तिः, यतः—

गुणायन्ते दोषाः सुजनवदने दुर्जनमुखे
गुणा दोषायन्ते व्यभिचरति नैतत्कचिदपि ।
यथा जीमूतोऽयं लवणजलधेर्वारि मधुरम्
फणी पीत्वा क्षीरं वमति गरलं दुःसहतरम् ॥

॥ भाषा ॥

हो गया, और इसी खण्डन से पाठभेद की उपपत्तिरूपी उनका द्वितीय व्याख्यान भी चूर्णित हो गया । अब अवशिष्ट रहा "ऋक् संहिता, यजु और सामसंहिता के तुल्यकाल ही की है पाठभेद तो उनके आगे पीछे प्रचार होने से हो गया है" यह तृतीय व्याख्यान, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि अनन्तरोक्त रीति से जब उक्त पाठभेद, अन्य ही प्रकार से सिद्ध हो गया तब प्रचार के आगे पीछे होने से पाठभेद का उपपादन कैसे हो सकता है ? क्योंकि पाठभेद, अनादि और लुप्त शाखाओं के अनुसार ठीक है तो ऐसे निर्दोष पाठभेद पर प्रचारदोष से दोषारोप करना अत्यन्त ही अनुचित है । और तीनों संहिताओं को तुल्यकाल कहना तो वैदिकों के अनुकूल ही है न कि प्रतिकूल, क्योंकि वैदिकसम्प्रदाय मे जब वेद अनादि हैं और पूर्वखण्डोक्तयुक्तियों से यह सिद्ध हो चुका है कि कृष्ण-द्वैपायनव्यास ने मन्त्रों को बेद के स्थान २ से निकाल कर एकत्रित मात्र किया जिसको कि संहिता कहते हैं तब इतने मात्र से उक्त साहेब क्या, कोई बेदबाह्य, यह नहीं सिद्ध कर सकता कि वेद, पुरुषरचित हैं और ऐसी दशा में उक्त तीनों संहिता को उक्त साहेब, तुल्यकाल न कहें तो क्या कहें ? निदान उक्त संहिताओं को तुल्यकाल कहना, उक्त साहेब के सौजन्य को सचमुच प्रकट करता है क्योंकि—

"गुणायन्ते दोषाः सुजनवदने दुर्जनमुखे गुणा दोषायन्ते व्यभिचरति नैतत्कचिदपि ।
यथा जीमूतोऽयं लवणजलधेर्वारि मधुरम् फणी पीत्वा क्षीरं वमति गरलं दुःसहतरम्"॥

अ०—यह नियम है कि जैसे मेघ, समुद्र से खारे जल को पी कर उसे मधुर बना कर बरसते हैं वैसे ही सुजन लोग अपने ज्ञात, आरोपित वा सत्य, अन्य के दोषों को वचन के द्वारा गुण सा बना कर उगलते हैं । और जैसे सर्प, मधुरदुग्ध को पान कर भी दुःसह भयङ्कर गरल (बिष) को उगलते हैं वैसे ही दुर्जन लोग अपने हृदयस्थित आरोपित वा सत्य पराये गुणों को वचन के द्वारा दोष सा बना कर उगलते हैं । तात्पर्य यह है कि उक्त साहेब ने संहिताओं को अपने हृदय में पुरुषरचित समझा था जो कि आरोपितदोष है परन्तु कहते २ यही कहा कि ऋक्संहिता, यजु और सामसंहिताओं से तुल्यकाल ही है और इस कथन से वह दोष भी गुण हो

किंच स्वोक्तस्य व्याख्यानत्रयस्याविस्मरणीयत्वोक्तिरप्यविस्मरणीयैव। प्राचीनत्व-नवीनत्वसमकालिकत्वानामन्यतमं भविष्यत्येवेत्यपूर्वनिश्चयफलकत्वस्य 'चैत्रो जीवित एव यद्वा मृत एवे' ति वाक्य इव तत्रापि सत्त्वादिति साध्वी बुद्धिः। एवंभूतमपि, यदि व्याख्यानं नाम तदा 'चैत्रो जीवित एव यद्वा मृत एव' 'वेदोऽपि पौरुषेय एव यद्वा अपौरुषेयएवे' त्यादेः किं नाम नामेत्यपि बाह्यएव प्रष्टव्यः।

एवम् किंचेत्यारभ्य अनुमीयत इत्यन्तमपि निःसारमेव। प्राचीननवीनव्याकरण-प्रयुक्तस्य संहितामन्त्रशब्दसाधुत्वभेदस्यासिद्धस्य व्याकरणानभिज्ञानैकमूलतामपहाय गत्य-न्तरासंभवात्। किंच यदि वेदो निर्मीयेत तदा साधुत्वभेदेन काचिदुत्प्रेक्षाऽपि क्षमेत, पौरु-षेयत्वं तु बाह्येनासाधितमेवेति साधुत्वभेदस्याभ्युपगमेऽपि तस्यानादित्वादेवोत्प्रेक्षाऽनव-काशः,व्याकरणं त्वनुशासनमात्रं साधुत्वस्येति किमत्रोक्तौ सारम्। अपिच संहितास्वित्यारभ्य वक्तुमित्यन्तमपि मोचितम्, पाठभेदस्यानुपदमेव बाह्योक्तकारणत्रयातिरिक्तेन प्रकारेणोप-

॥ भाषा ॥

गया क्योंकि जब वेद अनादि हैं तब मन्त्ररूपी संहिताएं भी अनादि और तुल्यकाल ही हैं और यह तुल्यकाल होना गुण ही है न कि दोष। तथा उक्त साहेब ने जो यह कहा कि "मेरे इन तीन व्याख्यानों को सब अवसर पर भूलना नहीं चाहिये, अर्थात् ऋक्संहिता, यजु और सामसंहिताओं की अपेक्षा प्रथम बनी होगी अथवा पश्चात् अथवा साथ ही" सो यह साहेब की उक्ति भी भूलने योग्य नहीं है क्योंकि जो उनके सन्देह की तीन कोटियां हैं उनकी अपेक्षा चौथी कोटि का सम्भव ही नहीं है और यह नहीं ज्ञात होता कि जब उनको सन्देह ही रहा तो वह क्यों निर्णय लिखने लग-पड़े और उनके इस सन्देह से तो, उनके अभिप्राय के विरुद्ध यही सिद्ध होता है कि संहिताएं भी अनादि ही हैं क्योंकि यदि रचित होतीं तो वह अवश्य यह निश्चय कर सकते कि ये संहिताएं आगे पीछे बनीं वा साथ। और यह नहीं निश्चित होता कि अपने तीनों व्याख्यानों में क्या तत्त्व समझ कर उन्हों ने यह कहा कि इनको भूलना नहीं चाहिये क्योंकि जैसे यह वाक्य "दो में से एक बात अवश्य है कि देवदत्त मरगया वा जीता है" है ऐसा ही उनका वाक्य है। अर्थात् सन्देह का नाम, 'व्याख्यान' नहीं होता। संक्षेप यह है कि उक्त साहेब ने यदि मन्त्रों के विषय में तीन व्याख्यान दिया तो अनुचित ही है क्योंकि उन्हों ने मन्त्रों को किसी प्रमाण से, रचित नहीं सिद्ध किया है और यदि व्यासकृत संग्रहरूपी संहिता के विषय में उनका व्याख्यान है तो व्यर्थ ही है क्योंकि श्रीमद्भागवत के, पूर्वखण्डोक्तश्लोकों से यह सिद्ध ही हो चुका है कि तीनों संहिता एक समय में संगृहीत हुई तो उनके विषय में अटकलपच्चू बातों की क्या आवश्यकता है। और संहितारूपी संग्रहमात्र के आगे पीछे होने के निश्चय से उक्त साहेब वा किसी को लाभ ही क्या है ?।

"जो ऋचाएं सामसंहिता में आती हैं......संशोधन से सिद्ध हुई हैं"

(१) प्राचीन और नवीन व्याकरणों से शब्दों के साधुत्व, परस्पर में विरुद्ध नहीं हो सकते क्योंकि नवीनव्याकरण, प्राचीनव्याकरण का अनुसारी होता है और संहिताओं में पाठभेद की उपपत्ति पूर्व में दिखला दी गई है इस कारण उक्त साहेब का व्याकरणभेद कहना, व्याकरण न पढ़ने हीं का फल है।

(२) यदि वेद, रचित होता तो कदाचित् उसके रचना करने वाले पुरुष के दोष से

पादिततया गर्वत्रचनस्य खर्वतमत्वात् । नहि वाह्योक्तस्य वेदनव्यत्वाभिप्रायगर्भितस्य पाठ-भेदोपपादकस्य कारणत्रयस्य निवृत्तिमात्रात्सन्नप्यनादिः पाठभेदो निवर्ततामिति कथंचिदपि स्वीकारार्हम्,तदुपपादकान्तरस्यापदान्तरमेवोक्तत्वात् । ईदृश्येव च विषये न्यायाचार्योक्तो भीतविचारोपहास उल्लसति । तथाच आत्मतत्त्वविवेके न्यायाचार्याः—

केनचिद्भीतेन राजद्वारि द्विरदमालोक्य विकल्पितम् किम्, अयम् अन्धकारो मूल-

॥ भाषा ॥

शब्दों के साधुत्वभेद की शंका भी हो सकती परन्तु उक्त साहेब ने जब किसी दृढ़ प्रमाण से वेद का पौरुषेय होना नहीं सिद्ध किया तब वेद के अनादि होने में क्या सन्देह है और जब वेद अनादि है तब उसके शब्दों का साधुत्वभेद भी अनादि ही हुआ, तो अनादिपदार्थ पर आक्षेप कैसे हो सकता है। वेद के विषय में व्याकरण की शक्ति पूरी उलटी होती है अर्थात् लौकिकवाक्यों की, लोग व्याकरण के अनुसार रचना करते हैं और वैदिकवाक्य तो अनादि हैं इस कारण वेदशब्दों ही के अनुसार ऋषियों को व्याकरण बनाना पड़ता है। तो ऐसी दशा में वैदिक-पाठभेदों को व्याकरण का अनुसारी कहना अज्ञान ही है।

"अन्यथा इन ग्रंथों के मूलपाठ में भी जो असंख्य भेद हैं उनका तथा शाखाओं के भेदों का अन्य कारण नहीं कहा जा सकता"

उक्त साहेब ने अपने उक्त तीन व्याख्यानों में पाठभेद के जो तीन कारण बतलाया है उनसे अन्य चतुर्थ कारण अर्थात् लुप्तशाखाओं का पाठ, पूर्व में स्पष्टरूप से दिखला दिया गया है। तो ऐसी दशा में यह कहना कि "मेरे कहे हुए कारणों से अन्य कारण नहीं कहा जा सकता" केवल अभिमानमात्र है। इसमें कारण यह है कि वेद को पुरुषरचित मान कर उक्त साहेब ने अपने कहे हुए तीन कारणों से उक्त पाठभेद की घटना की है परन्तु उक्त पाठभेद का मुख्यकारण जो पूर्व में दिखलाया गया वह वेदों के अनादि होने ही से दृढ़तर है और वेद का अनादि होना यद्यपि पूर्वखण्ड में अनेक प्रबलप्रमाणों से सिद्ध किया गया और वास्तविक में सत्य भी है तथापि उक्त साहेब उन प्रमाणों को जानते नहीं थे और लौकिक स्थूलदृष्टि के अनुसार, वेद का अनादि होना उक्त साहेब की श्रद्धा से विरुद्ध भी था इसी से अनन्तरोक्त चतुर्थकारण पर उनकी दृष्टि नहीं गई जिससे उन्हों ने यह अभिमानवाक्य लिखा कि "अन्य कारण नहीं कहा जा सकता" उक्त साहेब को उचित था कि "वेद पौरुषेय है वा अपौरुषेय" इस विचार को किसी निपुण मीमांसक पण्डित से निपटा कर जो निश्चित होता उसके अनुसार व्याख्यान करते। और अपने व्याख्यानों से पाठभेद के जिन कारणों का सन्देह उन्हों ने किया उनमें से एक कारण भी यदि घटित न हो, तो इससे वास्तविक स्वतःसिद्ध और अनादि उक्त पाठभेद, क्या मिट सकता है? कदापि नहीं क्योंकि किसी सिद्ध वस्तु के विषय में कोई पुरुष अपने मनमाने दो चार प्रकारों को कह कर उनका खण्डन कर दे तो इससे उस सत्य वस्तु का स्वरूप नहीं मिटता। इस विषय में आत्मतत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ में न्यायाचार्य उदयन ने एक दृष्टान्त भी कहा है जो लिखा जाता है कि—

"किसी मनुष्य ने राजद्वार पर स्थित दन्तावल हस्ती को देख कर यह विकल्प (सन्देह) किया कि (१) यह, क्या अन्धकार है जो कि मूली खा रहा है। (२) किंवा मेघ है जो कि बकुलों

कमस्ति ? आहो स्वित्, जलवाहो बलाकान्वर्षति गर्जति च ? यद्वा, बान्धवोऽयम् ? 'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव' इति परमाचार्यवचनात्। अथवा, योऽयं भूमौ दृश्यते तस्य च्छाया ? इति। दूषितं च, तत्र न द्यः, तस्य शूर्पयुगलप्रस्फोटनाभावात्। न द्वितीयः तस्य स्तम्भचतुष्टयाभावात्। न तृतीयः। तस्य लगुडभ्रमणाभावात्। न चतुर्थः, तस्य नरशिरःशतोद्गिरणाभावात् ततो न किंचिदिदमिति। किमेतावता द्विरदरूपं निवर्ततामिति।

एतेन नहि तदानीमित्यारभ्य उपलभ्यमानत्वादित्यन्तमपि प्रतिक्षिप्तम्। एवम् यद्यपीत्यादिकमप्यश्रद्धेयमेव। रचितत्वस्यैव प्रत्याख्यातपूर्वतया सिन्धुनदीतीरे रचितत्वोक्तेरप्यन्ताप्रामाणिकत्वात्, ऋङ्मन्त्राणां संग्रहक्रमस्थापनसंभावनंचार्यदेशेष्वेवाभूदिति तु नास्माकं प्रतिकूलम्, मन्त्रापौरुषेयत्वाप्रतिकूलत्वात् किंत्वनुकूलमेव व्यासकर्तृकसंहितानिर्माणोक्तेरनुकूलत्वात्। यत्तु किंतु कदाऽभूदिति न प्रतिपादयितुं शक्यत इति तत्तु युक्तमेव, पुराणादिष्वधीतिना हि द्वापरस्यास्याव्यवहितस्यान्ते तदभूदिति वक्तुंशक्यते नतु पुराणादिविद्वेषिणा वेदबाह्येनापीति किमत्राश्चर्यम्।

॥ भाषा ॥

को बरसाता और गर्जता भी है। (३) यद्वा मेरा बन्धुजन है क्योंकि बड़े आचार्य ने कहा है कि "राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः" (राजद्वार और श्मशान में जो खड़ा होता है वह बन्धुजन है) (४) अथवा यह जो (हस्ती) भूमि पर देख पड़ता है इसी की छाया है। ऐसा विकल्प कर प्रत्येकपक्ष का खण्डन भी यों किया कि (१) कल्प (पक्ष) ठीक नहीं है क्योंकि अन्धकार दो शूर्पों (सूप) से फटकता नहीं रहता, (२) कल्प भी उचित नहीं है क्योंकि मेघ के नीचे चार स्तम्भ नहीं लगे रहते, (३) कल्प भी दुष्ट है क्योंकि यह, बन्धुजन होता तो मुझे देख कर मेरी ओर मोटा लठ्ठ क्यों घुमाता, (४) भी युक्त नहीं है क्योंकि छाया, अनेक नरमुण्ड नहीं उगला करती। ऐसा खण्डन कर उस महाशय ने कहा कि इस विषय में मेरी अगाधबुद्धि के अनुसार चारो प्रकार नहीं हो सकते तो यह कोई पदार्थ ही नहीं है"। ऐसा कह कर न्यायाचार्य ने यह कहा है कि क्या इस खण्डन से वास्तविक हस्ती का स्वरूप निवृत्त हो जाता है ? कदापि नहीं।

"यद्यपि० ० ० ० ० ० ० ० ० ० किस समय में हुआ"

जब वेदों का, रचित अर्थात् पौरुषेय होना ही उक्त साहेब ने किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया तब "सिन्धुनदी के तीर में रचा गया" इत्यादि उनका कथन नहीं प्रामाणिक हो सकता है। और "ऋग्मन्त्रों का संग्रह और क्रम का स्थापन आर्यदेश ही में हुआ" यह उनका कथन वैदिकों के प्रतिकूल नहीं है क्योंकि जब मन्त्र अपौरुषेय हैं तब उनका संग्रहमात्र अर्थात् संहिता तो आर्यदेश ही में व्यास के द्वारा व्यवस्थापित हुई यह बात भागवत के श्लोकों से पूर्वखण्ड में कही गई है। और व्यास का स्थान, आर्यदेश को छोड़ अन्य देश में नहीं था। तथा उक्त साहेब ने जो कहा कि 'मन्त्रों का संग्रह कब हुआ यह नहीं ज्ञात होता' यह उनका कथन कुछ आश्चर्य नहीं है क्योंकि पुराणादिग्रंथों के पढ़नेवाले ही पुरुष यह जान सकते हैं कि इस गत द्वापरयुग के अन्त में कृष्णद्वैपायनव्यास ने मन्त्रों का संग्रहरूपी संहिताओं की रचना की, और जो वेदवाह्यपुरुष, पुराणादिग्रंथों को बिना देखे सुने दूर ही से द्वेष के आवेश में आ कर उनकी निन्दा करते हैं वे कैसे जानेंगे कि मन्त्रसंहिताओं का बिभाग कब हुआ।

एवम् कतिपयेत्यतः, वक्ष्यत इत्यन्तमपि मनोमोदकभोजनमेव । रचनायाः पूर्वमेव निराकरणात् । शाकल्यपाञ्चालबाभ्रव्ययोः संहिताक्रमव्यवस्थापकताया उक्तावप्यनन्तरोक्तरीत्या तयोरजन्यत्वात् । तस्या आख्यायिकाया भूतार्थवादतया संहितामन्त्रस्तुतिमात्रतात्पर्यकत्वेन 'पर्वताग्रे रथोयाती' त्यादिवाक्यानामिव वाच्यार्थे तात्पर्याभावेन ततस्तादृशभागनवीनताऽभाशाया बन्ध्यादौहित्राशायमानत्वाच । विदेहपञ्चालादिशब्दानामपि 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गाव' इत्यादिमन्त्रेषु पूर्वखण्डोद्धृतमीमांसावार्तिकोक्तया रीत्या प्रवाहनित्यार्थकतया ततोऽपि विदेहादिवृद्धिसमयोत्प्रेक्षाया मीमांसापरिचयाभावमूलकत्वाच । वेदस्थलुङादीनामभूतकालार्थतामुपपाद्य लट्समानयोगक्षेमताया अस्मिन्नेव क्षुद्रोपद्रवविद्रावणप्रकरणे सिद्धान्तयिष्यमाणतया तादृशाख्यानादौ तत्सत्त्वेऽपि ततस्तन्मन्त्रभाग-

॥ भाषा ॥

"कुछ खण्ड ० ० ० ० ० ० आगे दिखलावेंगे."

(१) यह भी मन का लड्डू खाना ही है क्योंकि वेद अनादि है और उस पर, रचित होने का आरोप मिथ्या ही है ये दोनों बातें वेद की अपौरुषेयताप्रकरण और इस प्रकरण में भी जब सिद्ध हो चुकी हैं तब ऐसी दशा मे पुनः वेद के विषय में रचना का नाम लेना मन का मोदक खाना नहीं है तो और क्या है ?

(२) यदि शाकल्य और पाञ्चालबाभ्रव्य का, संहिताक्रम के प्रति व्यवस्थापक होना थोड़े समय तक मान लिया जाय तब भी मन्त्रों के अनादि होने में कोई क्षति नहीं हो सकती क्योंकि क्रम की व्यवस्था को, रचना नहीं कहते ।

(३) वस्तुतः, वेद में शाकल्य और पाञ्चालबाभ्रव्य की कथा जो है सो मालतीमाधव, सिद्धान्तचन्द्रोदय, आदि नाटकों के नाई आख्यायिकामात्र है इससे उसका अपने अर्थ में तात्पर्य ही नहीं है किन्तु मन्त्रों की प्रशंसामात्र में उसका तात्पर्य है और शाकल्य आदि नाम मालती आदि नामों के नाई उसमें कल्पित ही हैं और अर्थवाद के प्रकरण में पूर्व हीं यह भली भांति सिद्ध हो चुका है कि जिस अर्थ में तात्पर्य न हो उस अर्थ के मिथ्या होने से कोई वाक्य मिथ्या नहीं हो सकता जैसे पहेली आदि । तो ऐसी दशा में मीमांसादर्शन के इस सिद्धान्त को पढ़े और समझे बिना, उक्तकथा से वेदभाग की नवीनता की आशा, बन्ध्या स्त्री से दौहित्र (बेटी का बेटा) की आशा के समान असम्भव ही है ।

(४) "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः" इस मन्त्र के विषय में मीमांसावार्तिक की कही हुई और मन्त्रप्रकरण में पूर्व हीं स्पष्टरूप से दिखलाई हुई रीति के अनुसार उक्त वैदिकआख्यायिका में विदेह, पंचाल, आदि शब्द के देशविशेषरूपी अनित्य अर्थ नहीं हो सकते, किन्तु अनेक सृष्टियों में वर्तमान विदेह आदि अनेक देशों की परम्परा ही अर्थात् विदेहत्व आदि जातिरूपी नित्यही वस्तु उन शब्दों के अर्थ हैं तो ऐसी दशा में "विदेह और पंचालों के समृद्धिसमय" यह कथन मीमांसा के परिचय न होने हीं का फल है ।

(५) जब कि इसी क्षुद्रोपद्रवविद्रावणप्रकरण में आगे चल कर इस सिद्धान्त का वर्णन होगा कि वेद में ऐसा कोई शब्द नहीं होता जो कि भूतकाल का बोधक हो, तब ऐसी दशा में उक्तकथा से भूतकालिकवृत्तान्त को निकाल कर उसके अनुसार किसी मन्त्रभाग को नवीन

नव्यतालाभासंभवाच्च । निर्माणानुमाने दोषाणां पूर्वमुक्तत्वेन तत्कथनस्य शुष्कचर्वणायितत्वाच्च । एवम् सामेत्यारभ्य नाभूदित्यन्तमपि निरुपपत्तिकम् । सामसंहिताया रचना हि तन्मन्त्राणां रचना वा तत्संग्रहो वा । नाद्यः । तस्याः पूर्वमेव निरस्तत्वात् । न द्वितीयः । सामसंहितायाः पर्यालोचनया तदलाभस्य भूषणत्वात् । नहि कस्याश्चिदपि संहितायाः पर्यालोचनया तत्संकलनासमयो निर्णेतुं शक्यते । पुराणादित एव त्वव्यवहितद्वापरान्तरूपसमयलाभः सर्वस्यामेव संहितायां सम्भवतीति ह्युक्तमेव । किंच तस्यां सामसंहितायामनुपनिबन्धमात्रेण न कस्यचिदृक्संहिताभागस्य नव्यत्वमनुमामाक्रामति, सामसंहिताऽन्तरेषु लुप्तशाखीयेषु भूयःसु कुत्रचित्तदुपनिबन्धस्य सुवचत्वात् । साममन्त्राणां गानमात्रशरीरताया व्यवस्थापितपूर्वतया सतीनामपि गानायोग्यतया सामयोनितामनापन्नानामृचां सामसंहितायामनुपनिबन्धस्यैवौचित्येन व्यभिचाराच्च । अपिच अद्ययावदस्मिन्विषये समुचितमन्वेषणं नाभूदिति यदा स्वयमेवोच्यते तदा किमन्यदत्रवक्तव्यम् । तथा यजुष-

॥ भाषा ॥

बनाना अज्ञान ही है ।

"सामसंहिता सर्वथा ० ० ० ० ० अच्छा अन्वेषण अब तक नहीं हुआ"

(१) सामसंहिता की रचना, क्या साममन्त्रों की रचना है ? अथवा उनका संग्रह मात्र ? मन्त्रों की रचना, पूर्व हीं खण्डित हो चुकी और अनादिता स्थापित हो चुकी तो ऐसी दशा में केवल रचनाशब्द के उच्चारण से क्या लाभ है ? और सामसंहिता के पर्यालोचन से यदि उसके आरम्भसमय का पता नहीं चलता तो यह कोई दूषण नहीं है क्योंकि किसी मन्त्रसंहिता में यह नहीं कहा है कि संग्रहरूपी उस संहिता का आरम्भ अमुक समय में हुआ । और जब सब संहिताओं की यही दशा है तो सामसंहिता ही पर क्या विशेष आक्षेप है ?। और पूर्वखण्ड में तो यह कहा ही जा चुका है कि गत द्वापर के अन्तिम समय में मन्त्रों का संग्रहरूपी संहिताएं बनी हैं तथा यह बात उक्त पुराणवाक्यों से सिद्ध है तो ऐसी दशा में पुराणों के न जानने वाले उक्त साहेब को यदि पता नहीं चला तो इसमें क्या आश्चर्य है ।

(२) इस वर्तमान सामसंहिता में किसी ऋक्मन्त्र के न रहने मात्र से ऋक्संहिता के किसी भाग के नवीनत्व का अनुमान कदापि नहीं हो सकता क्योंकि बहुत सी सामसंहिता लुप्त हो गई हैं जिन में उस ऋक्मन्त्र का सम्भव है। और यह कोई नियम भी नहीं है कि जितनी ऋचाएं हैं सब को सामसंहिता में आ जाना चाहिये क्योंकि पूर्वखण्ड में उक्तरीति से यह सिद्धान्त हो चुका है कि साममन्त्र अक्षररूपी नहीं हैं किन्तु गानरूपी हैं तो जितनी ऋचाओं में साममन्त्रों के गान होते हैं उतनी हीं ऋचाएं सामसंहिता में हैं । और जिनमें गान नहीं होता वे ऋचाएं कैसे सामसंहिता में रहने योग्य हैं ? इसी से वे ऋचाएं सामसंहिता में नहीं हैं तो इससे कैसे नवीनत्व का अनुमान हो सकता है ? क्योंकि वे ऋचाएं अनादि ही हैं परन्तु गानयोग्य न होने से सामसंहिता में नहीं पढ़ी गई । और जब उक्त साहेब अपने मुख से कहते हैं कि "इस विषय में पूर्ण अन्वेषण नहीं हुआ" तब इस विषय में अधिक कहना ही क्या है ?

"यजुर्वेद की दोनों संहिताओं ० ० ० ० ० अर्थात् कुरु पंचाल देशों में"

(१) जब उक्त साहेब ने किसी प्रमाण से वेद की पौरुषेयता नहीं सिद्ध किया है

इत्यनन्तरम् लभ्यतइत्यन्तमपि आशामोदकायतएव । अपौरुषेयैर्वेदैर्विहितानां धर्माणां प्रवाहानादितया ब्राह्मणजातीयपुरुषरचितत्वे मानाभावेन तदुक्तेर्ब्रह्मद्रोहैकदोइदत्वेनोपेक्षणीयत्वात् । ब्राह्मणानां प्रभुत्वोक्तेरपि तादृशसंभावनोल्लासैकसहायत्वाच्च । यजुर्गद्यरचनानामाख्यायिकात्वेन तद्वाच्यार्थमादाय स्वमनोरथपूरणस्याकौशलैकमूलकत्वाच्च । को हि नाम परीक्षकः प्रहेलिकानां वाच्यार्थं प्रमाणीकृत्योपवर्णयेदन्तरेणासूयकम् । तथा किंचेत्यादिकम् दृश्यतइत्यन्तमपि, स्वमानसोल्लासमात्रम् । अप्रयोजकत्वात् नह्येकमपि किंचिन्नामैकस्यैव भवतीति कोऽपि धीमान्वक्तुमर्हति । 'नाम्नां ग्रामाणां च नियमो नास्ती' तिप्रवादस्य हालिकपर्यन्तमपिप्रसिद्धेः अन्यथा गिर्जादिनामधेयानुसारेण वेदवाह्यं प्रत्यपि तदनिष्टस्य भगवतीभक्तत्वादेः प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् नहि प्रमाणान्तरगम्येऽर्थे नामापि पाश्चात्यां संभावनां प्रसूय प्रमाणसहायीभवतीत्येतावतैव सर्वत्रैव प्रमाणशून्ये बाह्योक्ते 'खिस्ताब्देभ्य' इत्याद्यर्थेऽपि तत्प्रमाणं स्यादिति वक्तुं शक्यम् ।

एवम् योऽयमथर्वेत्यादिकम् तुल्यानीत्यन्तमपि निःसारमेव । धर्मब्राह्मणलोकरचितत्वस्यात्यन्ताप्रमाणिकत्वात् । तस्यापौरुषेयवेदमूलकत्वेनप्रवाहानादितायाअसकृदावेदितत्वाच्च ।

॥ भाषा ॥

और पूर्वखण्ड में वेद की नित्यता तथा धर्मों के प्रवाह की अनादिता प्रबलप्रमाणों के द्वारा सिद्ध हो चुकी है तब उक्त साहेब का यह कथन कि "वेद को ब्राह्मणजातीय पुरुषों ने बनाया" केवल द्वेषमूलक अथवा भूल ही से है तथा यह कथन भी कि "ब्राह्मणों का प्रभुत्व था" असूयामात्र (गुण में दोष निकालना) ही है क्योंकि वेद में कही हुई, पहेलियों के समान प्रशंसामात्र में तात्पर्य रखनेवाली कल्पितआख्यायिका को, उनके वाच्यार्थ में भी प्रमाणित कर उनके अनुसार आक्षेप करना असूयक ही का काम है ।

"यह बात भी ० ० ० ० ० प्रधान सम्प्रदाय है मिलता है"

यह भी उक्त साहेब की कल्पनामात्र है क्योंकि कोई बुद्धिमान् यह नहीं कह सकता कि एक नाम एक ही पुरुष का होता है किन्तु ग्रामीण भी कहते हैं कि "नाम और ग्राम का ठिकाना नहीं होता" । और ऐसा ही ठीक भी है क्योंकि यदि नाममात्र ही से अर्थ लगाया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि "गिर्जा" गिरिजा शब्द का अपभ्रंश (खराबी) है और गिरिजा नाम भगवती का है तथा गिरिजा के उपासक उक्त साहेब और उनके सजातीय लोग, भगवती के भक्त हैं निदान किसी नाममात्र के अनुसार कोई कल्पना ठीक नहीं हो सकती किंतु कल्पना के लिये प्रमाण होना आवश्यक होता है । यह दूसरी बात है कि प्रबल प्रमाणों से जब कोई विषय सिद्ध हो चुका और अन्य कोई प्रबल प्रमाण उसके विरुद्ध नहीं है तब उस विषय में नाम का भी अनुसार दिखला दिया जाता है अर्थात् नाम के अनुसारमात्र से उक्त साहेब का यह कथन "शुक्ल यजुर्वेद की संहिता का वर्तमान विन्यास सन् ईसवी से पहिले तीसरी सदी में हुआ है" अनुचित ही है ।

"अथर्वसंहिता का ० ० ० ० ० ऋक् संहिता के समान है"

(१) यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस विषय में उक्त साहेब ने कुछ भी प्रमाण नहीं दिया कि "धर्म, ब्राह्मणों के बनाए हुए हैं"

(२) यह अनेकबार पूर्व ही सिद्ध हो चुका है कि धर्मों का प्रवाह नित्य वेदमूलक

गातसमूहस्यार्थान्तरपरतया प्रवाहानित्यार्थकतायाअपि पूर्वमुपपादितत्वाच्च । किंच । तु ऋग्गीतान्येव नतु तत्तुल्यानि । पादव्यवस्थारूपोक्तर्ग्लक्षणस्य तेषु बर्तमानत्वात् । ब्राह्मस्य तु तल्लक्षणानभिज्ञस्य लुप्तशिष्ठा बेदव्याससंकलिते शाकलऋक्संहिताग्रन्थे ये मन्त्रास्त एवर्क्-पदेनोच्यन्ते नत्वन्य इति भ्रम एव ।

एवम् ऋगर्थेत्यादिना महाकुलीनेष्वेवेत्यन्तेन ऋगथर्वसंहितयोर्यो भावभेदः प्रकारत्रयेण बर्णितः स प्रकृते निष्प्रयोजनएव, अनुवादमात्रत्वेतु न नः का ऽपि हानिः ।

तथा किंचेत्यादिकमपि तात्पर्याज्ञानबिलसितमेव, कलहाख्यायिकाया अर्थवादतया ऋग्वेदादित्रयसाध्ययज्ञानां प्रशंसामात्रे तात्पर्यात् । तथाच शाबरम् 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुम्प्रवर्तते किंतु बिधेयं स्तोतुम्' इति ।

तथा अपिचेत्यादिकमप्यनर्गलमेव । तथाहि । प्राचीनर्ग्वेदादिब्राह्मणखण्डेष्वित्यनेन किं लुप्तब्राह्मणखण्डेषु कानि चिद्विवक्षितानि अहोस्वित् शिष्टेषु ब्राह्मणेषु ? नाद्यः तेषां लुप्तत्वादेव तेष्वथर्वगीतानुल्लेखस्य दुर्ज्ञानतयाऽसिद्धेन हेतुनाऽनुमानस्यैवासंभवात् । न द्वितीयः । शिष्टेष्वथर्वगीतानामनुपलम्भेऽपि लुप्तेषु तेषामुल्लेखसंभवेन तादृशानुपलम्भस्याथर्वगीतरचना-

॥ भाषा ॥

और अनादि है । और यह भी कहा जा चुका है कि जिन ऋचाओं को उक्त साहेब गीत बतलाते हैं उनका कोई अर्थ, अनित्य नहीं है किंतु उनके अर्थों का प्रवाह नित्य ही है ।

(३) साहेब की कही हुई अथर्वसंहिता की गीतें ऋक्संहिता की गीतों के समान नहीं हैं किंतु वेही हैं क्योंकि मन्त्रप्रकरण में ऋचाओं का पादव्यवस्थारूप लक्षण, जो पूर्वही कहा जा चुका है अथर्वसंहिता के मन्त्रों में वही बर्तमान है । उक्त साहेब को तो उक्त लक्षण ज्ञात नहीं था इसी से उनको यह भ्रम हो गया कि बर्तमान ऋक्संहिता में जितने मन्त्र पढ़े हुए हैं उतने ही को ऋचा कहते हैं ।

"और ब्राह्मण लोगों के ० ० ० ० ० ० मुख्य अधिकार में थे"

यहां उक्त साहेब ने ऋक्संहिता और अथर्वसंहिता के अभिप्रायों में तीन प्रकार से भेद दिखलाया है वह भी अनुबादमात्र है और उस से बैदिक सिद्धान्त में कोई हानि भी नहीं है ।

"बड़ा भारी कलह के अनन्तर" इत्यादि—

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि बेद की कथाएं प्रायः कल्पित आख्यायिकारूपी होती हैं । वैसे ही यह कलह की आख्यायिका भी अर्थवाद ही है और इसका तात्पर्य ऋग्वेद आदि की प्रशंसामात्र में है नकि अथर्वबेद की निन्दा में । इसी से मीमांसाभाष्यकार शवरस्वामी ने कहा है कि "निन्दावाक्यों का किसी की निन्दा में तात्पर्य नहीं होता किंतु विधेय की प्रशंसा ही में" ।

"उनका नामोल्लेख ० ० ० ० ० ० उनकी चर्चा आई है"

(१) यह भी असंवद्ध ही है क्योंकि "प्राचीन ब्राह्मणखण्ड" शब्द से उक्त साहेब ने यदि लुप्त ब्राह्मणखण्डों को कहा है तो जब वे लुप्त ही हैं तब उक्त साहेब को कैसे ज्ञात हुआ कि उनमें अथर्वगीतों का उल्लेख नहीं है, और जब यह बिषय ज्ञात नहीं है तब किस भरोसे पर उक्त अनुमान खड़ा हो सकता है ? । और यदि "प्राचीन ब्राह्मणखण्ड" शब्द से बर्तमान ब्राह्मणभागों को साहेब ने कहा है तो उसपर यह कहा जा सकता है कि इन ब्राह्मणखण्डों में अथर्वगीत के

कालविशेषानुमानेऽनैकान्तिकत्वात् । किंच बेदरचनायाः पूर्वमेवोन्मूलनेन तद्घटितसाध्याप्रसिद्ध्या कथमिदमनुमानं संभवपथमप्यवतरीतुमीशीत। अपिच। ऋग्वेदादिब्राह्मणग्रन्थानां नूतनेषु भागेष्वथर्वगीतचर्चेति स्वयमेव बाह्येनोच्यते तत्रच खण्डानां प्राचीनत्वनवीनत्वयो रुक्तेन पौरुषेयत्वनिराकरणेनैव निराकृतत्वात्केषुचिद्ब्राह्मणखण्डेष्वथर्वगीतोल्लेखो न सर्वेष्वित्येवपर्यवस्यति एतावता च न कथमप्यथर्वगीतविषये किंचिदुत्प्रेक्षितुमपि शक्यते । नहि सर्वखण्डेषु तदुल्लेख इति कश्चिदपि बैदिको मन्यते, तस्मादथर्वगीतरचनाकालविशेषानुमानमत्यन्तासंभवदुक्तिकमेव । तत्तत्समयविशेषवशेन प्रचारोत्पत्तिविनाशविमर्ददर्शनापमर्दितविवेकशक्तेस्तु बेदबाह्यस्य प्रचारगतयोरेव प्राचीनत्वनवीनत्वयोर्ऋग्वेदादिब्राह्मणानां तेषु तेषु खण्डेषु भ्रमस्तं मुखरीकरोतीतित्वन्यत् ।

तस्मात् ।

प्रज्ञाचक्षुः करामर्शान्नीलत्वादि विकल्पयन् ।
वाच्यश्चेद्वेदबाह्योऽपि वाच्य एवं वदँस्तदा ॥ १ ॥

यत्तु तेनैव, ब्राह्मणभागग्रन्थानुपक्रम्य बहुशः प्रशस्य तद्रीतीश्च यथामति सामान्यतो-वर्णयित्वा तद्रचनासमयसंभावनादिकमुपन्यस्तम् तदपि पूर्वोक्ततदुक्तिप्रत्युक्तियुक्तिभिरेव

॥ भाषा ॥

उल्लेख न होने से वह क्या सिद्ध कर सकते हैं ? जब कि लुप्त ब्राह्मणखण्डों में उनके उल्लेख का सम्भव है। और लुप्तों में तो उनका उल्लेख न होना निश्चित ही नहीं हो सकता तो कैसे अथर्वगीत की रचना के काल का अनुमान हो सकता है ?

(२) सच्ची बात तो यह है कि बेद के बिषय में जब रचना, पूर्व ही पूर्णरूपसे खण्डित हो चुकी और उक्त साहेब ने भी उक्त रचना में कुछ भी प्रमाण नहीं दिया तो बार २ रचना का नाम लेना उक्त साहेब का निर्मूल और नाम ही नाम है ।

(३) जब कि उक्त साहेब अपने मुख से यह कहते हैं कि "ऋग्वेद आदि के ब्राह्मणग्रन्थों के अति प्राचीन खण्डों में अथर्वगीतों का नामोल्लेख नहीं है" और इस ग्रन्थ में पूर्वोक्त प्रकार से बेदकी पौरुषेयता के खण्डित होने से बेदखण्डों का उक्त प्राचीनत्व नवीनत्व भी मूल ही से खण्डित हो चुके तब साहेब के अनन्तरोक्त वाक्य का पर्यवसित (निचोड़) अर्थ यही हुआ कि "किसी २ ब्राह्मणखण्ड में अथर्वगीतों का उल्लेख है नकि सब में" तो इतनेमात्र से अथर्वगीतों के विषय में कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि यह कौन बैदिक कहता है कि 'सब ब्राह्मणखण्डों में अथर्वगीतों का उल्लेख है' कि जिसके खण्डन के लिये साहेब का यह परिश्रम है। तस्मात् अथर्वगीत की रचना के काल का अनुमान जो उक्त साहेब ने किया है सो खेल ही खेल है। सत्य तो यह है कि समय २ में बैदिक सम्प्रदाय के प्रचार का ह्रास और वृद्धि के अनुसार उक्त साहेब को बेद के खण्डों में प्राचीनत्व और नवीनत्व का भ्रम हो गया ।

पृ० १५ प० १४ से, पृ० २० प० १६ तक जो उक्त साहेब ने ब्राह्मणभागों की बहुत प्रशंसा कर उनकी रीतियों का बर्णन किया है उसमें मुझे कहना नहीं है। और उनकी रचना-समय के बिषय में जो कुछ संभावना (अटकल) उक्त साहेब ने दिखलाया है वह तो अनन्तरोक्त ही युक्तियों से चूर्णीभूत हो गया। तथा उक्त पंक्ति के आगे जो सूत्रों के बिषय में उक्त साहेब ने

प्रत्युक्तमित्यलं पुनस्तदुपन्यासेन ।

सूत्राणां तु वेदत्वमेव नास्तीति तद्विषये बाह्योक्तेर्नेदानीं निराकरणावसर इति बोध्यम् ।

यत्तु तेनैव, अथ वेदानां विषये पृथग्विचार इत्युपक्रम्य ऋग्वेदविषये, उपाख्यानानां ब्राह्मणभागनिबद्धानां वाच्यार्थमात्रमनुसृत्य पौराणिकतत्तदुपाख्यानमालोच्य तयोर्योजनया अमुकोऽमुकस्य सम्बन्धी अमुकसमयेऽभूदित्यादिकं महता ग्रन्थेन प्रपञ्चितम् तत्तु पूर्वतर-मन्त्रवग्रन्थे प्रतिपादितस्यार्थवादाधिकरणस्यापरिचयाद्गगनमुष्टिग्रहायमाणमेव । नह्यर्थवाद-भूताभ्योवैदिकीभ्य आख्यायिकाभ्यः स्तुतिनिन्दे विहाय किंचिदन्यदपि वृत्तान्तादिकं लब्धुं शक्यते इति पूर्वं प्रतिपादितत्वात् पौराणिकानामैतिहासिकानां चोपाख्यानानां तत्त्वं तु पुराणे-तिहासप्रमाण्यनिरूपणावसरे वर्णयिष्यते ।

सामवेदविषये विचार्यते इति प्रतिज्ञाय तु तेन तद्रीत्यादिकमेवोक्तमतस्तत्र किमालोचनीयम् ।

यदपि तेनैव, शुक्लयजुर्वेदमुपक्रम्य क्वचित्सप्रमाणकमिव किंचिदुत्प्रेक्षितं तदुपन्यस्यते ।

प्रायस्तु वैदिकीराख्यायिका एवाश्रित्यास्मिन् प्रकरणे सकला एवोत्प्रेक्षाः, 'अत्र रुद्राध्यायः पश्चाद्रचयित्वा योजित' इति ।

'प्रायो वैदिकशास्त्रग्रन्थानामत्यन्तमेव लोपोऽभूदिति महान् खेद इति च' । तत्रोच्यते, रुद्रा-ध्यायविषयतावदुत्प्रेक्षा द्वेषाभिनिवेशमूलिकैव, वेदे रुद्राध्यायस्या-

॥ भाषा ॥

कहा है उसपर इस समय विचार करने का अवसर नहीं है क्योंकि वेदविषयक ही विचार का यह प्रकरण है ।

पृ० ४३ पं० १९ से, पृ० ७६ पं० ८ तक, उक्त साहेब ने ब्राह्मणभागों में वर्तमान, ऋग्वेदविषयक आख्यायिकाओं का तात्पर्यार्थ छोड़कर वाक्यार्थ के अनुसार उनको पौराणिक उपाख्यानों के साथ योजित किया और उस से यह निकाला कि अमुक का सम्बन्धी अमुक, अमुक समय में हुआ इत्यादि । इसपर हमको इस समय इतना हीं कहना है कि पूर्वहीं वेददुर्गसज्जन में जो अर्थवादाधिकरण का वर्णन किया गया है, उक्त साहेब उस से परिचित न थे क्योंकि उसमें स्पष्टरूप से यह सिद्धान्त किया गया है कि विधेय और निषेध्य की स्तुति और निन्दा से अतिरिक्त किसी वृत्तान्त आदि अर्थ में वैदिक आख्यायिकाओं का तात्पर्य नहीं होता, वहां की युक्तियों का यहां पुनः लिखना ग्रन्थविस्तार का कारण होगा इस से जिस महाशय को देखना हो वे उसी प्रकरण में देख लें । पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों का तत्त्व तो आगे चलकर पुराण के प्रकरण में दिखलाया जायगा ।

इस ७६ पृष्ठ से ऊपर पृष्ठ १६२ तक उक्त साहेब ने कोई प्रामाणिक सी और अति विरुद्ध बात नहीं लिखी है कि उसपर कुछ विचार की अवश्यकता हो । पृ० १६२ पं० १७ से, पृ० १८४ पं० ६ तक शुक्लयजु संहिता के विषय में उक्त साहेब ने जो कुछ वर्णन किया है वह सब प्रायः वैदिक आख्यायिकाओं के आश्रय से संभावनामात्र ही है । केवल एक नवीन वार्ता उसमें यह कही है कि "अध्याय १६ जिसमें नमस्ते आदि ६६ मन्त्र हैं और जिसे रुद्राध्याय कहते हैं वह, शुक्लयजुसंहिता में पश्चात् कल्पित कर मिलादिया गया है"

इसपर कथनीय यह है कि यजुर्मन्त्रसंहिता जिसकी संकलित है-उन्हों ने अर्थात् कृष्ण-द्वैपायनव्यास ने अर्जुन के ही प्रति महाभारत में अपने मुख से यह कहा है कि शतरुद्रिय अर्थात्

नादित्वात् । अतएव 'साऽस्यदेवते' त्यर्थे 'शतरुद्राद्घँश्चे' ति वार्तिकेन भगवान् कात्यायनो-रुद्राध्यायवाचिनः शतरुद्रियशब्दस्य साधिमानं सस्मार । रुद्रमहादेवादिशब्दाश्च श्री १००८ परमेश्वरवाचिनएव । सर्वंचैतत् अर्जुनं प्रति भगवता कृष्णद्वैपायनेन व्यासेन सप्रपंचमुपवर्णितम् महाभारते द्रोणपर्वणि नारायणास्त्रमोक्षपर्वणि शतरुद्रिये २०३ अध्याये । तद्यथा ।

धृराष्ट्र उ० तस्मिन्नतिरथे द्रोणे निहते पार्षतेन वै ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वस्ततः परम् ॥ १ ॥
संजय उ० तस्मिन्नतिरथे द्रोणे निहते पार्षतेन वै ।
कौरवेषु च भग्नेषु कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥

अत्र भारतभावदीपः। तदेवं विष्णोः शिवमयत्वं व्याख्याय विष्णुत्राणात्तन्मयस्य जगतस्त्राणमपि शैवमेवकर्मेत्युक्तम् । तस्मिन्नित्यत आरभ्य पर्वसमाप्तिपर्यन्तस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यमपि भूभारावतारहेतुरपि शिवएवेति ।

दृष्ट्वा सुमहदाश्चर्यमात्मनो विजयावहम् ।
यदृच्छयाऽऽगतं व्यासं पप्रच्छ भरतर्षभ ॥ ३ ॥
अर्जुन उ० संग्रामे न्यहनं शत्रून् शरौघैर्विमलैरहम् ।

॥ भाषा ॥

रुद्राध्याय, वेद में है । और रुद्र, महादेव, आदि शब्द परमेश्वर के वाचक हैं इत्यादि । तथा 'शतरुद्रिय' यह नाम भी अनादि है क्योंकि इस नाम के साधुत्वार्थ कात्यायनमहर्षि ने एक वार्तिक-वाक्य ही निर्मित किया है कि 'शतरुद्राद्घंश्च' (शतरुद्र शब्द से घन् और छ प्रत्यय हों अर्थात् शतरुद्रियम् और शतरुद्रीयम् दो रूप होते हैं) इस से भी यह सिद्ध होता है कि यजुर्वेद में रुद्राध्याय का पाठ अनादि है । और उस भारतभाग को, केवल उक्त साहेब के खण्डनार्थ ही नहीं, किंतु पाठ, श्रवण और अर्थबोध के द्वारा जगत् के सब प्रकार मंगल के लिये इस अवसर पर दिखाना अत्यावश्यक है क्योंकि श्रौत (वैदिक) शतरुद्रिय ही के मूल से यह स्मार्त (स्मृति का) शतरुद्रिय कृष्णद्वैपायन व्यास ने अर्जुन से कहा है जो यह है । महाभारत द्रोणपर्व में नारायणास्त्र-मोक्षपर्व के शतरुद्रिय नामक स्तोत्र का अन्तिम अर्थात् द्रोणपर्व का २०३ अध्याय, भारतभावदीप नामक टीका सहित—

धृतराष्ट्र—हे संजय ! जब वह अतिरथ (महारथों को विजय करनेवाले) द्रोणाचार्य, पार्षत (धृष्टद्युम्न) के हाथ से निहत हुए उसके अनन्तर मेरे कौरवों और पाण्डवों ने क्या किया ॥१॥

संजय—हे भरतर्षभ ! (भरतवंश के प्रधान अर्थात् धृतराष्ट्र) द्रोणाचार्य के निहत होने और कौरवों के पराजित होने के अनन्तर, कुन्ती के पुत्र धनंजय (अर्जुन) ने अपने विजय का कारण, एक अति आश्चर्य देख कर अकस्मात् आए हुए व्यास कृष्णद्वैपायन से पूछा ।

भा. भा. दी.—इस अध्याय से पूर्व प्रबन्ध में यह कहा गया है कि विष्णु, शिवमय हैं और विष्णु को रक्षित करने के द्वारा विष्णुमय जगत् की रक्षा करना भी शिवजी ही का काम है । अब इस संपूर्ण अध्याय का यह पिण्डित तात्पर्य है कि पृथ्वी के भार उतारने में भी प्रधान कारण शिवजी ही हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

अग्रतो लक्षये यान्तं पुरुषं पावकप्रभम् ॥ ४ ॥
ज्वलन्तं शूलमुद्यम्य यां दिशं प्रतिपद्यते ।
तस्यां दिशि विशीर्यन्ते शत्रवो मे महामुने ॥ ५ ॥
तेन भग्नानरीन्सर्वान्मद्भग्नान्मन्यते जनः ।
तेन भग्नानि सैन्यानि पृष्ठतोऽनुदाम्यहम् ॥ ६ ॥
भगवँस्तन्ममाचक्ष्व को वै स पुरुषोत्तमः ।
शूलपाणिर्मया दृष्टस्तेजसा सूर्यसन्निभः ॥ ७ ॥
न पद्भ्यां स्पृशते भूमिं नच शूलं विमुञ्चति ।
शूलाच्छूलसहस्राणि निष्पेतुस्तस्य तेजसा ॥ ८ ॥

व्यास उ० प्रजापतीनां प्रथमं तैजसं पुरुषं प्रभुम् ।
भुवनं भूर्भुवं देवं सर्वलोकेश्वरं प्रभुम् ॥ ९ ॥
ईशानं वरदं पार्थ दृष्टवानसि शङ्करम् ।

यदृच्छया-दैवेन ॥ ३ ॥

न्यहनंशत्रूनित्यत्रनिघ्नतःशत्रूनितिपाठे शरौघैः शत्रून्निघ्नतोममाग्रतोयान्तं पुरुषमहं लक्षये इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

प्रजानां सर्गस्थित्यन्तकर्तृत्वेन पतीनां ब्रह्मविष्णुरुद्राणां प्रथयितारं कारणमित्यर्थः तैजसं स्वार्थेतद्धितः चिन्मात्ररूपं पुरुषं सर्वपूर्षु शरीरगुहासु शयानम् अतएव प्रभुमन्तर्यामित्वेन शास्तारं भुवनं द्यौः भूः पृथिवी भुवमन्तरिक्षम् त्रैलोक्यशरीरमित्यर्थः। देवं द्योतमानं सर्वलोकेश्वरं प्रभुमिति राजवद्बहिःस्थित्वाऽपि नियमयन्तमित्यर्थः ॥९॥

ईशानम् अनन्याधिपतिम् वरदम् श्रेष्ठानपि खण्डयितारम् भुवनेश्वरम् भुवन व्यापिनम् ॥ १० ॥

॥ भाषा ॥

अर्जुन-जिस समय संग्राम मे मैं विमल बाणों से शत्रुओं को मारता हूं उस समय अपने आगे चलते हुए अग्नि के समान एक पुरुष को देखता हूं ॥ ४ ॥

हे महामुने ! जाज्वल्यमान त्रिशूल को उठा कर वह महापुरुष जिस दिशा की ओर अपनी दृष्टि देते हैं उस दिशा में मेरे शत्रुगण छिन्न भिन्न हो जाया करते हैं ॥ ५ ॥

दर्शक जन, उसी पुरुष के निहत मेरे शत्रुगण को मेरे हाथ से निहत समझते हैं परंतु तत्त्व यही है कि उनके मारे हुए अपनी शत्रुसेना को पश्चात् मै मारता हूं ॥ ६ ॥

हे भगवन् (व्यास) यह मुझ से कहिए कि वह सूर्य के समान तेजस्वी और हाथ में त्रिशूल लिए मेरे प्रत्यक्ष कौन पुरुषोत्तम हैं जो कि न अपने चरणों से पृथ्वी को स्पर्श करते और न शूल को छोड़ते हैं किंतु उनके प्रताप से उस शूल के द्वारा सहस्रों शूल निकलते हैं ॥७॥८॥

व्यास-हे पार्थ ! तुमने शङ्कर को देखा जो कि प्रजाओं की सृष्टि, स्थिति, संहार, के स्वामी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन तीनों देवताओं के मूलकारण, तैजस, (निर्मलज्ञानरूप) पुरुष, (सब शरीरों में व्यापक) प्रभु (अन्तर्यामी होने से सब के शासनकर्ता) भुवन, भू. भुव, (यह त्रैलोक्य जिसका शरीर है) देव (स्वतः प्रकाशमान) सर्व लोकेश्वर प्रभु (राजा के नाईं पृथक् स्थित हो कर भी जगत् के शासन करनेवाले) ईशान (जिसका कोई स्वामी नहीं है) तथा वरद (बड़ों के भी खण्डन करनेवाले) हैं । और तुम उन्हीं के शरण जाओ ॥ ९ ॥ १० ॥

तं गच्छ शरणं देवं वरदं भुवनेश्वरम् ॥ १० ॥
महादेवं महात्मानमीशानं जटिलं शिवम् ।
त्र्यक्षं महाभुजं रुद्रं शिखिनं चीरवाससम् ॥ ११ ॥
महादेवं हरं स्थाणुं वरदं भुवनेश्वरम् ।
जगत्प्रधानमधिकं जगत्प्रीतिमधीश्वरम् ॥ १२ ॥
जगद्योनिं जगद्बीजं जयिनं जगतो गतिम् ।
विश्वात्मानं विश्वसृजं विश्वमूर्तिं यशस्विनम् ॥ १३ ॥
विश्वेश्वरं विश्वनरं कर्मणामीश्वरं प्रभुम् ।
शम्भुं स्वयंभुं भूतेशं भूतभव्यभवोद्भवम् ॥ १४ ॥
योगं योगेश्वरं सर्वं सर्वलोकेश्वरेश्वरम् ।
सर्वश्रेष्ठं जगच्छ्रेष्ठं वरिष्ठं परमेष्ठिनम् ॥ १५ ॥
लोकत्रयविधातारमेकं लोकत्रयाश्रयम् ।
सुदुर्जयं जगन्नाथं जन्ममृत्युजरातिगम् ॥ १६ ॥
ज्ञानात्मानं ज्ञानगम्यं ज्ञानश्रेष्ठं सुदुर्विदम् ।
दातारं चैव भक्तानां प्रसादविहितान् वरान् ॥ १७ ॥

जटिलंशिखिनमिति रूपभेदाभिप्रायेण विशेषणद्वयं योज्यम् ॥ ११ ॥

जगत्प्रीतिम् जगदानन्दकरम् अधीश्वरम् ईश्वरादप्यधिकं निरुपाधिचिन्मात्रमित्यर्थः १२

जगद्योनिं जगद्बीजमिति जगतां मातापितृरूपम् ॥ १३ ॥

विश्वनरम् विश्वस्य नेतारम् भूतस्य भव्यस्य भवस्य वर्तमानस्य चोद्भवम् ॥ १४ ॥

योगम् कर्मयोगादिरूपम् योगेश्वरम् योगिनामीशम् योगानां फलप्रदं वा सर्वं सर्वात्मकम् ॥ १५ ॥

सुदुर्जयम् अत्यन्तं दुष्प्रापमनधिकारिभिः ॥ १७ ॥

॥ भाषा ॥

जो महादेव, महात्मा, ईशान, त्र्यक्ष, रुद्र कहलाते हैं और जिनकी भुजा बड़ी है तथा कभी शिखावाले और कभी जटावाले हैं ॥ ११ ॥

तथा जो जगत् के प्रधान, जगत् के आनन्ददाता और ईश्वरों (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) से भी अधिक अर्थात् निर्मलचैतन्यरूप हैं ॥ १२ ॥

तथा जो जगत् के मूल (योनि और बीज अर्थात् माता पिता दोनों) महाविजयी, जगत्‌रूपी और जगत् की गति हैं ॥ १३ ॥

तथा विश्वेश्वर, विश्व के नेता, और भूत भविष्य, वर्तमान सब पदार्थों के उत्पत्ति-स्थान हैं ॥ १४ ॥

तथा जो कर्मयोगरूपी, योगियों के स्वामी, सर्वात्मक सर्वलोकेश्वरों के ईश्वर और सब से श्रेष्ठ हैं ॥ १५ ॥

तथा तीन लोकों के अधार, और विधान के कर्ता, अनधिकारियों को दुर्लभ, जन्म मृत्यु जरा से रहित, और जगत् के स्वामी हैं ॥ १६ ॥

तथा ज्ञानरूपी, तत्त्वज्ञान से प्राप्य, शुद्धचैतन्यरूपी होनेसे अति उत्तम, विषय न

तस्य पारिषदा दिव्या रूपैर्नानाविधैर्विभोः ।
बामना जटिला मुण्डा ह्रस्वग्रीवा महोदराः ॥ १८ ॥
महाकाया महोत्साहा महाकर्णास्तथापरे ।
आननैर्विकृतैः पादैः पार्थ वेशैश्च वैकृतैः ॥ १९ ॥
ईदृशैः स महादेवः पूज्यमानो महेश्वरः ।
स शिवस्तात तेजस्वी प्रसादाद्याति तेऽग्रतः ॥ २० ॥
तस्मिन् घोरे सदा पार्थ संग्रामे लोमहर्षणे ।
द्रोणकर्णकृपैर्गुप्तां महेष्वासैः महारिभिः ॥ २१ ॥
कस्तां सेनां तदा पार्थ मनसाऽपि प्रधर्षयेत् ।
ऋते देवान्महेष्वासाद्बहुरूपान्महेश्वरात् ॥ २२ ॥
स्थातुमुत्सहते कश्चिन्न तस्मिन्नग्रतःस्थिते ।
नहि भूतं समं तेन त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ २३ ॥
गन्धेनापि हि संग्रामे तस्य क्रुद्धस्य शत्रवः ।
बिसंज्ञा हतभूयिष्ठा वेपन्ति च पतन्ति च ॥ २४ ॥
तस्मै नमस्तु कुर्वन्तो देवास्तिष्ठन्ति वै दिवि ।
ये चान्ये मानवा लोके ये च स्वर्गजितो नराः ॥ २५ ॥

ज्ञानात्मानं ज्ञानस्वरूपं ज्ञानगम्यं परविद्याप्राप्यम् ज्ञानश्रेष्ठं चिन्मात्ररूपत्वेनैव प्रशस्यतमम् अतएव सुदुर्विदम् अविषयत्वाद्दुर्ज्ञेयम् ॥ १८ ॥

पारिषदा गणाः ॥ १९ ॥
प्रधर्षयेत् अभिभवेत् ॥ २३ ॥
भक्ताः भजन्त इति भक्ताः ॥ २६ ॥

॥ भाषा ॥

होने से दुर्ज्ञेय, और अपने भक्तों को प्रसन्न हो कर अनेक बरों के देनेवाले हैं ॥ १७ ॥

बामन, जटिल, मुण्डित महाशरीर, बड़े उत्साही, बड़े कर्णवाले, दिव्य अनेकरूपधारी विचित्र मुख और बेष वाले, छोटी ग्रीवा, और बड़े उदर, इत्यादि अनेक बिचित्रता से संयुक्त, उन प्रभु के गण और पूजक हैं। हे तात ! वह तेजस्वी श्री शिवजी प्रसन्न हो कर तुम्हारे अगाड़ी चलते हैं—॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

क्योंकि उस अति भयंकर रोमांचकारी संग्राम में, युद्ध में अति कुशल द्रोण, कर्ण और कृप से सुरक्षित उस सेना को, उन अनेकरूपी महेश्वर से अन्य कौन ऐसा (जीव) है कि जो मन से भी धर्षण (पराजय) कर सके ॥ २१ ॥ २२ ॥

और उन महेश्वर के आगे कोई युद्ध करने की इच्छा से स्थित होने का उत्साह भी नहीं कर सकता क्योंकि कोई चेतन उनके समान नहीं है ॥ २३ ॥

और यदि वह क्रुद्ध हो जायं तो युद्ध में उनके गन्धमात्र से शत्रुगण, कम्पित और भूमिपतित हो जाते हैं ॥ २४ ॥

उन्हीं महेश्वर को नमस्कार करते हुए देवतालोग स्वर्ग में, और स्वर्गविजयी मनुष्य आदि भी अन्यान्य लोकों में स्थित हैं ॥ २५ ॥

ये भक्ता वरदं देवं शिवं रुद्रमुमापतिम् ।
इह लोके सुखं प्राप्य ते यान्ति परमाङ्गतिम् ॥ २६ ॥
नमस्कुरुष्व कौन्तेय तस्मै शान्ताय वै सदा ।
रुद्राय शितिकण्ठाय कनिष्ठाय सुवर्चसे ॥ २७ ॥
कपर्दिने करालाय हर्यक्षवरदायच ।
याम्यायाव्यक्तकेशाय सद्वृत्ते शंकराय च ॥ २८ ॥
काम्याय हरिनेत्राय स्थाणवे पुरुषाय च ।
हरिकेशाय मुण्डाय कृशायोत्तारणाय च ॥ २९ ॥
भास्कराय सुतीर्थाय देवदेवाय रंहसे ।
वहुरूपाय सर्वाय प्रियाय प्रियवाससे ॥ ३० ॥
उष्णीषिणे सुवक्त्राय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
गिरिशाय सुशान्ताय पतये चीरवाससे ॥ ३१ ॥
हिरण्यबाहवे राजन्नुग्राय पतये दिशाम् ।
पर्जन्यपतये चैव भूतानां पतये नमः ॥ ३२ ॥
वृक्षाणां पतये चैव गवां च पतयेनमः ।
वृक्षैरावृतकायाय सेनान्ये मध्यमाय च ॥ ३३ ॥

नमस्करणं प्रह्वीभावस्तंकुरुष्व शितिकण्ठाय नीलग्रीवाय कनिष्ठाय सूक्ष्मायेति प्राञ्चः कनीदीप्तौ दीप्ततमाय ॥ २७ ॥

हर्यक्षःपिङ्गाक्षः कुवेरः याम्याय यामकर्त्रे कालाय अव्यक्तकेशाय अव्यक्तं माया-शवलं केशवद्रश्मिमात्रम् यस्य । सद्वृत्तेभक्ते शंकराय सुखकराय ॥ २८ ॥

मुण्डाय यजमानमूर्तित्वात् कृशाय तपोनिष्ठत्वात् उत्तारणाय संसारादितिशेषः ॥२९॥

रंहसे वेगवते ॥ ३० ॥

सर्वे अयाः शुभावहाविधयः प्रिया यस्य तस्मै सर्वायप्रियाय प्रियवाससे सोमाय वाससः सोमदेवत्यत्वात् उष्णीषिणे शिरोवेष्टनवते मीढुषे वृष्टिकर्त्रे गिरिशाय पर्वतशायिने

॥ भाषा ॥

और जो लोग उमापति शिवदेव के भक्त हैं वे इस लोक में सुख भोगकर अन्त में परम गति को प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

हे कौन्तेय ! उन शान्तरूपी रुद्र को सदा नमस्कार किया करो जो शितिकण्ठ (नील-ग्रीव) कनिष्ठ (तेजस्वी) कपर्दी, (जटाधारी) कराल (पापियों के लिये भयङ्कर) हर्यक्षवरद, (कुवेर के बरदाता) याम्य, (प्रहरविभाग के कर्ता) अव्यक्तकेश, (माया जिसके केश के तुल्य है) भक्त के शङ्कर (कल्याणकारी) काम्य, (कामों के पूर्ण करनेवाले) हरिनेत्र (सूर्य जिसके नेत्र हैं) स्थाणु (निर्बिकार) पुरुष, हरिकेश, (कालेकेशवाले) मुण्ड, (मुण्डित अर्थात् यजमानरूपी) कृश (तपस्वी) उत्तारण (संसार के पार उत्तारनेवाले) भास्कर (सूर्यरूपी) सुतीर्थ, (पूजित स्थान) देवदेव, (देवताओं के भी देवता) रंहस् । (बेगवाले) बहुरूप, सर्वायप्रिय, (सब धर्म जिसके प्रिय हैं) प्रियवासाः, (वस्त्र के देवता चन्द्रमा जिसके प्रिय हैं) उष्णीषी, (पगड़ीवाले) मीढुष्, (बृष्टिके कर्ता)

स्रुवहस्ताय देवाय धन्विने भार्गवाय च ।
बहुरूपाय विश्वस्य पतये मुंजवाससे ॥ ३४ ॥
सहस्रशिरसे चैव सहस्रनयनाय च ।
सहस्रबाहवे चैव सहस्रचरणाय च ॥ ३५ ॥
शरणं गच्छ कौन्तेय वरदं भुवनेश्वरम् ।
उमापतिं विरूपाक्षं दक्षयज्ञनिबर्हणम् ॥ ३६ ॥
प्रजानां पतिमव्यग्रं भूतानां पतिमव्ययम् ।
कपर्दिनं वृषावर्तं वृषनाभं वृषध्वजम् ॥ ३७ ॥
वृषदर्पं वृषपतिं वृषशृङ्गं वृषर्षभम् ।
वृषाङ्कं वृषभोदारं वृषभं वृषभेक्षणम् ॥ ३८ ॥

चीरं वल्कलम् ॥ ३१ ॥

हिरण्यबाहवे सुवर्णालंकृतभुजाय ॥ ३२ ॥

वृक्षैर्ब्रश्चनयोग्यैर्देहैरावृतकायाय आच्छादितस्वरूपाय मध्यमाय अन्तर्यामिणे ॥३३॥

स्रुवहस्ताय अध्वर्यवेभार्गवाय रामाय । मुंजोवल्कलं तृणतन्तवो वा तन्मयवाससे ॥ ३४ ॥

अव्यग्रम् अनाकुलम् कपर्दिनं जटाजूटवन्तम् वृषावर्तं वृषाणां श्रेष्ठानां ब्रह्मादीनामावर्तयितारम् तानपि भ्रमयन्तं माययेत्यर्थः वृषनाभम् सर्वलोकाश्रयत्वेन प्रशस्ततमगर्भम् वृषध्वजम् नान्दिवाहनम् वृषदर्पम् वृषः समर्थस्त्रैलोक्यसंहारक्षमोदर्पोऽहंकारोयस्य तम् वृषस्यधर्मस्य पतिं तत्फलप्रदातृत्वेन वृषोधर्मएव परापररूपोविश्ववपुषः शृङ्गभूतउच्चतरोयस्य तम् अतएव वृषर्षभम् वृषाणांफलवर्षिणामिन्द्रादीनामृषभंश्रेष्ठम् वृषोवलीवर्दोऽङ्के ध्वजेयस्यतं वृषांकम् वृषभोदारं वृषभेषु धर्मेणभासमानेषु उदारं बहुफलप्रदं अतएव वृषभं वृषेणधर्मेण निमित्तेन भानं साक्षात्कारोयस्य तं वृषभं योगधर्मैकगम्यं वृषभेक्षणम् स्पष्टार्थम् ॥ ३८ ॥

॥ भाषा ॥

गिरिश, (पर्वतपर शयन करनेवाले) सहस्राक्ष, चीरवासा, (वल्कलधारी) हिरण्यबाहु, (सुवर्ण से भूषित बाहुवाले) दिशाओं के पति, मेघमाला के पति, सब प्राणियों के स्वामी हैं ॥ २७ ॥ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

वृक्षों के पति को नमस्कार, गौओं के पति को न०, लोक के अनित्य शरीरों से जिसका स्वरूप आच्छादित है उसको न०, अन्तर्यामी को न०, सेनानी, (सेनापति) को न० ॥ ३३ ॥

स्रुवहस्त अर्थात् अध्वर्यु नामक ऋग्वेदी ऋत्विजरूपी देव को न०, धन्वी (धनु लिए) देव को न०, भार्गव (परशुरामरूपधारी) अनन्तरूपी देव को न०, संसार के स्वामी देव को न०, मुंजमयवस्त्रधारी देव को न०,सहस्रशिर, सहस्रनेत्र, सहस्रबाहु और सहस्रपाद देव को न०॥३४॥३५॥

हे कौन्तेय ! (अर्जुन) उन भुवनेश्वर, वरद, विरूपाक्ष, (तीन आंखवाले) उमापति, दक्षप्रजापति के यज्ञहन्ता, प्रजाओं के पति, अव्यग्र, (शान्त) प्राणियों के पति और निर्विकार देव के शरण जावो जोकि कपर्दी, (जटाजूटधारी) वृषावर्त, वृष अर्थात् ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवों को भी अपनी माया से जन्ममरणरूपी संसार में भ्रमण करानेवाले वृषनाभ (सब लोकों के आश्रय होने से प्रशंसनीय) वृषध्वज, (नन्दीश्वर पर चढ़नेवाले) वृषदर्प, (त्रैलोक्य के संहार में समर्थ उत्साह वाले) वृषपति, (धर्मके फलदाता) वृषशृङ्ग (प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप दोनों धर्म जिस

वृषायुधं वृषशरं वृषभूतं महेश्वरम् ।
महोदरं महाकायं द्वीपिचर्मनिवासिनम् ॥ ३९ ॥
लोकेशं वरदं मुण्डं ब्रह्मण्यं ब्राह्मणप्रियम् ।
त्रिशूलपाणिं वरदं खड्गचर्मधरं प्रभुम् ॥४०॥
पिनाकिनं खण्डपरशुं लोकानांपतिमीश्वरम् ।
प्रपद्ये देवमीशानं शरण्यं चीरवाससम् ॥ ४१ ॥
नमस्तस्मै सुरेशाय यस्य वैश्रवणःसखा ।
सुवाससे नमो नित्यं सुव्रताय सुधन्विने ॥ ४२ ॥
धनुर्धराय देवाय प्रियधन्वाय धन्विने ।
धन्वन्तराय धनुषे धन्वाचार्याय ते नमः ॥ ४३ ॥
उग्रायुधाय देवाय नमः सुखकरायच ।
नमोऽस्तु बहुरूपाय नमस्ते बहुधन्विने ॥ ४४ ॥
नमोऽस्तु स्थाणवे नित्यं नमस्तस्मै सुधन्विने ।
नमोऽस्तु त्रिपुरघ्नाय भगघ्नाय च वै नमः ॥ ४५ ॥

वृषायुधं श्रेष्ठप्रहरणम् वृषोविष्णुःशरो यस्य तं वृषशरम् । वृषभूतं धर्मैकवपुषम् महत् अनेककोटिब्रह्मण्डाश्रयभूतमुदरं यस्य तं महोदरम् महाकायम् त्रैलोक्यशरीरम् द्वीपिचर्मनिवासिनम् व्याघ्रचर्मणा नितरां छादितम् ॥ ३९ ॥

खड्गधरं खड्मात्रधरम् ॥ ४० ॥

सुधन्विने शोभनाधन्विनोधनुर्धराः पार्षदा अस्य सन्ति तस्मै स्वयमपि धनुर्धराय अतएव प्रियधन्वाय धन्व धनुः प्रेरकत्वेनस्यास्तीतितस्मै बाणाय धन्वन्तराय धनुषि अन्तरे मध्येऽस्तीति धन्वन्तरं मौर्वी तद्रूपाय सन्धिरार्षःधनुषे धनुःस्वरूपाय धन्वाचार्याय धनुर्वेदगुरवे ॥ ४३ ॥

भगघ्नाय भगनेत्रभिदे ॥ ४५ ॥

॥ भाषा ॥

के शृङ्गवत् अर्थात् ऊंचे हैं और वृषर्षभ, (वृष अर्थात् यज्ञफलों की वृष्टि करनेवाले जो इन्द्रादि देव हैं उनसे भी बड़े) हैं ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

और जो वृषाङ्क, (जिसके ध्वज में वृषभ का आकार है) वृषभोदार, (वृषभ अर्थात् धर्मात्माओं के लिए उदार अर्थात् पूर्णफलदाता) वृषभ (वृष अर्थात् धर्म से जिनका दर्शन होता है अर्थात् योगधर्मही से गम्य वृषभेक्षण, (जिनके नेत्र बड़े २ हैं वृषायुध, (श्रेष्ठ आयुधवाले) वृषशर (त्रिपुर युद्ध में वृष अर्थात् विष्णु जिसके बाणरूपी हुए) वृषभूत, (धर्मरूपी) महेश्वर, (सबसे बड़ा स्वामी) महोदर, (जिनके पेट में अनेक कोटि ब्रह्माण्ड रहते हैं) महाकाय, (विराट्-रूप) बाघंबर ओढ़, लोक के स्वामी, ब्राह्मणों के प्रिय, खड्ग, चर्म, त्रिशूल, पिनाक नामक धनु, परशु, लिए और लोकों के परमेश्वर हैं मैं उनके शरण जाता हूं ॥ ४० ॥ ४१ ॥

कुबेर जिनके मित्र हैं उन देवदेव को नमस्कार, अच्छे वस्त्रवाले को न०, जिनके गण धनुषधारी हैं उनको न०, बाणरूपी देव को न०, धनुधारण करनेवाले को न०, धनुकी प्रत्यञ्चा

बनस्पतीनां पतये नराणां पतये नमः ।
मातृणां पतये चैव गणानाम्पतये नमः ॥ ४६ ॥
गवांच पतये नित्यं यज्ञानांपतये नमः ।
अपांच पतये नित्यं देवानां पतये नमः ॥ ४७ ॥
पूष्णोदन्तविनाशाय त्र्यक्षाय बरदाय च ।
हराय नीलकण्ठाय स्वर्णकेशाय बै नमः ॥ ४८ ॥
कर्माणि यानि दिव्यानि महादेवस्य धीमतः ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ॥ ४९ ॥
न सुरा नासुरा लोके न गन्धर्वा न राक्षसाः ।
सुखमेधन्ति कुपिते तस्मिन्नपि गुहागताः ॥ ५० ॥
दक्षस्य यजमानस्य बिधिवत्संभृतं पुरा ।
विव्याध कुपितो यज्ञं निर्दयस्त्वभवत्तदा ॥ ५१ ॥
धनुषा बाणमुत्सृज्य सघोषं बिननाद च ।
ते न शर्मकुतः शान्तिं लेभिरे स्म सुरास्तदा ॥५२॥
बिद्रुते सहसा यज्ञे कुपिते च महेश्वरे ।
तेन ज्यातलघोषेण सर्वे देवाः समाकुलाः ॥ ५३ ॥
बभूबुर्वशगाःपार्थ निपेतुश्च सुरासुराः ।
आपश्चुक्षुभिरे सर्वाश्चकम्पे च वसुन्धरा ॥ ५४ ॥

गुहागताः पातालगताःअपीत्यर्थः ॥ ५० ॥
न सुखमेधन्तीत्युक्तं तदेवाह दक्षस्येत्यादिना ॥ ५१ ॥

॥ भाषा ॥

(तन्त्री) रूपी देव को न०, धनुरूपी देव को न०, धनुर्वेद के गुरुरूपी देव को न०, अनेक धनुवाले को न०, स्थाणु (सदानिर्बिकार) को न०, त्रिपुर के हन्ता को न०, भग नामक देव के नेत्रहारी को न०, बृक्षों के पति को न०, मनुष्यों के पति को न०, माताओं के पति को न०, गौओं के पति को न०, यज्ञों के पति को नित्य, न०, जलों के पति को नित्य, न०, देवताओं के पति को न०, पूषा के दन्त तोड़नेवाले को न०, त्रिलोचन को न०, हर को न०, नीलकण्ठ को न०, सुवर्णकेश को न० ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

उक्त महादेवजी के दिव्य और अद्भुत कतिपय चरित्रों को अपनी बुद्धि और श्रुति के अनुसार मैं तुमसे कहता हूं ॥ ४९ ॥

उनके कोप होने पर सुर, असुर, गन्धर्व और राक्षस, पाताल में प्रच्छन्न हो कर भी सुख नहीं पाते ॥ ५० ॥

एक समय, दक्षप्रजापति के सकलसामग्री से पूर्ण यज्ञ को शिवजी ने कुपित हो कर मारा, धनु से बाण छोड़ा और गर्जे भी जिससे कि सब देवता अधीर हो गए एकाएकी परमेश्वर का कोप और उससे यज्ञ का बिध्वंस हो गया तथा उक्त शब्द से देवता और दैत्य आकुल व्याकुल हो कर गिरपड़े समुद्रों में प्रलयकाल के समान लहरें उठने लगीं पृथ्वी कांपने लगी पर्वतगण टूटने

पर्वताश्च व्यशीर्यन्त दिशोनागाश्च मोहिताः ।
अन्धेन तमसा लोका न प्राकाशन्त संवृताः ॥५५॥
जघ्निवान् सह सूर्येण सर्वेषां ज्योतिषां प्रभाः ।
चुक्षुभुर्भयभीताश्च शान्तिंश्चक्रुस्तथैव च ॥ ५६ ॥
ऋषयःसर्वभूतानामात्मनश्च सुखैषिणः ।
पूषाणमभ्यद्रवत शंकरः प्रहसन्निव ॥ ५७ ॥
पुरोडाशं भक्षयतो दशनान्वै व्यशातयत् ।
ततो निश्चक्रमुर्देवा वेपमाना नताःस्म तम् ॥ ५८ ॥
पुनश्च संदधे दीप्तान् देवानां निशितान् शरान् ।
सधूमान् सस्फुलिङ्गांश्च विद्युत्तोयदसन्निभान् ॥ ५९ ॥
तं दृष्ट्वा तु सुराः सर्वे प्रणिपत्य महेश्वरम् ।
रुद्रस्य यज्ञभागश्च विशिष्टं तेऽन्वकल्पयन् ॥ ६० ॥
भयेन त्रिदशा राजन् शरणं च प्रपेदिरे ।
तेन चैवातिकोपेन स यज्ञः संधितस्तदा ॥ ६१ ॥
भग्नाश्चापि सुरा आसन् भीताश्चाद्यापि तं प्रति ।
असुराणां पुराण्यासँ स्त्रीणि वीर्यवतां दिवि ॥ ६२ ॥

तमसासंवृता न प्राकाशन्त न प्राज्ञायन्त ॥ ५५ ॥

चक्रुॠषय इति सम्बन्धः ॥ ५६ ॥

पूषाणं पूषणम् ॥ ५७ ॥

नतालीनाःसन्तो निश्चक्रमुर्यज्ञदेशादपक्रान्ताः देवानांलीनानामपिव्रधायेति शेषः तं शरान् मुञ्चन्तमितिशेषः ॥ ५८ ॥

अतिकोपेन अतिक्रान्तकोपेन शान्तेर्नेत्यर्थः ततःप्रभृति पूर्वं भग्नाः सन्तोऽद्यापिभीताः सन्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

॥ भाषा ॥

लगे पृथ्वी के नीचे जो दिशागज हैं वे मूर्छित हो गये सब लोक घन अन्धकार से आच्छादित हो गए सूर्य चन्द्रमा तारा आदि की प्रभाएं नष्ट हो गई और ऋषि लोग भयभीत हो कर जगत् के कल्याणार्थ शान्तिपाठ करने लगे ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

शंकरजी बड़े अट्टहास के साथ पूषानामक देवता (जोकि अपना यज्ञभाग भोजन करते थे) पर दौड़े और उनके दाँतों को तोड़ दिया उसके अनन्तर अन्य देवता लोग कम्पित हो यज्ञ-शाला से निकलकर; धूम और बिस्फुलिङ्ग उगलते हुए, बिजुली से संयुक्त मेघ के समान, बाणों को धनु में संधान करते हुए शिवजी के चरणों पर शरण २ पुकारते गिर पड़े तथा यज्ञ में सबसे अधिक और उत्तम शिवभाग दिया पश्चात् कृपाकर शिवजी ने यज्ञ की पूर्ति किया और तभी से आज तक सब देवता शिवजी से भयभीत रहते हैं ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

आकाश में दैत्यबीरों के तीन पुर थे । कमलाक्ष दैत्य का सुवर्णमय, तारकाक्ष का रजतमय और विद्युन्माली का लोहमय पुर था । जिन पुरों को सब अस्त्र शस्त्र और प्रत्येक उपायों

आयसं राजतं चैव सौवर्णं परमं महत् ।
सौवर्णं कमलाक्षस्य तारकाक्षस्य राजतम् ॥ ६३ ॥
तृतीयन्तु पुरं तेषां विद्युन्मालिन आयसम् ।
न शक्तस्तानि मघवान्भेत्तुं सर्वायुधैरपि ॥ ६४ ॥
अथ सर्वे सुरा रुद्रं जग्मुः शरणमर्दिताः ।
ते तमूचुर्महात्मानं सर्वे देवाः सवासवाः ॥ ६५ ॥
ब्रह्मदत्तवराश्चैते घोरास्त्रिपुरवासिनः ।
पीडयन्त्यधिकं लोकं यस्मात्ते वरदर्पिताः ॥ ६६ ॥
त्वदृते देवदेवेश नान्यः शक्तः कथंचन ।
हन्तुं दैत्यान्महादेव जहि तांस्त्वं सुरद्विषः ॥ ६७ ॥
रुद्र रौद्रा भविष्यन्ति पशवः सर्वकर्मसु ।
निपातयिष्यसे चैतानसुरान् भुवनेश्वर ॥ ६८ ॥
स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा देवानां हितकाम्यया ।
गन्धमादनविन्ध्यौ च कृत्वा वंशध्वजौ हरः ॥६९॥
पृथ्वीं ससारगवनां रथं कृत्वा च शंकरः ।
अक्षं कृत्वा तु नागेन्द्रं शेषं नाम त्रिलोचनः ॥ ७० ॥
चक्रे कृत्वा तु चन्द्रार्कौ देवदेवः पिनाकधृक् ।
अणीकृत्यैलपुत्रं च पुष्पदन्तं च त्र्यम्बकः ॥७१॥

वंशध्वजौ अल्पौ ध्वजौ पार्श्वद्वयस्थौ महाध्वजस्तु मेरुरिति वक्ष्यते ॥ ६९ ॥
अणी युगान्तबन्धौ द्वौ नागौ यूपं युगं अवनाहं त्रिवेणुयुगबन्धनरज्जुम् ॥ ७१ ॥

॥ भाषा ॥

से इन्द्र भी तोड़ नहीं सकते थे तथा उन दैत्यों ने स्वर्गपुरी में बड़ा उपद्रव मचा रक्खा था। जब कोई उपाय नहीं चला तब इन्द्रादि देवता, श्री रुद्रजी के शरण में गए और उनसे निवेदन किया कि हे देवेश देव महादेव ! ब्रह्मा से वर पा कर ये भयंकर त्रिपुरवासी दैत्य, लोगों को बहुत पीड़ा दे रहे हैं क्योंकि इनको वर का अभिमान है और इनके वध करने का सामर्थ्य, आप से अन्य किसी में कदापि नहीं है तस्मात् यह प्रार्थना है कि आप इनका वध करें क्योंकि आप त्रैलोक्य के स्वामी हैं तथा जीव जितने हैं सब पशु कहलाते हैं और आप उनके पति अर्थात् पशुपति हैं यदि आप, ऐसे २ दुष्ट पशुओं का नाश न करेंगे तो अन्य पशुओं का पालन कैसे होगा। इस निवेदन को स्वीकार कर श्री शंकरजी ने समुद्र और वन से सहित पृथ्वी को रथ बनाया गन्धमादन और विन्ध्य, इन दो पर्वतों को छोटा ध्वजा बनाया, शेषनाग को अक्ष, चन्द्रमा सूर्य को चक्र, ऐलपुत्र और पुष्पदन्त नागों को युगबन्धन, मलय पर्वत को स्तम्भ, और तक्षकनाग को उसका बन्धन, चार वेदों को अश्व, उपवेद अर्थात् आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, और अर्थवेद को खलीन (कड़ियाली) तथा गायत्री और सावित्री को रश्मि (रास) बनाया। तात्पर्य यह है कि वेद आदि के स्वामी देवताओं ने अश्व आदि रूपों को धारण किया॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

यूपं कृत्वा तु मलयमत्रनाहश्च तक्षकम् ।
योत्काङ्गानि च सत्वानि कृत्वा शर्वःप्रतापवान् ॥ ७२ ॥
वेदान्कृत्वाऽथ चतुरश्चतुरोऽश्वान्महेश्वरः ।
उपवेदान् खलीनांश्च कृत्वा लोकत्रयेश्वरः ॥ ७३ ॥
गायत्रीं प्रग्रहं कृत्वा सावित्रीं च महेश्वरः ।
कृत्वोङ्कारं प्रतोदं च ब्रह्माणं चैव सारथिम् ॥७४॥
गाण्डीवं मन्दरं कृत्वा गुणं कृत्वा च वासुकिम् ।
विष्णुं शरोत्तमं कृत्वा शल्यमग्निं तथैव च॥७५॥
वायुं कृत्वाऽथ वाजाभ्यां पुङ्खे वैवस्वतं यमम् ।
विद्युत्कृत्वाऽथ निश्राणं मेरुं कृत्वाऽथ वै ध्वजम् ॥७८॥
आरुह्य स रथं दिव्यं सर्वदेवमयं शिवः ।
त्रिपुरस्य बधार्थाय स्थाणुः प्रहरतां बरः ॥ ७७ ॥
असुराणामन्तकरः श्रीमानतुलविक्रमः ।
स्तूयमानःसुरैःपार्थ ऋषिभिश्च तपोधनैः ॥ ७८ ॥
स्थानं महेश्वरं कृत्वा दिव्यमप्रतिमं प्रभुः ।
अतिष्ठत् स्थाणुभूतः स सहस्रं परिवत्सरान् ॥७९॥
यदा त्रीणि समेतानि अन्तरिक्षे पुराणि च ।
त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तदा तानि बिभेदसः ॥८०॥
पुराणि नच तं शेकुर्दानवाः प्रतिवीक्षितुम् ।
शरं कालाग्निसंयुक्तं विष्णुसोमसमायुतम् ॥८१॥

योत्क्राणि अङ्गानि चाकर्षादीनि सत्वानि सरीसृपपर्वतादीनिच ॥ ७२ ॥
उपवेदान् आयुर्वेदधनुर्वेदगान्धर्ववेदपश्चिमाम्नायान् खलीनान् 'कड़ीयाली' इतिप्रसिद्धान्
गायत्रीसावित्र्यौ प्रग्रहं रश्मीन् ॥ ७३ ॥
वाजाभ्यां पक्षाभ्यां पक्षयोरित्यर्थः विद्यत्विद्युतं निश्राणं निशितम् ॥ ७६ ॥
स्थीयतेऽस्मिन्नितियोगाद्व्यूहम् स्थाणुरचलः ॥ ७९ ॥
समेतानि समसूत्रगतानि त्रिपर्वणा त्रीणि विष्णुवायुवैवस्वताख्यानि शरपक्षपुङ्खरूपाणि

॥ भाषा ॥

ओंकार (प्रणव) को प्रतोद, (कोड़ा) ब्रह्मदेव को सारथी, मन्दराचल को धनु, वासुकिनाग को गुण, (प्रत्यञ्चा) विष्णु को बाण, अग्निदेव को शल्य, (बाण की नोक) वायुदेव को बाण का पक्ष, (पंख) यमराज को बाण का मूलभाग, और सुमेरु पर्वत को रथ का महाध्वज बनाया ॥७५॥७६॥

और सब योद्धाओं में श्रेष्ठ, असुरों के नाशकारी और अद्वितीयपराक्रमवाले श्रीशिवजी जब पूर्वोक्त सबदेवतारूपी रथपर आरूढ हुए उस समय देवताओं ऋषियों ने वेदमन्त्रों से उनकी स्तुति की ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

और अपने अद्वैत महेश्वरशक्ति को व्यूह बनाकर एक सहस्र वर्ष पर्यन्त उसी रथपर स्थित रहे, जब उक्त तीनों आकाशगामी दैत्यपुर एक सूत्रपात में आए तब भी शिवजी ने विष्णुदेव, वायुदेव, यमदेव, रूपी और गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय नामक अग्निरूप तीनशल्यवाले,

पुराणि दग्धवन्तं तं देवी याता प्रवीक्षितुम् ।
बालमङ्कगतं कृत्वा स्वयं पञ्चशिखं पुनः ॥ ८२ ॥
उमा जिज्ञासमाना वै कोऽयमित्यब्रवीत्सुरान् ।
असूयतश्च शक्रस्य वज्रेण प्रहरिष्यतः ॥ ८३ ॥

पर्वाणि यस्य तेन त्रिशल्येन गार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयरूपाग्नित्रयशल्येन ॥८०॥

पुराणीत्यादिसार्द्धः पूर्वं दक्षयज्ञविध्वंसनमुक्तम् तस्य तात्पर्यमीश्वरेऽनर्पितो यज्ञोविध्वंसते ततश्च यज्ञकर्ता ऋत्विजश्च नश्यन्तीत्युक्तम् तेनेश्वरप्रीत्यर्थं कर्माणि कार्याणीतिदर्शितम्। ततस्त्रिपुरबधउक्तस्तस्यतात्पर्यं स्थूलसूक्ष्मकारणानि त्रीणि शरीराणि पुराणि क्रमाद्बहुप्रीत्यल्पसुखकरत्वाभ्यां मोहमयत्वेन च सौवर्णराजतायसानि । कामादयोऽसुराःशमादयोदेवाः तेषां प्रीतिकरोरुद्रआत्मा, शरीरंपृथिव्याख्यम् रथमास्थाय तस्य चालके चन्द्रसूर्याख्ये मनश्चक्षुषी चक्रे । वेदाश्च गम्यस्थानप्रापकत्वेनाश्वाः,शरोविष्णवधिष्ठिता सूक्ष्मा बुद्धिःतदैकाग्र्येण शरीरत्रयभेदे तुर्ये ब्रह्मणि साक्षात्कृते सति कामादयो नश्यन्ति फलभूताश्च शमादयोवर्धन्ते तेषु वर्धमानेषु रुद्रोबालवद्रागशून्यो ब्रह्मविद्याऽपरनाम्न्या उमाया वशगोभवतीत्येतदत्रप्रदर्श्यते ॥ ८२ ॥

॥ भाषा ॥

पूर्वोक्त बाण को उन पुरों पर छोड़ा ॥ ७९ ॥ ८० ॥

और वह बाण तीनों पुरों को एकही बार जलाने लगा । दैत्यबीरलोगों में उस बाण के दर्शन करने की शक्ति भी न रह गई अन्त में सब दैत्यबीरों से सहित तीनों पुर थोड़ेही समयमें भस्म हो गए । और त्रिपुरदाह के अनन्तर उमादेवी [पार्वती] एक पांचशिखावाले बालक को गोद में ले कर श्री शिवजी को देखने गयीं ॥

भा. भा. दी. पूर्व में जो दक्षयज्ञविध्वंस की कथा कही गई उसका आन्तारक तात्पर्य यह है कि जो यज्ञ, ईश्वर को समर्पण नहीं होता उस यज्ञ और यज्ञकर्ता तथा ऋत्विजों का नाश हो जाता है इस कारण ईश्वर के प्रीत्यर्थ ही कर्म करना चाहिये । और इस त्रिपुरदहन की कथा का मुख्य तात्पर्य यह है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर ही तीन पुर हैं उन में बहुसुखकारी होने से यह स्थूलशरीर, सुबर्णमय और उसकी अपेक्षा अल्पसुखकारी होने से सूक्ष्म अर्थात् लिङ्गशरीर, रजतमय तथा अज्ञानमय होने से कारण अर्थात् अविद्यामय शरीर, लोहमय है । और काम क्रोध आदि दैत्य हैं । शम दम आदि देवता हैं । उन देवताओं के रक्षक परमात्मा शिवजी हैं । वह श्री शिवजी, पृथ्वीनामक शरीररूपी रथ पर आरूढ़ हुए । उस रथ के चलाने वाले चन्द्रनामक मन और सूर्यनामक नेत्र को शिवजी ने बनाया । वेदगण अश्व हैं क्योंकि वे, गन्तव्य स्थान पर जीव को प्राप्त करते हैं । विष्णु से अधिष्टित सूक्ष्म बुद्धि बाण है । उस बाण की एकाग्रता से परमेश्वर का साक्षात्काररूपी उन पुरों का दाह होता है । और काम आदि दैत्य नष्ट हो जाते हैं तथा शम, दम, आदि देवताओं की बृद्धि होती है । तथा रुद्रात्मक जीव, बालक के नाईं रागद्वेष आदि से निर्मुक्त हो कर ब्रह्मविद्या नामक उमा के वश में हो जाता है ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

उमादेवी ने अज्ञानी बनकर इन्द्र से यह पूछा कि मेरे गोद में यह कौन आ कर बैठ गया है ? और इस प्रश्न के अनन्तर उस बालक को मारने के लिए इन्द्र ने क्रोध से वज्र

बाहुं सवज्रं तं तस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत्प्रभुः ।
प्रहस्य भगवांस्तूर्णं सर्वलोकेश्वरो विभुः ॥ ८४ ॥
ततः संस्तम्भितभुजःशक्रोदेवगणैर्वृतः ।
जगाम ससुरस्तूर्णं ब्रह्माणं प्रभुमव्ययम् ॥ ८५ ॥
ते तं प्रणम्य शिरसा प्रोचुःप्राञ्जलयस्तदा ।
किमप्यङ्कगतं ब्रह्मन् पार्वत्या भूतमद्भुतम् ॥ ८६ ॥
बालरूपधरं दृष्ट्वा नास्माभिरभिवादितः ।
तस्मात्त्वां प्रष्टुमिच्छामो निर्जिता येन वै वयम् ॥ ८७॥
अयुध्यता हि बालेन लीलया सपुरन्दराः ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा ब्रह्मविदाम्वरः ॥८८॥
ध्यात्वा स शम्भुं भगवान् बालं चामिततेजसम् ।
उवाच भगवान् ब्रह्मा शक्रादींश्च सुरोत्तमान् ॥८९॥
चराचरस्य जगतः प्रभुः स भगवान् हरः ।
तस्मात् परतरं नान्यत् किंचिदस्ति महेश्वरात् ॥ ९० ॥
यो दृष्टो ह्युमया सार्द्धं युष्माभिरमितद्युतिः ।
स पार्वत्याः कृते देवः कृतवान् बालरूपताम् ॥९१॥
ते मया सहिता यूयं प्रपद्यध्वं तमेव हि ।
स एव भगवान् देवः सर्वलोकेश्वरःप्रभुः ॥ ९२ ॥
न संबुबुधिरे चैनं देवास्तं भुवनेश्वरम् ।
सप्रजापतयः सर्वे बालार्कसदृशं प्रभुम् ॥ ९३ ॥
अथाभ्येत्य ततो ब्रह्मा दृष्ट्वा च स महेश्वरम् ।
अयंश्रेष्ठइति ज्ञात्वा ववन्दे तं पितामहः ॥९४॥

॥ भाषा ॥

उठाया तब उस सर्वलोकेश्वर बालक भगवान् ने अपनी इच्छामात्र से इन्द्र के, बज्रसहित उद्यत बाहु को स्तम्भित कर दिया अर्थात् न बज्र को छोड़ सके और न बाहु को नीचे कर सके, तदनन्तर तुरितही देवतालोग स्तम्भितभुज इन्द्र को ले कर ब्रह्मलोक गए और ब्रह्मदेव से हाथ जोड़कर भुजस्तम्भन के वृतान्त को निवेदन किया ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

तदनन्तर ब्रह्मदेव ने ध्यान के द्वारा उस बालक का तत्त्व निश्चय कर इन्द्रादि देवताओं से कहा कि जिस बालक को पार्वती के गोद में तुमनें देखा वह, स्थावर जंगम सब जगत् के प्रभु शिव भगवान् हैं जिन से परे कुछ भी नहीं है । केवल पार्वती के लिए उन्हों ने बालरूप धारण किया है, तुम ने उस बालक के तत्त्व को नहीं समझा, चलो उन्ही के समीप मैं चलता हूं । ऐसा कह इन्द्रादि देवताओं से सहित ब्रह्मदेव तुरितही उस बालक के समक्ष प्राप्त हो कर प्रणामपूर्बक बोले ।

भा. भा. दी. इस कथा का यह तात्पर्य है कि कर्मठ, (यज्ञादिपरायण) लोग ब्रह्मज्ञानियों से द्वेष कर जब उनकी योगमहिमा से पराजित होते हैं तब उन्हीं के शरण जाते हैं ॥ ८८ ॥ ॥ ८९ ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

ब्रह्मोवा०— त्वं यज्ञो भुवनस्यास्य त्वं गतिस्त्वं परायणम् ।
त्वं भवस्त्वं महादेव स्त्वं धाम परमं पदम् ॥९५॥
त्वया सर्वमिदं व्याप्तं जगत् स्थावरजंगमम् ।
भगवन् भूतभव्येश लोकनाथ जगत्पते ॥ ९६ ॥
प्रसादं कुरुशक्रस्य त्वया क्रोधार्दितस्य वै ।

व्यास-उ०— पद्मयोनेर्वचः श्रुत्वा ततः प्रीतो महेश्वरः ।
प्रसादाभिमुखो भूत्वा अट्टहासमथाकरोत् ॥ ९७ ॥
ततः प्रसादयामासुरुमां रुद्रं च ते सुराः ।
अभवच्च पुनर्बाहुर्यथाप्रकृति वज्रिणः ॥ ९८ ॥
तेषां प्रसन्नो भगवान् सपत्नीको वृषध्वजः ।
देवानां त्रिदशश्रेष्ठो दक्षयज्ञविनाशनः ॥ ९९ ॥
स वै रुद्रः स च शिवः सोऽग्निःसर्वश्च सर्ववित् ।
सचेन्द्रश्चैव वायुश्च सोऽश्विनौ सच विद्युतः ॥१००॥
स भवःसच पर्जन्यो महादेवःसचानघः ।
स चन्द्रमाःसचेशानः स सूर्योवरुणश्च सः ॥ १०१ ॥
स कालःसोऽन्तको मृत्युःस यमोरात्र्यहानि च ।
मासार्द्धमासा ऋतवःसन्ध्ये संवत्सराणि च १०२

असूयतश्चशक्रस्येत्यादितात्पर्यम् ब्रह्मभूतं द्विषन्तः कर्मठाःतेनयोगमाहिम्ना निर्जिताः सन्तस्तमेव शरणं गच्छन्तीति ॥ ९४ ॥

गतिःपालकः लयस्थानम् ॥ ९७ ॥

॥ भाषा ॥

ब्रह्मदेव—हे भूतभव्येश ! (प्राणियों के कल्याणदाता) लोकनाथ ! (सब लोगों के स्वामी) जगत्पते ! (स्थावर और जंगम रूपी जगत् के रक्षक) भगवन् आप ही यज्ञरूपी हैं और जगत् के पालक जगत् के उत्पत्ति और लय के स्थान, तथा सब से परे तत्त्व, तथा महादेव भी आपही हैं और स्थावर तथा जंगम सब पदार्थों में आप व्याप्त हैं, आप से मेरी यह प्रार्थना है कि आप के क्रोध से दुःखित इस इन्द्र पर आप कृपा करैं ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

व्यास—ब्रह्मदेव की इस स्तुति को सुनकर श्री शिवजी ने प्रसन्न हो अट्टहास किया तदनन्तर इन्द्रादि देवताओं ने पार्वती और परमेश्वर की स्तुति और सेवा की तथा इन्द्र का बाहु पूर्ववत् ठीक हो गया । इस रीति से श्री शिवजी देवताओं पर प्रसन्न हो गए ॥९७॥९८॥९९॥

हे अर्जुन ! वही रुद्र हैं, वही शिव हैं, वही अग्नि हैं, वही सर्वात्मक हैं, वही सर्वज्ञ हैं, और वही इन्द्र, वायु, अश्विन्, (देववैद्य) विद्युत्, मेघ, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, काल, (समय) यमराज, मृत्यु, रात्रि, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, सन्ध्या, वर्ष आदिरूपी महादेव हैं ॥ १०० ॥ ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

धाता च स विधाता च बिश्वात्मा विश्वकर्मकृत् ।
सर्बासां देवतानां च धारयत्यवपुर्वपुः ॥ १०३ ॥
सर्बैर्देवैःस्तुतो देवः सैकधा बहुधा च सः ।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा ॥ १०४ ॥
द्वे तनू तस्य देवस्य बेदज्ञा ब्राह्मणा बिदुः ।
घोरचान्या शिवाचान्या ते तनू बहुधा पुनः ॥१०५॥॥
घोरा तु या तनुस्तस्य सोऽग्निर्बिष्णुःस भास्करः ।
सौम्या तु पुनरेवास्यआपोज्योतींषि चन्द्रमाः ॥१०६॥
बेदाङ्गाःसोपनिषदःपुराणाध्यात्मनिश्चयाः ।
यदत्र परमं गुह्यं स बै देवो महेश्वरः ॥१०७॥
ईदृशश्च महादेवो भूयाँश्च भगवानजः ।
नहि सर्बे मया शक्या वक्तुं भगवतो गुणाः ॥ १०८ ॥
अपि बर्षसहस्रेण सततं पाण्डुनन्दन ।
सर्बैर्ग्रहै र्गृहीतान् बै सर्बपापसमन्वितान् ॥ १०९ ॥
स मोचयति सुप्रीतः शरण्यः शरणागतान् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं बित्तं कामांश्च पुष्कलान् ॥११०॥
स ददाति मनुष्येभ्यः स चैवाक्षिपते पुनः ।
सेन्द्रादिषु च देवेषु तस्य चैश्वर्य्यमुच्यते ॥१११॥

भवउत्पत्तिकारणम् ईशःशिक्षकः नाथो नायकः पतिःपालकः ॥ ९९ ॥
सबैरुद्रइत्यादिनापुनरेव सार्वात्म्यमुच्यते ॥ १०२ ॥

॥ भाषा ॥

यद्यपि वह किसी शरीर के वश नहीं हैं तथापि सब देवताओं के शरीरों को वही धारण करते हैं और सब देवता, उनको एकरूप, शतरूप, सहस्ररूप, लक्षरूप, और अनन्तरूप कल्पना कर स्तुति किया करते हैं ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

बेदज्ञ ब्राह्मणलोग इन्ही शिवजी की दो मूर्ति समझते हैं, एक घोरा (तेजस्विनी) और दूसरी शिवा (अघोरा अर्थात् शान्ता) और यही दो मूर्तियां पुनः अनेक प्रकार की होतीं हैं अर्थात् अग्नि, विष्णु, सूर्य, ये घोरा मूर्ति हैं और जल, तारा, चन्द्रमा, ये सौम्या मूर्ति हैं ॥१०५॥१०६॥

बेद उपनिषद् सहित, बेदाङ्ग, पुराण, और दर्शनशास्त्र आदि का मुख्य आन्तरिक तात्पर्य उन्ही महेश्वर देव में है। और वह नित्य महादेव भगवान् जैसा मैने कहा वैसे और उस से भी अधिक हैं क्योंकि हे पाण्डुनन्दन ! (अर्जुन) मैं यदि सहस्रों वर्षतक निरन्तर बर्णनहीं करता रहूं तब भी उनके सब गुणों को नहीं कह सकता। सूर्यादि सब ग्रहों से पीडित तथा ब्रह्म-हत्यादि सब पातकों से संयुक्त, अपने शरणागतों को वही महेश्वर प्रसन्न हो कर सब दोषों से निर्मुक्त कर देते हैं ॥ १०७ ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥

मनुष्यों को उत्तम २ आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, (शक्ति) और धन वे ही महेश्वर देते हैं और समय पर उक्त आयु आदि का नाश भी करते हैं। और मनुष्यों के शुभ अशुभ भोग भी उन्ही

स चैव व्यापृतो लोके मनुष्याणां शुभाशुभे ।
ऐश्वर्याच्चैव कामानामीश्वरश्च स उच्यते ॥११२॥
महेश्वरश्च भूतानां महतामीश्वरश्च सः ।
बहुभिर्बहुधा रूपैर्विश्वं व्याप्नोति वै जगत् ॥११३॥
तस्य देवस्य यद्वक्त्रं समुद्रे तदतिष्ठत ।
बडवामुखेतिविख्यातं पिबत्तोयमयंहविः ॥ ११४ ॥
एष चैव श्मशानेषु देवो वसति नित्यशः ।
यजन्त्येनं जनास्तत्रबीरस्थानइतीश्वरम् ॥ ११५ ॥

द्वेतनू इत्युक्तेतनू पुनर्व्याख्याति तस्य देवस्येति बडवामुखाख्या घोरा तनुः ॥११४॥
एषचैवेति । अघोरा श्मशानाख्या काशी, या ते रुद्रशिवा तनूरघोरापापकाशिनीति लिङ्गादपापस्य ब्रह्मणः प्रकाशकत्वात् एतच्चान्यत्राप्यविमुक्ताख्यां तामेव प्रकृत्याम्नातम् अत्रहि जन्तोःप्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेदिति। तत्र श्मशाने काश्यां एनं रुद्रं जना उपासकायजन्ति आराधयन्ति एतदपि तत्रैवश्रुतम् । 'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्तउपास्यःसोऽविमुक्ते प्रतिष्ठितः 'इति । बीरस्थाने बीराणां षड्वर्गजयिनां संन्यासिनां स्थाने

॥ भाषा ॥

की आज्ञानुसार होते हैं तथा इन्द्रादि देवता भी उन्हीं की इच्छा से सुख और दुःख पाते हैं । सब प्रार्थनीय बिषयों के स्वामी होने से उनका नाम "ईश्वर" है ॥ १११ ॥ ११२ ॥

आकाश आदि महाभूतों के भी वे ही ईश्वर हैं इसी से महेश्वर कहे जाते हैं । और अनेक रूपों से वे ही बिश्व में व्याप्त हैं उन्ही महेश्वर देव का मुखसदृश स्वरूप समुद्र में स्थित है जिसका नाम बड़बामुख (बड़वानल) प्रसिद्ध है जोकि जलरूपी हवि को सदा पान किया करता है ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

'एष०' यही देव श्मशानों में नित्य वास करते हैं जिसको उपासक लोग 'बीरस्थान' नाम से कह वहां इनकी उपासना करते हैं यह इस श्लोक का अक्षरार्थ है। और इसका आन्तरिक तात्पर्य तो, भा. भा. दी. में यों बर्णित है कि यहां 'श्मशान' शब्द से अघोरा मूर्ति अर्थात् काशी का ग्रहण है, क्योंकि "या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी" [शुक्लयजुः सं. अ. १६ मं. २] इस यजुर्मन्त्र में ऐसा ही कहा है अर्थात् अपाप (निर्दोष परब्रह्म) की काशिनी, (प्रकाश करनेवाली काशी) परमेश्वर की अघोरा, (शान्ता शिवा, (कल्याणरूपा) तनू, (मूर्ति) है । केवल यहीं नहीं किंतु जाबालोपनिषद् में भी "अविमुक्त" नाम से काशीपुरी को कह कर उसके विषय में यह बेदवाक्य है कि "अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेत्" (यहां अविमुक्त अर्थात् काशी में मृत कीट, पतङ्ग और बृक्षादि स्थावर पर्यन्त सब प्राणियों के प्राण निकलने के समय, उनको रुद्र अर्थात् परमेश्वर तारक ब्रह्म, अर्थात् प्रणव का उपदेश करते हैं जिस से कि वे प्राणी तत्त्वज्ञानी हो मुक्त हो जाते हैं इसी से अविमुक्त अर्थात् काशी में वास करै काशी को न छोड़े)। इसी श्मशान अर्थात् काशी में उपासकजन इन रुद्र (श्री शिवजी) की उपासना करते हैं, यह बात भी उक्त उपनिषद् के इस वाक्य से

अस्य दीप्तानि रूपाणि घोराणि च बहूनि च ।
लोके यान्यस्य पूज्यन्ते मनुष्याः प्रवदन्ति च ॥११६॥
नामधेयानि लोकेषु बहून्यस्य यथार्थवत् ।
निरुच्यन्ते महत्त्वाच्च विभुत्वात् कर्मभिस्तथा ॥११७॥

अविमुक्ते। यथोक्तं यतीन्प्रकृत्यस्मृतिषु अष्टौ मासान् विहारः स्याद्वार्षिकाँश्चतुरो वसेत्। अविमुक्ते प्रविष्टानां विहारो नैव विद्यते ॥ इति। नचात्रश्मशानशब्दार्थो लोकप्रसिद्धो ग्रहीतुंयुक्तः, तस्याशुचित्वेन यागभूमित्वासंभवेन यजन्त्येनं जनास्तत्रेति वाक्यशेषविरोधात् नच वीरस्थानेइत्युक्तेरसुराणां निन्द्यमार्गजुषां तदपि यजनस्थानमितिवाच्यम् आनुशासनिके उमामहेश्वरसंवादे श्मशानसदृशं पवित्रं स्थानं त्रैलोक्ये नास्तीति महेश्वरवचसैवस्थापितत्वात् तस्मान्महाश्मशानमितिलोकप्रसिद्धेः पवित्रं देवयजनस्थानं श्मशानाख्यं वाराणस्येव। अत्रैव संवर्त्तादीनामज्ञातवासो जाबालादौ श्रूयमाणो दानधर्मेषु मैत्रेयभिक्षायामश्वमेधीये संवर्त्तमरुत्तीये चोपबृंहितइतिसर्वमनवद्यम् ॥११५॥ (श्मशानेष्विति बहुवचनं तु प्रशंसायाम् एकस्मिन्नपिगुरौ गुरवइतिवत्) अस्येति। चादघोराणि ॥११६॥

॥ भाषा ॥

सिद्ध होती है कि "य एषोऽनन्तोऽव्यक्तआत्मा सोऽविमुक्तउपास्यः सोऽविमुक्तेप्रतिष्ठितः" (जो यह अनन्त और अव्यक्त आत्मा अर्थात् परमेश्वर हैं उनकी उपासना अविमुक्त में करै क्योंकि वह अविमुक्त में प्रतिष्ठित हैं अर्थात् अविमुक्त उनकी अघोरा मूर्ति है) और "वीरस्थान" शब्द से भी काशी ही का ग्रहण है क्योंकि वीरों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य रूपी षड्वर्ग के विजय करनेवाले अर्थात् संन्यासी) का स्थान काशी ही है जैसा कि धर्मशास्त्रों के, सन्यासी के प्रकरण में कहा है। "अष्टौ मासान् विहारः स्याद्वार्षिकांश्चतुरोवसेत्। अविमुक्ते प्रविष्टानां विहारो नैवविद्यते" (कार्तिक से ज्येष्ठमास पर्यन्त संन्यासियों को भ्रमण करना चाहिये और वर्षा के चार मासों में एक स्थान में वास करना चाहिये किंतु काशीवासी सन्यासियों को भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं है)। यहां यह नहीं कह सकते कि 'श्मशान' शब्द से लोकप्रसिद्ध श्मशान (मृतकदाह का स्थान) का ग्रहण है, क्योंकि वह अपवित्र होता है इसकारण "यजन्त्येनंजनास्तत्र" (उसमें अर्थात् श्मशान में उपासक लोग इन अर्थात् श्रीशिवजी की उपासना करते हैं) इस वाक्य से विरोध पड़ जायगा, क्योंकि अपवित्र स्थान में उपासना कैसे हो सकती है। यह भी नहीं कह सकते कि "वीर" शब्द से असुर राक्षस आदि का ग्रहण है और 'वीरस्थान' लोकप्रसिद्ध श्मशान है इसी से वहां असुर आदि निन्द्यगण रुद्र का यजन करते हैं, क्योंकि महाभारत अनुशासनपर्व उमामहेश्वरसंवाद में स्वयं महेश्वर ही ने यह कहा है कि श्मशान ऐसा पवित्र स्थान त्रैलोक्य में नहीं है इस से स्पष्ट निश्चित होता है कि श्मशानशब्द से काशी ही का ग्रहण है और काशी का "महाश्मशान" नाम भी प्रसिद्ध ही है इस से देवयजन के योग्य पवित्र स्थान श्मशान, वाराणसी ही है और ये सब बातें, भारत ही में मैत्रेयभिक्षा, संवर्तमरुत्तीय, प्रकरणों में कही हैं ॥११५॥ इन श्रीशिवजी की शान्त और भयानक प्रभावयुक्त मूर्तियां लोक में पूजी जाती हैं और चर्चित हैं

१ इस श्लोक में जो 'श्मशानेषु' (श्मशानों में) यह बहुवचन है वह एक काशी ही की प्रशंसा के लिए है जैसे एक ही गुरू के आने पर 'गुरू आया' नहीं कहा जाता किन्तु 'गुरू जी आये' यही कहा जाता है ॥

बेदे चास्य समाम्नातं शतरुद्रियमुत्तमम् ।
नाम्नाचानन्तरुद्रेति ह्युपस्थानं महात्मनः ॥ ११८ ॥
स कामनां प्रभुर्देवो ये दिव्या ये च मानुषाः ।
स विभुः स प्रभुर्देवो बिश्वं व्याप्नोति बै महत् ॥ ११९ ॥
ज्येष्ठं भूतं वदन्त्येनं ब्राह्मणा मुनयस्तथा ।
प्रथमोह्येष देवानां मुखादस्यानलोऽभवत् ॥ १२० ॥
सर्बथा यत् पशून् पाति तैश्चयद्रमते पुनः ।
तेषामधिपातिर्यच्च तस्मात्पशुपतिःस्मृतः ॥ १२१ ॥
नित्येन ब्रह्मचर्येण लिङ्गमस्य यदास्थितम् ।
महयत्येषलोकाँश्च महेश्वर इति स्मृतः ॥ १२२ ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
लिङ्गमस्यार्चयन्तिस्म तच्चाप्यूर्द्ध समास्थितम् ॥ १२३ ॥

निरुच्यन्ते 'ऐश्वर्य्याच्चैवकामानामीश्वरश्च सउच्यते । महेश्वरश्चमहतां भूतानामीश्वरश्च स' इत्येवंजातीयकैः श्लोकैर्व्याख्यायन्ते ॥ ११७ ॥

शतरुद्रियं नमस्तेरुद्रमन्यवइति याजुषः प्रपाठकः उपस्थानं रुद्रोपस्थानमन्त्रभूतम् ॥११८॥

कामानाम् दिव्यानां मानुषाणां च स प्रभुः दाता, बिभुः व्यापकः बिश्वं व्याप्नोति कनककुण्डलवत् नत्वाकाशवद्विभुमात्रम् नापि प्रधानवत् यतः प्रभुरीश्वरःचेतन इतियावत्११९॥

ज्येष्ठं प्रशस्ततमम् त्रिविधपरिच्छेदशून्यम् भूतं नित्यासिद्धम् एष एव प्रथमःप्रजापतिः॥

॥ भाषा ॥

मनुष्यलोग उन मूर्तियों को उस २ नाम से कहते भी हैं । श्री शिवजी के बहुत से नाम, गुण और कर्म के अनुसार लोकों में कहे जाते हैं ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

बेद में भी यजुसंहिता में "नमस्तेरुद्रमन्यवे" इत्यादि मन्त्रों का पूर्ण प्रपाठक [षोडश अध्याय] ही पढ़ा हुआ है जो सब श्रीशिवजी का प्रतिपादक अर्थात् रुद्रोपस्थान के मन्त्रों का समूह है जिसको कि शतरुद्रिय कहते हैं ॥ ११८ ॥

स्वर्गलोक बा मनुष्यलोक के सबन्ध में सब कामनाओं के पूर्ण करनेवाले वे ही सर्वव्यापी शिवजी हैं । इन्हीं शिवजी को ब्राह्मण और मुनि लोग ज्येष्ठ अर्थात् देश, काल और वस्तु से अपरिछिन्न अर्थात् व्यापक, तथा भूत (नित्यसिद्ध) कहते हैं और सब से प्रथम यही हैं और इन्हीं के मुख से अग्निदेव उत्पन्न हुए ॥ ११९ ॥ १२० ॥

पशु अर्थात् सब जीवों को शिवजी पालते लाड़ते और दण्डन करते हैं इसी से पशुपति कहलाते हैं।१२१

लिङ्ग भी शिव ही का नाम है क्योंकि सब जगत् को शिवजी आलिङ्गन करते हैं अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति और रक्षा उन्हीं से होती है तथा जगत् का लय भी श्रीशिवजी ही में होता है । और उनका महेश्वर भी नाम है क्योंकि वे जगत् से अपना महन (पूजन) कराते हैं तथा ईश्वर भी हैं ॥१२२॥

श्री शिवजी वस्तुतः निराकार अर्थात् हस्त, पाद, आदि से रहित (परब्रह्म) हैं, इसी से हस्त पाद आदि से रहित लिङ्गरूपी प्रतिमा में भी उनकी पूजा होती है और उस प्रतिमा को भी लिङ्ग कहते हैं क्योंकि वह प्रतिमा सब कामों का लिङ्गन अर्थात् प्राप्ति अपने भक्तों को कराती है

पूज्यमाने ततस्तास्मिन् मोदते स महेश्वरः ।
सुखी मीतश्च भवति महृष्टश्चैव शंकरः ॥ १२४ ॥
यदस्य बहुधा रूपं भूतं भव्यं भवत् स्थितम् ।
स्थावरं जगमं चैव बहुरूपस्ततःस्मृतः ॥ १२५ ॥
एकाक्षो जाज्वलन्नास्ते सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा ।
क्रोधाद्यचाविशल्लोकांस्तस्मात्सर्वइतिस्मृतः ॥ १२६ ॥
धूम्ररूपं च यत्तस्य धूर्जटिस्तेन चोच्यते ।
विश्वे देवाश्च यत्तस्मिन् विश्वरूप इतिस्मृतः ॥ १२७ ॥

पशून् जीवान् पाति पालयति पिवति सादरं पश्यति पोषयति चेत्यर्थानभिमेत्यडत्यन्तस्य पातेः पतिशब्दउत्पन्नः तेनपशुपतिशब्दस्याप्यर्थत्रयमित्यग्रेविज्ञेयम् ॥ १२१ ॥

ब्रह्मचर्येण दिव्यत्वात् यथास्थितत्वाच्च लिङ्गमित्यप्यस्य नाम आलिङ्गयत्ययं प्रपञ्चं सत्तास्फूर्त्तिप्रदानेन, लिङ्गत्येनं प्रपञ्चःप्रलीयमान इतिहेतोरयंलिङ्गपदवाच्यः । दिव्यत्वादसङ्गत्वाद्यथास्थिततत्वात्कूटस्थत्वाच्च प्रधानादन्यत्वमित्यर्थः महयन् पूजयन् सचासौईश्वरश्चेति-महेश्वरः ॥ १२२ ॥

लिङ्गयतिसर्वान्कामान्गमयति अतः सर्वोत्कृष्टत्वादूर्द्ध उर्ध्वत्वाच्च ऋष्यादीनामर्च्यं लिङ्गति भक्तसमर्पितं पत्रपुष्पादि गच्छति प्राप्नोतीत्यनेन हेतुनालिङ्गमित्युत्तरस्यार्थः॥१२३॥

भवत् वर्तमानम् ॥ १२५ ॥

एक मक्ष्यस्य वन्हिमयं जाज्वलदत्यन्तं दीप्तमास्ते यत्र प्रविष्टं सर्वं तत्तादात्म्यं प्राप्नोतीत्यनेनसरन्त्येनं भूतानीति वा सरत्ययं सर्वाणि भूतान्यनन्तलोचनत्वादिति वा सर्वः । जाज्वलन्नित्यस्यैवविवरणं क्रोधादिति । शर्व इति तालव्यादिपाठेऽपि शृणाति हिनस्तीति शर्व इति निर्वचनम् ॥ १२६ ॥

धूम्रा क्रोधवती जटिःस्वरूपमस्येतिविग्रहे वर्णलोपाद्धूर्जटिरित्याह धूम्रेति. रूपशब्दो देववाचीत्यभिमेत्याह विश्व इति ॥ १२७ ॥

॥ भाषा ॥

और देवता, ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा आदि उक्त लिङ्गरूपी प्रतिमा को पूजते हैं और उनके समर्पित पत्र पुष्प आदि का लिङ्गन (प्राप्ति) उस प्रतिमा पर होती है इस से भी उस प्रतिमा को लिङ्ग कहते हैं ॥ १२३ ॥

इसी कारण पूर्वोक्त लिङ्ग की पूजा से वह महेश्वर [शंकर] प्रसन्न होते हैं ॥ १२४ ॥

श्री शिवजी के भूत, भविष्य, वर्तमान, स्थावर, जंगम, अनन्तरूप हैं इसी से वह बहुरूप कहलाते हैं ॥ १२५ ॥

इन्हीं शिवजी का अग्निरूप नेत्र जाज्वल्यमान है जिस में सब जगत् प्रविष्ट हो जाता है और शिवजी के अनन्त नेत्र हैं जिस कारण सब प्रकारों को वे प्रत्यक्ष करते हैं इन्हीं दो कारणों से श्री शिवजी को सर्व कहते हैं ॥ १२६ ॥

शिवजी का जटि [स्वरूप] धूम्र क्रोधवती है इस से वे धूर्जटि कहलाते हैं और विश्वनामक देवता शिवजी में हैं इस से श्री शिवजी विश्वरूप कहलाते हैं ॥ १२७ ॥

तिस्रो देव्यो यदा चैनं भजन्ते भुवनेश्वरम् ।
द्यौरापः पृथिवी चैव त्र्यम्बकस्तु ततः स्मृतः ॥ १२८ ॥
समेधयति यन्नित्यं सर्वार्थान् सर्वकर्मसु ।
शिवमिच्छन् मनुष्याणां तस्मादेष शिवः स्मृतः ॥ १२९ ॥
सहस्राक्षोऽयुताक्षो वा सर्वतोऽक्षिमयोऽपि वा ।
यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः ॥ १३० ॥
दहत्यूर्द्धं स्थितो यच्च प्राणोत्पत्तिस्थितश्च यत् ।
स्थितलिङ्गश्च यन्नित्यं तस्मात्स्थाणुरितिस्मृतः ॥ १३१ ॥
सूर्याचन्द्रमसोर्लोके प्रकाशन्ते रुचश्च याः ।
ते केशसञ्ज्ञितास्त्र्यक्षे व्योमकेशइतिस्मृतः ॥ १३२ ॥
ब्रह्माणमिन्द्रं वरुणं यमं धनदमेव च ।
निगृह्य हरते यस्मात्तस्माद्धरइति स्मृतः ॥ १३३ ॥

त्रैलोक्यं अम्बते पालयतीति त्र्यम्बकइत्याह तिस्रइति ॥ १२८ ॥

समेधयतीति यस्माद्धनादिवर्धनेन लोकानांशिवकरःतस्माच्छिवइत्यर्थः ॥ १२८ ॥

महान्ति पुरुषभेदेन बहुत्वाद्विभुत्वाद्वा व्यापकाख्यानिदेवशब्दितानीन्द्रियाण्यस्येति वा महतो विश्वस्यदेवोराजा वा महादेवइत्यभिप्रेत्याह सहस्रेति ॥ १३० ॥
स ईक्षांचक्रे स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धामित्यादिना श्रुतौ ईक्षणकर्ताईश्वरो महानुक्तःप्राणो जीवोपाधिःतेन जीवउक्तः श्रद्धादिकंजीवस्यलिङ्गशरीरं चरमं कार्यं तत्रमहतईशात्प्रागुपाध्यस्पृष्टेन रूपेण तत उपहितेनसाक्षिरूपेण ततउपाध्यभिमानिना कर्त्रादिरूपेण चस्थितोऽपि स्थितलिङ्गः अविक्रियस्वरूपतया तिष्ठतीतियोगात् स्थाणुरित्युच्यते इत्याह महदिति ॥ १३१ ॥

सूर्याचन्द्रमसोरित्यग्नेरप्युपलक्षणम् रुचोदीप्तयः त्र्यक्षे सूर्यचन्द्राग्निनेत्रे व्योम्निकेशारश्मयोयस्येतिविग्रहः ॥ १३२ ॥

॥ भाषा ॥

तीन अम्बा अर्थात् माता की नाईं पालन करनेवाली वस्तु अर्थात् आकाश, जल और पृथ्वी, लोकेश्वर श्रीशिवजी की सेवा करती हैं इससे शिवजी त्र्यम्बक कहलाते हैं ॥ १२८ ॥

धन आदि की वृद्धि से लोकों की वृद्धि करते हैं शिव (कल्याण) की इच्छा से, इस कारण शिव कहलाते हैं ॥ १२९ ॥

पुरुषों के महत् (अनन्त) देव (इन्द्रियां) शिवही जीके हैं और महत् (विश्व) के देव (राजा) हैं इससे महादेव कहलाते हैं ॥ १३० ॥

सदा और सब में स्थित (व्यापक) होने से स्थाणु कहलाते हैं ॥ १३१ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, शिवजी के नेत्र हैं और सूर्य आदि के केश (तेज) व्योम (आकाश) में व्याप्त रहती हैं इससे शिवजी व्योमकेश कहलाते हैं ॥ १३२ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, यमराज और कुबेर को भी अन्तकाल में बलात् हरण करलेते हैं इससे शिवजी हर कहलाते हैं ॥ १३३ ॥

भूत, भविष्य, वर्तमान, स्थावर, जंगम, सरूप और नीरूप जो कुछ पदार्थ हैं सब

भूतं भव्यं भविष्यच्च यच्च सर्वमशेषतः ।
भवएव ततोयस्माद्भूतभव्यभवोद्भवः ॥ १३४ ॥
बिषमस्थःशरीरेषु समश्च प्राणिनामिह ।
स बायुर्विषमस्थेषु प्राणोऽपानःशरीरिषु ॥ १३५ ॥
पूजयेद्विग्रहं यस्तु लिङ्गञ्चापि महात्मनः ।
लिङ्गपूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते ॥ १३६ ॥
ऊरुभ्यामर्द्धमाग्नेयं सोमार्द्धं च शिवा तनुः ।
आत्मनोऽर्द्धं तथाचाग्निःसोमार्द्धंपुनरुच्यते ॥ १३७ ॥

शरीरेषुबिषमैर्दशाबिधैरूपैस्तिष्ठतीतिबिषस्थः प्राणिनांदेहाभिमानिनां सर्वेषांसमः, प्रियत्वात् । नह्यात्मनिकदाचिदप्यप्रियत्वंकस्यापिदृष्टं स एष शिव एव बायुरूपीप्राणापानादिभेदेन बिषमस्थेषुपुण्यपापिषुशरीरिषुजीवेषुस्थितः सर्वसमइत्यर्थः ॥ १३५ ॥

बिग्रहं प्रतिमाम् ॥ १३६ ॥

ऊरुभ्यामित्यादिश्लोकत्रयेण पुनस्तनुद्वयंबिभजते ऊरुभ्यामिति तत्राद्यश्लोकेऽग्निरिति भोक्ता सोम इतिच भोग्यमुच्यते अत्र मुखबाहूरुपादजाताश्चत्वारोबर्णाः कर्मफलभूतबृष्ट्यादिद्वारेण समस्तप्राणिकल्याणकरत्वाद्रुद्रस्य शिवा तनुरित्युच्यते तत्र ऊरुशब्देन तदारभ्याधस्तनःप्रदेश उच्यते तत्रार्द्धमाग्नेयम् परिशेषादर्द्धंसोमः बैश्योभोक्ता शूद्रोभोज्यइत्यर्थः । आत्मनोरुद्रस्य । तथाच ऊरुभ्यामुपर्यर्द्धं शिरोभागोब्राह्मणोऽग्निर्भोक्ता परिशेषादर्द्धंबाहुभागः क्षत्रियः सोमोभोज्यं तथा पुनरप्येतदुच्यते अर्द्धमाग्नेयमर्द्धंसोम इति तेन ब्रह्मक्षत्रे भोक्तारौ बैश्यशूद्रौ भोज्यौ तथाच भोक्ता भोज्यं रक्ष्यं भोज्येन भोक्ता बर्द्धनीय इति । तथाच चातुर्वर्ण्यं त्रैलोक्यस्थितिहेतुत्वादात्मनोरुद्रस्य शिवा तनुरित्यर्थः ॥ १३७ ॥

॥ भाषा ॥

श्रीशिवजी से होते हैं इससे शिवजी को भव कहते हैं ॥ १३४ ॥

सब शरीरों में प्राण आदि दशविध बायुरूप से शिवजी स्थित हैं तथा सब देहाभिमानी जीवों के आत्मा होने से सबके प्रिय हैं इसी से सर्वसम हैं ॥ १३५ ॥

सबके लिए उचित और आवश्यक है कि इन शिवजी के विग्रह (करचरणादियुक्त प्रतिमा) और लिङ्ग (करचरणादिरहित प्रतिमा) की पूजा करैं परंतु जो प्रतिदिन लिङ्गपूजा करता है वह मोक्षपर्यंत सब फलों का भागी होता है ॥ १३६ ॥

पूर्व में कही हुई शिवजी की शिवा और घोरा मूर्तियों का, "ऊरुभ्यां" इत्यादि तीन श्लोकों से पुनः बिवरण किया जाता है कि श्रीशिवजी के मुख, बाहु, ऊरु, और चरण से उत्पन्न चारो वर्ण, शिवजी की शिवा मूर्ति है और अपने जिस शरीर से शिवजी ने बर्णों को उत्पन्न किया उस शरीर का ऊरुपर्यंत अर्द्धभाग अग्नि (भोक्ता) रूप है और अवशिष्ट भाग सोम (भोग्य) रूप है अर्थात् बैश्य और शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय के भोग्य (काम करने वाले) तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय, बैश्य और शूद्र के भोक्ता (रक्षक) हैं निदान ऊपर का भाग भोक्ता और नीचे का भाग भोग्य है । शिर (ब्राह्मण) का भोग्य बाहु, (क्षत्रिय) बाहु का भोग्य ऊरु, (बैश्य) ऊरु का भोग्य, चरण (शूद्र) है अर्थात् ब्राह्मण के भोग्य ३ क्षत्रिय के २ बैश्य का १ वर्ण भोग्य है ॥१३७॥

तेजसी महती दीप्ता देवेभ्योऽस्य शिवा तनुः ।
भास्वती मानुषेष्वस्य तनुर्घोराऽग्निरुच्यते ॥ १३८ ॥
ब्रह्मचर्य्यं चरत्येष शिवायास्य तनुस्तथा ।
याऽस्यघोरतमा मूर्तिः सर्वानत्ति तयेश्वरः ॥ १३९ ॥
यन्निर्दहति यत्तीक्ष्णो यदुग्रो यत्प्रतापवान् ।
मांसशोणितमज्जादो यत्ततो रुद्र उच्यते ॥ १४० ॥
कपिःश्रेष्ठ इति प्रोक्तो धर्मश्च बृष उच्यते ।
स देवदेवो भगवान् कीर्त्यतेऽतो बृषाकपिः ॥ १४१ ॥
उन्मीलिताभ्यां नेत्राभ्यां बलादेवो महेश्वरः ।
ललाटे नेत्रमसृजत्तेन त्र्यक्ष इतिस्मृतः ॥ १४२ ॥

तैजसीति 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिवन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ती' ति श्रुतेर्देवानां भोग्या सोमरूपाऽस्यशिवातनुःस्वर्गेऽस्ति तथा भुवि मानुषेषु घोरा भोक्त्रीजठराग्निरूपा सर्वानर्थनिदानभूताऽस्तीतिभावः ॥ १३८ ॥

ब्रह्मचर्यमिति । एषमानुषस्तयातन्वा ब्रह्मचर्यंचरातियाऽस्यशिवातनुर्दैवी संपच्छमदमादिरूपा । सर्वानर्थनिदानं घोरतराकामक्रोधादिरूपायाऽस्य शिवस्य मूर्तिस्तयाससर्वानत्ति क्रोधाद्याविष्टो हि पित्रादीनपिहिनस्तीतिप्रसिद्धम् ॥ ३९ ॥

एवमस्यैव कारयितृत्वादयमेवाराध्योऽस्माद्भेतव्यमित्याशयेनाह । यन्निर्दहतीति । निर्दहत्यग्निवत् तीक्ष्णःशस्त्रवत् उग्रोयमवत् प्रतापवान् कालवच्च भूत्वा सर्वान् रोदयति रुणद्धि वा सर्वग्रासित्वाद्रुद्रइत्युच्यते अयमेवभयकृद्भयनाशनश्चेत्याराधनीयो नतुहेलनीय इतिभावः ॥ १४० ॥

॥ भाषा ॥

"न ह वै देवा अश्नन्ति न पिवन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" (देवता लोग खाते पीते नहीं किंतु इसी सोमलता के रसरूपी अमृत को देख कर तृप्त होते हैं) इस श्रुति के अनुसार देवताओं के लिये शिवजी की सोमलतारूपी शिवा मूर्ति है और मनुष्यों में जठराग्निरूपी घोरामूर्ति उनकी है क्योंकि पेट के अर्थ अनेक अनर्थ होते हैं ॥ १३८ ॥

और शम, दम, आदि शिवजी की शिवा मूर्ति है। मनुष्य शरीर से उन मूर्तियों के द्वारा शिवजी धर्मों को करते हैं तथा काम, क्रोध आदि शिवजी की घोरा मूर्ति है जिस से वह सब को ग्रास कर जाते हैं ॥ १३९ ॥

उक्त प्रकार से श्रीशिवजी सब क्रियाओं के करानेवाले और सब के आराध्य जैसे हैं वैसे ही सब का निग्रह भी करते हैं अर्थात् अग्निवत् दाहक, शस्त्रवत् तीक्ष्ण, यमराजवत् उग्र, (प्रतापी) हो कर दुष्टों को रोदन कराते हैं और अन्त समय में सब को रोधन (ग्रास) कर जाते हैं इस कारण रुद्र कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि भय के नाशक और कारक दोनों श्रीशिवजी ही हैं इसी से जगत् के आराध्य हैं ॥ १४० ॥

धर्म को बृष, और श्रेष्ठ को कपि, कहते हैं इसी से शिवजी का बृषाकपि नाम है ॥१४१॥

श्री पार्वतीजी ने पीछे से आकर क्रीड़ार्थ, हाथों से शिवजी की आंखों को जब मूँद लिया

एष देवो महादेवो योऽसौ पार्थ तवाग्रतः ।
संग्रामेशात्रवान्निघ्नं स्त्वया दृष्टः पिनाकधृक् ॥ १४३ ॥
सिन्धुराजबधार्थाय प्रतिज्ञाय त्वयाऽनघ ।
कृष्णेन दर्शितः स्वप्ने यस्तु शैलेन्द्रमूर्द्धनि ॥ १४४ ॥
एष वै भगवान् देवः संग्रामे याति तेऽग्रतः ।
येन दत्तानि तेऽस्त्राणि यैस्त्वया दानवा हताः ॥ १४५ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम् ।
देवदेवस्य ते पार्थ व्याख्यातं शतरुद्रियम् ॥ १४६ ॥
सर्वार्थसाधनं पुण्यं सर्वकिल्बिषनाशनम् ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वदुःखभयापहम् ॥ १४७ ॥
चतुर्विधमिदं स्तोत्रं यः शृणोति नरः सदा ।
विजित्य शत्रून् सर्वान् स रुद्रलोके महीयते ॥ १४८ ॥
चरितं महात्मनो दिव्यं सांग्रामिकमिदं शुभम् ।
पठन् वै शतरुद्रीयं शृण्वंश्च सततोत्थितः ॥ १४९ ॥
भक्तो विश्वेश्वरं देवं मानुषेषु तु यः सदा ।
वरान् कामान् स लभते प्रसन्ने त्र्यम्बके नरः ॥ १५० ॥
गच्छ युध्यस्व कौन्तेय न तवास्ति पराजयः ।
यस्य मन्त्री च गोप्ता च पार्श्वतस्ते जनार्दनः ॥ १५१ ॥

चतुर्विधम् शुद्धशबलसूत्रविराड्भेदेन भगवद्रूपस्य चातुर्विध्यात्स्तोत्रमप्यस्य चतुर्विधम् ॥ १४८ ॥ इति ।

॥ भाषा ॥

तब शिवजी ने अपने ललाट में तृतीय नेत्र की सृष्टि किया इसी से त्र्यक्ष कहलाते हैं ॥ १४२ ॥

हे पार्थ ! यही देव, महादेव, तुम्हारे आगे चलते हैं जिनको तुमने अपने [अर्जुन के] शत्रुओं को मारते देखा है । और जब तुमने सिन्धुराज (जयद्रथ) के बधार्थ प्रतिज्ञा किया था उस समय कृष्ण ने स्वप्नावस्था में, शैलराज (कैलास) पर जिनको तुम्हें दिखलाया था वेही ये शिव भगवान् हैं जोकि संग्राम में तुम्हारे अगाड़ी चलते हैं और जिनके दिये शस्त्रों से प्रथम में तुमने दैत्यों और दानवों को मारा था ॥ १४३ ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

हे पार्थ ! वैदिक शतरुद्रिय जोकि देवदेव श्रीशिवजी की स्तुति धन्य, यशस्य, आयुष्य और पुण्य है उसके तात्पर्य का व्याख्यान मैंने तुमको सुना दिया । और उक्त व्याख्यानरूपी यह स्तोत्र, पाठ और श्रवण के द्वारा सब पापों और दुःखभयों का नाशक है जो मनुष्य प्रतिदिन इसे स्तोत्र का श्रवण करता है वह सब शत्रुओं को विजय करता है और अन्त समय शिवलोक पाता है क्योंकि इसे स्तोत्र में परमेश्वर के चारो प्रकार अर्थात् शुद्ध, मायाशवलित, सूत्र और विराट् स्वरूपों का वर्णन है ॥ १४६ ॥ १४७ ॥ १४८ ॥

मनुष्यों में भी जो कोई श्रीविश्वेश्वरदेव का भक्त हो कर इस स्तोत्र को प्रतिदिन पढ़ता है वह श्री परमेश्वर के प्रसाद से अपने सब प्रार्थित कामों को पाता है ॥ १४९॥ १५० ॥

संजय उ० एवमुक्त्वाऽर्जुनं सङ्ख्ये पराशरसुतस्तदा ।
जगाम भरतश्रेष्ठ यथागतमरिन्दम ॥ १५२ ॥

एवंच सकलवैदिकमन्त्रसङ्कलनाऽऽचार्य्येण भगवता व्यासेन संहितायां सङ्कलनासमकालमेव निवेशितस्यात्र शतरुद्रियाध्याये शतरुद्रियत्वेन वेदघटकत्वेन च कीर्तितस्यैतावता महता प्रबन्धेन तात्पर्यतो व्याख्यातस्य याजुषप्रपाठकत्वेन भावदीपे नीलकण्ठोक्तस्य च रुद्राध्यायस्य तात्पर्यानभिज्ञवेदबाह्यस्वकपोलैककल्पिताभिर्द्वेषावेशमुद्गिरन्तीभिः संभावनाभिःकथमिव प्रक्षिप्तत्वशङ्कालेशोऽपि कस्यचिदपक्षपातस्य परीक्षकस्योत्तिष्ठतामित्यत्र किमिव वाच्यमिति । खेदस्त्वेतावानेव बेदबाह्यस्य, यदयमेतावानपि बेदभागोऽल्पीयान्परिशिष्टः कथं न लुप्तइति । कथमन्यथा बेदबाह्यस्याल्पीयस्यप्यस्मिन्बेदभागे निर्मूलोऽयमनेकशङ्काकलङ्काधानदुराग्रहमयो महोद्योग इति महीयसी साधीयसी च मनःशुद्धिः ।

अथ या या अस्य बेदबाह्यस्योक्तयः सामान्यतोऽनूद्य तथैव परीक्षितास्ता बिशेषतोऽनूद्य परीक्ष्यन्ते ।

अत्र सर्वा एवोक्तस्य बाह्यस्योत्प्रेक्षाःप्रायःपाञ्चविध्यं नातिक्रामन्ति ता यथा—

॥ भाषा ॥

हे कौन्तेय ! (अर्जुन) जाव लड़ो तुम्हारी पराजय नहीं है क्योंकि कृष्ण भगवान, मन्त्री और रक्षक हो कर तुम्हारे समीप रहते हैं ॥१५१॥

संजय—हे भरत श्रेष्ठ, अरिन्दम ! (धृतराष्ट्र) उस समय पराशरऋषि के पुत्र (कृष्णद्वैपायन व्यास) युद्ध में अर्जुन से इतना कह कर, जैसे आए थे वैसे चले गए ॥ १५२ ॥

सब बैदिक मन्त्रसंहिताओं के संग्रह करनेवाले भगवान् कृष्णद्वपायन व्यास ने उक्त इस महाभारतभाग में जिस शतरुद्रिय अध्याय को अपने कण्ठरव से श्लोक ११८ में बैदिक कहा और इतने बड़े प्रबन्ध से जिसका व्याख्यान किया और यजुसंहिता में वह शतरुद्रिय अध्याय अब तक बर्तमान है तथा पूर्वोक्त महाभारतटीका में शतरुद्रिय को याजुष प्रपाठक कहने से यह निश्चित है कि नीलकण्ठ पण्डित के समय में भी यजुसंहिता में रुद्राध्याय था ही जैसा कि अब है तब ऐसी दशा में पक्षपात शून्य हो कर यदि देखा जाय तो "यजुसंहिता में व्यास ने रुद्राध्याय को नहीं रक्खा था किंतु पीछे से किसी ने बनाकर मिला दिया है" इस, उक्त साहेब के वाक्य पर लेशमात्र भी विश्वास कैसे हो सकता है क्योंकि उक्त साहेब, बेदसम्प्रदाय से अत्यन्त बाह्य और बेद के गूढ़ तात्पर्यों के अज्ञ थे और यही निश्चय होता है कि किसी लौकिक कारण से ऐसी २ निर्मूल शङ्का उठाते थे। और साहेब ने जो यह कहा है कि "बेद आदि के लोप होने का हमको बड़ा खेद है' इस पर तो विश्वास किया जाता परंतु यदि उक्त साहेब, किसी कारण से बचे बचाए थोड़े से बेद भाग पर भी ऐसा २ निर्मूल आक्षेप न करते ।

यहां तक जो साहेब का ग्रंथ समालोचित हो चुका है उसकी बिशेषरूप से समालोचना यह है कि उक्त अपने ग्रंथ में वेबर साहेब ने बेद के विषय में अपनी जो २ संभावना (अटकल वा अनुमिति) प्रकट किया है वे संभावनाएं प्रायः पांच रीतियों से बहिर्भूत नहीं हैं इस कारण प्रथम उन पांच रीतियों को दिखला कर उनके उदाहरणार्थ उक्त साहेब के ग्रंथ का तात्पर्य क्रम से लिखा जाता है और उसी के साथ ही साथ उसकी समालोचना भी की जाती है । पूर्वोक्त पांच

(१) वेदभागनामवेदोक्तनामव्युत्पत्तिमात्रमूलिका इति प्रथमा विधा।

(२) काश्चिच पुराणोपन्यस्तानां कुरुपाञ्चालादिनाम्नां वेदोपात्ततादृशनामसमानानुपूर्वीकत्वमूलिका इति द्वितीया।

(३) काश्चित्तु वैदिकीनामाख्यायिकानां वास्तविकवृतान्तकथनत्वभ्रममूलिका इति तृतीया।

(४) काश्चिच्च एकस्या एव संहिताया ब्राह्मणस्य वा भागानां क्वचिन्न्यूनत्वं क्वचिदाधिक्यमितिवैषम्योपलम्भोत्थापिता इति चतुर्थी।

(५) काश्चिच्च कस्याचिदर्थस्य वेदे क्वचिच्चर्चामात्रेणोल्लासिता इति पञ्चमी।

तत्राद्याया विधाया यजुरादौ शुक्लादिशब्दा उदाहरणम् व्याघ्रोपाख्यानमेव च प्रत्युदाहरणम्। तथाहि। कश्चिच्छान्दिकम्मन्यः पान्थः 'पुरःपदव्यां व्याघ्रः प्रतिवसति तन्मापुरोगा'

॥ भाषा ॥

रीतियां ये हैं कि

रीति—(१) वेदभाग के नामों के तथा वेदोक्त नामों के अक्षरार्थों को व्याकरणमात्र के अनुसार लगा कर किसी विषय की कल्पना करना।

रीति—(२) पुराणोक्त और वेदोक्त कुरु, पांचाल, आदि नामों के अन्योन्य में एकसा होने मात्र से किसी विषय की कल्पना करना।

रीति—(३) वेदोक्त आख्यायिकाओं में यथार्थ समाचार होने के भ्रम से किसी विषय की कल्पना करना।

रीति—(४) वेद के एक ही संहिताभाग वा ब्राह्मणभाग के न्यूनाधिक होने के ज्ञान से किसी विषय की कल्पना करना।

रीति—(५) वेद में किसी विषय की चर्चामात्र होने से किसी नवीन समाचार की कल्पना करना।

प्रथम रीति का उदाहरण, उक्त साहेब का ग्रंथ यह है कि—

"शुक्ल यजुर्वेद के विषय में अब हम चले हैं। प्रथम शुक्लयजुः इस नाम के विषय में ऐसा कहना चाहिये कि यह नाम यों रक्खा गया कि इसमें यज्ञों का वर्णन निश्चित रीति, और प्रामाणिक व्याख्यान से अलग किया है और इसमें हमें उन विषयों का जो कृष्णयजुर्वेद में संदिग्ध रीति से मिले जुले वर्णित हैं उत्तम और क्रमपूर्वक विभाग मिलता है। इस रीति से, टीकाकार द्विवेदगङ्ग ने (शुक्लानि यजूंषि) इस वाक्य का अर्थ एक ही संदर्भ में किया है जो शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यक के अन्तिम परिशिष्ट में अब तक उक्त वाक्य का यही अर्थ दिखलाता है" इत्यादि (पृ० १६२)

समालोचना

(१) तैत्तिरीय, खाण्डिकीय, कृष्णयजु और शुक्लयजु आदि नामों में केवल प्रकृति और और प्रत्यय के अनुसार अर्थ लगा कर उसके बल से वेदों और उन नामों को पौरुषेय और आधुनिक

इति तत्रत्यैः प्रतिषिद्धोऽपि व्याजिघ्रतीति व्याघ्र इति शिङ्क्ष्यति नत्वतःपरं किंचित्कारिष्य-तीति निश्चित्य निर्विशङ्कं क्रियद्दूरङ्गतो निर्जने गहने बुभुक्षितेन कालकल्पेन शार्दूलेन समु-त्क्रम्याक्रम्य च खरतरैर्नखाङ्कुरैरदनैश्च मुहुर्मुहुर्विदार्यमाणो म्रियमाणः सन्,रे रे शुष्कशा-ब्दिकाः शृणुत शृणुत हिंसार्थकोऽपि जिघ्रतिरस्ति तदयं ब्रह्महत्याशनिविनिपातो घ्रागन्धोपादा-नइत्यनुशिष्टवतः प्राणान्तिकवैरिणः शाब्दिकापसदस्य पाणिनेरेवमूर्द्धनीत्यार्त्ततरमत्युच्चैश्चु-क्रोश इति । एतेन तैत्तिरीयखाण्डिकीयकृष्णयजुःशुक्लयजुरादिशब्दानां योगव्युत्पत्तिमात्र-माश्रित्य वेदानां तत्संज्ञानां चाधुनिकत्वाद्युत्प्रेक्षा उक्तवेदबाह्येन कृताः प्रत्युक्ताः । यथाहि लौकिकीनामाजानिकीनाङ्गोव्याघ्रादिसंज्ञानां न योगव्युत्पत्तिराश्रीयते तथा वेदभागसंज्ञा-नामपि । अनादौ हि वेदे तद्भागसंज्ञा अध्ययनादय एव, तथा च तदनुरोधमात्रमाकिञ्चित्कर-मेव । वैदिकनामनिर्वचनैकतानानां निरुक्तादीनामपि, तत्साधुत्वज्ञानात्प्रयोगे पुण्यं भवति, विशेषणतयोपात्तानां च संज्ञाशब्दानां लक्षिततादृशक्रियादिद्वारा विशेष्यव्यावर्तकत्वमित्या-

॥ भाष ॥

कहना अत्यन्त अनुभवविरुद्ध है क्योंकि जैसे गौ, व्याघ्र आदि लौकिक नामों का अर्थ, केवल प्रकृति और प्रत्यय के अनुसार व्यवहार में कदापि नहीं लाया जाता वैसे ही वेद के नामों के विषय में समझना चाहिये। प्रसिद्ध है कि "गम्" धातु का चलना ही अर्थ है जिस से 'गौ' शब्द बनता है परंतु बैठे, सोये, और मरे गौ को भी गौ कहते हैं और "घ्रा" धातु का सूंघना अर्थ है जिस से व्याघ्र शब्द बनता है ऐसे ही वेदभागों के नामों का भी केवल प्रकृति प्रत्यय के अनुसार अर्थ नहीं लगाना चाहिये । और निरुक्त आदि में जो वैदिक नामों में प्रकृति प्रत्यय के अनुसार अर्थ कहा हुआ है उसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन शब्दों का लोकप्रसिद्ध अर्थ से कोई अन्य अर्थ है किंतु "प्रकृति और प्रत्यय के ज्ञानपूर्वकही वैदिक शब्द के पाठ से पुण्य और यज्ञसिद्धि होता है" "संज्ञाशब्दों का भी कहीं प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ किया जाता है उसमें कारण यह है कि उस अर्थ का दूसरे शब्द के अर्थ में सम्बन्ध करना आवश्यक रहता है" इत्यादि अनेक तात्पर्य हैं । और वेद के अनादि होने से वेदभागों का तैत्तिरीय आदि नाम भी अनादि ही हैं तथा पुराणों में जो उन नामों से कथाएं लिखी हैं वे भी आख्यायिकामात्र हैं इस कारण उक्त नामों के द्वारा उन वेदभागों की प्रशंसामात्र में उक्त कथाओं का मुख्य तात्पर्य है न कि अपने अर्थ में । इस विषय में एक आख्यायिका भी कहने योग्य है कि "एक वज्रवैयाकरण पथिक से राह में ग्रामीण मनुष्यों ने कहा कि इस राह से न जाइए अगाडी एक बाघ रहता है । वैयाकरण ने यह विचार किया कि "बाघ" शब्द व्याघ्र शब्द का अपभ्रंश है और "व्याघ्र" 'घ्रा' धातु से सिद्ध होने के कारण सूंघनेवाले को कहता है इस सिद्धान्त से व्याघ्र यदि आवेगा तो मुझे सूंघ कर चला जायगा इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता । ऐसा विचार कर पुनः उसी राह से चला जब निर्जन बन में पहुंचा तब काल के तुल्य कराल उस भूखे व्याघ्र ने उस वैयाकरण पर आक्रमण कर दांतों से काट २ कर उसे खाने लगा और उस वैयाकरण ने चिल्ला कर कहा कि अरे रे ! शुष्क-वैयाकरणों ! सुनियो २ 'घ्रा' धातु का प्राण लेना भी अर्थ है, इस कारण यह ब्रह्महत्या का पाप उस विश्ववैरी पाणिनि (व्याकरण के कर्ता) ही के शिर पर है जिसने कि "घ्रागन्धोपादाने"(१) (घ्रा धातु का सूंघना अर्थ है) अपने धातुपाठ में कहा है" इति ।

१ वज्रवैयाकरण ही होने से उसको यह ज्ञान नहीं था कि पाणिनीय धातुपाठ में अर्थ नहीं पठित है किंतु अर्थपाठ पं० भीमसेनकृत है ।

दितात्पर्यकत्वमेव नतु सर्वत्र रूढिमवधीर्य योगशक्तिरेवादरणीयेत्यपि तेषां तात्पर्यम्। तथासति लोकव्यवहारविरोधप्रसङ्गात्। यदा चाधुनिकीष्वपि तत्तद्भाषाघटिकासु सञ्ज्ञासु विना यत्नविशेषमन्वर्थता नाश्रीयते तदा किमु वक्तव्यमाजानिकीषु तासु विनैव यत्नविशेषमाश्रयितुं सा न शक्येति।

यथा तेनैव

अथ ब्राह्मणग्रन्थप्रसङ्ग इत्युपक्रमे वैदिक्याः सभ्यताया ज्ञानोन्नतिपरिवर्तनस्य च कालात्प्रभृति ब्राह्मणलोकानां दार्शनिकसामाजिकशक्तिविशेषाविर्भावसमयपर्यन्तस्य समयस्य मध्ये ब्राह्मणवेदभागानां रचनाऽभूत्। किंच तान्येव ब्राह्मणानि तदा रचितानि प्रोक्तसभ्यताऽऽदिपरिवर्तने कारणान्यभूवन्, तत्रापि कतिपयानि ब्राह्मणान्युक्तसमयस्यारम्भे कतिपयानि च समाप्तिसमये रचितानि। तत्तदृषीणां विभिन्नतत्तन्मतानुसारेण या याः किंवदन्त्यस्तेषां कुलेषु तच्छिष्येषु च पितृपितामहादिपरम्पराऽनुसारात्प्रचरिता आसँस्ताएव

॥ भाषा ॥

(२) यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि तैत्तिरीय आदि नामों का प्रकृति प्रत्यय के अनुसार ही अर्थ है तो भी बेद, आधुनिक वा पौरुषेय नहीं हो सकता क्योंकि तित्तिरि आदि ऋषि, जिन बेदभागों का अध्यापन करते थे अथवा तित्तिरि आदि के छात्र जिनको पढ़ते थे उन बेदभागों के तैत्तिरीय आदि नाम हैं और तित्तिरि आदि शब्दों का कोई व्यक्तिविशेष अर्थ नहीं है यह पूर्व में कहा जा चुका है।

प्रथम, तृतीय और चतुर्थ रीति का उदाहरण, साहेब का ग्रंथ यह है कि— "पृ० १५ अब हम बैदिक निबन्धों के द्वितीयभाग अर्थात् ब्राह्मणग्रंथों का प्रसंग चलाते हैं। पृ० १६। इनके निर्माण समय, बैदिक सभ्यता और ज्ञानोन्नति के परिबर्तन काल से ले कर जब ब्राह्मण लोगों की दार्शनिक और सामाजिक नीति के बर्ताव निकले इसी अन्तराल में हुए हैं, नहीं बरुक वे उस परिबर्तन के होने में सहाय हुए हैं, उनमें से कई एक तो उसके आरम्भ समय से संबन्ध रखते और दूसरे उसके समाप्ति समय से। ब्राह्मण ग्रन्थों की नेवँ प्रत्येक ऋषियों के भिन्न २ मतानुरूप, जो कहावतें, उनके कुल और शिष्यगणों में सुरक्षित और न्यूनतापूर्तिसहित चली आती थीं उनसे पड़ी। ये कहावतें जितनी अधिक भिन्न २ होती गईं वैसे ही अधिक आवश्यकता इनकी एकवाक्यता करने की हुई। इसी तात्पर्य से, ज्यों २ समय बीतता चला त्यों २ इन विषयों की बिचित्रतावाले और जिनमें हर एक बिषय के भिन्न २ मत अपने निर्माताओं के नामसहित सम्पूर्ण इकट्ठे किये हों ऐसे संग्रह भिन्न २ देशों में इस प्रकार की रचना में परम निपुण मनुष्यों ने बनाए। परन्तु इस बात का निश्चय नहीं है कि ये संग्रह उस समय यथाबिधि लिखे गये थे अथवा मुखद्वारा ही एकसे दूसरे को बतलाए जाते थे पिछले अनुमान का संभव अधिक होता है क्योंकि एक ही ग्रंथ के हमलोग ऐसे दो पाठ कहीं २ पाते कि जिनके आशय का बिस्तर सर्बथा भिन्न है। परन्तु इस विषयपर कोई बात निश्चित करके नहीं कही जा सकती, क्योंकि उन स्थलों में सम्भव है कि मुख्य ग्रन्थही में कुछ तात्विक भेद हुए हों, अथवा वे बात नई बनाकर डालदी गई हों। और भी यह स्वाभाबिक देख पड़ता है कि इन ग्रंथकारों में परस्पर बिवाद भी मतभेद से हुआ हो। इसी हेतु हमको कभी २ यह देख पड़ता है कि ग्रंथकर्ताओं ने अपने विरुद्धमतावलम्बी लोगों के मत को

ब्राह्मणभागानां मूलतां प्राप्ताः । ताश्च किंवदन्त्यः कालक्रमेण यथा यथा भेदान् प्राप्तास्तथा तथा तासामविरोधाय प्रतिविषयं स्वस्वाचार्यनामोल्लेखपुरस्सरं तानि सङ्कलय्य ब्राह्मणान्तराराण्यपि परमनिपुणैर्ब्राह्मणैर्ग्रन्थरूपेण रचयित्वा तेषु तेषु देशेषु प्रचारितानि । ते च संग्रहग्रन्थास्तदानीं लिखिता नवेति न निर्णेतुं शक्यते, एकस्मिन्नेव ग्रन्थे विषये च भिन्नभिन्नतात्पर्यकपाठभेददर्शनात्तु न लिखिता इति संभाव्यते किंच ब्राह्मणभागेषु गृहीतनाम्नां ग्रन्थकृतां तत्रैव मतभेदस्याप्युपन्यासात्तेषां मिथोविवादोऽभूदित्यपि संभाव्यते अतएवैकेन केनचिद्ब्राह्मणग्रन्थेन बाधिता अपरे लुप्ता इति खेदः । किंच शुक्लयजुर्वेदस्य ब्राह्मणे पूर्वं षष्टिरेवाध्याया आसन् इदानीं तु शतमध्याया उपलभ्यन्ते इत्युक्तम् ।

इह प्रथमं प्रथमा, ततो द्वितीयकिञ्चेत्यादिना तृतीया, ततोऽपि किंचेत्यादिना चतुर्थी, विधा स्वीकृता बाह्येन । तत्र प्रथमा तावद्ब्राह्मणताण्ड्यादिपदश्रुतिमूला । सा च नोपपद्यते,

॥ भाषा ॥

प्रति बड़ी शत्रुता प्रकट की है । इनमें से कई एक ग्रंथों में जो औरों की अपेक्षा अधिकतर गौरव पाया, चाहे इसका हेतु उन ग्रथों की अभ्यन्तरीय योग्यता हो, अथवा उनके ग्रन्थकर्ता धर्माचरण में अधिक प्रवृत रहे हों, उसका परिणाम ऐसा हुआ कि केवल वेही बचे रहे और खेद की बात है जो उनके प्रतिपक्ष मतवाले ग्रंथ बहुधा लुप्त हो गए । सम्भव है कि हिन्दुस्तान में कहीं २ कुछ खण्ड उनके मिल सकें, परन्तु हर एक बिषय के हिन्दुस्तानी निवन्धों की भांति, इसमें भी हम लोगों को बड़े खेद का बिषय यह है कि, जो ग्रंथ अन्त में बिजयी हुए वे ही प्रायः अपने से प्राचीन ग्रंथों के बदले समझे गये और उन अपने प्राक्तनों को जड़मूल से नष्ट कर बैठे ।

पृ० १९ । शुक्लयजुर्वेद का ब्राह्मण तो, इसके बिरुद्ध अपनी संहिता का एक प्रामाणिक व्याख्यान अर्थात् टीका समझा जा सकता है, यह संहिता की आनुपूर्वी का अनुसरण ऐसा लगातार करता है कि यदि एक वा दो ऋचाओं को यह छोड़ दे, तो हम लोग इस निगमन करने में निर्दोष ठहरते हैं कि उस समय में ये ऋचाएं संहिता में नहीं डाली गई थीं । इस ब्राह्मण में एक परिशिष्ट ग्रंथ भी संहिता के उन अध्यायों के निमित्त मिलाया गया है कि जो इसके आदि में संग्रह समय से पश्चात् इसमें मिलाए गए हैं, यहां तक कि साठ ६० अध्याय जो मालूम होता है कि पहिले थे उनके बदले अब इस ब्राह्मण में १०० अध्याय मिलते हैं ।

साहेब के ग्रन्थ के इस उद्धृत भाग में आदि से "नई बनाकर डालदी गई हो" यहां तक उक्त प्रथम रीति है । और वहां से "नष्ट कर बैठे" यहां तक तृतीय रीति है । तथा वहां से अन्त तक चतुर्थ रीति है ।

यथाक्रम समालोचना ।

(१) ब्राह्मण और ताण्ड्य आदि शब्दों के अर्थानुसार जो २ संभावनाएं साहेब की हैं एक भी ठीक नहीं हैं क्योंकि पूर्व ही वेददुर्गसज्जन में भली भांति यह सिद्ध हो चुका है कि जिन वेदभागों को कठ आदि ने अध्यापन किया उन वेदभागों का उस अध्यापन ही के कारण काठक आदि नाम पड़े न कि कठ आदि के रचित होने से, ऐसे ही ब्राह्मण आदि संज्ञा भी अनादि और ताण्ड्य आदि संज्ञा अध्यापन ही के कारण प्रसिद्ध हैं न कि रचना के कारण । तथा इस बिषय में युक्ति और प्रमाण बहुत से पूर्व ही दिखला दिये गये हैं उनको वहीं देखना चाहिये ।

ब्राह्मणादिसञ्ज्ञाया अनादित्वस्य ताण्ड्यादिसञ्ज्ञायाश्च काठकादिवदध्यापनमहिमनिबन्धनताया बेददुर्गसज्जने पूर्वमेव बहुशः प्रतिपादितत्वात्। रचनानिबन्धनत्वमेव तासां कुतो न स्यादिति चेत्, तर्हि प्रवचनमूलकत्वं रचनामूलकत्वं बा तादृशीनां सञ्ज्ञानामिति बिचारे प्रवचनस्य वैदिकेन वाह्येन चाभ्युपेतत्वात्तदेवमूलं भवितुमर्हति नतु रचना, बैदिकैर्बेदे तदनभ्युपगमात्। किंच वाह्योक्तं बेदे बिशिष्य रचनाऽनुमानमनुपदमेव निराकृतम्। सामान्यतो बेदे पौरुषेयत्वानुमानं तु बेदापौरुषेयत्वसाधनावसरे बेददुर्गसज्जन एवानेकधा निराकृतमतो रचना, वेदे स्वयमेव निर्मूला सती नतरां ब्राह्मणादिसञ्ज्ञानां मूलतामनुभवितुं प्रभवति। यदाच रचनैवासिद्धा तदा तत्समयविशेषसंभावना दूरपलायितैवेति ब्राह्मणभागानां क्रमिकौ ह्रासप्रचारातिशयावेव ज्ञानाद्युन्नतिपरिवर्तननिदानत्वेन व्यवस्थितावित्येव युक्तम्। अपिच कल्पादौ लिखितपुस्तकानामलाभे किमाश्चर्यं का बा क्षतिः। तदानीन्तनानां हिरण्यगर्भादीनां महानुभावानामन्तःकरणेषु शब्दात्मनो बेदस्य स्मरणात्मनैव स्थैर्यस्य सर्वबैदिकसंमतत्वात्।

॥ भाषा ॥

प्र०—यदि यह कहा जाय कि रचना ही के कारण ब्राह्मण, ताण्ड्य आदि नाम पड़े तो इसमें क्या बाधक है ?

उ०—(१) यह बाधक है, जब कि अध्यापन और रचना दोनों ब्राह्मण आदि नामों के मूल हो सकते हैं तब यह बिचार करना चाहिये कि दोनों में से कौन मूल है ? और इस बिचार में निष्पक्षपात निर्णय यही हो सकता है कि जब वादी (साहेब) और प्रतिवादी (बैदिक पुरुष) दोनों को यह स्वीकृत है कि ब्राह्मणबिशेष ताण्ड्य आदि, बेदभागों के अध्यापक थे तब ऐसी दशा में अध्यापन ही ताण्ड्य, आदि नामों का मूल कारण हो सकता है क्योंकि अध्यापन दोनों वादियों के प्रति, सिद्ध अर्थात् निर्बिवाद है। और रचना तो कदापि ब्राह्मण ताण्ड्य आदि नामों का मूलकारण नहीं हो सकती क्योंकि बेद की रचना बैदिकों को स्वीकृत नहीं है जिस की उपपत्ति पूर्व हीं बेददुर्गसज्जन में कही जा चुकी है और बेद की रचना जब दोनों वादियों को सिद्ध नहीं है तब मध्यस्थ पुरुष कैसे रचना को ब्राह्मण ताण्ड्य आदि नामों का मूल कह सकता है इससे मध्यस्थ पुरुष ऐसी दशा में बैदिक पुरुष ही को बिजय देगा।

उ०—(२) बेद में बिशेषरूप से रचना का अनुमान जो वेवर साहेब ने पूर्व में किया उसका खण्डन भी विशेषरूप से वहीं कर दिया गया। और सामान्यरूप से बेद के पुरुषरचित होने का अनुमान तो पूर्व हीं बेददुर्गसज्जन में अनेक प्रकारों से खण्डित ही हो चुका है तब ऐसी दशा में जब बेद के बिषय में रचना आप ही निर्मूल है तब वह कैसे ब्राह्मण ताण्ड्य आदि नामों का मूलकारण हो सकती है, और ऐसी दशा में ऐसे नामों के अनुसार उक्त साहेब की, बेदरचना के बिषय में समयाबिशेष की संभावना तो बहुत ही दूर भाग जाती है तथा इसी कारण से यह सिद्धान्त है कि बेद के ब्राह्मणभागों का अतिशय प्रचार और ह्रास होना ही, ज्ञान धर्म आदि के उन्नति और अवनति रूपी परिबर्तन का अकेला कारण है न कि रचना।

स०—(१) आदिसृष्टि के समय लिखित पुस्तकों के न होने से मैं नहीं समझता कि आश्चर्य क्या है ? और हानि भी क्या है ? क्योंकि उस समय शब्दरूपी बेद, ब्रह्मदेव आदि अनेक महानुभावों के हृदयों में जब स्मरणरूप से अटल स्थित था तब उसके बिगड़ने की शङ्का ही क्या

अनादिपरम्परया महर्षीणां तच्छिष्याणां च हृदयेषु बेदस्यावस्थितिर्बाह्योक्ता त्वनादितामेव बेदस्योपपादयन्ती भूषणमेव बेदस्य न जातु दूषणम्। अन्यच्च नहि मतभेदविरोधनिरासाय कान्यपि ब्राह्मणानि केनापि रचितानि, रचितत्वस्य ताभ्यो निराकृततया किंवदन्तीनां बेदात्मिकानामापाततः प्रतिभासमानस्य भेदस्य गूढतात्पर्यानुसारेण पारमार्थिकविषयाभेदस्य चानादित्वात्। अपरं च, पाठभेदो हि न ग्रन्थस्य दोषःकिंत्वध्येतृणामेव। एवं तृतीयाऽपि विधा कपूयितैव। लौकिकीनामिव बैदिकीनामप्याख्यायिकानां स्ववाच्यार्थे तात्पर्याभावस्यासकृदावेदितपूर्वतया ततो मिथोबिरोधाद्यर्थकल्पनाया आकौशलैकमूलकत्वात्। किंच ब्राह्मणग्रन्थानां वस्तुतस्तात्पर्यबिरोधाभावेन बाध्यबाधकभावस्यैवाभावात्तस्य ब्राह्मणग्रन्थलोपप्रयोजकतोपवर्णनमपि न समीचीनम्। लोपस्तु प्रकृते ह्रासापरपर्यायो "जन्मसंस्कारविद्यादे" रित्यादिपूर्वोपन्यस्तन्यायाचार्यकारिकोक्तेभ्यो जन्मादिह्रासेभ्य एवेति कालपरिपाकबलनिमीलिते बिषये को नाम खेदः। एवम् अन्तिमकिंचेत्याद्युदश्विता तुरीयाऽपि बि-

॥ भाषा ॥

हो सकती है और लेख का क्या ठिकाना है क्योंकि बेदग्रन्थ, लिखित होते २ बहुत से लुप्त ही हो गए जो कि पुनः किसी समय पर उक्त महानुभावों के हृदयों से ही प्रकट होंगे।

स०—(३) यह कथन साहेब का कि महर्षियों और उनके शिष्यों के हृदयों में बेद की स्थिति थी, बेद की अनादिता ही सिद्ध करता है इस कारण भूषण ही है न कि कोई दूषण।

स०—(४) यह कथन भी साहेब का कि मतभेदकृत बिरोध को शान्त करने के लिए किसी ने ब्राह्मणभाग ग्रंथों की रचना की, ठीक नहीं है क्योंकि रचना का पूर्व में शतशः खण्डन हो चुका है। जिन बेदोक्त कहावतों से साहेब को ऋषियों के बिरोध और मतभेद का भ्रम हुआ है वे कहावतें आख्यायिकामात्र हैं जैसा कि पूर्व में अनेक बार कहा जा चुका है और यह भी अनेक बार कहा गया है कि "बैदिक आख्यायिकाओं का, बृतान्तरूपी अपने शब्दार्थ में लौकिक आख्यायिकाओं की नाईं मुख्य तात्पर्य नहीं होता" इसी से उक्त कहावतों का अपने मुख्य तात्पर्यों में सहानुभूतिही है न कि भेद वा बिरोध।

स०—(५) पाठभेद, पढ़नेवालों ही के प्रमाददोष से होता है उस दोष को बेद पर आरोप करना निर्मूल ही है।

स०—(६) अनन्तरोक्त युक्ति ही से साहेब की तृतीय रीति भी स्पष्ट ही खण्डित हो गई क्योंकि जब बैदिक आख्यायिकाओं का अपने अक्षरार्थ में मुख्य तात्पर्य ही नहीं है तब उसके अनुसार ऋषियों के बिरोध आदि की कल्पना करना, बैदिक दर्शनों के परिचय न होनें के कारण ही से है।

स०—(७) जब ब्राह्मणग्रंथों के इतिहासभागों का, पूर्वोद्धृत मीमांसादर्शन के अनुसार अपने २ शब्दार्थों में मुख्य तात्पर्य ही नहीं है किंतु प्रशंसाही में मुख्य तात्पर्य है तब उनके अन्योन्य में बिरोध का संभव ही नहीं हो सकता और ऐसी दशा में साहेब का यह कथन, कि बिरोध के कारण, एक २ ब्राह्मणग्रंथ के प्रचार से अन्यान्य ब्राह्मणग्रंथों का लोप हो गया, अनुचित ही है। लोप तो प्रचार के न्यून होने को कहते हैं न कि नाश को क्योंकि बेद तो नित्य है उसका नाश नहीं हो सकता। और उक्त लोप का कारण भी समय का परिवर्तन ही है जैसा कि बेददुर्गसज्जन

धा, सुधाप्रबोधा बोध्या। तथाहि। ये तावच्चत्वारिंशदध्याया इदानीन्तना अतिरिच्यन्ते ते पूर्वस्मिन्कियति समये ह्रासमनुभूय सम्प्रति प्रचारमाप्ता इत्येतावतैव सामञ्जस्ये संभवति तेषां नवनिर्मितत्वमेवेत्याग्रहे न किमपि प्रमाणम्। पूर्वं तेषामदर्शनस्य सम्प्रदायह्रासेनान्यथासिद्धत्वात्। रचनाकालस्य रचयितुश्च विशिष्य निर्णयाभावदशायां तथास्वीकारस्यैवौचित्यावर्जितत्वाच्च। किंच ह्रासोऽपि न युगपत्सर्वदेशपुरुषव्यापी महाप्रलयादन्यदा भवितुमर्हति। तथाच केषुचिद्देशेषु पुरुषेषु च ह्रसिता अपि ते चत्वारिंशदध्याया देशान्तरीयपुरुषान्तरीयस्वप्रचारसङ्क्रमणेन ह्रासस्थानेषु देशेषु पुरुषेषु च भूयोऽप्युद्दीपितप्रचाराःसंतीत्येव कुतो न कल्प्यते। योरपादिषु देशेषु पूर्वमसताऽपि बेदप्रचारेण साम्प्रतमनुभूयमानेन निदर्शनीभूय तादृशकल्पनायामानुकूल्यपरिशीलनादित्यलं पल्लवितेन।

यदपि तेनैव

'ऋग्वेद' इत्युपक्रमे शाकलीतिसंहिताऽभिधानानुरोधादेव शाकल्यस्य सम्बन्धः संहितायां परिस्फुरति। यास्कोऽपि शाकल्यमृक्संहितायाःपदपाठस्य निर्मातारमाहस्म। शु-

॥ भाषा ॥

के अन्त में प्रतिपादन हो चुका है तो ऐसी दशा में कालकृत बेदलोप से पश्चाताप (खेद) करना बिबेकी का काम नहीं है।

स०—(८) ऐसे ही चतुर्थ रीति भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त ब्राह्मण के जिन चालीस अध्यायों को साहेब नवीन कहते हैं उनके बिषय में यह कहा जा सकता है कि बहुत पूर्व समय में उन अध्यायों का अध्ययन अध्यापनरूपी प्रचार था, और मध्य में कुछ काल तक उक्त प्रचार लुप्त हो गया था पुनः प्रचार हो गया इस ह्रास और प्रचार में कारण भी कालवश पुरुषशक्ति आदि की उन्नति और अवनति ही है जैसा कि बेददुर्गसज्जनमें बिस्तर से निर्णय हो चुका है, तो ऐसी दशा में "ये चालीस अध्याय नवीन रचना कर मिला दिये गए हैं" यह साहेब का आग्रह निर्मूल और अनुचित ही है।

स०—(९) जब स्वयं साहेब ही के वाक्य से यह सिद्ध है कि उक्त अध्यायों की रचना का समय और कर्ता का निर्णय नहीं हो सकता कि इन अध्यायों को कब और किसने बनाया, और रचना का खण्डन भी पूर्व में दृढ़तर प्रमाणों से हो चुका है तब ऐसी दशा में उक्त अध्यायों का कदाचित् प्रचार और कदाचित् लोप ही की कल्पना करना उचित है नकि नवीन रचित कहना।

स०—(१०) प्रचार का ह्रासरूपी लोप भी बेद का, महाप्रलय को छोड़ कर कदापि सब देश और सब पुरुषों में नहीं हो सकता और ऐसी दशा में यही कल्पना करना क्यों उचित नहीं है? कि जैसे योरुप देश में बेद का प्रचार जहां तक पता चलता है पूर्व में कदापि कुछ भी नहीं था परंतु अब टूटी फूटी रीति से कुछ २ होने लगा ऐसे ही उक्त ४० चालीस अध्याय, किसी २ देश और समयों में न पढ़े पढ़ाये जाते रहे और पश्चात् उनके पढ़ने पढ़ाने का प्रचार हो गया हो।

"पृ० ४३ पहिले, ऋग्बेद के विषय में, ऋग्बेदसंहिता के द्विधाभाग देख पड़ते हैं एक तो, केवल उस ग्रंथ की उपरी बातों के अनुसार हुआ है और स्पष्ट बूझ पड़ता है कि बहुत नवीन है। दूसरा अभ्यन्तर विषयों पर निबद्ध है और उस से अति प्राचीन है। पृ० ४६ से ४८ तक, शाकलों के नाम से ही स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध शाकल्य ऋषि से है जिसकी चर्चा

कयजुर्वेदस्य शतपथब्राह्मणे तु, विदग्धोपनामकःशाकल्यो याज्ञवल्क्यस्य समये विदेहराजस्य जनकस्य सभायां स इवाध्यापकस्तत्प्रतिस्पर्द्धी च बभूव। याज्ञवल्क्यश्च तं पराजित्य शशाप, तेन च तस्य शिरो निपपात, तस्यास्थीनि च चौरा अचूचुरन्निति कथाऽस्ति। एवं तस्यैव ब्राह्मणस्य द्वितीयभागे बार्कलिनोऽप्यध्यापका उक्ताः। शाङ्खायनारण्यकेऽपि 'अशीतिसाहस्रं बार्कलिनो बृहतीरहरहरभिसम्यादयन्ती' त्युक्तम्। ऐतरेयारण्यके तु 'बार्कलिनो बै अर्कलिन' इत्युक्तम्। पुराणेषु तु शुनकानां संबन्धित्वेन शाकला उक्ताः। शौनकेन च ऋग्वेदगुप्तये ऋषिच्छन्दोदेवताऽनुवाकसूक्तानुक्रमणी, बृहद्देवता, ऋग्वेदप्रातिशाख्यम्, ऐतरेयकसंबन्धि स्मार्तसूत्रं, कल्पसूत्रं, च रचितानि। स्वशिष्येणाश्वलायनेन रचितङ्कल्पसूत्रं दृष्ट्वा तु तेन स्वीयङ्कल्पसूत्रं लोपमप्यापितमित्यपि केचन वदन्ति। तत्रैकेनैव शौनकेनैतानि सर्वाणि रचितानीति न संभाव्यते किंतु शाकलसंहिताया द्वितीयमण्डलमेव शौनकेन रचितामिति वृत्तान्तरं तु संभाव्यते। एवमपि च वदन्ति, यत् अयं स एव शौनको यस्य यज्ञमहोत्सवे वैशम्पायनस्य पुत्रः सौतिर्महाभारतकथां श्रावयामास। वैशम्पायनोऽपि पूर्वमेव कस्मिँश्चिदवसरे भारतीयामेव कथां हरिवंशसहितां जनमेजयं श्रावयामासेति। अतश्च शुनकवंशः प्राचीनर्ग्वेदर्षिवंशानां संबन्धी सच नूतनेऽपि समये महर्षिसभायामभ्यर्हित आसीत्, आश्वलायनगुरोः शौनकान्नैमिषारण्ये यज्ञकर्तुः शौनकस्याभेदश्चेत्यर्थाल्लभ्यते। तथा शुक्ल-

॥ भाषा ॥

ब्राह्मणग्रंथों और सूत्रों में प्रायः आती है। यास्क ने इन को ऋक्संहिता के पदपाठ का निर्माता कहा है शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मणग्रंथ अर्थात् शतपथ में कहे हुए वृतान्तों के अनुसार एक शाकल्य जिसका उपनाम विदग्ध था याज्ञवल्क्य ऋषि के समकाल बिदेह के राजा जनक की सभा में एक अध्यापक की भांति रहते थे और याज्ञबल्क्य के प्रसिद्ध शत्रु और प्रतिस्पर्द्धी थे। याज्ञबल्क्य ने उनको पराजित करके शाप दिया उनका शिर गिर पड़ा और उनकी हड्डियों को चोरों ने चुरा लिया। बार्कलि भी (जिसको लोगों ने बाष्कालि का अपभ्रंश बना दिया है) उन अध्यापकों में से एक का नाम है कि जिनकी चर्चा शतपथ ब्राह्मण के द्वितीय भाग में की है। पुराणों में शाकलों का नाम शुनकों के सबन्ध में आता है। और बिशेष करके शौनक को लोग एक ग्रंथसमूह का निर्माता कहते हैं कि जिसको उन्हों ने (ऋग्बेदगुप्तये) ऋग्बेद की रक्षा के लिए रचा जैसे कि, ऋषियों, छन्दों, देवताओं, अनुवाकों, और सूक्तों की एक अनुक्रमणी एक बिधान ऋचाओं और उनके अंगों का, पूर्वोक्त बृहद्देवतानामक ग्रंथ, ऋग्बेद का प्रातिशाख्य, एक स्मार्तसूत्र, और एक कल्पसूत्र भी रचा, जिसका संवन्ध मुख्य करके ऐतरेयक से था। और जिसको उन्हों ने अपने शिष्य आश्वलायन का रचित कोई और कल्पसूत्र देखकर लुप्त कर दिया। पहिले तो यह संभव नहीं है कि ये सारे ग्रंथ एकही व्यक्ति शौनक के रचे हुए हों। तथापि वे, कुछ न कुछ निश्चय है, कि उनके संप्रदाय से संवन्ध रखते हैं। परंतु इससे अधिक यह भी पता लगता है कि दूसरा मण्डल संहिताही का उन्हों ने रचा है, और यह भी लोग कहते हैं कि वह वही शौनक थे कि जिसके यज्ञमहोत्सव में, बैशम्पायन के पुत्र सौति ने महाभारत की कथा कही बैशम्पायन ने पहिले किसी अवसर में इस कथा को हरिवंश के सहित जनमेजय (दूसरे) को सुनाया था इन दोनों बर्णनों में से पहिला तो यह सिद्ध करता है कि शुनकों का वंश ऋग्बेद के प्राचीन ऋषिबंशों

यजुर्वेदब्राह्मणे द्वौ शौनकावुपलभ्येते तत्र प्रथम इन्द्रोतनामा यो महाभारते जनमेजययज्ञे पौरोहित्येनोक्तः द्वितीयस्तु स्वैडायन उदीच्य इत्युक्तम् ।

अत्रोच्यते । पदपाठो न संहिता किंतु तत्पाठक्रियाया रीतिविशेष एव इति शाकल्यस्य पदपाठप्रवर्तयितुः प्रवचननिमित्तएव संहितायां सम्बन्धो नतु सङ्कलनानिमित्तकः । सङ्कलना-निमित्तकस्तु सम्बन्धो व्यासस्यैव । किंच शतपथब्राह्मणीया कथाऽप्याख्यायिकैवेति तस्या न वाच्यार्थे मुख्यं तात्पर्यम् किंतु बेदाभ्यासातिशयाद्वाच्येवंविधा शक्तिराविर्भवति यया यदेव शत्रुशिरःपातादिकं वक्ति तदेव भवति, पुरुषश्च बेदाभ्यासी राज्ञामपि मान्यो भवति, बेदाभ्या-सीयतादृशातिशयाभाववतस्तु पुरुषांस्तच्छत्रूंस्तादृशःशिरःपातयन्तोऽप्यनर्थे आक्रामति, तद्द्रव्यास्थ्नांच नाग्निसंस्कारः किंतु चौरैर्हरणमित्यन्तेष्टिरपि तद्द्वेषिदेहैर्दुर्लभा भवतीतीदृशं बेदस्य महात्म्यम् । स्पर्द्धा च ब्राह्मणैः सह न कार्या यतस्तस्याःशिरःपातपर्यन्तंफलम् किंतु शान्तिरेव सदाऽनुसरणीया । राज्ञा चाप्रशान्तोऽपि ब्राह्मणो बेदाभ्यासीचेत्सेवनीय एवेत्या-दिकं तात्पर्यमिति तत्रत्याः शाकल्यजनकयाज्ञवल्क्यादिशब्दा न कस्याश्चिद्व्यक्तेर्विशिष्य

॥ भाषा ॥

से संबन्ध रखता था, तथा यह भी सूचन करता है कि नवीन काल में यहां तक चला आया कि बिद्वान् ब्राह्मणों की सभा में एक अत्युत्तम पदवी को प्राप्त हुआ । और दूसरा बृतान्त यह बोधन करता है कि इस बात के मानने में कोई साक्षात् प्रतिबधक नहीं देख पड़ता कि आश्वलायन का अध्यापक शौनक और नैमिषारण्य में यज्ञ करनेहारा शौनक ये दोनों एक ही हैं । पुनः शुक्लयजु के ब्राह्मणग्रंथों में हमे दो भिन्न २ शौनक बर्णित देख पड़ते हैं, एक तो इन्द्रोत, जिसने महाभारत की कथानुसार पहिले जनमेजय के यज्ञ में पुरोहित का काम किया था, दूसरा स्वैडायन, औदीच्य अर्थात् उत्तरदेश का निवासी । (इस ग्रन्थ में पूर्वोक्त तृतीय रीति है) ।

समालोचना

(१) पदपाठ का, संहिता नाम नहीं है । संहिता, संग्रह का नाम है और पदपाठ तो पढ़ने की रीति अर्थात् पदच्छेद को कहते हैं इससे यह सिद्ध है कि संहिता शाकल्य की की हुई नहीं है किंतु ब्यास ही की की हुई है । शाकल्य ने तो पदपाठ का संप्रदाय चलाया इतने मात्र से काठक आदि नामों के नाई इस संहिता का नाम शाकली है ।

(२) साहेब ने जो शतपथ ब्राह्मण की कथा लिख दी है वह आख्यायिकामात्र है अन्य आख्यायिकाओं की नाई उसका भी अपने अक्षरार्थ में मुख्यतात्पर्य नहीं है किंतु यह तात्पर्य है कि बेद के अधिक अभ्यास से वचन में ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है कि जिस से बेदाभ्यासी पुरुष जिसको जो कह दे उसको वही हो जाय जैसे शत्रु का शिर गिरजाना इत्यादि और बेदाभ्यासी पुरुष राजाओं का भी माननीय होता है तथा बेदाभ्यासी के शत्रुपुरुषों पर शिरगिरजाना आदि अनेक अनर्थ, आक्रमण करते हैं यहां तक कि मरने पर उनकी हड्डियों को अग्निसंस्कार भी दुर्लभ हो जाता है और उन हड्डियों को चोर चुरा ले जाते हैं, ऐसा बेदाभ्यास का महात्म्य है । ब्राह्मणों के साथ सबको शान्ति से रहना चाहिये, स्पर्धा (तुल्यता का अभिमान) नहीं करना चाहिये क्योंकि उसके फल, शिरगिरजाना आदि बड़े २ भयानक होते हैं और बेदाभ्यासी ब्राह्मण यदि क्रोधी भी हो तब भी राजाओं को उसका सत्कार ही करना चाहिये। यही सब उक्त शतपथ कथा के तात्पर्य हैं ।

वाचका इति कुतस्तरां ततो व्यक्तिविशेषस्य कालविशेषस्य वा निर्द्धारणं संभवतीति तादृश कथोल्लेखश्रमो व्यर्थ एव वेदबाह्यस्य। इयंच पूर्वोक्ता तृतीया विधा। किंच वेदे कस्यापि शब्दस्य न काचिदनित्या व्यक्तिरर्थो, वेदस्य नित्यत्वात् किंतु जातिरेव नित्या पदार्थ इति पूर्वमेवौत्पत्तिकसूत्रमुपन्यस्योपपादितम्। सिद्धान्तितं च पूर्वमीमांसादर्शने १ अध्याये ३ पादे 'आकृतिस्तुक्रियार्थत्वात्' ॥ ३३ ॥ इति सूत्रेण जातीनामेव पदार्थत्वं नतु व्यक्तीनामिति भगवता जैमिनिना। अस्य च सूत्रस्य, क्रियार्थत्वात् क्रियाप्रयोजनत्वात् आकृतिःजातिः पदवाच्येतियोजना। अयं भावः। व्यक्तिशक्तिवादिनाऽप्यवश्यं जातिर्भासत इति वाच्यम्। अन्यथा 'श्येनचितंचिन्वीते' ति वैदिकवाक्यार्थानुपपत्तेः। तथाहि। धात्वर्थे श्येनः किं करणत्वेनान्वेति उत कर्मत्वेन। नाद्यः कर्मण्यग्न्याख्यायामिति हि पाणिनिसूत्रम्। कर्मवाचके श्येनादिरूपे उपपदे धात्वर्थेऽपि कर्मणि अग्न्याख्यस्थण्डिलसंज्ञायां कर्तव्यायां चिनोतेर्धातोः क्विप् स्यादिति तदर्थः। इत्थं चोक्तसूत्रानुसारेण श्येनशब्दस्य श्येनसदृशे लक्षणां स्वीकृत्य श्येनसदृशं चीयमानं स्थण्डिलं चयनक्रियया भावयेदिति वाक्यार्थःसंपद्यते। करणत्वेनान्वयेतु कर्मवाचकोपपदाभावेन निरुक्तसूत्रविरोधः अतोऽवश्यं कर्मत्वेनान्वये सदृशलक्षणया कर्मत्वं श्येनपदार्थस्य संपादनीयम्। चयनक्रियायाःफलं श्येनसादृश्यम्। तादृशगुणस्यैव 'श्येनचितं चिन्वीत स्वर्गकाम' इत्यत्र स्वर्गसाधनत्वंप्रतीयते। एवं सति केवलव्यक्तिशक्तिवादिना यावद्व्यक्तिसादृश्यमिष्यते उत यत्किंचिद्व्यक्तिसादृश्यम्। नाद्यः सर्वव्यक्तिसादृश्यस्यैकत्रासंभवात् न द्वितीयः। यद्व्यक्तिसादृश्यं वेदतात्पर्यविषयीभूतं तन्नाशेऽनुष्ठानलोपापत्तेः। तात्पर्यविषयी-

॥ भाषा ॥

और उक्त कथा में शाकल्य, जनक और याज्ञवल्क्य आदि शब्द भी किसी विशेष व्यक्ति के वाचक नहीं हैं किंतु जैसे मालतीमाधव आदि में मालती आदि शब्द नाममात्र कल्पित हैं वैसे ही ये भी हैं, यह बात वेददुर्गसज्जन के अर्थवादप्रकरण में भली भांति दिखलाई गई है। तो ऐसी दशा में जब इस आख्यायिका से किसी व्यक्तिविशेष और समयविशेष का पता कदापि नहीं चल सकता तब साहेब का अपने ग्रन्थ में इस कथा के लिखने का परिश्रम सर्वथा व्यर्थ ही है।

(३) वेददुर्गसज्जन में 'औत्पत्तिक' सूत्रपर भट्टपाद आदि बड़े २ मीमांसकों के मतसे यह सिद्ध कर दिया गया है कि गौ आदि शब्दों का गोत्व आदि जाति ही अर्थ है जो कि नित्य है न कि मांसपिण्ड आदिरूपी व्यक्ति गौ आदि शब्दों का अर्थ है और वेद नित्य है इस से वेदशब्दों का तात्पर्य भी व्यक्तियों में नहीं है। तथा पूर्वमीमांसादर्शन अध्याय १ पाद ३ 'आकृतिस्तुक्रियार्थत्वात्' ॥ ३३ ॥ इस सूत्र से भगवान् जैमिनि महर्षि ने स्वयम् यह सिद्धान्त किया है कि आकृति (जाति) ही पदों का अर्थ है न कि व्यक्ति। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि यदि व्यक्ति, पदों का अर्थ माना जाय तो 'श्येनचितंचिन्वीत' (बाज नामक पक्षी के सदृश आकार का स्थण्डिल अर्थात् अग्निस्थापन की बेदी बनावै) इस वेदवाक्य का अर्थ ही नहीं बन सकता क्योंकि यहां 'श्येन' शब्द का श्येनतुल्य (बाजनामक पक्षी के सदृश) अर्थ है तो यहां यदि सब श्येनव्यक्तियों के सदृश का ग्रहण है तो सब व्यक्तियों का सादृश्य, प्रमाण, आकार और रूप आदि से, एक अग्निबेदी में हो ही नहीं सकता और यदि एक श्येनव्यक्ति के सदृश का ग्रहण है तो उस श्येनव्यक्ति के नाश से यज्ञ ही बिगड़ जायगा इसकारण यदि यह कहा जाय कि श्येनत्वजाति जितनी व्यक्तियों में रहती

भूतवस्तुनोऽभावात्। इत्यगत्या श्येनत्वाश्रयसदृशमितिवाच्यम्। तथा च श्येनत्वबोधस्यावश्यकतया तदर्थं तत्रापि शक्तिस्तवावश्यकी । तथा सति तत्रैव शक्त्या सर्वकार्यनिर्वाहे व्यक्तिशक्तिर्निरर्थिकेति । उपपादितं चैतत्सर्वमस्मिन्नेवाकृत्यधिकरणे विस्तरेण भाष्यवार्तिकयोः । तथाचैतादृशकथानामाख्यायिकात्वानङ्गीकारेऽपि तद्घटकानां शाकल्यादिशब्दानां न कथंचिदपि व्यक्तिविशेषतात्पर्यकत्वमुन्नेतुं शक्यत इति तदनुसारेण व्यक्तिविशेपस्य समयविशेषस्य वृत्तान्तविशेषस्य वा निर्दिधारयिषा, वेदबाह्यस्याज्ञानैकमूलिकैव ।

एवं बार्कलिनामपि कथाऽऽख्यायिकैव, अशीतिसाहस्रमितिमहासंख्याश्रवणात् बृकलिनामपत्यमितिप्रतीयमानाया व्युत्पत्तेः 'बार्कलिनो बै अर्कलिन' इतिवाक्येन तिरस्कारदर्शनाच्च । बाष्कलास्त्वाधुनिका अन्य एवेति वाष्कलशब्दस्य बार्कलिशब्दापभ्रंशत्वशंकाऽपि केषां चिदपास्ता ।

किंच पुराणेष्वित्यादिकं न संभाव्यत इति इत्यन्तं नास्माकं प्रतिकूलम् । शुनकेति हि गोत्रस्यनाम तास्मिन्नन्वबाये च परःसहस्रा महर्षयोऽभूवन् ग्रन्थाश्चगोत्रनाम्नैव विरचय्यप्रचारिता इति कस्को ग्रन्थः केन केन रचित इति कथङ्कारं निर्णेतुं शक्यते । ग्रन्थयोः

॥ भाषा ॥

है उन में से किसी एक व्यक्ति के सदृश का ग्रहण है तो जब श्येनत्वजाति के ग्रहण बिना, काम नहीं चलता तब श्येनत्वजाति ही श्येनपद का अर्थ है, श्येनव्यक्तियों को श्येनपद का अर्थ स्वीकार करना व्यर्थ ही है । और इसी श्येनपद के दृष्टान्त से यह निश्चय करना चाहिये कि सब पदों का जाति ही अर्थ होता है न कि व्यक्ति । भट्टपाद ने भी इस सूत्र पर कहा है 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्बिशेषणे' (जब पद बिशेषण अर्थात् जाति का बोध करा कर चरितार्थ होने से जाति का वाचक हो गया तब उसके व्यक्तिवाचक होने में कोई प्रमाण नहीं है व्यक्ति का बोध तो जाति ही के बोध से आप हो जाता है)। तो ऐसी दशा में उक्त शतपथकथा को यदि आख्यायिकारूप न माना जाय तब भी कठादि शब्द के नाई उक्त कथा के शाकल्यादि शब्दों का भी शाकल्यत्वादि जातिवाली बंशपरम्पराएं अर्थ हैं न कि कोई पुरुषविशेष, तथा यह बात भी बिशेष रूप से इसी प्रकरण में दिखलाई जायगी कि बेद में भूतकाल का वाचक कोई शब्द नहीं होता तो ऐसी दशा में उक्त कथा के अनुसार पुरुषबिशेष, समयबिशेष, और समाचारबिशेष के निर्णय की आशा उक्त साहेब की, बन्ध्या से पुत्र की आशा के तुल्य है ।

(४) बार्कलिनों की कथा भी आख्यायिका ही है और उसमें बृकलिन् शब्द का यदि बृकलिन् का बंश अर्थ हो सकता है तब भी वह किसी एक पुरुषबिशेष का नाम नहीं है । और बाष्कल तो बहुत ही नवीन तथा बार्कलिनों से अन्य ही है इसी सें बाष्कल शब्द, बार्कलि शब्द का अपभ्रंश नहीं है तथा संस्कृत शब्दों में एक दूसरे का अपभ्रंश नहीं होता किंतु भाषा के शब्द संस्कृतशब्दों के अपभ्रंश कहलाते हैं ।

(५) "पुराणों में शाकलों का नाम" यहां से 'सम्बन्ध रखते हैं' यहां तक, कोई बात वैदिकसंप्रदाय के प्रतिकूल नहीं है क्योंकि 'शुनक' नाम, एक गोत्र का है जिसमें समय २ पर सहस्रों ऋषि उत्पन्न हुए जिनमें से कतिपय ऋषियों ने गोत्र अर्थात् शौनक नाम से अनेक ग्रन्थों की रचना किया तो ऐसी दशा में यह निर्णय नहीं हो सकता कि किस शौनक ने किस ग्रंथ को

कयोश्चित्क्वचिदेकविषयकत्वेनापि नैककर्तृकता शक्यते निश्चेतुम्, एकवंश्यभिन्नभिन्नपुरुषकर्तृकत्वेऽपि वैषयिकस्य संवादस्य संभवेन तस्यानैकान्तिकत्वात् ।

किंच शाकल्येन संहिताया द्वितीयं मण्डलं रचितमित्यत्र तु प्रमाणं नोपन्यस्तं बाह्येन । नचात्र प्रमाणगन्धोऽपि संभवतीत्यपि बोध्यम् ।

किंच एवमपिचेत्यादिकः कथां श्रावयामासेत्यन्तोऽनुवादोऽपि न युक्तः, लोमहर्षणस्य सूतस्य पुत्रो हि सौतिः बैशम्पायनस्तु ब्राह्मण इतितयोः पितापुत्रभावस्यासंभवात् । क्वचिदप्यनुक्तत्वाच्च । बृहद्देवतादिग्रन्थकर्तुः शौनकस्य नैमिषारण्ये यज्ञकर्त्रा शौनकेन सहाभेदे मानाभावाच्च ।

किंच आश्वलायनगुरोरित्यादि लभ्यतइत्यन्तमपि न सत्, प्रमाणाभावादेव । नहि गोत्रसाम्यमात्रादभेदो निश्चेतुं शक्यः, परःसहस्राणां तद्गोत्रजानां तथासत्यभेदप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्

किंच पुराणानां चरित्रभागे त्रयीरीतिः । ब्राह्मणभागानेव दृष्ट्वा तत्समानार्थानि कानिचिदुपाख्यानानि निबद्धानीत्येका । स्वयमेव वा कंचिद्वृत्तान्तं ब्राह्मणभागादन्यतः प्रत्यक्षादेः प्रमाय तदाख्यानानि निबद्धानीति द्वितीया । स्वाभ्यूहैकमूलकान्यप्युपाख्यानानि मालतीमाध-

॥ भाषा ॥

बनाया और दो ग्रन्थों के कुछ बिषयों की एकता होने से भी यह निश्चय नहीं हो सकता कि ये दोनों एक ही के बनाए हैं क्योंकि जो बिषय जैसा है उस बिषय को विद्वान् लोग प्रायः वैसा ही लिखते हैं और ऐसी दशा में भिन्न २ पुरुषों के बनाए ग्रन्थों में भी परस्पर किसी बिषय में एकता होना कोई असंभव की बात नहीं है "सबै सयाने एकै बुद्धि" ।

(६) उक्त साहेब ने यह कह तो दिया कि "शाकली संहिता का द्वितीय मण्डल शाकल्य का रचित है" परंतु इस बिषय में प्रमाण कुछ भी नहीं दिया और प्रमाण इस बिषय में कुछ हई नहीं है तो देते क्या ?

(७) "यह भी लोग कहते हैं" यहां से 'सुनाया था' यहां तक जो साहेब ने लोकोक्ति का अनुवाद किया है वह भी तीन कारणों से अयुक्त ही है । एक यह कि यह लोकोक्ति किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में नहीं कही है । दूसरे, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है कि जिस शौनक ने बृहद्देवता आदि ग्रन्थ की रचना की उसी शौनक ने नैमिषारण्य में यज्ञ भी किया । तीसरे, सौति, लोमहर्षणनामक सूत के पुत्र थे और बैशम्पायन ब्राह्मण थे तो ऐसी दशा में इन दोनों का अन्योन्य में पिता पुत्र होना भारतवर्ष के व्यवहारानुसार असम्भव ही है ।

(८) "आश्वलायन का गुरू" यहां से 'निवासी' यहां तक भी जो कहा है वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है क्योंकि जब एक गोत्र के सहस्रों मनुष्य होते हैं तब गोत्रमात्र के एक होने से दो पुरुषों की एकता नहीं कही जा सकती ।

(९) पुराणों में जो महापुरुषों के चरित्र के भाग होते हैं उनमें तीन रीतियां होती हैं । एक यह कि ब्राह्मणभागों को देख कर केवल उन्हीं के अनुसार उपाख्यान लिख दिये गये हैं । दूसरी यह कि पुराणकर्ता ने साक्षात् अपने देखे हुए अथवा देखनेवाले प्रामाणिक पुरुषों से सुने हुए समाचारों को उपाख्यानरूप से लिख दिया । तीसरी यह कि पुराणकर्ता ने लोकशिक्षा के अर्थ अपने विचार के अनुसार मालतीमाधव आदि की नाईं किसी समाचार की कल्पनामात्र कर

वादिवद्रचयित्वा निवेशितानीति तृतीया। तत्राद्यरीतियुक्तेषु भागेषूपात्तानि नामानि चरित्राणि च यदि बेदोक्तैर्नामाभिश्चरित्रैश्च मिलन्ति तदा किमाश्चर्यम्। तदंशे पुराणभागस्य वेदानुवादकत्वात्, बेदाक्षरश्रवणानधिकारिणां बेदार्थज्ञानाय तज्जन्यशिक्षायै पुण्याय च पुराणप्रणयनात्। एतादृशभागानां चाख्यायिकामात्रतया स्ववाच्यार्थे तात्पर्याभावाद्वेदाख्यायिकाभागेभ्य इव स्तुतिनिन्दे बिहाय कस्याश्चित्स्त्रीपुंसव्यक्तेस्तच्चरितविशेषस्य तयोःकालविशेषस्य बा ततोलाभे दुराशा अज्ञाननिबन्धना एव। एवमन्तिमरीतियुक्तेष्वपि पुरञ्जनोपाख्यानादिभागेषु बोध्यम्। मध्यरीतियुक्तेषु च पौराणिकचरित्रभागेषूदाहृतानि व्यक्तिबिशेषस्पृंशि नामानि चरितानि च यद्यपि ब्राह्मणभागीयैस्तैर्मिलन्ति तथापि पुराणोक्ताएव व्यक्तयो ब्राह्मणभागेषूपनिबद्धा इति न शक्यते वक्तुम्, पुराणव्यक्तेराधुनिकत्वात्, बेदस्य चापौरुषेयतायाः पूर्वमेवोपपादितत्वात्। नापिनामादिसाम्यमात्रमनुसृत्य ब्राह्मणोक्ताएव व्यक्तय उक्तपुराणभागे निर्दिष्टा इत्यपि सुवचम्, पूर्वोक्तरीत्या बेदशब्दानां केवलजात्यभिप्रायकतया व्यक्तिबिशेषे तात्पर्याभावेनोक्तपुराणभागस्य पुराणभागान्तरवत्पौरुषेयतया व्यक्तिबिशेषे तात्पर्येण तयोर्मेलनासंभवात्। अनादौ च सृष्टिप्रलयप्रवाहे नाम्नां समानानु-

॥ भाषा ॥

आख्यायिकामात्र के रूप से उपाख्यान लिख दिया। इनमें से प्रथम प्रकार के उपाख्यानों में कहे हुए नाम और समाचार, यदि बेदोक्त नाम और समाचार से मिलते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है? क्योंकि उन अंशों में वे पुराणभाग तो वेद के अनुवादक ही हैं और पुराणों की रचना ही इसलिए है कि बेदाक्षरश्रवण के अनधिकारी शूद्र आदि को भी जिस में बेदार्थ का ज्ञान और शिक्षा तथा उसके अनुसार कर्म करने से पुण्य भी हो। और आख्यायिकारूपी होने ही से ऐसे उपाख्यानों का लौकिक आख्यायिकाओं की नाईं अपने अक्षरार्थ में तात्पर्य नहीं होता, किंतु किसी बिषय की निन्दा अथवा स्तुति ही में तात्पर्य होता है। तब ऐसी दशा में ऐसे उपाख्यानों से किसी स्त्री बा पुरुष रूपी व्यक्तिबिशेष अथवा किसी सत्य समाचार बा समयबिशेष के लाभ की आशा करना अज्ञान ही का फल है। तथा तृतीय प्रकार के उपाख्यानों की भी यही दशा है और इसके उदाहरण, भागवतादि पुराणों में पुरंजनोपाख्यान आदि हैं। और द्वितीय प्रकार के उपाख्यानों में कहे हुए पुरुष बा स्त्री बिशेष के सबन्धी नाम बा समाचार, यद्यपि ब्राह्मणभाग में कहे हुए नामों और समाचारों से मिलते हैं तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि पुराणोक्त नाम और समाचार, पश्चात् ब्राह्मणभागों में लिख दिये गए हैं, क्योंकि बर्तमान पुराणव्यक्तियां अति नवीन हैं और बेद की अनादिता पूर्व में प्रतिपादित हो चुकी है। और यह भी नहीं कह सकते कि बेदोक्त ही नाम और समाचार पुराणों में लिख दिये गए हैं, क्योंकि अनन्तर ही उक्त प्रमाण से यह सिद्ध हो चुका है कि बैदिक शब्दों का तात्पर्य, जाति ही में होता है न कि व्यक्तियों में, और बर्तमान पुराणभाग तो पुराण के अन्य भाग के नाईं पौरुषेय ही है इसी से उसके शब्दों का तात्पर्य, व्यक्तिबिशेष ही में है न कि जाति में, तो ऐसी दशा में भिन्न २ तात्पर्य होने के कारण बैदिक नाम और समाचारों का उक्त उपाख्यान और समाचारों के साथ मेल ही नहीं हो सकता। और जब ग्रामीणों की भी यह कहावत है कि "नावँ गावँ का कौन ठिकाना" और बिश्व के सृष्टि प्रलय का प्रवाह अनादि ही है तब संयोग वश अन्यान्य समय वाले पुरुषों के नामों और समाचारों का एकाकार होना कुछ भी असंभव नहीं है

पूर्वोक्तत्वस्य बंशचरित्रसंवादस्य च काकतालीयत्वान्न तावन्मात्रेण किंचिन्निर्णेतुं शक्यते। एवंचैतादृशे विषये पूर्वोक्ताया द्वितीयाया बाह्योत्प्रेक्षाविधायाः संचरणं बेदपुराणतात्पर्यतत्त्वास्पर्शैकसारमसारमेव ।

यदपि तेनैव उक्तं प्रक्रमे—

बेदमन्त्राणां निर्माणकालमन्विष्यतो मम बलादिदं वक्तुमापतति यत् अतिप्राचीना इमे मन्त्रा इति उक्तं चैवमेव बहुशः प्राक्, प्रमाणानि चेह, मन्त्रेषु बर्णिताः पौराणिकेतिहासा भूगोलप्रभृतीनि चातिस्पष्टानीति । एवम् ऋङ्मन्त्रेभ्य एव ऋचामुत्पत्तेर्बृद्धेश्च देशकालौ लभ्येते इत्युक्ता तत्र भारतवर्षीया अनेकजातीयाः सिन्धुनदीतटे वसन्तिस्म एवमेवच तेषामाचारो मिथोविरोधश्चासीदित्यादिका कथोक्ता।

तत्रोच्यते—

मन्त्राणामतिप्राचीनत्वमनादित्वपर्यवसायित्वाद्वैदिकानामनुकूलमेव । एवमित्यादिकं तु न युक्तम्, अपौरुषेयत्वसाधनेन पूर्वोक्तेनर्चामुत्पत्तेरेवासिद्धतया तद्देशकालयोर्गगनकुसुमामोदायमानत्वात् कथायाश्चाख्यायिकामात्रताया असकृदावेदितपूर्वत्वेन तस्याश्चर्चामात्रत्वेनोक्तायाः पञ्चम्या विधाया वस्तुविशेषनिर्णायकत्वसंभानाया बेदतात्पर्याज्ञानोज्जृम्भामात्रत्वादित्यलमनल्पजल्पनैः ।

एवमस्मिन्बाह्यग्रन्थे यावान्भागो बेदविषयकस्तस्य सामान्यतो विशषतश्च परीक्षाकृता। परीक्षाप्रकारश्च तादृशसर्बभागव्यापी प्रदर्शितः तद्भागस्यावान्तराणां च कतिपयानां भागा-

॥ भाषा ॥

तो ऐसी दशा में बिना किसी अन्य प्रबल प्रमाण के, केवल नाम और चरित्र मात्र की तुल्यता से ब्यतीत पुरुषों, समाचारों और उनके समयबिशेषों की एकता का निश्चय करना बहुत ही भूल है। और साहेब ने जो कुछ इस विषय में कहा है उसमें यह कारण है कि वह बेद और पुराणों के वास्तविक तात्पर्यों से बंचित थे अर्थात् साहेब ने बेद, पुराण, इतिहासों को सूखी २ कहानी समझा था।

पृ० ४८। बेदमन्त्रों के निर्माणकाल का अन्वेषण करने में हमे अवश्य कहना पड़ता है कि ये अतिप्राचीन काल के हैं जैसा कि कई बार हम कह आए हैं। यह बात उनमें लिखे हुए पौराणिक इतिहास और भूगोलबर्णन प्रभृति से ही स्पष्ट प्रतीत होती है।

पृ० ५२। तीसरी बात यह है कि ऋग्वेद की ऋचाओं से हमको बहुत सी ऐसी बातें प्रकट होती हैं कि जिन से हम उन ऋचाओं की उत्पत्ति और बृद्धि का समय, स्थान और अवस्था जान सकते हैं। उनमें से जो बहुत प्राचीन ऋचा हैं उनसे प्रकट होता है कि हिन्दुस्तान के लोग सिन्धु नदी के किनारे पर बसते थे और बहुत सी छोटी २ जातियों में बिभक्त थे और आपस में बैर रखते थे इत्यादि।

समा०—(१) मन्त्रों का अति प्राचीन होना, बैदिकों के अनुकूल ही है बरुक यह नई बात है कि साहेब भी मन्त्रों को अति प्राचीन कहते हैं। बेद जब अपौरुषेय और अनादि है तब मन्त्र क्या उससे पृथक् है ?

स०—(२) पूर्व में जब वेद की अनादिता, प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी तब ऋचाओं की उत्पत्ति कहां से आ सकती है और कथाओं के विषय में भी अनेक बार यह कहा जा चुका

नामनुवादोऽप्युदाहरणतया परीक्षालक्ष्यभूतः सम्पादितः। अननूदितास्तु बेदविषयकस्यास्य भागस्यावान्तरभागा अनूदिततदवान्तरभागानां सधर्माणस्तत्परीक्षाऽतिक्रमाक्षमत्वाद्वृथाग्रन्थबाहुल्यप्रसंगभयाच्च नानूदिताः। सर्वचैतत्, बिशिष्यानूद्य समालोचनामन्तरेणाक्तबेददुर्गसज्जनानभिज्ञानां सामान्यलोकानामसन्तोषभयात्तुष्यतुदुर्जनइतिन्यायेनैवसम्पादितम्—

वस्तुतो बेददुर्गस्य बाह्यैतद्ग्रन्थभाषितैः।
तमोभिरिव सूर्यस्य न स्पर्शोऽप्यस्तिसंभवी॥ १॥

इति प्रथमे द्वीपान्तरीयबेदबाह्यग्रन्थे बेदाबिषयकभागस्य परीक्षासरणिः।

यदप्यन्येन

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा बिधेम॥ (यजुः अ० १३ मं० ४)

॥ भाषा॥

कि वे आख्यायिकामात्र हैं तब उनके अनुसार देशबिशेष बा कालबिशेष अथवा पुरुषबिशेष का निश्चय करना, बेदतात्पर्य के अज्ञान ही का फल है और साहेब की संभावना की जो पांचवीं रीति पूर्व में कही गई उसका यही उदाहरण भी है। और इस साहेब के ग्रन्थ में पूर्वोक्त पांच प्रकार की बातें फेर फार कर अनेक बार आती हैं जिनकी समालोचना की गई है।

वेवर साहेब के इस ग्रन्थ का जितना भाग, बेदसंबन्धी है उतने का सामान्य और बिशेषरूप से यहां तक परीक्षा पूर्ण हो चुकी तथा परीक्षा के प्रकार भी ऐसे दिखलाए गए कि जो उक्त भाग में सर्वब्यापी हैं तथा उक्त भाग के कतिपय भागों का अनुवाद भी परीक्षा के उदाहरणरूप से दिखला दिया गया और जिन कतिपय भागों का अनुवाद नहीं किया गया है वे भी अनुवाद किये हुए भागों के तुल्य ही हैं इस कारण उनकी समालोचना भी यही है जोकि की गई और यह जो कुछ विस्तार किया गया सब पूर्वोक्त बेददुर्गसज्जननामक प्रकरण से बंचित, सामान्य पुरुषों के सन्तोष ही के लिए किया गया जिसमें वे यह न कहें कि "साहेब के ग्रन्थ को पूर्णरूप से देखे बिना ही यह समालोचना की गई क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इसमें साहेब के ग्रन्थ का अनुवाद क्यों नहीं किया गया" परन्तु सत्य बात यह है कि जैसे अन्धकारों से सूर्यमण्डल का स्पर्श होना असंभव है वैसे ही ऐसे २ ब्याख्यानों और आक्षेपों से बेदरूपी दुर्ग का स्पर्श होना भी असंभव ही है। और थोड़ेही विचार से यह निश्चित हो सकता है कि जिस बेद की महिमा बेददुर्गसज्जन के अन्त में बर्णित हो चुकी है और जिस बेद के तात्पर्य को बड़े २ देवदर्शन महाशय, सब काम छोड़ जन्मभर अध्ययन अध्यापन और बिचार करने से भी पूर्णरूप से निश्चय करने में महा क्लेश उठाते हैं उस बेद के तात्पर्य को उक्त साहेब (जोकि बैदिक दर्शनों के उत्तम २ ग्रन्थों का दर्शन भी नहीं पाए थे) अपने अटकल मात्र से कैसे निश्चय किए होंगे, और तात्पर्य समझे बिना उसके बिषय में ग्रन्थ लिखना बा ब्याख्यान देना केवल साहसमात्र नहीं है तो क्या है?

यहां तक आल्ब्रेट् बेवर साहेब के ग्रन्थ की समालोचना समाप्त हुई।

अब डाक्तर मैक्सम्यूलर साहेब ने जो संस्कृतसाहित्यनामक ग्रन्थ में बेदसम्बन्धी

इत्येतन्मन्त्रव्याख्यानावसरे अयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्ति छन्दस इति, मन्त्रेणानेन मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति इति, नत्वस्य प्राचीनत्वे किमपि प्रमाणमुपलभामहे इति, चोक्तम् ।

अत्रोच्यते । कोऽस्याभिप्रायः, किं हिरण्यस्य सृष्टिसमयाद्भूयस्तरसमयानन्तरमुत्पन्नस्येह हिरण्यशब्देनोपादानादस्य नवीनत्वमिति, किंवा अग्रे समवर्ततेति भूतकालनिर्देशादस्य तथात्वमिति । तत्र नाद्यः । मन्त्रार्थानवबोधात् ।

तथाच महीधरः

का०।१७।४।३। उत्तानं प्राञ्चं हिरण्यपुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भ इति । तस्मिन् रुक्मे प्राञ्चमुत्तानंहिरण्यं, हिरण्यंपुरुषाकारमृग्द्वयेनोपदधाति । हिरण्यगर्भदृष्टा प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुप् । हिरण्ये । हिरण्यपुरुषरूपे ब्रह्माण्डे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिःहिरण्यगर्भः भूतस्य प्राणिजातस्य अग्रे समवर्तत प्राणिजातोत्पत्तेः पुरा स्वयं शरीरधारी बभूव । सच जातः उत्पन्नमात्रः एक एवोत्पत्स्यमानस्य सर्वस्य जगतः पतिरीश्वरआसीत् । स एव पृथिवीमन्तरिक्षंद्यां द्युलोकमुत अपिच इमां भूमिं लोकत्रयं दाधार धारयति तुजादीनांदीर्घोऽभ्यासस्येत्यभ्यासदीर्घः 'पृथिवी भूः स्वयंभूरि' त्यन्तरिक्षनामसु पठितत्वात्पृथिवीशब्देनान्तरिक्षं लोकोऽत्रोच्यते । कस्मै काय प्रजापतये देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः विभक्तिव्यत्ययः॥४॥ इति

॥ भाषा ॥

विचार किया है उसकी समालोचना की जाती है ।

"हिरण्यगर्भःसमवर्त्तताग्रे" (हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मदेव, प्रथम प्रकट हुए) यह मन्त्र ही इस अंश में प्रमाण है कि बेदका मन्त्रभाग अन्य बेदभाग की अपेक्षा नवीन है तथा मन्त्रभाग के प्राचीन होने में कुछ भी प्रमाण हम नहीं पाते ।

समालोचना

इस कथन के दो ही अभिप्राय हो सकते हैं । एक यह कि आदि सृष्टि के बहुत पीछे हिरण्य (सुवर्ण) उत्पन्न हुआ जिसकी चर्चा इस मन्त्र में है अर्थात् 'हिरण्यगर्भ' शब्दही से इस मन्त्र की नवीनता प्रकट होती है । दूसरा यह कि "अग्रे समवर्तत" इससे भूतकाल का निर्देश होता है जिस से यह स्पष्टही निश्चित होता है कि हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव के समय में यह मन्त्र नहीं था क्योंकि जो समाचार पूर्व में होता है पीछे से वह वाक्यों में भूतकाल के वाचक शब्दों से कहा जाता है ।

इनमें से प्रथम अभिप्राय यदि उक्त साहेब का है तो उस पर यही कहना उचित है कि साहेब को मन्त्रार्थही नहीं समझ पड़ा और साहेब पूर्वोक्त, बैदिकदर्शन की रीति से भी बंचित थे क्योंकि ऊपर संस्कृत भाग में लिखे हुए महीधरभाष्य से इस मन्त्र का यह अर्थ स्पष्ट है कि हिरण्य अर्थात् सुवर्णपुरुषरूपी, ब्रह्माण्ड के भीतर गर्भ के नाईं स्थित प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा को हिरण्यगर्भ कहते हैं । और मनु ने भी प्रथम ही अध्याय में कहा है कि 'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः' ॥ ९॥ (सूर्यवत् प्रकाशमान गोलाकार वह सुवर्ण का अण्ड प्रकट हुआ जिसमें सब लोगों के पितामह ब्रह्मा स्वयं प्रकट हुए) और यह अंश इतना प्रसिद्ध है कि जिस कारण इस अण्ड को आज तक लोग ब्रह्माण्ड ही कहते हैं, ऐसी दशा में

बेदे च शब्दानां जातौ तात्पर्यमित्यस्यानुपदमेवोक्ततया हिरण्यत्वजातेर्नित्याया इहोपादानात्कथं हिरण्यगर्भशब्दान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वलाभसंभवः। नापि द्वितीयो युक्तः। तथाहि। पूर्वोपन्यस्तमन्त्राधिकरणसिद्धान्तनिष्कर्षोद्ग्राहितप्रमाणतर्कगर्भाभिरुक्तिभिस्तावन्मन्त्रस्वरूपाणां बिधिभिरुपग्रह इति निर्णीतपूर्वमत्र स्मरणीयम्, न बिस्मरणीयं च ततोऽपि प्रागुक्तं बेदापौरुषेयत्वोपपादनम्। मन्त्राश्च नात्मानमात्मनैव प्रयुञ्जते यज्ञेषु किंतु पुरुषाअधिकारिणः। अपौरुषेयांश्च मन्त्रान्, बिनियुञ्जानानां पूर्वनिपुणव्याख्यात 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति महावाक्यप्रमुखानां बैदिकबिधिवाक्यानाम् 'अधिकारिणः पुरुषा यज्ञसमये तानर्थांस्तत्तन्मन्त्रप्रयोगपूर्वकं स्मरन्त्विव' त्येवाभिप्रायः। लडादिप्रयोगाधिकरणकालश्च बर्तमानकालो यो लडर्थोऽन्यलकारार्थघटकश्च।

तथाच ब्युत्पत्तिवादे

बर्तमानकालश्च तत्तच्छब्दाधिकरणकालस्तत्तच्छब्दार्थः अतो नैककालप्रयुक्तलडादितोऽपरलडादिप्रयोगाधिकरणकालिकत्वस्य कृत्यादावन्वयः स्वप्रयोगाधिकरणकालत्वेन स्ववाच्यत्वे स्वत्वाननुगमाच्छक्त्यानन्त्यं सामान्यतो ब्युत्पत्तेर्दुर्घटतयाऽपूर्वब्यक्तिबोधानुपपत्तिश्च सर्वनामबिचारदर्शितरीत्या समाधास्यते। तथाहि। बिशिष्य तत्तत्कालत्वावच्छिन्नबोधस्यानुभवसिद्धतया सर्वनामशक्तौ बुद्धिस्थत्वादिवच्छब्दप्रयोगाधिकरणत्वमुपलक्षणाबि-

॥ भाषा ॥

जब ब्रह्मा से भी प्रथम, हिरण्यरूपी ब्रह्माण्ड हुआ तब आदिसृष्टि से बहुत पीछे उस हिरण्य के उत्पन्न होने का संभव भी कैसे हो सकता है ? तथा जब यह अभी पूर्व में सिद्ध हो चुका है कि बैदिकशब्दों का तात्पर्य, अनित्यब्यक्तियों में नहीं होता किंतु जाति ही में होता है तब, यहां हिरण्यशब्द का सुबर्णस्वरूपी जाति ही में तात्पर्य है और वह जाति नित्य ही है इस कारण भी हिरण्यशब्द के अनुसार इस मन्त्र की नवीनता कदापि नहीं सिद्ध हो सकती।

द्वितीय अभिप्राय की समालोचना से प्रथम हम यह कहते हैं कि पाठकगण, पूर्वहीं वेददुर्गसज्जन में जिन प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि ब्राह्मणभागीय बिधिवाक्यों की आज्ञानुसार यज्ञों में मन्त्रों के शब्दों का पाठ होता है तथा बेद अनादि अर्थात् अपौरुषेय है उन प्रमाणों को अपने स्मरण पर चढ़ा कर इस अग्रिम समालोचना को देखें और पढ़ें।

समालो०—(१) मन्त्र, स्वयं नहीं अपने को पढ़ते किंतु अधिकारी पुरुष यज्ञों में मन्त्रों को पढ़ते हैं और मन्त्र अपौरुषेय ही हैं तथा उक्त बिधिवाक्यों का अभिप्राय भी यही है कि यज्ञ के समय में, अधिकृतपुरुष अमुक मन्त्र के पाठद्वारा अमुक क्रिया को स्मरण करैं। इस में प्रबल प्रमाण 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (बेद अवश्य पढ़ै) यह महावाक्य ही है जिसका अतिस्पष्टब्याख्यान, बेददुर्गसज्जन के अर्थवादप्रकरण में पूर्वहीं हो चुका है। तथा भूत, भविष्यत् और बर्तमान काल के वाचक संस्कृतशब्दों का भी ब्याकरण के अनुसार अर्थ ऐसे लगाया जाता है कि जिस शब्द का जिस समय उच्चारण होता है वह शब्द यदि उस समय का बोध करावै तो उस समय को बर्तमानकाल कहते हैं जैसे "गच्छति" (जाता है) "संगच्छते" (मिलता है) इत्यादि वाक्य में 'ति' 'ते' आदि शब्द उसी काल का बोधन करते हैं कि जिस काल में 'ति' आदि शब्दों का उच्चारण होता है वही काल बर्तमान कहलाता है और उसी काल के बोधक ये 'ति' आदि शब्द

धया व्यावर्तकं वाच्यम् । नच तत्तत्कालस्यैवंसत्यवाच्यत्वे तद्भानानुपपत्तिरसमाधेयैवेति वाच्यम् । शब्दप्रयोगाधिकरणकालवृत्तिकालत्वव्याप्यधर्मत्वेन तत्कालत्वानामेवोपलक्षणीयत्वादिति ।

एवम् लुङादिप्रयोगाधिकरणकालवृत्तिध्वंसप्रतियोगी कालो लुङ्लङ्लिङाद्यर्थः । लृडादिप्रयोगाधिकरणकालवृत्तिप्रागभावप्रतियोगी कालश्च लृडाद्यर्थः । एवं स्थिते यदा यदा 'हिरण्यगर्भ' इत्यादयो मन्त्राः प्रयुज्यन्ते त एव कालास्तद्धटकसमवर्ततेत्यादिघटकलङाद्यर्थकुक्षौ प्रविशन्ति । हिरण्यगर्भसत्ता च 'हिरण्यगर्भ' इत्यादेर्मन्त्रस्य प्रोक्तप्रयोगाधिकरणकालात्पूर्वकालिकी भवत्येव, तत्तत्प्रयोगकालवृत्तित्वेऽपि तत्प्रयोगकालपूर्वकालवृत्तित्वानपायात् । एवंच तस्मिँस्तस्मिन्नेतन्मन्त्रप्रयोगकाले हिरण्यगर्भसत्तानिष्ठं तत्तत्प्रयोगकालपूर्वकालिकत्वं ते ते प्रयोक्तारः स्मरन्त्वित्येव हिरण्यगर्भ इत्यादिमन्त्राविनियोजकविधीनामभिप्रायः पर्यवस्यति । नहि इदं पौरुषेयं वाक्यं येन प्रथमप्रयोगकालापेक्षयाऽपि हिरण्यगर्भस्य पूर्वकालिकत्वमेतस्मान्मन्त्राल्लब्धुं शक्यते । प्रयोगे प्राथम्यमेव च पौरुषे-

॥ भाषा ॥

हैं जो 'लट्' कहलाते हैं । और उक्तही बर्तमानकाल से पूर्वकाल को भूत कहते हैं । इस काल के बोधक 'त्' 'ति' आदि अनेक शब्द होते हैं जिनमें ये तीन भेद हैं कि जो 'त्' आदि शब्द अपने उच्चारणकाल से पूर्व उतनेही काल को कहते हैं कि जितना काल उस दिन में व्यतीत हो चुका कि जिस दिनमें उनका उच्चारण हुआ, उन 'त्' आदि शब्दों को व्याकरण में 'लुङ्' कहते हैं जैसे अगमत् (आज गया) और उस गमनक्रिया को अद्यतनभूत कहते हैं तथा उस दिन से पूर्वकाल के बोधक 'त्' आदि को 'लङ्' कहते हैं जैसे अगच्छत् (आज से पहिले गया) और उस गमनक्रिया को अनद्यतनभूत कहते हैं । और यदि 'त्' आदि के उच्चारणदिन से पूर्वकाल में हुई क्रिया को 'त्' आदि के उच्चारणकर्ता पुरुष ने प्रत्यक्ष से नहीं देखा है तो उस पुरुष के कहे हुए 'त्' आदि शब्दों को लिट् कहते हैं। जैसे जगाम्+अ जगाम (मैंने जाते नहीं देखा परंतु आज से पहिले वह गया) । संजग्म्+ए-संजग्मे(आज से पहिले वह उस से मिला किंतु मैंने मिलते नहीं देखा) तथा उस क्रिया को भूत अनद्यतन और परोक्ष कहते हैं। और उन शब्दों के स्थान में 'अ' 'ए' आदि शब्दों का उच्चारण करते हैं। तथा पूर्वोक्त बर्तमानकाल से उत्तरकाल को भविष्यत् कहते हैं वह भी दो प्रकार का है। एक वह है कि जो उस बर्तमानकाल के दिन में अन्तर्गत है और इस भविष्यत् काल के बोधक "ष्यति" आदि हैं जिनको 'लट्' कहते हैं जैसे 'गमिष्यति' (आज जायगा) और उस दिन से उत्तरकाल, (अनद्यतनभविष्यत्) दूसरा प्रकार है जिसके बोधक 'ता' आदि शब्द हैं जिनको 'लुट्' कहते हैं जैसे 'गन्ता' (आज से उत्तरकाल में जायगा) यह स्थूल प्रणाली व्याकरणों की है । इस पर ध्यान दे कर अब सुनना चाहिये कि "हिरण्यगर्भःसमबर्त्तत" इस उक्त मन्त्र का जिस दिन उच्चारण किया जायगा उससे पूर्वकाल का बोध इस 'त' शब्द से होगा और उसके अनुसार इस मन्त्र का यही अर्थ होगा कि जब २ इस मन्त्र का उच्चारण होता है उस २ दिन से पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हुआ । यदि मन्त्रवाक्य किसी के रचित होते तो इनके प्रथम उच्चारण के काल की अपेक्षा पूर्वकाल में हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव का बोध इस मन्त्र से होता क्योंकि प्रथमहीं उच्चारण को रचना कहते हैं और तब मन्त्रभाग के नवीनत्व का लाभ इस मन्त्र से हो सकता, किंतु जब

यत्वं तच्च बेदप्रयोगेषु नास्त्येव प्रमाणाभावादिति प्रपञ्चितमेव बेदापौरुषेयत्वनिरूपणावसरे। किंच बेदस्येश्वररचितत्वपक्षेऽपि नैतत्कुचोद्यावसरः। पूर्वोक्तरीत्या स्वस्वकर्तृकैतन्मन्त्रकर्मकतत्तत्प्रयोगकाले ते ते प्रयोक्तारस्तत्तत्कालपूर्वकालिकत्वं हिरण्यगर्भगतं स्मरन्त्वित्येवेश्वरतात्पर्याभ्युपगमेन हिरण्यगर्भस्य बेदरचनातोऽर्वाचीनत्वेऽप्युक्ततात्पर्याबाधात्। ईदृशि भगवत्तात्पर्ये मानं च 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यादिबिधिवाक्यजातमेव, नहि बेदरचनाकाले भविष्यन्नपि हिरण्यगर्भस्तत्तत्पुरुषकर्तृकैतन्मन्त्रप्रयोगान्नपूर्वकालिकः, नवा बेदरचनामपेक्ष्य भविष्यति हिरण्यगर्भे भविष्यन्तीमपि तत्तत्पुरुषकर्तृकैतन्मन्त्रप्रयोगपूर्वकालिकतां नित्यसर्वज्ञो भगवान् बेदरचनासमये न साक्षादकृत येन तथा नाभिप्रेयात्। नापि यज्ञेषु स्वयमेवोच्चारयितुं स्वयमेव बा गुरुमुखादध्येतुं भगवान् मन्त्रान् रचितवान् येन मन्त्रकर्मकभगवदाद्योच्चारणकालापेक्षया हिरण्यगर्भप्रादुर्भावस्य पूर्वकालिकत्वं भगवतो विवक्षितं स्यात् किंतु पुरुषैरुच्चारणं कारयितुमेव मन्त्रान् भगवानुच्चारितवान्, यज्ञेषु शिक्षकवत्। एवंच तद्वदेव न

॥ भाषा ॥

बेद अपौरुषेय अर्थात् रचित नहीं है जैसा कि पूर्वहीं बेददुर्गसज्जन के बेदापौरुषेयत्वप्रकरण में भली भांति सिद्ध हो चुका है तब यही अटल निश्चय उचित है कि मन्त्रों का उच्चारण चाहे अनन्तबार किया जाय तब भी बेदवाक्यों का कोई उच्चारण, ऐसा प्रथम नहीं हो सकता कि जिस की अपेक्षा उनका कोई उच्चारण प्रथम न हो तो ऐसी दशा में प्रथम उच्चारण के दिन से पहिले हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव का बोध, इस मन्त्र से कदापि नहीं हो सकता और यह अभिप्राय साहेब का, संस्कृतव्याकरण के तात्पर्य से बञ्चित होने का परिणाम है।

(२) यदि बेद को ईश्वररचित माना जाय तब भी उक्त साहेब के इस आक्षेप का कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में ईश्वर का तात्पर्य, उक्त रीति से यह है कि "जब २ जो १ पुरुष इस मन्त्र का उच्चारण करै तब २ वह २ पुरुष, उस २ उच्चारणदिन की अपेक्षा पूर्वकाल में हुए हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव को इस मन्त्र के पाठद्वारा स्मरण करै"। अब यहां यह बिचार के योग्य है कि इस ईश्वरतात्पर्य के अनुसार इस मन्त्र से, मन्त्रभाग की नवीनतारूपी साहेब की इष्टवस्तु सिद्ध हो सकती है अथवा नहीं ?। और इस बिचार में यही कहना उचित है कि यदि ईश्वरकृत बेदरचना के काल में हिरण्यगर्भ न थे, तो भी क्या जब अन्य पुरुषों ने इस मन्त्र का उच्चारण किया बा इस समय करते हैं बा करेंगे उस २ उच्चारण के दिन से भी पूर्वसमय में हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव नहीं हो चुका था ? और क्या नित्यसर्वज्ञ परमेश्वर को, बेदरचना के समय यह ज्ञान नहीं था कि हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव होगा और उसके पीछे लोग इस मन्त्र का उच्चारण करैंगे कि जिस से परमेश्वर के पूर्वोक्त तात्पर्य में कुछ भी बाधा पड़े। और क्या परमेश्वर, ने यज्ञों में अपने पढ़ने के लिए बा गुरुमुख से अपने अध्ययन के लिए मन्त्रों को बनाया ? कि जिस से परमेश्वर के इस अभिप्राय की भी कल्पना हो सकै कि "मेरी (परमेश्वर की) इस मन्त्ररचना के पूर्व, हिरण्यगर्भ का प्रादुर्भाव हुआ था" कदापि नहीं किंतु जैसे यज्ञों में शिक्षकपुरुष, यजमान बा ऋत्विजों से मन्त्र पढ़वाने के अर्थ, जब स्वयं मन्त्र का उच्चारण करते हैं तब उनका यही तात्पर्य रहता है कि "यजमान आदि, इन "हिरण्यगर्भःसमवर्तत" इत्यादि मन्त्रों को पढ़ैं और इस अपने (यजमान आदि के) मन्त्रोच्चारणकालरूपी बर्तमानकाल की अपेक्षा पूर्वकाल में हुए हिरण्य-

स्वकर्तृकमन्त्रोच्चारणपूर्वकालिकत्वं भगवतो विवक्षितमतो न लौकिकानां लुङादीनामिव वैदिकानां तेषां क्वचिदपि भगवदुच्चारणकालापेक्षपूर्वत्वरूपं भूतत्वमर्थः अपितु स्वद्वितीयाद्युच्चारणकालापेक्षयैवेति न वेदे क्वचिदपि लुङादीनामुक्तभूतकालार्थकत्वम्। एवमुक्तपक्षे हिरण्यगर्भशब्दस्य परमेश्वरपरत्वमुपवर्ण्य यत्केनचिद्वाह्योक्तकुचोद्यानिरसनं कृतं तदपि वेदवाह्यैर्दुरनिरसत्वमात्रात्समीचीनमेव। किंच तत्तदर्थानां विवक्षैव लकाराणां साधुत्वे तन्त्रं नतु स्वरूपसत्ताऽपि अतएव भूतानद्यतनपरोक्षेष्वप्यर्थेषु 'अभून्नृपोविबुधसखः'

॥ भाषा ॥

गर्भ को स्मरण करें"। तथा इस से भी प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि जब गुरू शिष्य से कहता है कि तू यह कह कि "श्री रामचन्द्रजी ने रावण को मारा था" तो इसका यही तात्पर्य होगा कि "शिष्य इस वाक्य को कह कर यह स्मरण करै वा करावै कि उस (शिष्य) के इस वाक्य के उच्चारणकाल से पूर्वकाल में श्रीरामचन्द्रजी ने रावण को मारा"। ऐसे ही परमेश्वर का भी इन मन्त्रों में वही तात्पर्य है जो कि अनन्तर में दिखलाया गया। और उस तात्पर्य के अनुसार यही सिद्ध होता है कि परमेश्वर ने वेद में पूर्वोक्त 'लुङ्' आदि शब्दों से, अपने (परमेश्वर के) उच्चारण की अपेक्षा पूर्वकाल को कहीं नहीं कहा है किंतु शिक्षणीय अन्यपुरुषों के उच्चारण ही की अपेक्षा पूर्वकाल को 'लुङ्' आदि शब्दों से कहा है। निदान वेद में 'लुङ्' आदि कोई शब्द भी ऐसा नहीं है कि जो अपने प्रथम उच्चारणकाल की अपेक्षा पूर्वकाल को कहता है किंतु वेद के लुङ् आदि शब्द हमारे ही किये हुए, वेदवाक्य के उच्चारण की अपेक्षा पूर्वकाल को कहते हैं। यही विशेष लौकिकवाक्यों के 'लुङ्' आदि की अपेक्षा वैदिकवाक्यों के 'लुङ्' आदि में है क्योंकि शिक्षा-वाक्य से अन्यहीं, लौकिकवाक्यों के 'लुङ्' आदि अपने प्रथम उच्चारण की अपेक्षा पूर्वकाल का बोध कराते हैं। और उचित भी यही है क्योंकि परमेश्वर किसी के शिक्षणीय नहीं हैं और जीव सब उनके शिक्षणीय हैं इससे परमेश्वर ने जीवों के उच्चारण की अपेक्षा पूर्वकाल में हुए हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति आदि अनेक समाचारों के बोध को जीवों में उत्पन्न करने के लिये वेदों की रचना की निदान इस मन्त्र के अनुसार साहेब का यह सिद्ध करना कि हिरण्यगर्भ वा वेद के अन्यभाग की अपेक्षा मन्त्रभाग नवीन है, सर्वथा अप्रामाणिक ही है।

(३) पूर्वोक्त 'लट्' 'लुङ्' आदि के अर्थ की, व्याकरणोक्त स्थूल प्रणाली के अनुसार साहेब के अभिप्राय की समालोचना अनन्तर में की गई। अब सूक्ष्म प्रणाली के अनुसार की जाती है कि जिन कालों में लट् आदि विधान किये गए उनका वास्तविक होना लट् आदि के प्रयोग में कारण नहीं है किंतु चाहे उन २ कालों में गमन आदि क्रिया हुई हों वा अन्य कालों में हुई हों परन्तु वक्ता पुरुष का जब ऐसा तात्पर्य हो कि "अमुक काल में अमुक क्रिया होती है या हुई, अथवा होगी" तब उसके अनुसार उन २ लट् आदिकों का उक्त वक्ता पुरुष प्रयोग करता है और यही ठीक भी है जैसे कि "अभूत् नृपः" (दशरथ नामक राजा हुए) इस, भट्टिकाव्य के प्रथम-वाक्य में 'तृ' अर्थात् लुङ् का प्रयोग है और पूर्वोक्त स्थूलरीति से यह उचित नहीं ज्ञात होता क्योंकि जिस दिन भट्टि नामक कवि ने इस 'तृ' का उच्चारण किया उस दिन उस उच्चारण से पूर्व-काल में राजा दशरथ की उत्पत्ति नहीं हुई थी किन्तु उससे अनेक युगों के पूर्व में हुई थी और भट्टि ने उनको होते नहीं देखा इस कारण उस वाक्य में 'लिट्' का प्रयोग 'बभूव' (आज से

इत्यादावनद्यतनपरोक्षत्वयोः, 'अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्याम्' इत्यादौ परोक्षत्वस्य, चाविवक्षयैव भट्टिर्लुङ्लङं च प्रायुङ्क्त, अन्यथा तयोरपवादं लिटमेव प्रयुञ्जीत 'जज्वाल लोकस्थितये स राजा' इत्यादिवत्। अतएव 'व्यातेने किरणावलीमुदयनः' इत्यादावसतामेव भूतानद्यतनपरोक्षत्वानां विवक्षया न्यायाचार्यो लिटमेव प्रयुयुजे। वर्णितश्च तदाशयः "कथं तर्हि व्यातेने किरणावलीमुदयन इति स्वक्रियायाः स्वप्रत्यक्षत्वादिति चेत्, असंगतमेव। व्यासंगादिना स्वव्यापारस्य परोक्षत्वोपपादनेऽपि बहुतरमनःप्रणिधानसाध्यशास्त्रार्थनिर्णयजनकशब्दरचनात्मके ग्रंथेऽनद्यतनत्वातीतत्वयोर्विस्ताराक्रियायामसत्वेन लिडसम्भवादि"-

॥ भाषा ॥

पूर्व राजा दशरथ उत्पन्न हुए और उनको होते मैंने नहीं देखा) उचित ज्ञात होता है परन्तु भट्टिकवि का तात्पर्य इतना ही था कि राजा दशरथ मेरे इस उच्चारण से पहिले हुए, इसी से उन्हों ने 'लुङ्' ही का प्रयोग किया न कि 'लिट्' का। तथा "अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्याम्" (वह राजा दशरथ सब ऋतु में सुख देने वाली अयोध्या में थे) इस वाक्य में भट्टि ने 'त' अर्थात् लुङ् का प्रयोग किया है न कि 'लिट्' का, क्योंकि उनका यही तात्पर्य था कि "आज से पहिले किसी काल में राजा दशरथ अयोध्या में थे" और यह तात्पर्य नहीं था कि "अयोध्या में उनको रहते मैंने नहीं देखा था" क्योंकि यदि ऐसा तात्पर्य होता तो जैसे "जज्वाल लोकस्थितये स राजा" (वह राजा दशरथ लोकस्थिति के अर्थ, बड़े प्रतापी हुए) यहां भट्टि ने 'अ' अर्थात् 'लिट्' ही का प्रयोग किया क्योंकि उनका यह तात्पर्य था कि "आज से पूर्व किसी काल में राजा दशरथ बड़े प्रतापी हुए परन्तु मैंने उनके प्रताप को साक्षात् नहीं देखा" वैसे यहां भी 'लिट्' ही का प्रयोग करते। अब इस विषय में एक अनूठा दृष्टान्त दिखलाया जाता है जिस से यह स्पष्ट बोध हो जायगा कि "किसी क्रिया के सचमुच भूत वा अनद्यतन वा परोक्ष होने मात्र से 'लुङ्' आदि का प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु चाहै वह क्रिया भूत वा अनद्यतन वा परोक्ष हो अथवा न हो किन्तु जब वक्ता को उस क्रिया के भूत वा अनद्यतन वा परोक्ष होने के बोध कराने की इच्छा हो तब ही 'लुङ्' आदि का प्रयोग उचित होता है"। बैशेषिकशास्त्र के 'किरणावली' नामक ग्रंथ में उदयनाचार्य ने (जिनको कि न्यायाचार्य भी कहते हैं) यह कहा है कि 'व्यातेने किरणावलीमुदयनः' जिस का अक्षरार्थ यह है कि "उदयन ने आज से पहिले किरणावली नामक ग्रंथ का बिस्तार किया और उस बिस्तार को उन्हों ने स्वयं नहीं देखा" इस वाक्य में आचार्यजी ने 'ए' अर्थात् 'लिट्' का प्रयोग किया है जो थोड़े बिचार वाले पुरुषों की दृष्टि से अनुचित ही है क्योंकि किरणावली ग्रंथ के आरम्भ में यह वाक्य है जिस से यह स्पष्ट है कि जिस काल में उन्हों ने इस वाक्य का प्रयोग किया उस काल में यह किरणावली का बिस्तार कर रहे थे जिस से कि वह रचनारूपी क्रिया बर्तमानकाल की हुई न कि भूतकाल की, तथा वह क्रिया अद्यतन ही अर्थात् उसी दिन की हुई न कि अनद्यतन, तथा जब किरणावली का आचार्यही ने बिस्तार किया तब वह रचनारूपी क्रिया उनको प्रत्यक्षही थी न कि परोक्ष, क्योंकि अपनी क्रिया सबही को प्रत्यक्ष रहती है। यद्यपि जब अपना ध्यान अन्य विषय में बंटा है उस समय अपनी क्रिया भी अपने को परोक्ष (प्रत्यक्ष नहीं) हो सकती है तथापि ग्रन्थ का बिस्तार करना बड़े सावधानी का काम है इस से यह कदापि नहीं कह सकते कि किरणावली ग्रन्थ की रचना, उस रचना के काल ही में आचार्यजी को परोक्ष

तीत्यत्र 'लिटोऽसंभवादि' तिभूषणसारप्रतीकमुपादाय बृहद्दर्पणे हरिवल्लभेन "अत्रेदं चिन्त्यम् न वास्तवं परोक्षत्वादि, लिडादिनियामकम् 'अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्या' मित्यत्र लङोऽसाधुत्वापत्तेः किंतु वैवक्षिकं तत् तथाच वक्ष्यति स्वयमेव सारकृत् 'अनद्यतनभूतत्वेन विवक्षिते लङ् तत्रैव पारोक्ष्यविवक्षायां लिट्' इति । प्रकृते चानायासनिष्पन्नत्व शीघ्रनिष्पन्नत्वप्रतीतिफलिकयोर्भूतानद्यतनत्वविवक्षयोः एवं सूक्ष्मकालेन करिष्यामि यत्र काले मयाऽपि साक्षात्कर्तुमशक्यमिति प्रतीतिफलकपारोक्ष्यविवक्षायाश्च लिडुपपत्तिसंभवादिति इति ।

॥ भाषा ॥

थी, क्योंकि उनका ध्यान उस समय उस रचनाही में था न कि अन्य बिषय में । अब ध्यान देना चाहिये कि जब कोई क्रिया भूत, अनद्यतन और परोक्ष, इन तीनों प्रकार की होती है तब उस क्रिया के विषय में 'लिट्' का प्रयोग होता है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है और किरणावली के रचनारूपी क्रिया में तीन में से जब एक भी प्रकार नहीं है तब 'लिट्' का प्रयोग करना आचार्य जी का सर्वथा अनुचित है । इसी से "बैयाकरणभूषणसार" नामक ग्रंथ में पण्डित कौण्डभट्ट ने पूर्वोक्त दोषों को दिखला कर यह कहा है कि 'व्यातेने' यह 'लिट्' का प्रयोग उदयनाचार्य का असंगत ही है क्योंकि यहां 'लिट्' का संभव नहीं है । परन्तु इस भूषणसार के "बृहद्दर्पण" नामक टीका में पण्डित हरिवल्लभ ने कौण्डभट्ट के वाक्य का खण्डन कर आचार्यजी के 'लिट्' प्रयोग का आशय प्रशस्त और सच्ची रीति से यों बर्णन किया है कि "वास्तव में क्रिया का परोक्ष आदि होना 'लिट्' आदि के प्रयोग में कारण नहीं है किन्तु परोक्ष आदि होने की विवक्षा (कहने की इच्छा) ही 'लिट्' आदि के प्रयोग में कारण है जैसा कि "अध्यास्त सर्वर्तुसुखामयोध्याम्" इस भट्टिकाव्य में 'लङ्' के प्रयोग में है और स्वयं पण्डित कौण्डभट्ट ने भी इसी "भूषणसार" नामक ग्रंथ में आगे चल कर कहा है "अनद्यतनभूतत्वेन विवक्षिते लङ् तत्रैव पारोक्ष्यविवक्षायां लिट्" (क्रिया के भूत और अनद्यतन होने की विवक्षा अर्थात् कहने की इच्छा, जब हो तब 'लङ्' का प्रयोग होता है और जब परोक्ष होने की भी विवक्षा हो तब 'लिट्' होता है) और प्रकृत में आचार्यजी को 'किरणावली' की रचना के विषय में, भूत, अनद्यतन और परोक्ष, तीनों की विवक्षा है इस से यहां 'लिट्' ही का प्रयोग उचित है जैसा कि आचार्य ने किया है क्योंकि उनका यह अभिप्राय है कि "हे पाठकगण ! यह नहीं समझना चाहिये कि 'किरणावली' की रचना में मुझे इस समय अधिक परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि मैंने बहुत समय के बिचारों से जिन बिषयों को पूर्णरूप से निश्चित कर रक्खा है उन्हीं बिषयों को इस ग्रंथ में लिखता हूं इस से इस रचना को आप लोग यही समझिये कि यह आज की नहीं है अर्थात् अनद्यतन है, तथा मैं ऐसे शीघ्रकाल से इस रचना को करता हूं कि जिस से आप यह समझें कि मानों यह रचना आज नहीं की जाती किन्तु पूर्वही से करी कराई अर्थात् भूतकाल की है तथा इतने अल्पकाल में मैं इस ग्रन्थरचना को समाप्त करूंगा कि जिस से मुझे भी यह प्रत्यक्ष नहीं होगा कि मैं इस रचना को करता हूं" । इस रीति से जब भूत, अनद्यतन और परोक्ष, तीनों की विवक्षा आचार्य को थी तब तो 'लिट्' ही का प्रयोग उचित था जैसा कि उन्हों ने किया है । अब इस दृष्टान्त और पूर्वोक्त रीति से 'लुङ्' 'लङ्' 'लिट्' तीनों के प्रयोग का विषय स्पष्ट हो गया। और भविष्यत् काल के

एवमनद्यतनत्वाविवक्षायामनद्यतनेऽपि भविष्यति न लुङ् भवति यथा 'चातुर्वर्ण्यञ्च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति' 'रामोराज्यमुपासित्वा स्वर्गलोकं प्रयास्यति' इत्यादौ। तथैव लडप्यविवक्षितेऽपि बर्तमानत्वे भवति यथा 'बारिदस्तृप्तिमाप्नोती' त्यादौ। नह्यनेन स्मार्तवाक्येनैतद्वाक्योच्चारणकालिक्येव तृप्तिर्विवक्षितेति वक्तुं शक्यते अस्य बारिदानतृप्तिप्राप्त्योः कार्यकारणभावमात्रे तात्पर्यात्। अतएवाग्रहायणिकादावपि प्रयुक्तेषु 'शरदि पुष्प्यन्ति सप्तच्छदा' इत्यादिवाक्येषु लट् साधुर्भवति। तथाचाभूतेऽपि हिरण्यगर्भस्य संबर्तने-

॥ भाषा ॥

बोधक 'लुट्' का भी प्रयोग भविष्यत् काल की क्रिया के अनद्यतन होने मात्र से नहीं होता किन्तु जब वक्ता को, उस क्रिया को अनद्यतन कहने की इच्छा होती है तभी होता है इसी से बाल्मीकीयरामायण के "रामोराज्यमुपासित्वा स्वर्गलोकं प्रयास्यति" (श्रीरामचन्द्रजी बहुत दिन तक राज्य करके स्वर्गलोक को जायंगे) इत्यादि वाक्यों में 'लुट्' का प्रयोग "प्रयाता" नहीं किया है क्योंकि उन स्थलों में इतनाही कहने की इच्छा है कि "राज्य करने के उत्तरकाल में जायंगे" इसी से भविष्यत्सामान्य में 'लट्' ही का प्रयोग किया है। ऐसे ही 'लट्' का भी बर्तमानकाल ही अर्थ नहीं है किन्तु कालसामान्य भी अर्थ है जैसे "बारिदस्तृप्तिमाप्नोति" (जल का दान करने वाला तृप्ति पाता है) इत्यादि स्मृतिवाक्यों में 'लट्' (नोति आदि) का बर्तमानकाल अर्थ नहीं है क्योंकि जिस समय 'लट्' का उच्चारण होता रहता है उस समय को बर्तमानकाल कहते हैं इस कारण जिस समय 'नोति' आदि का प्रथम उच्चारण नहीं होता रहैगा उस समय का जलदान निष्फल हो जायगा, किन्तु ऐसे वाक्यों में 'लट्' का कालसामान्यही अर्थ है अथवा काल अर्थ ही नहीं है किन्तु तृप्ति और जलदान आदि कार्य कारण होने में ही तात्पर्य है अर्थात् इतना ही अर्थ है कि जलदान, तृप्ति का कारण है। इस विषय में एक और दृष्टान्त है कि जब माघमास में कोई प्रश्न करता है कि 'सठिवन कब फूलते हैं ?' तो उसी समय उसका यह उत्तर दिया जाता है कि 'शरदि पुष्प्यन्ति सप्तच्छदाः' (शरद् ऋतु में सप्तच्छद 'सठिवन' फूलते हैं) यहां 'लट्' (यन्ति) का प्रयोग तो माघ में हुआ और सठिवन शरद में फूलता है तो बर्तमानकाल में, फूलनारूपी क्रिया कहां होती है ? जिस से कि 'लट्' का प्रयोग किया जाता है। इस से अनन्यगति हो कर ऐसे २ वाक्यों में सबको यही स्वीकार करना पड़ैगा कि 'लट्' का कालसामान्य अर्थ है अथवा काल अर्थ है ही नहीं। इस बिषय में सामान्य बैयाकरणों को यह भ्रम होता है कि पाणिनिमहर्षि का सूत्र तो 'बर्तमाने लट्' (बर्तमानकाल में 'लट्' बोलना चाहिये) है। तो बिना बर्तमानकाल के 'लट्' का प्रयोग करना ब्याकरण से बिरुद्ध है, परन्तु वे यह नहीं समझते कि उक्तसूत्र का यह अर्थ है कि भूत और भविष्यत् काल के कहने की इच्छा जब वक्ता को नहीं होती तब 'लट्' का प्रयोग होना चाहिऐ अर्थात् दो दशाओं में 'लट्' का प्रयोग उचित है एक यह कि जब बर्तमानकाल के कहने की इच्छा हो, दूसरी दशा यह कि जब किसी काल के कहने की इच्छा न हो। और उक्तसूत्र में 'बर्तमान' शब्द से सूत्रकार का तात्पर्य इन दोनों दशाओं में है क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता कि 'बारिदस्तृप्तिमाप्नोति' और 'शरदि पुष्प्यन्ति सप्तच्छदाः' इत्यादि अत्यन्तप्रसिद्ध वाक्यों में 'लट्' के प्रयोग के लिए पाणिनिमहर्षि ने कौन सूत्र बनाया है ? 'लुङ्' आदि के प्रयोग के बिषय में संस्कृतब्याकरण की

ऽस्तित्वे पृथिव्यादिधारणे च सत्यत्वस्य प्रतिपिपादयिषयैवास्मिन्मन्त्रे लङ्गादिप्रयोगः। मन्त्रान्तरेषु ब्राह्मणभागेषु च लुङ्लङ्लिटांप्रयोगा एवमेव संधार्यासिभवन्तीति तेभ्यो वेदसादित्वलाभदुष्प्रत्याशा वेदवाह्यस्य शिलाशकलतो बालकलाभलोलुभतामेव तस्योपलम्भयतीति।

अपिच नास्त्येव वेदे स एकोऽपि शब्दो य उक्तलक्षणं भूतत्वमभिदधीत तथाहि वेदे केऽपि लुङ्लङ्लिटो न लौकिकलुङादिसमानार्थाः किंतु कालसामान्यार्था एव। तथाच— अष्टके ३ अध्याये ४ पादे पाणिनीयं सूत्रम्।

छन्दसिलुङ्लङ्लिटः॥ ६॥ इति

अस्यार्थः। लुङ्लङ्लिटो यत्र काले बिहितास्छन्दसि ततोऽन्यत्र स्युः कालसामान्ये साधवःस्युरिति यावत् 'उदाहरणानि' लुङ् 'देवोदेवेभिरागमत्' 'शङ्कुलाङ्गुष्ठको करत्' 'इदन्तेभ्योऽकरन्नमः' लङ् 'अग्निमद्य होतारमबृणीतायं यजमानः' लिट् 'अद्य ममार' अद्य म्रियतइत्यर्थः। यद्यप्यत्र सूत्रे काशिकायां जयादित्येन 'धातुसम्बन्धे' इत्यनुवर्त्तितम् अनुसृतश्च तदेव कौमुद्यां दीक्षितेनापि। भाष्येतु नैतत्सूत्रमुल्लिखितम् तथाप्यत्र 'धातुसम्बन्धे' इति नैवानुवर्तते। दृढतरमानाभावात्। लिङ्र्थेलेडित्यादावितोऽप्युत्तरत्र तदननुवृत्तिदर्शनाच्च। किंच अत्र तदनुवृत्त्यभ्युपगमे पूर्वोक्तेषु ताभ्यामेवोक्तेषूदाहरणेषु धात्वर्थानां मिथः सम्बन्धगन्धस्याप्यभावात्ताभ्यां तदुदाहरणीकरणस्यैव व्याघातः प्रसज्येत। तथाचात्रैव सूत्रे-

॥ भाषा ॥

निर्दोष और गम्भीर प्रणाली यही है। अब इसके अनुसार ध्यान देना चाहिये कि "हिरण्यगर्भः समबर्ततात्रे" इस मन्त्र में हिरण्यगर्भ के प्रादुर्भाव आदि में सत्यताबोध करानेही के लिए 'लुङ्' आदि का प्रयोग है जैसा कि "व्यातेने किरणावलीमुदयनः" इस पूर्वोक्त वाक्य में 'लिट्' का प्रयोग है, न कि भूतकाल के बोध कराने के लिए। और ऐसा ही 'लुङ्' 'लङ्' 'लिट्' के प्रयोग का तात्पर्य, अन्यान्य मन्त्रों में और ब्राह्मणभाग के वाक्यों में है अर्थात् बेद में एक शब्द भी ऐसा नहीं है कि जो अपने (उस शब्द के) उच्चारण की अपेक्षा भूतकाल के बोध कराने में तात्पर्य रखता हो, उक्त साहेब को तो, इस से पूर्व में कही हुई संस्कृतलौकिकव्याकरण की स्थूलप्रणाली की अपेक्षा बैदिक 'लुङ्' आदि के अर्थों में पूर्वोक्त बिशेष प्रकार का भी बोध यदि होता तो 'हिरण्यगर्भःसमबर्ततात्रे' का नाम भी नहीं लेते। और ऐसी उनकी बुद्धि से यह सूक्ष्म व्याकरणप्रणाली तो बहुत ही दूर थी निदान बेदवाक्यों से बेद की नवीनता को सिद्ध करने का साहस बालू से तेल निकालने के साहस से कुछ भी न्यून नहीं है।

(४) अब तक बैदिक 'लुङ्' आदि शब्दों के अर्थों को लौकिक 'लुङ्' आदि शब्दों के अर्थ से तुल्य मान कर लौकिकव्याकरण की प्रणालियों से समालोचना की गई और अब बिशेषरूप से बैदिकव्याकरण के अनुसार समालोचना की जाती है।

अध्याय ३ पाद ४ में "छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" ॥ ६॥ यह पाणिनिमहर्षि का सूत्र है इसका यह अर्थ है कि लौकिकवाक्यों में जिस २ काल में 'लुङ्' 'लङ्' 'लिट्' का विधान, पूर्व में किया गया, वे काल बेद में 'लुङ्' 'लङ्' 'लिट्' के अर्थ नहीं होते, अर्थात् बेद में 'लुङ्' 'लङ्' 'लिट्' का कालसामान्य अर्थ है अथवा काल अर्थही नहीं है इति। इस पाणिनिसूत्र से स्पष्ट ही निश्चित होता है कि बेद अनादि है इसी से उसमें 'लुङ्' आदि का भूतकाल अर्थ

'उदाहरणेषु धातुसम्बन्धो मृग्य' इति पदमञ्जर्यां हरदत्तमिश्रेण, सुबोधिन्यां जयकृष्णेन, चोक्तम् । अपिच अत्र सूत्रे धातुसम्बन्ध इत्यस्यानुवृत्तौ सूत्रमेवेदमनर्थकं स्यात् 'धातुसम्बन्धे प्रत्यया' इत्यनेनैव गतार्थत्वात् । नहि लुङादीनां प्रत्ययत्वं नास्ति यावता न तेनैतत्सूत्रलक्ष्याणामन्यथासिद्धिः स्यात् । नापि विकल्पार्थमिदं सूत्रं स्यात् समुच्चयेऽन्यतरस्यामिति सूत्रस्थान्यतरस्यामित्यस्य स्वरितत्वे मानाभावात् । यथाविध्यनुप्रयोग इत्यादौ 'तदनुवृत्तिविच्छेदाच्च । मण्डूकानुवृत्तौ मानाभावाच्च । नाप्यस्य सूत्रस्य नियमार्थतया सार्थक्यं समर्थयितुं शक्यते । नियमो हि किं, छन्दसि धातुसम्बन्धे लुङादय एवेत्याकारकः ? उत छन्दस्येव धातुसम्बन्धे लुङादय इतिरूपः ? किंवा छन्दसि धातुसम्बन्ध एव लुङादय इत्यात्मकः ? स्यात् । चतुर्थप्रकारासंभवात् । तत्र नाद्यः 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति' इति बृहदारण्यकश्रुतौ पश्यन्निति लटोऽसाधुत्वप्रसंगात् । न द्वितीयः । 'अनूचानो भविष्यति' 'उपेयिवांसि कर्तारः पुरीम्' इत्यादिप्रयोगेषु लिटो लोके साधुत्वानुपपत्तेः । अथैतान्नियमविरोधादेवैवमादिषु लोके लिटोऽसाधुत्वमेव, अस्माकं लक्षणैकचक्षुष्कत्वादिति चेत्, स्यादप्येवम् यदि प्रकृतसूत्रे दृढतरेण केनचित्प्रमाणेन धातुसम्बन्धपदस्य सम्बन्धोऽवधार्येत, नचासाववधार्यते नवा तदवधारणमन्तरेण नियमोऽसावात्मानं लब्धुं क्षमते । अस्यां च दुरवस्थायां व्याकरणस्य प्रयुक्ताम्वाख्यानत्वाद्वैदिकाः प्रयोगा इव नियमान्तरमिमे प्रयोगा एव स्वविरोधेन स्वयं शिथिलमूलमिमं नियममुन्मूलयन्तः प्रकृतसूत्रे धातुसम्बन्धपदस्यासम्बन्धमेव निर्णाययन्ति । नापि तृतीयः । तथासत्युक्तोदाहरणेष्वेव लुङादीनां साधुताया दुरुपपादत्वापातात् । तथाच कैरपि वैदिकैर्लुङादिभिर्नोक्तरूपभूतत्वाभिधानमपौरुषेयत्वाद्वेदानामित्येतस्मिन्नेवार्थे प्रकृतसूत्रमारभमाणस्य भगवतः पाणिनेस्तात्पर्यम् । अतएव च भूतार्थे सूत्रान्तरैः स्वयंविहितानेवैताँ स्त्रीन् लकारानत्र सूत्रे विशिष्य निर्दिदेशासौ भगवान् । उक्तभूतार्थकत्वस्यैव पौरुषेयत्वापादकतायाः कथंचित्संभवात् । न्यायसाम्याच्चच्छान्दसानां निष्ठादिप्रत्ययानामपीदृश्येव गतिरवगन्तव्या । नह्यपौरुषेये वेदेऽमीषामुक्तपूर्वं भूतार्थकत्वमवकल्पते । यदा च वेदे लुङादीनामियं दशा तदा वैदिकानामग्रपूर्वपुराऽऽदिशब्दानामन्यादृशी

॥ भाषा ॥

नहीं होता । और पाणिनिमहर्षि को भी वेद की अनादिता ही इष्ट है इसी से भूतकाल ही के बोधक 'लुङ्' आदि तीन प्रकार के शब्दों को उन्हों ने अपने इस सूत्र में विशेषरूप से निर्देश किया है क्योंकि वेद में यदि इनका भूतकाल अर्थ होता तो यह सन्देह होता कि कोई काल ऐसा भी था जो कि वेद की अपेक्षा भूतकाल था अर्थात् उस समय वेद न था, और तब वेदों की अनादिता न होती । और उक्त 'लुङ्' आदि शब्दों के नाईं वेद में अग्र, पूर्व, पुरा, आदि शब्दों का भी यह अर्थ नहीं होता कि 'वेद के पूर्व' किन्तु वेदोक्तसमाचारों में अन्योन्य की अपेक्षा पूर्वकाल ही का बोध, वेद में अग्र आदि शब्दों से होता है । अब इस के अनुसार 'हिरण्यगर्भःसमवर्तताग्रे' का यह अर्थ है कि 'अग्रे' (प्रत्येक आदिसृष्टि के पूर्वसमय में) हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) समवर्तत (हुआ करता है) यह एक ऐसी प्रसिद्ध बार्ता है कि जिसके कारण, चार्वाक आदि नास्तिकों के दर्शनों में भी वेद पर, वेद के शब्दों के अनुसार नवीनता का आक्षेप नहीं है क्योंकि यदि नास्तिकों को उक्त पाणिनिसूत्र नहीं ज्ञात होता तो वेद के 'लुङ्' आदि शब्दों का भूतकाल अर्थ कर वेद पर नवीनता

दशा कथमपक्लृप्तिपथमप्यवतरेत् । नच तर्हि कतिपयेष्वर्थवादेषु भूतार्थवादत्वव्यपदेशस्य व्याकोप इति वाच्यम्। 'भूतार्थवादस्तद्धानात्' इति वार्तिकश्लोकावयवव्याख्यानावसरे गुणवादानुवादभिन्नार्थवादत्वमेव भूतार्थवादत्वमिति वेददुर्गसज्जने प्रतिपादनात् ।

अपिच प्रातिशाख्ये कात्यायनः ।

" लौकिकानामर्थपूर्वकत्वादि " ति ।

अयमर्थः। लौकिकानां "गामभ्याजशुक्लां दण्डेने" त्यादिवाक्यानां प्रयोगोऽर्थपूर्वकः । प्रयोक्तारो हि तं तं प्रतिपिपादयिषितमर्थमुपलभमाना अनुसन्दधतो वा प्रयुञ्जते लौकिकानि वाक्यानि । नित्यानां तु वाक्यानां नार्थपूर्वकः प्रयोगो घटते । वैदिकवाक्यार्थानां सृष्टिप्रलयादीनामनित्यत्वादिति । ततश्च वस्तुसद्भावनैरपेक्ष्येण लोकवृत्तमवगमयद्भ्यो वेदवाक्येभ्यः कथमपि नोक्तभूतकाललाभः संभवति । यस्तु 'छन्दसि लिट् ॥ ३ ॥ २ ॥ १०५ ॥ इति भूतसामान्ये लिड्विधीयते 'अहं द्यावापृथिवी आततान' ति तस्यापि नोक्तपूर्वं भूतत्वमर्थः, अस्यैव कात्यायनवाक्यस्यानुरोधात् किंतु पूर्वकालमात्रम् तत्र पूर्वत्वं च भाविवस्त्वन्तरसृष्टिकार्याद्यपेक्षमितिबोध्यम् । तथाच लौकिकलुङ्प्रत्ययादिसामान्येन वैदिकेभ्योऽपि लुङादिभ्यः कालविशेषानवधार्य प्रायस्तत्र तत्र स्वस्वग्रन्थेषु वेदापौरुषेयत्वादीननेकान् द्रढी-

॥ भाषा ॥

के आक्षेप करने से कब वे बञ्चित होते ? । उक्त साहेब का ध्यान तो उक्त पाणिनिसूत्र पर नहीं गया इसी से उन्हों ने वेद पर ऐसा आक्षेप किया ।

प्रश्न—यदि वेद में किसी शब्द का भूतकाल अर्थ नहीं होता तो कतिपय वेदवाक्यों को मीमांसकलोग भूतार्थवाद (भूतकाल के विषयों को कहना) क्यों कहते हैं ?

उ०—मीमांसकों के यहां 'भूतार्थवाद' शब्द का यह अर्थ नहीं है कि भूतकाल के अर्थों को कहना, किंतु वे यह कहते हैं कि अर्थवाद तीन प्रकार का होता है [१] गुणवाद [२] अनुवाद [३] भूतार्थवाद, इसका यही तात्पर्य है कि गुणवाद और अनुवाद से अन्य जितने वैदिक अर्थवाद हैं सब की संज्ञा 'भूत' है अर्थात् 'डित्थ' आदि संज्ञाओं के नाईं भूतशब्द भी उन अर्थवादों का नाम मात्र है और भूतनामक होने से वे अर्थवाद भूतार्थवाद कहलाते हैं । इस विषय का पूर्वहीं 'वेददुर्गसज्जन' में निरूपण हो चुका है ।

(५) प्रातिशाख्य में कात्यायनमहर्षि ने कहा है कि "लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात्" (लौकिकवाक्यों का उच्चारण अर्थपूर्वक होता है अर्थात् वाक्य के प्रयोग करने वाले पुरुष उस वाक्य से जिसका बोध कराना चाहते हैं उस अर्थ को समझ कर उसके अनुसन्धान से वाक्य की रचना करते हैं और वैदिकवाक्यों का प्रयोग तो अर्थपूर्वक नहीं हो सकता क्योंकि वेद नित्य है और उसके अर्थ, सृष्टि प्रलय आदि अनित्य हैं) तब ऐसी दशा में वेदवाक्यों से भूतकाल के लाभ का संभव त्रिकाल में भी नहीं हो सकता ।

पूर्वोक्तसूत्र और प्रातिशाख्य के परिचय से बञ्चित आज कल्ह के अनेक वेदबाह्य-महाशय अनेक भाषाओं में ग्रन्थों को बना बना कर उन में वेदवाक्यों ही से "अमुक समय में ऐसा हुआ, अमुक समय में वैसा हुआ" इत्यादि रीति से भूतकाल के इतिहासों को निकाल २ वेद को हिस्ट्री (इतिहास) समझ कर भूतकाल के अनेक बिषयों का निश्चय कर बैठते हैं और उसी

यसो वैदिकदर्शनसिद्धान्तानाक्षिपतां वैदिकव्याकरणतात्पर्यपरिचयवञ्चितानां सर्वेषामेव वेदवाह्यानामयं महामोहएव यस्तच्छिक्षाभाषाद्यभ्यासवासितमानसान् कतिपयान् भारतवर्षीयानपि तत्तदाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखीकरोति, क्षाम्यन्त्युपेक्षन्तएव वा तानाक्षेपानक्षमाइवाद्यत्वे वेदचक्षुषोऽपि विचक्षणा नतु प्रत्याचक्षते, तत् किमपि विलक्षणमेवेदममूलमकल्पमपि कराळकल्पमान्तरालिकं कलिकालोद्धारगौरवम्। तस्मात् अत्र मन्त्रे कमलयोनिपरस्य हिरण्यगर्भपदस्याग्रपदस्य लङादीनां चोपादानेऽपि नास्य सादित्वमित्येतस्मान्नवीनत्वलाभोक्तीरिक्तैव। प्राचीनत्वे प्रमाणानामनुपलम्भस्तु वेदवाह्यस्य न क्षतिमावोढुंक्षमते। नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीतिन्यायात्।

यदपि तेनैव।

बेदानां द्वौ भागौ एकश्छन्दः द्वितीयोमन्त्रः, तत्र सामान्यार्थाभिधायकमज्ञानिनो मुखादिवाकस्मान्निःसृतं बुद्धिपूर्वरचनाविहीनमिव यद्वाक्यं तच्छन्दः। तदुत्पत्तेःसमयस्तु एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकादधिकानि व्यतीतानि। एवं मन्त्रोत्पत्तेरप्येकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि। अत्रच 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्योनूतनैरुत' इत्यादीनि प्रमाणानीत्युक्तम्। तदपि गलगर्दनमात्रम्। छन्दःपदस्य वेदपर्यायताया मन्त्रपदस्य च पूर्वोपन्यस्तमन्त्रलक्षणलक्षित-

॥ भाषा ॥

के अनुसार बेद को नवीन मान २ कर बेद की अपौरुषेयता आदि अनेक, दृढतर दार्शनिक-सिद्धान्तों पर अपनी अज्ञता से आक्षेप किया करते हैं, वह उनका महामोह ही है, क्योंकि अनन्तरोक्त अनेक दृढतर प्रकार से यह सिद्ध कर दिया गया है कि बेदवाक्यों से भूतकाल का लाभ कदापि नहीं हो सकता। और उन्ही बेदवाह्यों की शिक्षा, भाषा, बेश, आदि के अत्यन्त अभ्यास से भारतवर्ष के भी अनेक मनुष्य बेदबाह्यप्राय हो कर उक्त आक्षेपों से रूखी और तीखी वाणियों से प्रायः अपने मुखों को अपवित्र किया करते हैं और इस समय के बड़े २ बैदिक बिद्वान् भी असमर्थ से हो कर किसी कारण से उन वाणियों को सहन करते वा उनकी उपेक्षा ही करते हैं कि "कौन उन अज्ञों के मुह लगने जाय"। सो यह कुत्सितदशा, केवल कलिकाल महाराज ही के प्रताप का परिणाम है। और उक्त साहेब ने जो यह कहा है कि 'मन्त्रों की प्राचीनता में हम कोई प्रमाण नहीं देखते' सो ठीक ही है क्योंकि उनके वाक्यों ही से यह निश्चित होता है कि उन्हों ने बैदिकदर्शनों का दर्शन कदापि नहीं पाया था।

ऐसे ही पूर्वोक्तग्रंथ में उक्त साहेब ने यह भी कहा है कि "बेदों में दो भाग हैं एक छन्द और दूसरा मन्त्र, उन में से छन्दभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ ज्ञात होता है कि जिसकी उत्पत्ति, बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती और उसमें कथन इस प्रकार का है जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् शब्द निकला हो, उसकी उत्पत्ति से (३१००) इकतीस सौ बर्ष व्यतीत हुए हैं और मन्त्रभाग की उत्पत्ति से (२९००) उनतीस सौ बर्ष व्यतीत हुए हैं उस में (अग्निः पूर्वेभिः) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है"।

सो यह उनका कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि छन्द और मन्त्र का बिभाग जो उन्हों ने किया है उसमें कोई प्रमाण नहीं है अर्थात् यह उनकी मनमानी कल्पना मात्र है तथा बैदिक

शब्दवाचकताया अनादिवैदिकलौकिकव्यवहारपरम्परासिद्धाया दुरपह्नवतया ब्राह्मनोक्तस्य छन्दोमन्त्रपदार्थविभागस्य तन्मानसोल्लासमात्रमूलकस्य तद्विरोधेनानभ्याशमित्यर्थत्वात् ।

एवम् एकात्रिंशच्छतानि बर्षाणीत्यादिके तदुक्तेऽर्थे प्रमाणगन्धोऽपि नास्ति, 'अग्निः पूर्वेभि' रित्यादौ पूर्वादिपदस्य संख्याशब्दत्वाभावात्, पूर्वनूतनपदयोश्च परस्परार्थावधिक-पूर्वत्वनूतनत्वमात्रप्रतिपादकतया ताभ्यामग्न्यपेक्षया पूर्वत्वादेरलाभात् । अथ कदा तर्हि बेदोत्पत्तिरितिचेत्, 'बन्ध्यापुत्रः कृष्णः कपिलो बे' तिवत् कथमयं बेदोत्पत्तिसाधनासमर्थस्य बेदोत्पत्तिविषये समयविशेषप्रश्नः ?

यत्तु तस्मादप्यन्येन

पूर्वकालिकानि भारतवर्षीयाणां प्रात्यहिकाग्न्यादियाचनादिरूपगृह्यव्यवहाराङ्गानि वाक्यान्येव कतिपयकालानन्तरं बेदत्वेन प्रसिद्धानीत्यादि प्रलपितम् ।

॥ भाषा ॥

और लौकिक अनादिव्यवहारों से बिरुद्ध है क्योंकि 'छन्द' शब्द का 'बेद' शब्द से समानार्थक होना, और 'मन्त्र' शब्द का पूर्वोक्त मन्त्रलक्षण वाले वाक्यों का वाचक होना अनादिकाल से अतिप्रसिद्ध है । तथा छन्दभाग और मन्त्रभाग के उत्पत्तियों के मध्यकाल को जो उन्हों ने दिखलाया है उसके बिषय में तो किसी प्रमाण का गन्ध भी नहीं है क्योंकि "अग्निः पूर्वेभिः" इत्यादि मन्त्रों में पूर्व आदि शब्दों का संख्या अर्थ नहीं है कि जिस कारण उनके अनुसार बर्षों की संख्या का लाभ हो और उक्त मन्त्र में जो, ऋषियों को पूर्व और नूतन कहा है वह पूर्व और नूतन अर्थात् प्राचीन और नवीन होना उन ऋषियों का, उनमें अन्योन्य की अपेक्षा से है अर्थात् कोई ऋषि किसी ऋषि की अपेक्षा प्राचीन और वह उसकी अपेक्षा नवीन है, तो ऐसी दशा में मन्त्रों की नवीनता कदापि इस मन्त्र से नहीं निकल सकती ।

प्रश्न—यदि साहेब का कहा हुआ समय ठीक नहीं है तो बतलाना चाहिये कि बेद की उत्पत्ति कब हुई ? ।

उत्तर—बन्ध्या का पुत्र किस रङ्ग का है अर्थात् काला है वा गोरा ? इस प्रश्न का भी यदि उत्तर देने योग्य हो तो उक्त प्रश्न का भी उत्तर दिया जा सकता है ।

प्रश्न—बन्ध्या का तो पुत्र ही नहीं होता इसी से उसके रूप का प्रश्न ही नहीं हो सकता तो ऐसी दशा में उसके उत्तर का क्या सम्भव है ?

उत्तर—बेद की उत्पत्ति ही नहीं होती इसी से उसके समय का प्रश्न ही नहीं हो सकता तो ऐसी दशा में इसके उत्तर का भी संभव नहीं हो सकता और उक्त प्रश्न का करने वाला, बन्ध्यापुत्र के रूप के प्रश्नकर्ता से न्यून नहीं है ।

प्रश्न—बेद की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? ।

उत्तर—इसका पूर्णरीति से विचार बेददुर्गसज्जन के बेदापौरुषेयत्वप्रकरण में हो चुका है । बीवर साहेब के ग्रंथ की अपेक्षा डाक्टर 'मैक्सम्यूलर' के ग्रंथ में जो बिशेषभाग बेदसंबन्धी था उसकी समालोचना यहां तक पूर्ण हो चुकी । और जो नवीन 'मार्सडेन' साहेब आदि ने अपने पुस्तकों में "पूर्वकाल में अग्नि आदि के याचन आदि लौकिकव्यवहार के लिये भारतवासी लोग"

तत्तु बाललीलायितमेव संस्कृताऽपि वाणी न कदापि भारतवर्षीयाणां मातृभाषाऽभूदित्यस्यार्थस्य भाषान्तरमयीनां वेदैकदेशप्रतिकृतीनां वेदत्वस्य निराकरणावसरे वेददुर्गसज्जनएव सप्रमाणमुपवर्णितत्वात् ।

अत्र श्लोकौ ।

पूर्ववाह्यनिबन्धेन वेदवाह्यनिबन्धयोः ।
अनयोरगतार्थो यः स एवांशः परीक्षितः ॥ १ ॥
अनयोरपरोंऽशस्तु पूर्वग्रन्थपरीक्षया ।
चरितार्थपरीक्षत्वादपरीक्ष्यउपेक्षितः ॥ २ ॥

एतेन वेदवाह्येभ्य एव तद्ग्रन्थानेव च शैशवात्प्रभृति श्रुतीकृत्य तेषामेव च सिद्धान्तान् मनसि साभिनिवेशमावेश्य वृत्तीरपि तेभ्य एव प्रतिलभ्य रात्रिन्दिवञ्च तेषामेव सहवासमनुभूय तेषामेव च शीलाचारभाषावस्त्रपरिधानविहारप्रभृतिनिखिलव्यवहारशैलीरनुक्षणं परिशीलयाद्भिः कैश्चिद्भारतवर्षीयैरचिता वेदवाह्योक्तिमात्रप्रमाणप्राणा ग्रन्थप्रतिरूपका अपि दूरोत्सारिता इत्यलमतिपल्लवितेन । एताश्च द्वीपान्तरीयाणां वेदवाह्यानां तदनुयायिनां कतिपयानां भारतवर्षीयाणां च सर्वा एवोक्तयः—

नचात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥ १ ॥

इति भट्टपादीयपद्यपश्चार्द्धस्यैवोदाहरणानि ।

भूयोऽपि चेत् कस्कश्चित् मदुक्तीरपि कास्काश्चित् प्रतिं किं किंचित्कपोलकल्पना-

॥ भाषा ॥

जिन वाक्यों को बोलते थे कुछ काल के अनन्तर वे हीं वाक्य बेद के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं" इत्यादि अनेक प्रकार के प्रलापों को लिख मारा है उसमें समालोचना की आवश्यकता कुछ नहीं है क्योंकि वे प्रलाप स्वयं बाललीला ही हैं । और 'वेददुर्गसज्जन' प्रकरण में कुरान इंजील आदि की बेदताखण्डन के अवसर पर स्पष्टयुक्तियों से यह सिद्ध कर दिया गया है कि संस्कृतवाणी भी भारतवासियों की मातृभाषा कभी नहीं थी, तो ऐसी दशा में बेदवाणी को भारतवासियों की मातृभाषा कहना बालबुद्धि ही पुरुष का काम है । ऐसे ही ग्रंथ नहीं, बरुक इन ग्रन्थों की पूछों के समान प्रायः अनेक ग्रंथ जो अंग्रेजी पढ़नेवाले भारतवासियों के हैं और उनमें बेदसंबन्धी विचार अनेक स्थानों पर ऐसे हैं कि जिनका प्राणभूत मूलप्रमाण अंग्रेजों के लेख से अन्य दूसरा नहीं है वे बिचार भी इस अंग्रेजों के ग्रन्थसमालोचना ही से अतिदूर पलायित हो गये, इससे उनकी पृथक् समालोचना करने का कोई प्रयोजन नहीं है । अंग्रेज और अंग्रेजी पढ़नेवाले भारतवासियों के इस प्रसंगरूपी उदाहरण को देख कर कुमारिलभट्टपाद के उस वाक्य का स्मरण आना अत्यन्त-संभव है कि जिस में उन्हों ने यह कहा है कि 'नचात्रा०' "मेरे इस मीमांसावार्तिक नामक ग्रन्थ पर अधिक दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये क्योंकि जिस में जो दोष नहीं भी रहते वे भी उसमें अधिक दोषदृष्टि करनेवाले के चित्त पर आक्रमण कर बैठते हैं" और इस वाक्य के स्मरण से यही कहना उचित ज्ञात होता है कि मेरी लिखी हुई उक्त युक्तियों पर भी यदि भविष्यत्काल में

मात्रेण प्रतीपं वक्ष्यति लेखिष्यति वा तदाऽपि न तावता काचिदप्यस्य ग्रन्थस्य हानिः संभाविनी नह्युलूकानामन्धतमसावलोकनमात्रात्सावित्रप्रकाशेन लोकचक्षुषामुपकारो जातु कियन्तमपि ह्रासमासादयति। उलूकाश्च न तं प्रकाशमवलोकन्ते कदाचिदित्ययमप्यर्थो नैसर्गिकत्वादचिकित्स्य एव।

तदप्युक्तम् भट्टपादैः—

निर्दोषत्वैकवाक्यत्वं क्व वा लोकस्य दृश्यते।
सापवादा यतःकेचिन्मोक्षस्वर्गावपि प्रति ॥१॥ इति।

इति वेदविषयवेदवाह्यग्रंथपरीक्षासरणिः।

अथात्राह स्म यत् स्वामी दयानन्दसरस्वती वेदं प्रकृत्य तत् तत्राप्युचितं किंचिदुच्यते॥ तथाहि।

यत्तु वेदभाष्याभासभूमिकायाम् (वेदसञ्ज्ञाविचारः) इत्युपक्रमे

अथ कोऽयं वेदो नाम? मन्त्रभागसंहितेत्याह। किंच 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमि' तिकात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसञ्ज्ञा कुतो न स्वीक्रियतइति। मैवंवाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा भवितुमर्हति। कुतः। पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादार्षिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात् कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचित-

॥ भाषा ॥

कोई वेदवाह्य पुरुष कुछ विरुद्ध भी लिखेगा तो उससे मेरी इन युक्तियों पर कुछ हानि नहीं पहुंच सकती अर्थात् तब भी मेरी ये युक्तियां अवश्य ही लोकोपकार करेंगी क्योंकि यद्यपि प्रकाश में भी उल्लूपक्षीगण घन और घोर अन्धकार देखते हैं तथापि उस प्रकाश से, अन्य नेत्रों के उपकार में कुछ भी हानि नहीं पहुंचती। और यह भी है कि उल्लुओं का वह अन्धकारदर्शनरूपी भ्रम भी उनके प्राणों के साथही छूटता है। इसी से कुमारिलभट्टपाद ने यह भी कहा है कि 'निर्दोष०' (ऐसा कोई विषय नहीं है कि जिसको सब लोग एक मुख से निर्दोष कहैं क्योंकि कुछ लोग ऐसे भी हैं कि जो स्वर्ग और मोक्ष पर भी अपवाद लगाते हैं)। यहां तक द्वीपान्तरीय वेदवाह्यों के ग्रन्थों की समालोचना का प्रकार संक्षेपरूप से दिखला दिया गया।

अब, भारतवर्षवासी स्वामीदयानन्दसरस्वती ने वेद के विषय में जो कहा है उस की समालोचना की जाती है।

उन्होंने अपने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकानामक ग्रन्थ के "अथ वेदसंज्ञाविचारः" इस प्रकरण में ८० पृष्ठ से आरम्भ कर ८८ पृष्ठ 'इति वेदसंज्ञाविचारः' यहां तक यह लिखा है कि—

प्र०—वेद किनका नाम है?

उ०—मन्त्रसंहिताओं का,।

प्र०—जो कात्यायनऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं?

उ०—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी है वे ईश्वरोक्त नहीं हैं किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उन के वेद होने में साक्षी नहीं दी है और वे देह

त्वाच्चेति । यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति नचैवं मन्त्रभागे । किंच भोः । त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषम् तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥ यजु० अ० ३ मं० ६२ इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यतापि दृश्यते पुनर्ब्राह्मणानांवेदसञ्ज्ञा कुतो न मन्यते । मैवं भ्रमि । नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणौ मनुष्यस्य नाम्नास्तः । अत्र प्रमाणम् । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः । श० कां० ८ अ० १ । कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः श० कां० ७ अ० ५ अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च सञ्ज्ञाऽस्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः । अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते । तद्यथा । हे जगदीश्वर भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसञ्ज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु । चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां प्राणो मनआदीनां च (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम् । विद्वा ऽसो हि देवाः । श० कां० ३ अ० ७ । अनेन विदुषां देवसञ्ज्ञाऽस्ति । देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत् । येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि । अनेनान्यदप्युपदिश्यते । ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्त्तुंशक्यमस्तीति गम्यते । अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं वेदेषु प्रकाश्यम् अतो नात्र मन्त्रभागे इतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायनाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र-

॥ भाषा ॥

धारी पुरुषों के बनाये हैं इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती और मन्त्रसंहिताओं का वेद नाम इस लिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल हैं ।

प्र०—जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं वैसे ही (त्र्यायुषं जमदग्नेः) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं इस से मन्त्र और ब्राह्मण ये दोनों बराबर होते हैं फिर ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो ?

उ०—ऐसा भ्रम मत करो क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं इस का प्रमाण शतपथब्राह्मण में लिखा है कि चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है इस कारण यहां प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये अर्थात् जिन से जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं (त्र्यायुषं ज०) सो इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण, और आँख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहै (यद्देवेषु) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादिशुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है (तन्नो अस्तु) ऐसी ही हम लोगों की भी हो तथा (त्र्यायुषं जमदग्नेः) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तमनियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है इस से यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है लौकिकइतिहासों का नहीं इस से जो सायनाचार्यादि लोगों ने अपनी २ बनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहासवर्णन किये हैं वे सब मिथ्या हैं ।

कुत्रेतिहासवर्णनंकृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् । तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति न ब्रह्मवैबर्त्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते । किं च भोः ब्रह्मयज्ञबिधाने यत्र क्वचिद् ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु । यद् ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरित्यादीनी वचनानि दृश्यन्ते । एषां मूलमथर्बबेदेऽप्यस्ति स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् । तमितिहासश्चपुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलत् । इतिहासस्य च बै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं बेद ॥ १ ॥ अथर्ब० कां १५ प्रपा० ३० । अनु० १ मं० ४ । अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसञ्ज्ञया कुतो न गृह्यन्ते । मैवं वाचि । एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते नतु श्रीमद्भागवतादीनामिति । कुतः ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् । तत्र देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्याः । सदेवसोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्योपनिष० प्रपा० ६ । आत्मा बा इदमेकएवाग्रआसीन्नान्यत् किंचन मिषत् । इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ खं० १ ॥ आपोह बा इदमग्रेसलिलमेवास । श० कां० ११ अ० १ । इदं बा अग्रे नैव किंचिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि । कल्पा 'मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः । तद्यथा । इषेत्वोर्जेत्वेतिबृष्ट्यै तदाह । यदाहेहेषेत्वेत्यूर्जेत्वेति यो बृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह । सविता बै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः श० कां १ अ० ७ इत्यादयो ग्राह्याः । गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति नाराशंस्यश्च । अत्राहुर्यास्काचार्याः । नराशंसोयज्ञइतिकथक्यो नरा आस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरितिशाकपूणिर्नरैःप्रशस्यो भवति । नि० अ० ८ खं० ६ ॥ नृणां यत्र प्रशंसा

॥ भाषा ॥

और इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं ।

प्र०—जहां २ ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में (यद् ब्राह्मण०) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इत्यादि वचन देखने में आते हैं तथा अथर्बबेद में भी इतिहास पुराणादि नामों का लेख है इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मबैबर्त, श्रीमद्भागवत महाभरतादि का ग्रहण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो ?

उ०—इनके ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है क्योंकि उन में मतों के परस्परबिरोध और लड़ाई आदि की असंभव मिथ्याकथा अपने २ मत के अनुसार लोगों ने लिख रक्खी हैं इस से इतिहास और पुराणादि नामों से इनका ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं, जो ब्राह्मणग्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् देव बिद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है (सदेवसो०) अर्थात् जिस में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मणभाग का नाम पुराण है (इषेत्वोर्जेत्वेति बृष्ट्यै) जो बेद मन्त्रों के अर्थ अर्थात् जिन में द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है उन का नाम कल्प है इसी प्रकार जैसे शतपथब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रयी आदि की कथाओं का नाम गाथा है और जिनमें नर अर्थात् मनुष्यलोगों ने ईश्वरधर्मआदि पदार्थबिद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा

नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्या नातोऽन्या इति। किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यद् यस्माद्ब्राह्मणानीतिसञ्ज्ञीपदमितिहासादिस्तेषां सञ्ज्ञेति। तद्यथा। ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति॥

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये। वाक्यविभागस्यचार्थग्रहणात्। १ अ० २ आ० २ सू० ६। अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्। प्रमाणम् शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः। अयमभिप्रायः। ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते। सू० विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥२॥ अ० २ आ० २ सू० ६१॥ अस्योपरि० वा० भा०। त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति तत्र सू० विधिर्विधायकः॥३॥ अ० २ आ० २ सू० ६२ अस्योपरि० वा० भा०। यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा यथा अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामइत्यादि। ब्राह्मणवाक्यानामितिशेषः। सू० स्तुतिर्निन्दापरकृतिःपुराकल्पइत्यर्थवादः॥४॥ अ० २ आ २ सू० ६३॥ अस्योपरि वा० भा०। विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः। सम्प्रत्ययार्थं स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्त्तिका च फलश्रवणात्प्रवर्त्तते 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वस्यैतेनाप्नोति सर्वं जयती' त्येवमादि। अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्थं निन्दितं न समाचरेदिति। 'स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमेतज्जीर्यते वा' इत्येवमादि। अन्यकर्त्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। 'हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति। अग्नेः पृषदाज्यं तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति। अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधती' त्येवमादि। ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्पइति। 'तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा वहिः पवमानं सामस्तोममस्तौषन् योनेर्यज्ञंप्रतनवा-

॥ भाषा ॥

की है उन को नाराशंसी कहते हैं (ब्राह्मणानीतिहासान्) इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा हैं अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है सो ब्राह्मण और निरुक्तादिग्रन्थों में जो २ जैसी २ कथा लिखी हैं उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये अन्य का नहीं। ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासादिसंज्ञा होने में और भी प्रमाण है जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं वैसे ब्राह्मणग्रन्थों में भी हैं उन में से एक विधिवाक्य है जैसे (देवदत्तोग्रामंगच्छेत्सुखार्थम्) सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में भी है (अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः) जिस को सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करै, दूसरा अर्थवाद है जो कि चार प्रकार का होता है एक स्तुति अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना जिस से मनुष्यों की श्रद्धा उत्तमकाम करने और गुणों के ग्रहण में ही हो। दूसरी निन्दा अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना जिस से उन को कोई न करै। तीसरा (परकृति) जैसे इस चोर ने बुरा काम कीया इस से उस को दण्ड मिला और साहूकार ने अच्छा काम किया इस से उसकी प्रतिष्ठा और उन्नति हुई। चौथा (पुराकल्प) अर्थात् जो बात पहिले हो चुकी हो जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तररीति से संवाद किया था इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं। इसका तीसरा भाग

महा' इत्येवमादि । कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति । स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसम्बन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति ॥

सू० विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥५॥ अ० २ आ० २ सू० ६४ ॥ अस्योपरि वा० भा० । विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः । सू० न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रमाण्यात् ॥६॥ अ० २ आ० २ सू० १ ॥ अस्योपरि वा० भा० । न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किन्तर्हि ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभावइत्येतान्यपि प्रमाणानि । इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्य्यमैतिह्यम् । अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते नान्यदिति । अन्यच्च । ब्राह्मणानि वेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्यानीति । कुतः । इषेत्वोर्जेत्वेति श० कां० १ अ० ७ ॥ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात् ॥ अन्यच्च महाभाष्येऽपि । केषां शब्दानाम् । लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावत् । गौरश्वःपुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि शन्नोदेवीरभिष्टये । इषेत्वोर्जेत्वा । अग्निमीले पुरोहितम् । अग्नआयाहिवीतय इति । यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसञ्ज्ञाभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् ॥ अतएव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसञ्ज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किन्तु यानि गौरश्वइत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते । कुतः । तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् । द्वितीया ब्राह्मणे ॥१॥ अ० २ पा० ३ सू० ६० । चतुर्थ्यर्थे बहुलंछन्दसि २ । अ० २ पा० ३ सू० ६२ । पुराण-

॥ भाषा ॥

अनुवाद है अर्थात् जिस का पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना सो भी दो प्रकार का है एक शब्द का और दूसरा अर्थ का जैसे वह विद्या को पढ़े यह शब्दानुवाद है विद्या पढने से ही ज्ञान होता है इस को अर्थवाद कहते हैं ।

इससे इस में समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी बार उच्चारण और विचार हो उसको अनुवाद कहते हैं सो ब्राह्मणपुस्तकों में यथावत् लिखा है इस हेतु से भी ब्राह्मणपुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये क्योंकि इन में से इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांचो प्रकार की कथा सब ठीक २ लिखी हैं और भागवतादि को इतिहास नहीं जानना चाहिये क्योंकि इन में मिथ्याकथा बहुत सी लिखी हैं ब्राह्मणग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती क्योंकि (इषेत्वोर्जेत्वेति०) इस प्रकार से उन में मन्त्रों की प्रतीक धर २ के वेदों का व्याख्यान किया है और मन्त्रभागसंहिताओं में ब्राह्मणग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती इस से जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिताएं हैं वे ही वेद हैं ब्राह्मणग्रन्थ नहीं।

ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरणमहाभाष्य का भी प्रमाण है जिस में लोक और वेदों के भिन्न २ उदाहरण दिये हैं जैसे गौरश्वः० इत्यादि लोक के और शन्नोदेवीरभिष्टये इत्यादि वेदों के हैं किन्तु वैदिकउदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और गौरश्वः इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं वे सब ब्राह्मणपुस्तकों के हैं क्योंकि उन में ऐसा ही पाठ है इसी कारण से ब्राह्मणपुस्तकों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती । "द्वितीया ब्राह्मणे" १ अ. २ पा. ३ सू. ६० "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" २ । अ. २ पा. ३ सू. ६२ । "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ।

प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥३॥ अ० ४ पा० ३ सू० १०५ । इत्यष्टाध्याय्यां सूत्राणि । अत्रापि-पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादितम् । तद्यथा । पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अतएवैतेषां पुराणेतिहाससञ्ज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसञ्ज्ञाऽभीष्टाभवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलंछन्दसीत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः । द्वितीयाब्राह्मणेति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतोविज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसञ्ज्ञास्तीति । अतः किं सिद्धम् । ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम् । ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्र ँ राजन्यः । श० कां० १३ अ० १ ॥ समानार्थावेतौ ब्रह्मन् शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च । इति व्याकरणमहाभाष्ये अ० १ पा० १ आ० १ । चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि । अन्यच्च । कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचारितत्वात्सहचारोपाधिमत्वाद्ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा संमतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवंभवितुमर्हतीति । इत्यादि बहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसञ्ज्ञा न ब्राह्मणगून्थानामितिसिद्धम् ॥ किंच भोः । ब्राह्मणगून्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति । अत्र ब्रूमः । नैतेषां वेदवत् प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति । परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेति इत्युक्तम् ।

॥ भाषा ॥

३ । अ. ४ पा. ३ सू. १०५ ये अष्टाध्यायी के सूत्र हैं । यहां भी पाणिनिमहर्षि ने ब्राह्मण को वेद से अन्य कहा है क्योंकि ३ सूत्र में ब्राह्मणकल्पग्रन्थों को ब्रह्मा आदि पुराने ऋषियों का प्रोक्त कहा है और ये ग्रन्थ वेद के व्याख्यान हैं तथा इसी से इन्हीं ग्रन्थों का पुराण इतिहास नाम है । और यदि छन्द और ब्राह्मण की 'वेद' सञ्ज्ञा उक्त महर्षि को इष्ट होती तो द्वितियसूत्र में छन्दस्-शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाता क्योंकि तब तो १ के 'ब्राह्मण' ग्रहण की अनुवृत्ति (आगे सम्बन्ध) ही से काम चल जाता । और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेदसंज्ञा होने में वचन है सो सहचार उपाधिलक्षण से किया हो तौ भी नहीं बन सकता क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि उस लकड़ी को भोजन करा दो और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकता किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उस को भोजन कराना चाहिये इस प्रकार से कहा हो तब भी मानने के योग्य नहीं हो सकता क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है इस से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्हीं के बनाये हुए ऐतरेय शतपथआदि वेदों के व्याख्यान हैं इसी कारण उन के किये ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण हुआ । इस से निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है ब्राह्मणग्रन्थोंकी नहीं ।

प्र०--हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं ?

उ०--ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं । इति वेदसंज्ञाविचारः ॥

तदपरे न क्षमन्ते ।

तथाच 'महामोहविद्रावणे सं० १९४०' भूमिकासहितः प्रथमः प्रबोधः ।

भूमिका ।

अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगाङ्गप्रवाहायां बाराणस्यां विज्ञैरज्ञैः सर्वैरपि धर्मध्वजशिरोमणिः पुण्यजनप्रवर इति समधिगतः पङ्कबहुलाल्पजलात्पल्वलात्सद्यः समुत्थितः सर्वाङ्गीणपङ्कलेपेन स्तब्धरोमेव स्थूलकायो धर्ममुस्तकमूलमुल्लुनानः काश्यादिपुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव कश्चिद्भिक्षुवेषो देवनिन्दाघोरशब्दघुरघुरायितमुखः कलङ्कयन्निव स्ववेषं प्लावयन्निव वाज्ञानाम्भासि जगदशेषं सञ्जनयन्निव सतां चेतसः क्लेशं बञ्चयन्निव स्वदेशं वस्तुतः स्वात्मानमेव बञ्चयन् कलुषयंश्च समुपागमत् ॥

अथैतस्य धार्ष्ट्यम् ।

यदयं सविकत्थमकथयत्, काशिकैर्विद्वद्भिर्वादाहवयशोऽनुभवितुमिच्छामीति । तदिदं दैवान्महामान्यस्य बदान्यस्यास्मदीयसर्वस्वस्य भारतराजकुलरत्नस्य काशिकाप्रभोः श्रीमदीश्वरीप्रसादनारायणबीरपुङ्गवस्यावधीरितकर्णकीर्त्तेः कर्णयोरातिथ्यमुपागमत्, अयं च विदुष्मतीमेनां मदीयबाराणसीमध्यासीनो विद्वद्भिर्वादाहवं प्रार्त्तिथयिषुर्यदि कोपि नास्तिकोबाऽऽस्तिको बा पण्डितः पण्डितम्मन्यो बा स्वाभ्यर्थितार्थविमुखो वदान्यान्तरं याचेत तदा स्यान्मे यशोराशिनाश इत्याकलयन् सहसैव प्रार्थितार्थमपूरयत्, आजुहावच विदुषस्तेऽपि कौतुकिनोऽकुतोभयाः सर्वतन्त्रकौतस्कुतनिबर्त्तका अभयप्रदानाय लोकानां प्रसेदुरुत्तरबितरणायोदरम्भरेर्मुण्डिनः प्रश्नानाम् ॥ अथ षड्विंशत्युत्तरैकोनबिंशतिशततमवैक्रमाब्दे कार्तिके मङ्गलशुक्लत्रयोदश्यां लब्धपदोऽयं वादाभासो घटिकाद्वयादूर्ध्वं जायमानो वादिमौनभावावसानोऽपि बालेनेव विदुषां मशकेनेव मत्तदन्तिनामशस्त्रेणेव शस्त्रिणामनभिज्ञेनाभिज्ञानां नीतिनिपुणस्य पुण्यतमप्रकृते महाराजस्य राजजनस्यापि च नातीव मनोमुदमजीजनत् ॥ अथ विद्वत्प्रतापानलस्विद्यदखिलगात्रेऽनधीतशास्त्रेऽवशिष्टसाहसमात्रे सताङ्गर्हणापात्रे बेदद्रुम-

॥ भाषा ॥

समालोचना ।

१ स्वामी के इस मत को भारतबर्ष के शिष्टजन क्षमा नहीं करते । इस के विषय में पं० मोहनलाल बेदान्ताचार्य की बनाई हुई भूमिका और उन्हीं के बनाए हुए 'महामोहविद्रावण' नामक ग्रन्थ (जो कि सं० १९४० काशी में बना था) के प्रथमप्रकरण का तात्पर्य कहा जाता है । यद्यपि उक्त भूमिका और प्रकरण ऊपर संस्कृत में है और उनमें स्थान २ पर कटुशब्द हैं तथापि उन शब्दों को त्याग कर तात्पर्यमात्र यहां कहा जाता है ।

भूमिका का तात्पर्य यह है कि एक समय श्री काशी में एक (दयानन्दसरस्वती नामक) साधु आए और उन्हों ने महाराज काशीनरेश से काशी के बिद्वानों के साथ वाद करने की इच्छा प्रकट की इसको सुन कर तात्कालिक महाराज काशीनरेश ने मिती कातिक सुदि त्रयोदशी मङ्गलबार सं० १९२६ को काशी के पण्डितों की सभा का अधिबेशन किया और दो घड़ी से कुछ अधिक तक कुछ बात चीत रही जिसको 'वाद' शब्द से तो कह नहीं सकते क्योंकि उक्त साधु, शास्त्रनिपुण न होने से वाद की रीति नहीं जानते थे परन्तु उस बात चीत को बिवादशब्द से

च्छेदामृदुदात्रे निर्वचनभानमुपेयुषि क्षुद्रे वादिनि मुण्डिनि सर्वशास्त्रवैदेशिकं तमुपेक्षमाणे-ष्विव विद्वत्सु सन्ध्यानुष्ठानसमयं समवगमयतीवास्तमयति भगवति भास्वति प्रार्थितार्थसा-र्थचिन्तामणिर्नृपमणिर्जनकइव कर्मानुष्ठानपरायणः सभाम्पौरजनतालशब्दबहुलं विससर्ज ।

अथ बालिकक्षानिर्गतस्य दलितस्य मर्दितस्यापि रावणस्य बहिर्निर्गत्य बिजयोद्घोषवत् मुण्डिन्यपि देशादेशान्तरं बिचरति स्वीयं बिजयं ख्यापयति भारतवर्षे स्वसदृशाँश्चलमतीन-लभमाने अमेरिकादिदूरदेशनिवासिभिः सह लब्धसाप्तपदीने तैः सहैव पुनरेकदा काश्यां कश्चिदाराममध्यासीने मुण्डिनि जगति ख्यातयशसं (कर्न्नल्आल्कट्) नामानं द्रष्टुमिच्छन् राजा शिवप्रसादश्चतुरशिरोरत्नायितस्तास्मिन्नेवारामे मुण्डिनासङ्गतोग्रामंगच्छँस्तृणँस्पृशतीति-न्यायेन बेदब्राह्मणशब्दार्थप्रश्नब्याजेन तदीयां मतिं मतं च परीक्षाश्चक्रे । अयं च चिरा-भ्यस्तोत्तरशैलीं स्वीकुर्वाणआरेभे प्रतारयितुम् । राजा शिवप्रसादोऽपि स्वीयां प्रवचनप्रप-ञ्चचातुरीमुरीकुर्वाणः कटाक्षयन्निवावोचत् । मादृशानां मन्दमतीनामवबोधो लेखादृते न साध्य इति मुण्ड्यपि लेखं स्वीचकार ॥

अथ कतिपयानि नानोत्तरपत्राणि स्वरूपतस्तत्कपटकौटिल्यनिन्दामात्सर्याभिमानभू-प्रभवनान्यवाप्य बिनयपुरस्सरं नाम्नाऽपि निबेदनं नामामुद्रयद्ग्रन्थं राजा शिवप्रसादः । प्रैष यच्चैतत् नाम्नाऽऽर्यसामाजिकानां मुण्डिनश्च निकटे, अयं मुण्डी च लोकचतुरः स्यान्मे क्षति बृत्तेरकुटिलपथबर्तिषु मत्सामाजिकेषु, इति परिचिन्त्य सहसैव भ्रमोच्छेदनं वस्तुतोभ्रमोत्पादनं नाम पुस्तकमुद्रयत् । यत्र काश्यां लौकिका धनिकास्तथा प्रतिवक्तुं क्षमन्ते तत्र का नाम कथा बिदुषामिति सुदूरमवधार्य नाहमितः परं केनचित् काशीस्थबिदुषा बिचारे प्रबर्तिष्ये इति सश-पथं लिलेख, युक्तमाचचारचैतदन्यथा कस्मिंश्चिद्विदुषि रोषमुपागते का नाम शरणप्रत्याशा,

॥ भाषा ॥

कह सकते हैं । और वह बिवाद, वे साधु जी जब प्रत्युत्तर न दे सके तब समाप्त हो गया । तदनन्तर बाली के कांख से मर्दित हुए रावण के तुल्य देशान्तरों में जा २ कर साधु ने मिथ्या ही अपने बिजय की प्रसिद्धि किया, पुनः कुछ काल के अनन्तर इतस्ततः भ्रमण करते हुए एक अमे-रिकानिवासी 'कर्नलूआल्कट्' के साथ काशी में आ कर एक बाटिका में ठहरे, तदनन्तर राजा शिवप्रसाद, कर्नलूआल्कट् से मिलने गये और उन साधु के बुद्धि और मत की परीक्षा के लिये उन्हों ने 'बेद' और 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ पूंछा और साधु ने भी अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया परन्तु राजा शिवप्रसाद ने यह कहा कि लेख के बिना, मेरे ऐसे अल्पबुद्धि मनुष्य ऐसी २ बातों को नहीं समझ सकते, इस पर साधु ने लेख लिखना स्वीकार किया और राजा शिव-प्रसाद के साथ साधु के प्रश्नपत्र और उत्तरपत्र आने जाने लगे उन पत्रों को एकत्रित कर राजा शिवप्रसाद ने 'निबेदन' नामक ग्रन्थ को मुद्रित करा कर उन लोगों के समीप भेजा जो कि आर्यसमाजी के नाम से उन दिनों नवीन प्रकट हुए थे और उन साधु के समीप भी भेजा । साधु ने भी उसके अनन्तर भ्रमोच्छेदन नामक एक ग्रन्थ बना कर मुद्रित कराया और लेखद्वारा शपथ-पूर्बक यह प्रतिज्ञा की कि अब से काशी के बिद्वानों के साथ मैं कदापि बिचार (शास्त्रार्थ) नहीं करूंगा, क्योंकि जहां के अशास्त्रज्ञ राजा शिवप्रसाद आदि भी इतनी बिचारशक्ति रखते हैं वहां के पण्डितों के साथ बिचार करने की शक्ति साधु ने अपने में नहीं समझा । जो कुछ हो इससे मुझे

भवतु किमप्येतत् प्रतारयत्वेष पाञ्चनदाननभिज्ञान् यवनविद्यामात्राभ्यासिनः काय-स्थानपरान्वा तथाविधान्, परमस्य वेदप्रतारणं खेदयत्यस्मदीयं चेत इत्येतस्य कतिपयप्रधानविडम्बनानिराकरणायायमुद्यमोऽस्मदीयो माभून्नाम गर्हणाविषयः, यदहं काशीनिवास्यपि क्षुद्रे वादिनि सन्दधानोऽपि लोकानां महामोहनिराकरणायैव प्रवृत्तो नतु वादिनि तुच्छे महिमानं तदीयप्रतारणासु वा गरिमाणमालक्ष्य, नहि पञ्चास्यो मशके महिषे शशकेऽवगत्यबलतारतम्यम्प्रवर्त्तते परन्तु तस्य सा निजा वृत्तिर्यदसावनवगतविपक्षबलतारतम्यएव न संसहते विपक्षमात्रम्, धर्मलोपभीरूणां सतां चैष सहजोनिसर्गो यदिमेऽनभिलषितवादिगरिमाणोऽपि लोके कुपथमनुसरति सहसा तन्निवृत्तिमुशन्तीति, स्फुटमिह निदर्शनं काशीस्थविदुषां विधवोद्वाहशङ्कासमाधिः, यदि नामैकमात्रं दुराचारं प्रवर्त्तयितुमिच्छन्न क्षन्तव्योऽभून्मुम्बापत्तनस्थो विष्णुशास्त्री, तदाऽऽन्हिकमारभ्य ज्ञानतत्साधनोपायपर्यन्तं दूषयन्कथमुपेक्षणीयः स्यादित्यस्थाने वादानर्हेऽतएव विदुषामुपेक्षार्हेऽप्यपेक्षाबुद्धिमान् क्षन्तव्या गाः स्यामित्यभ्यर्थये काशीस्थमेक्षावतो भगवन्तश्चाज्ञानां बुद्धिशोधनद्वाराऽमुष्य व्यापारस्य साफल्यविधाविति कश्चित् ॥

संवत् १९४० आषाढकृष्ण गुरौ

वेदान्ताचार्यः श्रीमोहनलाल नामा ।

अथ महामोहविद्रावणे—

प्रथमः प्रबोधः ।

* ऋग्वेदादिप्रतारणभूमिकायाः ८० पृष्ठे ।

अथ कोऽयं वेदो नाम ? मन्त्रभाग (१) संहितेत्याह । किंच (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेय) मिति कात्यायनोक्ते ब्राह्मणभागस्यापि वेदसञ्ज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति । मैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा भवितुमर्हति । कुतः । पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वात् १ वेदव्याख्यानात् २ ऋषिभिरुक्तत्वात् ३ अनीश्वरोक्तत्वात् ४ कात्यायनभिन्नै ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञा-

॥ भाषा ॥

क्या प्रयोजन है ? और इससे भी मुझको कुछ शोक नहीं है कि जो यवनभाषा के अभ्यासी पञ्जाबी और कायस्थ तथा अन्य पुरुष कुछ २ इस साधु की वञ्चना में फंस जाते हैं, खेद तो मेरे चित्त में यही है कि जो यह साधु, वेद को भी अपनी प्रतारणा में फंसाया चाहता है इस लिये मैं इस 'महामोहविद्रावण' नामक ग्रन्थ को बनाता हूं ।

वेदान्ताचार्य पं० मोहनलाल ।

अब प्रथम प्रबोध के तात्पर्य का अनुवाद किया जाता है । पूर्वोक्त ऋग्वेदादिभूमिका के ८० पृष्ठ में उक्त साधु ने ब्राह्मणभाग की वेदसंज्ञा न होने में इन ६ हेतुओं की गणना की है कि-

१ ब्राह्मणभाग की पुराण और इतिहास संज्ञा है ।
२ इस में वेदार्थ का व्याख्यान है ।
३ यह ऋषियों का रचित है ।
४ यह ईश्वर से अन्य का रचित है ।

---

* इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यतीति प्राचामभिधानान्मानसकुभावन नाम्नर्ग्वेदभाष्यभूमिकामारचयन् प्रतारणामिव करोतीति ऋग्वेदादिप्रतारणभूमिकामभिदध्महे ।

यामस्वीकृतत्वात् ५ मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्च ६ इति कश्चित् कपटभिक्षुः स्वीयगर्वेदादिप्रलापे प्रललाप,

तदत्यन्तं स्थवीयः ।

ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञकत्वाभावे हेतुत्वेनोपन्यस्तस्य पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वस्य ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञकत्वाभावेऽहेतुत्वात्। नह्येकस्य वस्तुनो नानानामधेयकत्वमदृष्टचरम्। एकैव हि कम्बुग्रीवादिमती व्यक्तिर्घटः कलशो द्रव्यमित्येवं व्यवह्रियते इत्यस्ति प्रामाणिकानामनुभव इतीतिहासादिसञ्ज्ञकत्वेन बेदसञ्ज्ञकत्वाभावसाधनमाशामोदकायितम्। यदि च पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वस्य बेदसञ्ज्ञकत्वस्य च पारस्परिकविरोधमुत्प्रेक्ष्य ब्राह्मणानां बेदसञ्ज्ञकत्वाभावे पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वं हेतूकरोति, तदा व्याचष्टां कानयोः सञ्ज्ञयोर्विरोधो निरीक्षितो भवता ? यदि चेतिहाससञ्ज्ञकेषु भारतादिषु पुराणसञ्ज्ञकेषु पाद्मादिषु च बेदव्यवहारविरहात् पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वं भवति बेदसञ्ज्ञकत्वविरोधीति ब्रूषे, तर्हि पाद्मभारतादीनाम्पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वममन्वानो भवान् कथमिदमुद्भावयितुं पारयेत् । अथाचक्षीत० पुराणेतिहाससञ्ज्ञकानामैतरेयादिब्राह्मणानां न बेदसञ्ज्ञकत्वमिति तत्रैवोपलब्धो विरोध इति। तदप्यपेशलम्। ब्राह्मणानां बेदसञ्ज्ञकत्वाभावं सिषाधयिषुर्भवान् कथमिव तेषामसिद्धं पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्येत् । यदि च पुरातनार्थप्रतिपादकत्वादैतिहासिकार्थप्रतिपादकत्वाच्च सिद्धमेव ब्राह्मणानां पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वमित्येवं ब्रूयात् तदा एतादृशपुराणे-

॥ भाषा ॥

५ कात्यायन से अन्य ऋषियों ने इसकी बेदसंज्ञा नहीं मानी है ।

६ इस की रचना मनुष्यबुद्धि के अनुसार है ।

खं०—प्रथम हेतु का, (१) इन में प्रथम हेतु ठीक नहीं है क्योंकि एक ही व्यक्ति की घट कलश आदि अनेक संज्ञाओं के व्यवहार से यह निश्चित होता है कि एक व्यक्ति की अनेक संज्ञा हो सकती है ऐसे ही ब्राह्मणभाग की पुराण और इतिहास संज्ञा स्वीकार करने पर भी बेदसंज्ञा होने में कोई बिरोध नहीं है । इस रीति से यह हेतु अकिंचित्कर है ।

समा०—भारत आदि इतिहासों में और पाद्म आदि पुराणों में 'बेद' शब्द के व्यवहार न होने से इतिहास और पुराण संज्ञा के साथ बेदसंज्ञा का बिरोध स्पष्ट ही है तो जब ब्राह्मणभाग की इतिहास आदि संज्ञा है तब बेदसंज्ञा उसकी नहीं हो सकती ।

खं०—जब वे यह कहते हैं कि इतिहाससंज्ञा भारत आदि की नहीं है और पुराणसंज्ञा भी पाद्म आदि की नहीं है तब वे भारत आदि में बेदसंज्ञा का बिरोध नहीं दिखला सकते ।

समा०—प्रतिवादी तो भारत आदि में इतिहास आदि संज्ञाओं को स्वीकार करने पर भी उन में बेदसंज्ञा को स्वीकार नहीं करता इस कारण उस के साथ वाद में उक्त बिरोध का दिखलाना अनुचित नहीं है क्योंकि उसके मतानुसार यह बिरोध ठीक ही है ।

खं०—वादकथा की यह रीति है कि उसमें हेतु वही दिया जा सकता है कि जो वादी और प्रतिवादी (दोनों) को स्वीकृत हो और यदि ऐसा न हो तो उस हेतु को असिद्ध अर्थात् दुष्ट कहते हैं और प्रकृत में ब्राह्मणभाग के बिषय में सनातनधर्मी लोग पुराण और इतिहास

(१) एषा पदाशुद्धिः कपूयचरणस्य ।

तिहाससञ्ज्ञकत्वं न बेदसञ्ज्ञकत्वासमानाधिकरणमिति नैतस्य ब्राह्मणानां बेदसञ्ज्ञाविरहसाधकत्वमभवः, तत्र तस्यौदासीन्यात्, न हि पुरातनार्थप्रतिपादकत्वमात्रं बेदसञ्ज्ञामपाकर्तुं मर्हति, बेदानां त्रैकालिकार्थप्रतिपादकत्वस्य (१) सर्वास्तिकतन्त्रसिद्धत्वात् । किंच त्रैकालिकमर्थमभिदधतो बेदाः पुरातनार्थमपि प्रतिपादयन्तीति तेषु निरुक्तयौगिकपुराणेतिहासत्वसत्वेन निरुक्तोऽयं हेतुर्बेदानामपि अबेदत्वं साधयेत्, तस्मादयं पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वादितिहेत्वाभासः । किंच ब्राह्मणव्यतिरिक्तपुराणेतिहासग्रन्थसद्भावं बात्स्यायनो महर्षि गौतमीयेषु सूत्रेषु भाष्यमाभाषमाणोऽभ्युपागमत् । तथाहि ।

४ अध्याये १ आह्निके ।

६२ 'समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः' इति सूत्रे—

भाष्ये ।

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्बबेदसं हुत्वाऽऽत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रब्रजेदिति श्रूयते । तेन बिजानीमः प्रजाबित्तलोकैषणायाश्च ब्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीति, एषणाभ्यश्च ब्युत्थितस्य पात्रचयान्तानि कर्माणि नोपपद्यन्ते इति नाबिशेषेणकर्त्तुः प्रयोजकत्वं भवतीति, चातुराश्रम्यबिधानाच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेष्वैकाश्रम्यानुपपत्तिः । तदप्रमाणमिति चेन्न प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्यप्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते 'ते बा खल्वेते अथर्बाङ्गिरसएतादितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन् इतिहासपुराणं पञ्चमं बेदानां

॥ भाषा ॥

संज्ञा को नहीं स्वीकार करते इस रीति से जब पुराण और इतिहास संज्ञारूपी हेतु ही असिद्ध है तब बेदसंज्ञा के साथ उस के बिरोध का दिखलाना ब्यर्थ ही है ।

समा०—प्राचीनअर्थ को और ऐतिहासिकअर्थ को ब्राह्मणभाग प्रतिपादन करता है यह दोनों वादिओं को स्वीकृत है और इसी से उस की पुराणसंज्ञा और इतिहाससंज्ञा है इस रीति से उक्त हेतु निर्दोष ही है ।

खं०—यह सब आस्तिकदर्शनों का सिद्धान्त है कि बेद, सब काल के अर्थ का प्रतिपादन करता है तो ऐसी दशा में बेद भी प्राचीन और ऐतिहासिक अर्थ का प्रतिपादक है तथा पुराण और इतिहास संज्ञा भी बेद की हो सकती है और उक्त संज्ञाओं से बेदसंज्ञा का बिरोध भी अब नहीं हुआ और यदि बेदसंज्ञा से पुराणादि संज्ञाओं का बिरोध माना जाय तो "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" इत्यादि संहितामन्त्र भी बेद न कहलावैंगे क्योंकि ये भी प्राचीन अर्थ के प्रतिपादक होने से पुराणसंज्ञक हो जायंगे । तो ऐसी दशा में ब्राह्मणभागों की पुराणादिसंज्ञा होने से बेदसंज्ञा का अभाव कदापि नहीं सिद्ध हो सकता है ।

खं० (२)—यह बात कि "ब्राह्मणभाग से अन्य कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं है कि पुराण वा इतिहास संज्ञा उस की हो" महर्षिसिद्धान्तों से बिरुद्ध है क्योंकि न्यायदर्शन, अ० ४ आह्नि० १ "समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः" ६२ । सूत्र के भाष्य में बात्स्यायनमहर्षि ने यह स्पष्ट ही कहा है कि "ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के बिषय में इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र प्रमाण हैं । यह कोई नहीं कह सकता कि ये प्रमाण नहीं हैं क्योंकि "ते बा खल्वेते अथर्बाङ्गिरसएतदितिहासपुराणस्य

(१) हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा बिधेम ॥१ ऋ० अ० ८ अ० ७ व० ३ मं० १ इत्यादि संहितामन्त्रेषु पुरातनार्थप्रतिपत्तिः स्फुटमेव भवति ॥१॥

बेद इति' तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति, अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहार-लोपाल्लोकोच्छेदप्रसङ्गः द्रष्टप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः, यएव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति विषयव्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम् । अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य बिषयोऽन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः । तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवदिति इत्यभिदधे वात्स्यायनः । स्पष्टमिदमेतेन यद् ब्राह्मणभागव्यतिरिक्तः कश्चित् पुराणेतिहाससञ्ज्ञको लोकवृत्तरूपासाधारणविषयप्रतिपादको वाक्यकलापो यज्ञरूपप्रतिनियतासाधारणविषयप्रतिपादकान्मन्त्रब्राह्मणभागात्पृथगवस्थितो यस्य प्रामाण्यबीजं मन्त्रब्राह्मणद्रष्टृप्रवक्तृद्रष्टृप्रवक्तृकत्व (१) रूपं साधारणमिति । यदि ब्राह्मणानामितिहासपुराणपदार्थतां ऋषिरन्वमंस्यत तदा कथमिव पुराणानां प्रामाण्यं व्यवतिष्ठापयिषुर्महर्षिस्तदप्रमाणमित्याशङ्कमानः "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इति पूर्वोक्तं विपुलं व्यधास्यत् प्रायसिष्यच्च । ब्राह्मणानां पुराणपदार्थत्वे तथाभिधानमसङ्गतं स्यात् । नहि स्वमेव स्वप्रामाण्यसाधकमिति कश्चिदप्यनुन्मत्तउत्प्रेक्षेतापि । तस्माद् "ब्राह्मणानि न बेदाः पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वात्" इत्यनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकस्य प्रतारकस्याभिधानं पूतिकूष्माण्डायितम् ।

॥ भाषा ॥

प्रामाण्यमभ्यवदन् इतिहासपुराणं पञ्चमं बेदानां बेद इति" (वे ये अथर्वाङ्गिरस लोग इतिहास और पुराण का प्रामाण्य यों कहते हैं कि इतिहास और पुराण, चार बेदों का पांचवां बेद है) इस ब्राह्मण-रूपी प्रमाण से इतिहास और पुराण का प्रामाण्य सिद्ध होता है मन्त्र और ब्राह्मण का बिषय अन्य है और इतिहास पुराण, धर्मशास्त्र का विषय अन्य है । अर्थात् यज्ञ, मन्त्र और ब्राह्मण का और प्राचीनबृत्तान्त, इतिहास और पुराण का, तथा लोकव्यवहार का व्यवस्था, धर्मशास्त्र का, बिषय है । और अपने २ बिषय में ये सब पृथक् २ स्वतन्त्र प्रमाण हैं एक से दूसरे के बिषय का काम नहीं चल सकता जैसे नेत्र आदि से शब्द आदि का ग्रहण नहीं हो सकता तथा जो ऋषिलोग मन्त्र और ब्राह्मण के देखने, पढ़ने, पढ़ाने वाले हैं वे ही इतिहास और पुराण के भी । इस से भी इतिहास और पुराण का प्रामाण्य दृढ है" । यदि ब्राह्मणभाग की इतिहास और पुराण संज्ञा होती तो भाष्य-कार यह कदापि न कहते कि "इतिहास, पुराण, का प्रामाण्य, ब्राह्मणरूपी प्रमाण से सिद्ध है" और यह भी नहीं कहते कि "यज्ञ, मन्त्र और ब्राह्मण का तथा प्राचीनसमाचार, इतिहास और पुराण का विषय है" तथा यह भी न कहते कि 'मन्त्र ब्राह्मण का बिषय अन्य और इतिहास पुराण का बिषय अन्य है' और यह भी कैसे कहते ? कि "मन्त्र, ब्राह्मण, अपने बिषय में पृथक् प्रमाण हैं और इतिहास, पुराण अपने बिषय में पृथक् प्रमाण हैं" तथा यह भी कैसे कहते ? कि "इतिहास पुराण इस से प्रमाण हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण के देखने पढ़ने और पढ़ाने वाले जो ऋषि हैं वे ही इतिहास और पुराण के भी हैं" । इसमें उक्त साधु को कुछ कहने का भी अवसर नहीं है क्योंकि उन्हों ने अपने इसी ग्रन्थभाग में (जिसका कि अभी उपन्यास हो चुका है) इसी न्यायदर्शनभाष्य के अनेक वाक्यों का प्रमाण दिया है । निदान-उक्त रीति से प्रथमहेतु निर्मूल और महर्षिसिद्धान्त

(१) मन्त्रब्राह्मणानां द्रष्टृप्रवक्तारो द्रष्टृप्रवक्तारो यस्येति बहुब्रीहिः ।

"वेदव्याख्यानादि" त्यपरो महाप्रलापो भिक्षोः ।

अत्र, ब्राह्मणानि न वेदाः, वेदव्याख्यानरूपत्वादिति न्यायाकारः । अयं च हेतुरनैकान्तिकः । वेदव्याख्यानं नाम वेदपदव्यपदेश्यवाक्यकलापस्य पदान्तरेणार्थकथनम् । तच्चेदं "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुम स्तन्नो अस्तु व्वय ७ स्याम पतयो रयीणा" मिति याजुषो मन्त्रः अ० २३ मं० ६५ ॥

"प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु व्वय ७ स्याम पतयो रयीणा" मित्यृचः ।

"नवो नवो भवसि जायमानो ह्नांकेतुरुषसा मेष्यग्रम् । भागन्देवेभ्यो विदधास्यायम्प्रचन्द्रस्तिरते दीर्घमायु" रित्याथर्वणः ।

"भवो नवो भवति जायमानो ह्नाकेतुरुषसामेत्यग्रम् । भागन्देवेभ्यो विदधात्यायान्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायु" रित्यृचः ।

एष्वाद्ययोर्मन्त्रयोर्विश्वारूपाणीतिपदघटितादाद्यमन्त्राद्विश्वाजातानीतिपदघटितस्य द्वितीयमन्त्रस्य, चरमयोश्च भवति जायमान इति उषसामेत्यग्रमिति विदधात्यायन्निति च विलक्षणपदघटितादाद्यमन्त्राच्चतुर्थस्य मन्त्रस्य, भवासि जायमान इति उषसामेष्यग्रमिति विदधास्यायमिति च विलक्षणपदघटितत्वेन भिन्नतया वेदपदानाम्पदान्तरेणार्थकथनरूपस्य वेदव्याख्यानत्वस्य दुरपह्नवतया तदन्तर्भावेणैवानैकान्तिकम् । अत्र च । "वेदव्याख्यान-

॥ भाषा ॥

से विरुद्ध है ।

खं० द्वितीयहेतु का—(१) ऐसे ही द्वितीयहेतु भी दुष्ट ही है क्योंकि उस हेतु के अनुमानप्रयोग का यह आकार है कि ब्राह्मणभाग, वेद नहीं है क्योंकि यह वेदार्थ का व्याख्यान करता है । और जब मन्त्र भी अन्य मन्त्र के अर्थ का व्याख्यान करता है और मन्त्र को उक्त साधु वेद मानते हैं तो ब्राह्मणभाग ने क्या अपराध किया जिस के कारण वह वेद नहीं है । प्रसिद्ध है कि एकपद के अर्थ का अन्यपद से कथन ही को व्याख्यान कहते हैं ऐसा व्याख्यान मन्त्रों में भी है जैसे "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि परिता बभूव । यत्कामास्तेजुहुमस्तन्नो अस्तु व्वय ७ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६५ ॥ अ० २३ ॥" "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि परिता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु व्वय७ स्याम पतयो रयीणाम्" ऋक् अष्ट० ८ अ० ७ व० ५ । ये दोनों मन्त्र यद्यपि परस्पर में भिन्न हैं क्योंकि प्रथम मन्त्र में 'विश्वारूपाणि' और द्वितीय में "विश्वाजातानि" यह शब्दभेद है तथापि इतने मात्र भेद होने से अर्थ का भेद नहीं हो सकता इस से इनका अर्थ एक ही है और इन में से एक मन्त्र दूसरे मन्त्र के अर्थ को प्रतिपादन करता है इस रीति से मन्त्र भी मन्त्र का व्याख्यानरूपी होता है । और "नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् । भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः" ॥ १९ ॥ ऋक् अष्ट० ८ अ० ३ व० २३ ॥ "नवो नवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् । भागं देवेभ्यो विदधास्यायम्प्रचन्द्रस्तिरते दीर्घमायु" रिति । अथर्व० । ये दोनों मन्त्र भी यद्यपि भिन्न हैं क्योंकि प्रथममन्त्र में "भवति जायमानः, उषसामेत्यग्रम्, विदधात्यायन्, चन्द्रमास्तिरते, और द्वितीयमन्त्र में "भवसि जायमानः, उषसामेष्यग्रम् विदधास्यायम्, चन्द्रस्तिरते" यह शब्दभेद है तथापि तोनइ

रूपत्वात्" इति हेतुस्सो (१) पाधिकोऽपि । तथाहि । यत्र यत्र वेदत्वाभावो महाभारतादौ तत्र तत्र स्मर्यमाणकर्तृकत्वमिति साध्यव्यापकत्वम् । वेदव्याख्यानरूपत्वन्तु पूर्वोक्तेष्वमीषु मन्त्रेष्वपि तत्र च न स्मर्यमाणकर्तृकत्वमिति साधनाव्यापकत्वम् । तस्मात्स्मर्यमाणकर्तृकत्वं भवत्युपाधिः । नचास्तूपाधिरिति शङ्क्यम् । स्मर्यमाणकर्तृकत्वरूपोपाध्यभावेन पक्षत्वेनाभिमतेषु ब्राह्मणेषु वेदत्वरूपस्य साध्याभावस्यानुमानेन "ब्राह्मणानि न वेदा" इत्यनुमितेः प्रतिरोधात् । इत्युपरम्यते न्यायप्रयोगानभिज्ञस्य पदवाक्यपरिपाट्यनभिज्ञस्याभिक्षखण्डनात् ।

"ऋषिभिरुक्तत्वादि" ति कपटभिक्षोस्तृतीयो महामोहः ।

अत्र ब्राह्मणानि न वेदा ऋषिभिरुक्तत्वादिति न्यायाकारः । अन्नायमसाधको हेतुः ऋष्युक्तत्वस्य ऋगादिसाधारणत्वात् । ऋचोऽप्यपाठिषुरेवर्षयः न तावता तेषां वेदत्वव्याहतिः । यदि ऋष्युक्तत्वपदेन ऋषिप्रणीतत्वमभिप्रैषि तदा ब्राह्मणान्यपि न ऋषिप्रणीतानीति 'ऋषिप्रणीतत्वात् इतिस्वरूपासिद्धो हेतुः । यदि च भारद्वाजाङ्गिरोबशिष्ठपुलहयाज्ञवल्क्यजनकादिसंवाददर्शनादृषिप्रणीतत्वभ्रान्तिस्ते ब्राह्मणग्रन्थेषु, तदाऽनवगतवेदवर्त्मा-

॥ भाषा ॥

मात्र से अर्थभेद नहीं हो सकता क्योंकि दोनों का एक ही अर्थ है और एक मन्त्र दूसरे मन्त्र का व्याख्यानरूपी है । तो यदि बेद का व्याख्यानरूपी होने से ब्राह्मणभाग बेद नहीं है तो ये मन्त्र भी बेद न कहलावैंगे क्योंकि ये भी बेद के व्याख्यानरूपी ही हैं ।

खं०--(२) बेदसंज्ञा का वास्तविककारण, वाक्य का अपौरुषेय होना ही है अर्थात् अपौरुषेय ही वाक्य बेद कहलाता है । निदान-जिस ग्रन्थ का कोई कर्ता नहीं होता वही बेद है । और कर्ता का होना ही उसके वाक्य के बेद न होने का कारण है इसी से ऋग्वेदादि, बेद कहलाते हैं और भारत आदि बेद नहीं कहलाते, यही पूर्वमीमांसादर्शन का अटलसिद्धान्त है । तो ऐसी दशा में जब मन्त्रभाग के नाईं ब्राह्मणभाग भी अपौरुषेय है तब वह अवश्य बेद है और व्याख्यानरूप न होना जब बेद होने में कारण नहीं है क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो दर्शनसूत्र आदि सबी मूलग्रन्थ बेद हो जायंगे तब ऐसी दशा में व्याख्यानरूपी होना बेद होने का बाधक कदापि नहीं हो सकता और ऐसी दशा में व्याख्यानरूपी होने मात्र से ब्राह्मणभाग के बेद होने का बृहस्पति भी बारण नहीं कर सकते और उक्त साधु की तो चर्चा ही क्या है ।

खं० तृतीय हेतु का--(१) तृतीय हेतु भी कदलीस्तम्भ के ऐसा निःसार ही है क्योंकि उसके न्यायवाक्य का यह आकार है कि "ब्राह्मणभाग, बेद नहीं है क्योंकि वह ऋषियों का उक्त है" इस हेतु में 'उक्त' शब्द का यदि उच्चारित अर्थ है तो मन्त्र भी बेद न कहलावैंगे क्योंकि वे भी ऋषियों के उच्चारित हैं और यदि उक्त शब्द का रचित अर्थ है तब तो यह हेतु हो ही नहीं सकता क्योंकि हेतु वही होता है जो वादी और प्रतिवादी को स्वीकृत हो और ब्राह्मणभाग का ऋषियों से रचित होना सनातनधर्मी को स्वीकृत नहीं है क्योंकि सनातनधर्मी ब्राह्मणभाग को भी मन्त्रभाग के नाईं अनादि ही मानते हैं ।

प्रश्न--जब कि ब्राह्मणभाग में भारद्वाज, अंगिरा, बशिष्ठ, पुलह, याज्ञवल्क्य, जनक आदि का संवाद कहा हुआ है तब वह कैसे नहीं ऋषियों का रचित है ?

(१) प्रकारान्तरेण व्यभिचारित्वप्रदर्शनम् ।

ऽनाभिलक्षितबेदसम्प्रदायोऽकृतगुरुकुलवासोऽनासादितब्रह्मसम्पत्तिर्भवानित्येवास्माकं निश्चयः,यतो बेदानामिदमेव बेदत्वं यद् इमेऽतीतानागतबर्तमानसन्निकृष्टबिप्रकृष्टसर्बवस्तुसाधारण्येन सर्बं बिदन्ति बेदयन्ति च सर्बपुरुषान्। अतएव "लौकिकानामर्थपूर्बकत्वा"दित्याह स्म कात्यायनः प्रातिशाख्ये, लौकिकानां "गामभ्याजशुक्लां दण्डेने" त्यादिवाक्यानां प्रयोगोऽर्थपूर्बकः, प्रयोक्तारो हि तंतम्प्रतिपिपादयिषितमर्थमुपलभमाना अनुसन्दधतो बा प्रयुञ्जते लौकिकानि वाक्यानि, बैदिकानां नित्यानां वाक्यानां नार्थपूर्बकः प्रयोगो घटते, बैदिकवाक्यार्थानां सृष्टिप्रलयादीनामनित्यत्वात्। ततश्च वस्तुसद्भावनैरपेक्ष्येण लोकबृत्तमवगमयन्तो बेदा यदि याज्ञबल्क्यजनकादिसंवादमभिदध्युस्ततस्ते का क्षतिः, इतरथा तु "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्बमकल्पयत्" इत्यादिसंहिताभागस्याप्यबेदत्वापत्तिः। यथा हि जनकादिसंवादस्य ब्राह्मणेषु दर्शनाज्जनकादिकालानन्तरकालबृत्युत्पत्तिकत्वं ब्राह्मणेषूत्प्रेक्षसे तथा सूर्याचन्द्रमसाविति श्रुतेरपि सूर्याचन्द्रमसोः सृष्ट्यभिधायकत्वेन तदुत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वेनानित्यत्वं स्यादिति बृद्धिमिच्छतस्ते मूलहानिरिति महदनिष्टमेतत्प्रसज्येत। तस्मात्सूर्याचन्द्रमसोः सृष्ट्यभिधायकोऽपि बेदो न तदुत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिको बेदवाक्यानामर्थपूर्बकत्वबिरहादित्यनायत्याऽभिदधानो भवान्कस्मादकस्मादेव ब्राह्मणेषु सन्नह्यति ततश्च भारद्वाजाङ्गिरोनामदर्शनमात्रं नाबेदत्वसाधकमिति शम्।

॥ भाषा ॥

उ०—इस प्रश्न ही से ज्ञात होता है कि प्रश्नकर्ता को बेद की प्रणाली का ज्ञान ही नहीं है और न बेदसम्प्रदाय से कोई संबन्ध है, क्योंकि बेदों का बेदपना यही है कि वे तीनों काल के सब वस्तुओं का बेदन (ज्ञान) कराते हैं इसी से प्रातिशाख्य में कात्यायनमहर्षि ने कहा है कि "लौकिकानामर्थपूर्बकत्वात्" (लौकिक वाक्यों का उच्चारण अर्थपूर्बक होता है अर्थात् वाक्य के प्रयोग करने वाले पुरुष, उस वाक्य से जिसका बोध कराना चाहते हैं उस अर्थ को समझ कर उसके अनुसन्धान से वाक्य की रचना करते हैं और बैदिक वाक्यों का प्रयोग तो अर्थपूर्बक नहीं हो सकता क्योंकि बेद नित्य है और उसके अर्थ, सृष्टि प्रलय आदि अनित्य हैं) इस से यही सिद्धान्त है कि किसी वस्तु के रहने की अपेक्षा न कर केवल आख्यायिका की रीति से सब समाचारों को बेद ज्ञापन करता है ऐसी दशा में यदि उक्त संवाद भी बेद में कहे हुए हैं तो इस से बेद की अनादिता में कुछ भी हानि नहीं हो सकती। और यदि उक्त सिद्धान्त का स्वीकार न किया जाय तो मन्त्रभाग भी कदापि बेद नहीं हो सकता क्योंकि जैसे जनकादि के संवाद से यह कल्पना उक्त साधु की है कि जनकादिकाल के अनन्तर ब्राह्मणभाग रचित हुआ इस से ब्राह्मणभाग बेद नहीं है, वैसे ही यह कल्पना भी हो सकती है कि जब "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्बमकल्पयत्" (जैसे परमेश्वर ने प्रलयकाल से पूर्व में सूर्यचन्द्रमा को बनाया था वैसे ही प्रलय से उत्तरकाल में भी बनाया) इस मन्त्र से यह कल्पना हो सकती है कि सूर्यचन्द्रमा की सृष्टि के उत्तरकाल में मन्त्रभाग बना इसी से मन्त्रभाग अनित्य और पौरुषेय है बेद नहीं है। और यदि मेरे कहे बैदिकसिद्धान्त के अनुसार उक्त कल्पना का खण्डन कर मन्त्रभाग का बेदत्व सिद्ध किया जाय तो उसी के अनुसार ब्राह्मणभाग की बेदता भी निर्बिघ्न सिद्ध होती है इस से यह तृतीयहेतु उन्मत्तप्रलाप ही है।

"अनीश्वरोक्तत्वादि" ति चतुर्थी महामूर्छा ।

अत्रानीश्वरोक्तत्वमीश्वरभिन्नोक्तत्वम् तच्च ऋष्युक्तत्वसाधारणमिति पूर्वोक्तहेतोरनतिशयात्पुनरुक्तत्वरूपनिग्रहस्थानापन्नो भवान् इत्युपरम्यतेऽस्माभिः शम् ।

"कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञायामस्वीकृतत्वात्" ।

इति तु देवानांप्रियस्य साहसोक्तिः । "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेय" मित्यापस्तम्बेन यज्ञपरिभाषासूत्रेषु ब्राह्मणानां वेदत्वस्य सुस्पष्टमुक्तत्वात् । किंच सर्ववैदिकशिरोधार्य्ये पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयेऽध्याये प्रथमपादे द्वात्रिंशतमे सूत्रे मन्त्रं लिलक्षयिषुराचार्यः प्राह स्म "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" 'शेषे ब्राह्मणशब्द' इति च । अत्र हि 'शेषे ब्राह्मणशब्द' इति द्वितीयसूत्रोक्त्या शेषे मन्त्रभागादवशिष्टे वेदैकदेशे ब्राह्मणशब्दइत्यर्थाद्वेदस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकप्रभेदद्वयवत्वसिद्धिः । यद्याचार्यो वेदैकभागत्वन्नावागमिष्यत्कथमसौ व्यधास्यत 'शेषे ब्राह्मणशब्द' इति, नहि महाभारतस्य रामायणं शेष इत्यनुन्मत्त आचक्षीत तदवश्यं शेषशब्दमहिम्नाऽऽचार्यस्य ब्राह्मणे वेदभागत्वमभिमतमित्यवगम्यते । अतएव ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणे, "अथ किं लक्षणं ब्राह्मणम् मन्त्राश्च ब्राह्मणश्च वेदः तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद्ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम् । मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धं यस्यैतल्लक्षणं न संभवति तद्ब्राह्मणम् इति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम्," इति व्याचख्युराचार्याः शबरस्वामिनः । अतएव भगवान् जैमिनिर्निरुक्तसूत्रद्वयेन मन्त्रब्राह्मणात्मकं कृत्स्नं वेदं लक्षयित्वा तदेकदेशभूता

॥ भाषा ॥

खं० चतुर्थ हेतु का--(१) चतुर्थ हेतु में तो पुनरुक्तिदोष स्पष्ट ही है क्योंकि यह, तृतीय ही हेतु से गतार्थ है और उसका खण्डन ही इसका खण्डन है ।

समा०--चतुर्थ हेतु का यदि यह तात्पर्य है कि "ब्राह्मणभाग ईश्वर का रचित नहीं है इसी से बेद नहीं कहला सकता" तब तो यह हेतु तृतीय हेतु से गतार्थ नहीं हुआ और ऐसी दशा में इस में पुनरुक्तिदोष कैसे पड़ सकता है ।

खं०—उक्त रीति से यद्यपि पुनरुक्तिदोष नहीं है तथापि यह हेतु सनातनधर्मियों को स्वीकृत नहीं है क्योंकि वे किसी बेदभाग को ईश्वररचित नहीं मानते और नैयायिक आदि यद्यपि बेद को ईश्वररचित मानते हैं तथापि वे मन्त्रों के नाई ब्राह्मणभाग को भी ईश्वररचित ही मानते हैं इस कारण ब्राह्मणभाग का ईश्वररचित न होना उनको भी स्वीकृत नहीं है इस रीति से यह हेतु जब वादी और प्रतिवादी को स्वीकृत नहीं है तब दुष्ट अर्थात् असिद्ध है ।

खं० पांचवें हेतु का--(१) पांचवां हेतु भी अज्ञता का परिणाम ही है क्योंकि यज्ञ के परिभाषाप्रकरण में आपस्तम्बमहर्षि का भी यही सूत्र है "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (मन्त्र और ब्राह्मण की बेद संज्ञा है) ।

खं०--(२) सब बैदिकों के शिरोधार्य पूर्वमीमांसादर्शन अध्या० २ पा० १ में जैमिनिमहर्षि के ये दो सूत्र हैं, "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" ॥ ३२ ॥ "शेषे ब्राह्मणशब्दः" ॥ ३३ ॥ इन का यह अर्थ है कि 'यज्ञक्रिया के स्मरण करानेवाले बेदभाग को मन्त्र' और उससे अवशिष्ट बेदभाग को ब्राह्मण कहते हैं । यदि ब्राह्मणभाग, बेद का भाग न होता तो जैमिनिमहर्षि उसको मन्त्रभाग की अपेक्षा शेष (अवशिष्ट) न कहते क्योंकि रामायण को कोई महाभारत की अपेक्षा शेष नहीं कहता इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण का बेदभाग होना जैमिनिमहर्षि के संमत है ।

ऋचः "तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" इति सूत्रेण पञ्चत्रिंशत्तमेन ऋचः "गीतिषु सामाख्या" इति षट्त्रिंशत्तमेन सामानि 'शेषे यजुःशब्द' इति सप्तत्रिंशत्तमेन यजूंषि लक्षयामास, ततश्च यजुषोऽप्येकदेशं "निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्" इत्यष्टात्रिंशत्तमेन यजुर्विशेषं निगदमलक्षयत्, यद्ययमाचार्यो ब्राह्मणानां वेदपदार्थतां नाभिमन्येत ततः "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" इत्येतन्मन्त्रलक्षणानन्तरमेव ऋगादींल्लक्षयेत्। लक्षयति चायम्मन्त्रानन्तरं "शेषे ब्राह्मणशब्द" इति ब्राह्मणमेव, ततोऽस्यावश्यमेव ब्राह्मणानां वेदपदार्थत्वमभिमतमिति प्रेक्षावता जैमिनेरभिप्रायो वक्तव्यः। न केवलम्महर्षिणा जैमिनिनैव ब्राह्मणानां वेदत्वमुच्यते। परन्तु धर्माधर्मयोः "स्वर्गकामो यजेत" "न कलञ्जं भक्षये" दित्यादिविधिनिषेधबलकल्पनीयतया आवश्यकं तत्र विधिनिषेधवाक्ययोः प्रामाण्यम्, तत्प्रामाण्यं च वक्तुर्यथार्थवाक्यार्थज्ञानलक्षणगुणपूर्वकमेव वक्तव्यम्। तार्किकैः स्वतःप्रामाण्यस्यानङ्गीकारात्।

अतः प्रथमं प्रामाण्यप्रयोजकगुणसाधनमुपक्रममाणः कणादाचार्य्यः प्राह स्म षष्ठाध्यायादावेव "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे*" इति, अस्यायमर्थः। वाक्यकृतिर्वाक्यरचना बुद्धिपूर्वा नाम वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा, वाक्यरचनात्वात् काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिरित्यस्मदीयवाक्यरचनावत्। ततश्चेह वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वरूपसाध्यासिद्धिः स्वान्यथानुपपत्त्या वक्तुर्यथार्थज्ञानमनुमापयति। नचास्मदादिज्ञानपूर्वकत्वेनान्यथासिद्धिः शङ्क्या, "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादाविष्टसाधनतायाः कार्यतायाश्चास्मदादिबुद्ध्यगोचरत्वेन स्वतन्त्रपुरुषप्रवर्तकत्वस्य सिद्धेः। स चायं स्वतन्त्रो वेदपुरुष इति संहितासु भ्रमप्रमादादिदोषशून्यस्वतन्त्रपुरुषप्रणीतत्वासिद्धिः॥

॥ भाषा ॥

खं०—(३) जैमिनिमहर्षि ने अनन्तरोक्त दोनों सूत्रों से मन्त्रब्राह्मणरूपी पूर्णवेद का लक्षण कह कर उक्त वेद के ऋक्, साम और यजु भाग के लक्षणों को इन तीन सूत्रों से कहा है "तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" ३५॥ (ऋक् उसको कहते हैं जिस में चरण होते हैं) "गीतिषु सामाख्या" ३६॥ (गान को साम कहते हैं) "शेषे यजुःशब्दः ३७॥ (उक्त दोनों से अन्य वेदभाग को यजु कहते हैं) यदि मन्त्रभाग ही वेद होता अर्थात् ब्राह्मणभाग वेद न होता तो "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" इस मन्त्रलक्षण के अनन्तर अर्थात् ब्राह्मणभाग के लक्षण से पूर्व ही ऋक् आदि का लक्षण कहते परन्तु ऐसा न कह कर मन्त्रलक्षण के अनन्तर "शेषे ब्राह्मणशब्दः" इस सूत्र से महर्षि ने जो ब्राह्मण का लक्षण कहा इस से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्राह्मणभाग का भी वेद होना महर्षि को अनुमत है इसी से उन्हों ने मन्त्ररूपी एक वेदभाग के लक्षण से अव्यवहित ही ब्राह्मणरूपी द्वितीय वेदभाग का लक्षण कहा।

खं०—(४) वैशेषिकदर्शन, अध्या० ६ के आदि ही में कणादमहर्षि के सूत्र हैं "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" १॥ (लौकिकवाक्यों के नाईं वेदवाक्यों की रचना भी किसी स्वतन्त्र-पुरुष की की हुई है। और उस रचना को असदादि कोई पुरुष नहीं कर सकता क्योंकि हम लोग जब वेदवाक्यों के बिना यह नहीं जान सकते कि याग, स्वर्ग का कारण है तब कैसे "स्वर्गकामो-यजेत" इत्यादि वाक्यों की रचना कर सकते हैं इस से यह सिद्ध होता है कि कोई निर्दोष सर्वज्ञ

* वेदत्वं च शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्याविषयार्थकत्वे सति शब्दवाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वम्।

इदानीं प्रकारान्तरेण वेदवाक्यानां बुद्धिपूर्वकत्वमाचष्टे । "ब्राह्मणे सञ्ज्ञाकर्मसिद्धिर्लिङ्गम्" ब्राह्मणे वेदभागे सञ्ज्ञाकर्म नामकरणं तद्व्युत्पादकस्य बुद्धिमाक्षिपति यथा लोके चैत्रमैत्रादिनामकरणम् अस्ति च नामकरणं ब्राह्मणे "उद्भिदा यजेत", "बलभिदा यजेत" "अभिजिता यजेत" "विश्वजिता यजेत" इति, अत्र हि उद्भिदादिनामानि स्वतन्त्रस्य कस्यचित् व्यवहर्तुर्बुद्धिमाक्षिपन्ति । अलौकिकानामर्थानामस्मदादिबुद्ध्यगोचरतयाऽस्मदादिबाधादपरमनुमापयन्ति । स चायमपरोऽनुमितिसतो वेदपुरुषो भगवानीश्वर इति "बुद्धिपूर्वो ददातिः" इति तृतीयं काणादं सूत्रम् । अस्यार्थः । 'स्वर्गकामो गां दद्या' दित्यादौ यद्दानप्रतिपादनं तदिदं बोधयितुर्दानधर्मिकेष्टसाधनताज्ञानजन्यम् । तच्चेष्टसाधनताज्ञानं निष्कम्पप्रवृत्तिजनकं नार्वाग्दृशामस्मदादीनामपरोक्षात्मकमिति तादृशज्ञानाश्रयस्तत्रापि सिध्यति "तथा प्रतिग्रह" इति चतुर्थपारमर्षसूत्रस्याप्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः । नचेह बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" इति प्रथमे वेदपदेन, द्वितीयसूत्रे च ब्राह्मणपदेन निर्देशात्कथमनयोर्ब्राह्मणस्य वेदपदार्थत्वसाधकत्वमिति शङ्क्यम् । अत्र हि षष्ठेऽध्याये संसारमूलकारणभूतौ धर्माधर्मौ परीक्षिष्यमाणौ तौ च वेदैकवेद्यौ । वेदवाक्यानां च कणादमते आप्तोक्तत्वेन प्रामाण्यम्, आप्तश्च यथार्थप्रकृतवाक्यार्थज्ञानाश्रयोऽतः प्रकृतवाक्यार्थविषयकयथार्थज्ञानात्मकं वेदप्रामाण्योपोद्बलकमेव प्रकृते सिषाधयिषितम् । तच्च मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नवेदसाधारणमिति प्रथमसूत्रेण तत्साधयित्वा द्वितीयेन सूत्रेण सञ्ज्ञाबहुले ब्राह्मणभागे सञ्ज्ञाकर्मणापि तत्साधित-

॥ भाषा ॥

और स्वतन्त्र पुरुष, वेद का कर्ता है) । "ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिर्लिङ्गम्" २ ॥ (जैसे लोक में पिता आदि, अपने पुत्र का चैत्र मैत्र आदि नाम रखते हैं वैसे ही ब्राह्मणनामक वेदभाग में "उद्भिदा-यजेत" "बलभिदा यजेत" "अभिजिता यजेत" "विश्वजिता यजेत" इत्यादि वाक्यों से उन २ यागों का उद्भित् बलभित्, आदि अनेक नाम रक्खे हुए हैं । और नामकरण करना स्वतन्त्रपुरुष का काम है । तथा हम लोग अलौकिक अर्थ को नहीं जान सकते कि जिस से उद्भित् आदि नाम रख सकें इस से यह सिद्ध होता है कि उद्भित् आदि नाम का रखने वाला परमेश्वर ही वेद का कर्ता है) इन दोनों सूत्रों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणभाग का वेद होना कणादमहर्षि के संमत है ।

प्र०—जब कि उक्त प्रथमसूत्र में "वेद शब्द" कहा है और द्वितीयसूत्र में 'ब्राह्मण' शब्द कहा है तब इन सूत्रों से यह कैसे निकलता है कि ब्राह्मणभाग वेद है क्योंकि भिन्न २ सूत्र में रहने से यह स्पष्ट ही है कि ब्राह्मणशब्द के अर्थ का वेदशब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

उ०—इस षष्ठाध्याय में संसार के मूलकारण धर्म और अधर्म की परीक्षा आगे चल कर की गई है और धर्म, अधर्म, वेद ही से ज्ञात होने के योग्य है तथा कणादमत में वेदों का स्वतः-प्रामाण्य नहीं है किन्तु आप्तोक्त होने से प्रामाण्य है और आप्त उसको कहते हैं कि जिसको वाक्यार्थ का यथार्थज्ञान होता है अर्थात् यथार्थज्ञान से जिस वाक्य की रचना होती है वही वाक्य प्रमाण होता है इस रीति से इस अध्याय में प्रथम २ वेद के प्रामाण्यसाधनार्थ कणादमुनि ने उक्त सूत्रों से परमेश्वर के यथार्थज्ञान ही को सिद्ध किया है और उस यथार्थज्ञान की सिद्धि, मन्त्रब्राह्मण-रूपी पूर्णवेद की रचना से होती है इसी से प्रथमसूत्र में महर्षि ने 'वेद' शब्द, सामान्य से कहा । और वेद के ब्राह्मणभाग में प्रायः नाम आते हैं इसी से नाम रखने के अनुसार भी उक्त यथार्थ-

मिति वेदैकदेशे ब्राह्मणे सञ्ज्ञाकरणात्मकवेदप्रामाण्यप्रयोजकवक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणपूर्वकत्वप्रदिदर्शयिषया प्रवर्त्तमानेन सूत्रकृता स्फुटं ब्राह्मणे वेदत्वबोधनात् । न हि भारते पुरुषार्थचतुष्टयं न्यरूपीत्यभिधाय मोक्षधर्मे मोक्षो निरूपित इत्यभिधाने मोक्षधर्मो महाभारतप्रकरणतां जहातीति, वक्ता च तस्य तदङ्गतां नाभिप्रैतीति कश्चिद्वक्तुमुद्यच्छेदपि प्रेक्षावान्, नह्यास्तिकैर्वेदमपहायापरस्य दृष्टानुमितश्रुत्यमूलकशब्दस्य धर्माधर्मयोः प्रामाण्यमङ्गीक्रियते यस्य प्रामाण्यप्रत्याशया ब्राह्मणानां सञ्ज्ञाकरणात्मकलिङ्गेन वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणसाधनायायमुद्यमो महर्षेर्वक्तव्यः स्यात् । तस्मात्कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञायामस्वीकृतत्वादितिप्रलपन्सतांशोचनीयो राज्ञांदण्डनीयो लोकानांचोपहसनीय एव । किंच "कात्यायनाभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञायामनुक्तत्वा" दिति वदताऽऽत्मौपम्येनानभिज्ञत्वं प्रतारकत्वं चोत्प्रेक्ष्यते तदिदमनृषेरवरस्य रौरवसाधनमृषौ । नह्यनृषिः कश्चित्पामरोऽप्रदर्श्य दृढविपक्षसाधकं प्रमाणं यद्भमप्येकमृषिं किम्पुनरेतावतो जैमिन्यादीन्महर्षीन्दूषयेत् । किञ्चायं ग्रहिलो "ब्राह्मणं न वेद" इत्येतादृशं प्रामाणिकस्य कस्यापि

॥ भाषा ॥

ज्ञान के सिद्ध करने के लिये द्वितीयसूत्र में बिशेष से 'ब्राह्मण' शब्द कहा, इस रीति से दोनों सूत्रों से ब्राह्मणभाग का बेद होना ही निकलता है जैसे "भारत में चारो पुरुषार्थ का निरूपण है और मोक्षधर्म में मोक्ष का निरूपण है" तो क्या इस वाक्य से यह निकल आवैगा कि मोक्षधर्मप्रकरण महाभारत का नहीं है ? वैसे ही प्रथम बेदसामान्य की रचना से और अनन्तर बेद के ब्राह्मणप्रकरणस्थ नामों के रखने से महार्षि ने ईश्वरज्ञान को सिद्ध किया है तो इस से कैसे यह निकल सकता है कि ब्राह्मणभाग बेद का प्रकरण नहीं है ? और सब को अलग कर यह सूधा बिचार करना चाहिये कि जब सबी आस्तिकों को यही संमत है कि धर्म, अधर्म, के बिषय में बेद से आतिरिक्त कोई शब्द, स्वतन्त्रप्रमाण नहीं है तो ऐसी दशा में यह संभावना भी नहीं हो सकती कि धर्माधर्म की परीक्षा के प्रकरण में बेद से अन्य शब्द का नाम भी प्रमाण देने के आशय से वैशेषिकदर्शन के आचार्य कणादमहार्षि ने लिया हो और ब्राह्मणभाग के नामों का उन्हों ने स्पष्ट ही प्रमाण दिया है इस से सर्वथा निश्चित है कि ब्राह्मणभाग का बेद होना महार्षि के संमत है ।

खं० —(५) "कात्यायन से अन्य ऋषियों ने ब्राह्मणभाग की बेदसंज्ञा स्वीकार नहीं की है" इस कहने से यह स्पष्ट ही निकलता है कि कात्यायनऋषि ने लोकबञ्चना के अर्थ ऐसी झूठी बात लिख दिया और जब कोई पुरुष दृढ प्रमाण बिना दिखलाये किसी नवीनबिषय की उद्घोषणा करता है बञ्चक वही कहलाता है जैसे उक्त साधु ने बिना प्रमाण के यह उद्घोष किया है कि "ब्राह्मण बेद नहीं है" और इस से यह भी ज्ञात होता है कि उक्त साधु, अपने तुल्य दूसरे को समदर्शी न समझने वाला बड़े २ गपोड़ों का छोड़ने वाला डींगों से भरा पुरा है यह उसी समदर्शिता का प्रभाव है जो कि अपने ऐसा परबञ्चक, कात्यायनमहार्षि को भी समझता है ।

खं०—(६) ऋषियों को कौन कहे यदि किसी अन्य एक प्रामाणिक मनुष्य का भी "ब्राह्मणं न बेदः" (ब्राह्मण बेद नहीं है) ऐसे वाक्य को दिखलाता तब भी इस हेतु को किसी रीति से कह सकता था परन्तु वैसा भी नहीं किया इस से यही सिद्ध होता है कि "कात्यायनमहार्षि का "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" यही सिद्धान्त सब ऋषियों को स्वीकृत है" इस रीति से

किम्पुनर्ऋषेर्वाक्यं दर्शयेत् तदाऽसौ क्षमेतापि 'कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसञ्ज्ञायामनुक्तत्वा' दिति वक्तुम् इत्यलमज्ञानपिशाचाविष्टस्य वाचाऽऽनिग्रहेण ।

"मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्" इति कपटकाषायस्य चरमचेष्टितम्" ।

अत्र ब्राह्मणानि न वेदाः मनुष्यबुद्धिरचितत्वादिति न्यायः प्रयोक्तव्यः । स चायमनाकलितन्यायप्रयोगस्य प्रयोगः । यदा हि मनुष्यबुद्धिरचितत्वं ब्राह्मणेषु सिद्धमभविष्यत्तदेदमिदमसाधयिष्यत्, मनुष्यरचितत्वमेव ग्लायदात्मनः प्रतिष्ठायै स्थानं लब्धुमपारयदशिश्रियद्भवन्मुखविवरामिति विदुषां विचारवर्त्मनि अस्थास्नोरमुष्य क नाम साधकत्वप्रत्याशा । किंच परमर्षिर्गौतमो वेदप्रामाण्यनिरूपणावसरे स्थूणानिखननन्यायेन वेदप्रामाण्यं द्रढयितुमेवाशशङ्के । "तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य" इति तस्य वेदस्याप्रामाण्यम् अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः । तत्रानृतम् । 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' अनुष्ठितायामपि चेष्टौ न युज्यन्ते पुरुषाः पुत्रैरिति दृष्टार्थस्य वाक्यस्याप्रामाण्ये 'ऽग्निहोत्रंजुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यदृष्टार्थस्य वाक्यस्य प्रामाण्ये कथमाश्वासः । अत्र सूत्रस्थतत्पदेन परामृष्टुमिष्टस्य वेदस्याप्रामाण्यमाशङ्कमानः "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति ब्राह्मणस्याप्रामाण्यं दर्शयामास गौतमः। यदि नाम ब्राह्मणं न वेदस्तर्हि वेदाप्रामाण्यसाधनावसरे ब्राह्मणस्याऽप्रामाण्यप्रदर्शनं कर्णस्पर्शे कटिचालनायितं स्यात् । नहि प्रेक्षावान् "मैत्रवाक्यं न विश्वसिही" ति कञ्चन बोधयंश्चैत्रवाक्यस्य मिथ्यार्थत्वं साधयेत् तदवश्यं ब्राह्मणं वेद इति परमर्षिरनुमन्यते इति । नच सूत्रस्थतत्पदेन परमर्षिर्नाभिप्रैति निर्देष्टुम् "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति ब्राह्मणवाक्यम् अपितु यत्किञ्चिदन्यदेव संहितावाक्यमिति सर्वं सिकताकूपायितमिति वाच्यम् । व्याचक्षाणेन वात्स्यायनर्षिणा स्वभाष्येऽस्मदभिहितार्थस्य स्फुटमभिहितत्वात् । तथाहि "पुत्रकामेष्टिहवनाभ्यासेषु तस्येतिशब्दविशेषमेवाङ्गीकुरुते भगवानृषिः । शब्दस्य प्रमाणत्वं न संभवति, कस्मादनृतदोषात् । पुत्रकामेष्टौ पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेति "नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते, दृष्टार्थस्य वाक्यस्यानृतत्वाददृष्टार्थमपि वाक्यम् "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम"

॥ भाषा ॥

यदि केवल कात्यायनमहर्षि ने ही ऐसा कहा होता तब भी उक्त साधु के चञ्चुप्रवेश का कोई संभव न था क्योंकि उसके विरुद्ध कोई प्रामाणिकवाक्य नहीं मिल सकता और जब कि कात्यायनवाक्य के समानाकार ही आपस्तम्बमहर्षि का वाक्य तथा जैमिनि और कणाद महर्षि के वाक्य भी (जो कि पूर्व में दिखलाये गये) ब्राह्मणभाग की वेदता के प्रतिपादन में जागरूक हैं तब उक्त साधु के ऐसे उलटे पलटे बकने का मैं नहीं समझता कि क्या फल है ।

खं० छठे हेतु का—(१) छठां हेतु भी दुष्ट ही है क्योंकि ब्राह्मणभाग के विषय में मनुष्यरचित होना प्रतिवादी अर्थात् सनातनधर्मी को स्वीकृत नहीं है और पूर्व में कहा जा चुका है कि हेतु वही होता है जो वादी और प्रतिवादी को स्वीकृत हो ।

खं०—(२) न्यायदर्शन में "तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" इस सूत्र से (जिसका व्याख्यान वेददुर्गसज्जन–पृष्ठ (१६९) में हो चुका है) गौतममहर्षि ने और उसके भाष्यकार वात्स्यायनमहर्षि ने भी वेद के अप्रामाण्य की शङ्का के अवसर पर "पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत" "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" "उदितेहोतव्यमनुदितेहोतव्यम्" "त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्"

इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते, विहितव्याघातपुनरुक्तदोषाच्च हवने "उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यं-समयाध्युषिते होतव्यमितिविधाय विहितं व्याहन्ति "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति शवलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति श्यावशवलौ वाऽस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" व्याघाताच्चान्यतरन्मिथ्येति* पुनरुक्तदोषाच्च अभ्यासे देश्यमाने 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति पुनरुक्तदोषो भवति, पुनरुक्तं च प्रमत्तवाक्यमिति तस्मादप्रमाणं शब्दो 'ऽनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इति । अत्र हि वात्स्यायनो दृष्टार्थवाक्यसाम्येनादृष्टार्थे "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति वाक्येऽनृतत्वमतिदिशति इदं च ब्राह्मणवाक्यमिति पुष्कलं ब्राह्मणं वेद इति । अथाद्यापि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इति वाक्यस्य प्रमाणाभावे न द्रढिमानमवेक्षे इत्याग्रहस्ते तदा परित्यज ब्राह्मणेषु द्वेषमपवारयासंदावेशम् । अवेहि च गौतमीये द्वितीयेऽध्याये षष्टितमेन "वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्" इत्युपक्रम्य "विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्" इत्येकषष्टितमेन ब्राह्मणवाक्यानि विभेजे भगवान् गौतमः । अत्राह स्म वात्स्यायनः "त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि भिन्नानि 'विनियुक्तानि' विधिवचनानि अर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति । तत्र विधिर्नियामकः यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति, ततश्च वात्स्यायनेन ब्राह्मणवाक्यविभागावसरे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्येतस्य प्रदर्शनादिह वात्स्यायनव्याख्यानप्रणालिकया महर्षिर्गौतमो 'ऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादि ब्राह्मणं सूत्रस्थतत्पदेन जिघृक्षन् ब्राह्मणं तदेकदेशभागमभिमेने। तदेवं सर्वर्षिसंमते ब्राह्मणानां वेदभावे प्रकृतेचाजानिके तथैव व्यवहारे कृतमनल्पजल्पनेन। "ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति नचैवं मन्त्रभागे" ॥

इति स एव प्रतारकः । अत्र किं ब्राह्मणग्रन्थेषु लौकिकेतिहासदर्शनं तेषां प्रतारकत्वावगमकमुतापौरुषेयत्वभङ्गप्रयोजकमाहोस्विदादिमत्त्वप्रयोजकम् ? नाद्यः। लौकिकेतिहासदर्शनस्य ग्रन्थे प्रतारकनिर्मितत्वव्यभिचरितत्वात् नहि लोके सर्वोऽपीतिहासः प्रतारकैर्व्यरचीत्यनुन्मत्तउत्प्रेक्षेतापि।न द्वितीयः।यथा हि सृष्ट्युत्पत्त्यादिक्रमो वेदेऽसकृदभिहितो वेदानां

॥ भाषा ॥

इत्यादि ब्राह्मणभाग ही के अनेकवाक्यों को उदाहरण दिया है (जैसा कि वेददुर्गसज्जन में पूर्वोक्त पृष्ठ में कहा जा चुका है) इस से यह सिद्ध है कि ब्राह्मणभाग का वेद होना उक्त दोनों महर्षियों को संमत है । और जब कि यहां तक उक्त प्रकारों से यह दृढ सिद्ध हो चुका कि ब्राह्मणभाग का वेद होना सब ऋषियों को संमत है तब इसमें सन्देह ही नहीं रहा कि मन्त्रभाग के नाई ब्राह्मणभाग की वेदसंज्ञा अनादि अर्थात् स्वाभाविक है ।

भा० भू०—जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नामलेखपूर्वक लौकिकइतिहास हैं मन्त्र भाग में "वैसे नहीं हैं" ।

खं०—क्या लौकिकइतिहास होने से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणग्रन्थ किसी वञ्चक के बनाये हैं ? (१) अथवा यह सिद्ध होता है कि पुरुषरचित हैं, (२) कि वा यही निश्चित होता है कि आधुनिक हैं ? (३) इन पक्षों में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि जितने लौकिकइतिहास हैं सबी वञ्चकों ही के रचित होते हैं । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे पूर्व में यह कहा जा चुका है कि वेद में अनेक स्थानों पर सृष्टि प्रलय आदि समाचारों

* भावाभावबोधकवाक्ययोरन्यतरस्य मिथ्यात्वमावश्यकमितिभावः ।

पौरुषेयत्वं नापादयति तथा लौकिकेतिहासोक्तिरपि, वेदानां सर्वविद्यास्थानतया लौकिकानां पुंसां सौकर्याय तत्र भगवता परमेश्वरेण याज्ञवल्क्योशनोङ्गिरःप्रभृतिनामोपन्यासपुरस्सरं ब्रह्मविद्यादिविद्यानामुपदेशात्, यथा सृष्टेरनन्तरं न सृष्टिप्रतिपादको वेदो व्यराचि किन्तु सृष्टिरेवानादिप्रवाहसिद्धानां वेदानां समनन्तरमिति सृष्टिं वर्णयतोऽपि वेदस्य न सृष्टिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वं तथा ब्राह्मणेष्वितिहासवर्णनेऽपि नैतिहासिकार्थोत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वमुपनिषदां ब्राह्मणानां च। न तृतीयः। आदिमतामृषीणां नाममात्रदर्शनस्य ब्राह्मणेषु सादित्वशङ्काया अप्रयोजकत्वस्यासकृदावेदितत्वात् ॥

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्त्तश्रीमद्भागवतादीनांचेति निश्चीयते। किंच भोः ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद्ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु यद्ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी रित्यादिवचनानि दृश्यन्ते एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति। स बृहतीं दिशामनुव्यचलत् तमितिहासश्च पुराणश्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै सपुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १ ॥ अथर्वकां० १५ प्रपा० ३० अनुवा० १ ॥ अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसञ्ज्ञया कुतो न गृह्यन्ते। मैवं वाचि। एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनामिति कुतः, ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् ॥

इत्यन्तग्रन्थेन कपटकाषायो यत्प्राह, तदिदन्तस्य शास्त्रानवबोधनिबन्धनविडम्बनामात्रम्। वात्स्यायनभाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकुर्वाणोऽसौ कथं ब्राह्मणग्रन्थानामितिहासपुराण-

॥ भाषा ॥

के कथन से वेद का पुरुषरचित होना सिद्ध नहीं हो सकता वैसे ही लौकिकइतिहासों के कथन से भी, क्योंकि वेद सब विद्याओं का स्थान है इसी से सुगमता के अर्थ लौकिकआख्यायिकाओं की नाईं याज्ञवल्क्य उशना अङ्गिरा आदि कल्पितनामों ही के द्वारा ब्रह्मविद्या आदि विद्याओं का उपदेश वेद में है पूर्वोक्त रीति के अनुसार, जैसे वेद में सृष्टि के वर्णन होने पर भी इस शंका का अवसर नहीं होता कि सृष्टि के अनन्तर वेद, रचित हुआ, किंतु यही सिद्ध होता है कि अपने प्रवाह से अनादिसिद्ध वेदों ही के अनन्तर सृष्टियां हुई करती हैं, वैसे ही ब्राह्मणभाग में इतिहास के वर्णन होने पर भी इस आक्षेप का अवसर नहीं हो सकता कि ऐतिहासिकपदार्थों की उत्पत्ति के अनन्तर, ब्राह्मणभाग रचित हुआ, किन्तु यही निश्चित है कि ऐतिहासिकपदार्थों की उत्पत्ति ही अनादि ब्राह्मणभाग के अनन्तरकाल में होती है। ऐसे ही तृतीय प्रश्न भी कुछ नहीं है क्योंकि अनित्यऋषियों के नामोल्लेखमात्र से वेद के रचित होने की शंका का निबारण, पूर्वहीं अनेक बार हो चुका।

भा० भू०—"और इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये श्रीमद्भागवतादि का नहीं" यहां से "उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये अन्य का नहीं" यहां तक—

(१) जो पूर्वोक्त भाष्यभूमिका में कहा है उस से तो स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि उक्त साधु को शास्त्रों का परिचय ही नहीं है क्योंकि जब वह वात्स्यायनभाष्य को प्रमाण मानता है

इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते, विहितव्याघातपुनरुक्तदोषाच्च हवने "उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यं-समयाध्युषिते होतव्यमितिविधाय विहितं व्याहन्ति "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति श्यावशबलौ वाऽस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" व्याघाताच्चान्यतरन्मिथ्येति* पुनरुक्तदोषाच्च अभ्यासे देश्यमाने 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति पुनरुक्तदोषो भवति, पुनरुक्तं च प्रमत्तवाक्यमिति तस्मादप्रमाणं शब्दो 'ऽनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' इति। अत्र हि वात्स्यायनो दृष्टार्थवाक्यसाम्येनादृष्टार्थे "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति वाक्येऽनृतत्वमतिदिशति इदं च ब्राह्मणवाक्यमिति पुष्कलं ब्राह्मणं वेद इति। अथाद्यापि 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इति वाक्यस्य प्रमाणाभावे न द्रढिमानमवेक्षे इत्याग्रहस्ते तदा परित्यज ब्राह्मणेषु द्वेषमपवारयासदावेशम्। अत्रेहि च गौतमीये द्वितीयेऽध्याये षष्टितमेन "वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्" इत्युपक्रम्य "विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्" इत्येकषष्टितमेन ब्राह्मणवाक्यानि विभेजे भगवान् गौतमः। अत्राह स्म वात्स्यायनः "त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि भिन्नानि 'विनियुक्तानि' विधिवचनानि अर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति। तत्र विधिर्नियामकः यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इति, ततश्च वात्स्यायनेन ब्राह्मणवाक्यविभागावसरे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्येतस्य प्रदर्शनादिह वात्स्यायनव्याख्यानप्रणालिकया महर्षिर्गौतमो 'ऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादि ब्राह्मणं सूत्रस्थतत्पदेन जिघृक्षन् ब्राह्मणं तदेकदेशभागमभिमेने। तदेवं सर्वर्षिसंमते ब्राह्मणानां वेदभावे प्रकृतेचाजानिके तथैव व्यवहारे कृतमनल्पजल्पनेन।

"ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति नचैवं मन्त्रभागे" ॥

इति स एव प्रतारकः। अत्र किं ब्राह्मणग्रन्थेषु लौकिकेतिहासदर्शनं तेषां प्रतारकत्वावगमकमुतापौरुषेयत्वभङ्गप्रयोजकमाहोस्विदादिमत्त्वप्रयोजकम्? नाद्यः। लौकिकेतिहासदर्शनस्य ग्रन्थे प्रतारकनिर्मितत्वव्यभिचरितत्वात् नहि लोके सर्वोऽपीतिहासः प्रतारकैर्व्यरचीत्यनुन्मत्तउत्प्रेक्षेतापि। न द्वितीयः। यथा हि सृष्ट्युत्पत्त्यादिक्रमो वेदेऽसकृदभिहितो वेदानां

॥ भाषा ॥

इत्यादि ब्राह्मणभाग ही के अनेकवाक्यों को उदाहरण दिया है (जैसा कि वेददुर्गसज्जन में पूर्वोक्त पृष्ठ में कहा जा चुका है) इस से यह सिद्ध है कि ब्राह्मणभाग का वेद होना उक्त दोनों महर्षियों को संमत है। और जब कि यहां तक उक्त प्रकारों से यह दृढ सिद्ध हो चुका कि ब्राह्मणभाग का वेद होना सब ऋषियों को संमत है तब इसमें सन्देह ही नहीं रहा कि मन्त्रभाग के नाई ब्राह्मणभाग की वेदसंज्ञा अनादि अर्थात् स्वाभाविक है।

भा० भू०—जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नामलेखपूर्वक लौकिकइतिहास हैं मन्त्र भाग में "वैसे नहीं हैं"।

खं०—क्या लौकिकइतिहास होने से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणग्रन्थ किसी वञ्चक के बनाये हैं ? (१) अथवा यह सिद्ध होता है कि पुरुषरचित हैं, (२) किं वा यही निश्चित होता है कि आधुनिक हैं ? (३) इन पक्षों में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि जितने लौकिकइतिहास हैं सभी वञ्चकों ही के रचित होते हैं। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे पूर्व में यह कहा जा चुका है कि वेद में अनेक स्थानों पर सृष्टि प्रलय आदि समाचारों

* भावाभावबोधकवाक्ययोरन्यतरस्य मिथ्यात्वमावश्यकमिति भावः।

पौरुषेयत्वं नापादयति तथा लौकिकेतिहासोक्तिरपि, वेदानां सर्वविद्यास्थानतया लौकिकानां पुंसां सौकर्याय तत्र भगवता परमेश्वरेण याज्ञवल्क्योशनोङ्गिरःप्रभृतिनामोपन्यासपुरस्सरं ब्रह्मविद्यादिविद्यानामुपदेशात्, यथा सृष्टेरनन्तरं न सृष्टिप्रतिपादको वेदो व्यरचि किन्तु सृष्टिरेवानादिप्रवाहसिद्धानां वेदानां समनन्तरमिति सृष्टिं वर्णयतोऽपि वेदस्य न सृष्टिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वं तथा ब्राह्मणेष्वितिहासवर्णनेऽपि नैतिहासिकार्थोत्पत्तिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वमुपनिषदां ब्राह्मणानां च। न तृतीयः। आदिमतामृषीणां नाममात्रदर्शनस्य ब्राह्मणेषु सादित्वशङ्काया अप्रयोजकत्वस्यासकृदावेदितत्वात् ॥

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्त्तश्रीमद्भागवतादीनांचेति निश्चीयते। किंच भोः ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र कचिद्ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु यद्ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी रित्यादिवचनानि दृश्यन्ते एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति। स बृहतीं दिशामनुव्यचलत् तमितिहासश्च पुराणश्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै सपुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १ ॥ अथर्वकां० १५ प्रपा० ३० अनुवा० १ ॥ अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसञ्ज्ञया कुतो न गृह्यन्ते। मैवं वाचि। एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनामिति कुतः, ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् ॥

इत्यन्तग्रन्थेन कपटकाषायो यत्प्राह, तदिदन्तस्य शास्त्रानवबोधनिबन्धनविडम्बनामात्रम्। वात्स्यायनभाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकुर्वाणोऽसौ कथं ब्राह्मणग्रन्थानामितिहासपुराण-

॥ भाषा ॥

के कथन से बेद का पुरुषरचित होना सिद्ध नहीं हो सकता वैसे ही लौकिकइतिहासों के कथन से भी, क्योंकि बेद सब बिद्याओं का स्थान है इसी से सुगमता के अर्थ लौकिकआख्यायिकाओं की नाईं याज्ञवल्कय उशना आङ्गिरा आदि कल्पितनामों ही के द्वारा ब्रह्मबिद्या आदि बिद्याओं का उपदेश बेद में है पूर्वोक्त रीति के अनुसार, जैसे बेद में सृष्टि के बर्णन होने पर भी इस शंका का अवसर नहीं होता कि सृष्टि के अनन्तर बेद, रचित हुआ, किंतु यही सिद्ध होता है कि अपने प्रवाह से अनादिसिद्ध बेदों ही के अनन्तर सृष्टियां हुई करती हैं, वैसे ही ब्राह्मणभाग में इतिहास के बर्णन होने पर भी इस आक्षेप का अवसर नहीं हो सकता कि ऐतिहासिकपदार्थों की उत्पत्ति के अनन्तर, ब्राह्मणभाग रचित हुआ, किन्तु यही निश्चित है कि एतिहासिकपदार्थों की उत्पत्ति ही अनादि ब्राह्मणभाग के अनन्तरकाल में होती है। ऐसे ही तृतीय प्रश्न भी कुछ नहीं है क्योंकि अनित्यऋषियों के नामोल्लेखमात्र से बेद के रचित होने की शंका का निबारण, पूर्वहीं अनेक बार हो चुका।

भा० भू०—"और इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये श्रीमद्भागवतादि का नहीं" यहां से "उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये अन्य का नहीं" यहां तक—

(१) जो पूर्वोक्त भाष्यभूमिका में कहा है उस से तो स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि उक्त साधु को शास्त्रों का परिचय ही नहीं है क्योंकि जब वह वात्स्यायनभाष्य को प्रमाण मानता है

पदार्थतामुपगच्छेत् । तत्र हि 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' इति प्राह स्म वात्स्यायनः । यदि ब्राह्मणान्येवेतिहासाः पुराणंच तदा ब्राह्मणेन ब्राह्मणप्रामाण्यव्यवस्थापनमयुक्तं स्यात् । अपिच ब्राह्मणेष्वितिहासपुराणानामन्तर्भावे 'एवमिमे सर्वेवेदाबिनिर्मितास्सकल्पास्सरहस्यास्सब्राह्मणास्सोपनिषत्कास्सेतिहासास्सान्वाख्यानास्सपुराणाःसस्वरास्ससंस्कारास्सनिरुक्तास्सानुशासनास्सानुमार्जनास्सवाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं यज्ञ इत्येवमाचक्षते ॥ इति गोपथब्राह्मणपूर्वभागे द्वितीयप्रपाठकस्थं ब्राह्मणं स्फुटमप्रमाणं स्यादिति तद्ब्राह्मणातिरिक्तमितिहासं पुराणं च प्रमापयति । एवं च 'पुराणमितिहासस्य बिशेष (?) णम्' इत्यप्यस्य कथनं प्रामादिकम्' तथासति पार्थक्येन 'सेतिहासास्सपुराणा' इति कथनासङ्गतेः । नहीतिहासपुराणयोरपार्थक्ये तथा कथनसंभव इति विदुषामपरोक्षम् । किंच पुराणमित्येतस्येतिहासबिशेषणत्वे इतिहासः पुराणमिति लिङ्गव्यत्ययोऽपि न स्यात् । असति विशेषानुशासने तस्यान्याय्यत्वात् । यत्तु तत्र देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्याः । सदेवसोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचिन्मिषत् । इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ खं० १ आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास श० कां० ११ अ० १ । इदं वाऽग्रे नैव किञ्चिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि ॥ इति आहानाभिज्ञश्चकः, तदिदमस्याप्यानिष्टसाधकम् तथासति "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥ १ ॥ ऋ० ७ अ० ७ व० ३ मं० ३ ॥ अहंमनुरभवंसूर्यश्चाहंकक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः । अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं

॥ भाषा ॥

और उस में वात्स्यायनमहर्षि ने यह स्पष्ट कहा है कि "इतिहास पुराणों का प्रमाण होना ब्राह्मण रूपी प्रमाण से सिद्ध है" और यह भाष्य उक्त साधु के कहे हुए प्रथमहेतु के खण्डन में भी दिखला दिया गया है तब यह कहने का अवसर कहां है कि "ब्राह्मणभाग ही की इतिहासादि संज्ञा है" क्योंकि तब तो ब्राह्मण ही से ब्राह्मण का प्रमाण होना कैसे सिद्ध हो सकता है ? इस लिये उक्त भाष्य असंगत ही हो जायगा ।

(२) गोपथ ब्रा० पहिलाभाग प्रपा० २ 'एवमिमे०' [ऐसे ही कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यान, पुराण, स्वर, संस्कार, निरुक्त, अनुशासन, अनुमार्जन, और वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तर) से सहित सब बेद यज्ञ के उपयोग में जब आते हैं तब इन का, नाम छूट जाता है और यज्ञ ही के नाम से कहे जाते हैं] इस वाक्य में ब्राह्मण से पृथक् इतिहास और पुराण कहे हुए हैं । यदि ब्राह्मण ही की इतिहासादि संज्ञा मानी जाय तो इस बेदवाक्य के विरोध से गला कदापि नहीं छूट सकता ।

(३) यदि ऐतिहासिक अर्थ के प्रतिपादक होने से ब्राह्मणभाग की पुराण संज्ञा मानी जाय तो संहिताभाग भी पुराण कहला जायगा क्योंकि (हिरण्यगर्भस्समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्० । अ १ । ऋ० । ७ । अ० । ७ । व० । ३ । मं । ३ । (हिरण्यगर्भ पहिले होता

(१) किंच शुक्लयजुर्वेदीयशतपथब्राह्मणे अश्वमेधप्रकरणे अष्टमेऽहनि इतिहासपाठः, नवमे च पुराणपाठस्तावदभिहितः, सोऽप्येसौ न सङ्गच्छेत यदीतिहासस्य पुराणमिति विशेषणं स्यात् ।

कृविरुशना पश्यता मा। अ० १ अ० ३ अ० ६ व० १६ । इत्यादिसंहिताभागस्याप्यैतिहासिकार्थप्रतिपादकतया पुराणत्वापत्तेः । निरुक्तसंहितामन्त्रे सृष्टिपूर्वकालीनार्थप्रतिपादनेन निरुक्तभवदभिप्रेतेतिहासपदार्थतायां अवर्जनीयत्वात्। किंच यदसौ स्वचक्षुषी निमील्य जगदन्धं प्रपश्यति तदपि तस्य शशकस्वभाव* मनुहरति। यदसौ ब्रूते।

"यस्माद्ब्राह्मणानीति सञ्ज्ञी (१) पदमितिहासादिस्तेषां सञ्ज्ञेति। तद्यथा। ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति"।

तदिदमस्य हास्यास्पदमभिधानंविदुषां, किमप्येकं प्रमाणं प्रतिज्ञातार्थेऽनुपन्यस्य हठादेव ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयादिति वदन्कथं देवानांप्रियो हसनीयवचो न स्यात्। तथाच पतञ्जलिः प्रथमाह्निके प्राह स्म "सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदास्साङ्गास्सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषय" इति--अत्र पातञ्जले वाक्ये वैद्यकसाहचर्यादितिहासपुराणयोरपि स्मृतिरूपयोरेव ग्रहणस्य स्पष्टमवधारणादित्यलमनल्पजल्पनेन (२) ।

यत्तु—अन्यदप्यत्रप्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये "वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्" अ० २ आ० २ सू० ६० अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम् "प्रमाणं शब्दो यथा लोके

॥ भाषा ॥

है और होते ही वह सबका एक स्वामी होता है) "अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः० अ० १। अ० ३। अ० ६। व० १६।" (मैं प्रथम, मनु होता हूं और सूर्य होता हूं तथा इस समय ब्राह्मण ऋषि हूं कक्षीवान् मेरा नाम है) इत्यादि मन्त्रों में आदि सृष्टिसमय के इतिहास का वर्णन है।

(४) व्याकरणमहाभाष्य १ आन्हिक में पतञ्जलिमहर्षि ने कहा है "सात द्वीपवाली पृथिवी, तीन लोक तथा अङ्ग और रहस्य से संहित चार बेद जिनके कि अनेक भेद हैं अर्थात् यजुर्बेद की १०१ सामबेद की १००० ऋग्वेद की २१ अथर्बवेद की ९ शाखाएं हैं तथा वाकोवाक्य, (प्रश्नोत्तर) इतिहास, पुराण, और बैद्यक, शब्दों के प्रयोग करने का बिषय है" इस वाक्य में वाकोवाक्य और बैद्यक के साथ होने से यह स्पष्ट ही है कि इतिहास और पुरण स्मृतिरूप ही है न कि बेदरूप।

भा० भू० "ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहास संज्ञा होने में और भी प्रमाण है" यहां से "मिथ्या कथा बहुत सी लिखी हैं" यहां तक—

* शशकस्यायं स्वभावो यत्स्वमारणायायान्तमश्वारूढं यक्ष्मप्यवलोक्य तदग्रतो धावन्धावन् श्रान्तः पथ्यवस्थाय स्वनयने निमील्य जगदन्धं प्रपश्यति।

(१) संज्ञि, इति वक्तव्ये दीर्घीकरणमव्युत्पन्नतामेव द्रढयति।

(२) वात्स्यायनभाष्ये चतुर्थेऽध्याये "समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः" इतिसूत्रे प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते तेवा खल्वेतेऽथर्वाङ्गिरसएतदितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इत्यादिना सप्रपञ्चं स्वच्छं ब्राह्मणव्यतिरिक्ततया पुराणेतिहासयोः प्रामाण्यं व्यवस्थापितम्। अत्र बहु वक्तव्यमस्ति, परन्त्वसौ वादी कथानर्हः। कथानियमानाभिज्ञत्वादल्पबुद्धित्वाच्च। इति कदाचित् द्विरुक्तदुरुक्तादिकमस्माकं सुधीभिः क्षन्तव्यम्।

बिभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः । अयमभिप्रायः । ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिकाः ॥ इति ।

इदमस्याभिधानं दुष्कृतितामस्यावगमयति तद्यथा "प्रमाणं शब्दो यथा लोके बिभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविध" इति बात्स्यायनग्रन्थस्य यदसौ "अयमभिप्रायः ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न बैदिका" इत्यर्थमाचष्टे तदत्यन्तमसाधु, तादृशार्थस्य बुबोधयिषायां बात्स्यायनः "प्रमाणशब्दो लोके बिभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविध" इत्यकथयिष्यत् नतु "प्रमाणं शब्दो यथा लोके" इति सादृश्यार्थयथापदघटितं, ब्रूते च तथेति लोके यथा शब्दः प्रमाणं तथा बेदेपीत्यध्याहार्यम् । बेदे ब्राह्मणरूपे ब्राह्मणसञ्ज्ञकानां वाक्यानां बिभागस्त्रिविध इत्यर्थस्य तात्पर्यबिषयत्वात्, सादृश्यस्य स्वनिरूपकप्रतियोग्यनुयोग्युभयसापेक्षतायाः सर्वानुभवसिद्धतया यथापदोपादानस्वारस्येनैव तादृशार्थस्य सुलभत्वात् । अतएवाग्रे अत्रैव प्रकरणे "बिधिबिहितस्यानुवचनमनुवाद" इति चतुःषष्टितमे सूत्रे न्यायदर्शने अ० २ आ० १ 'एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीय' मित्यन्तेन भाष्येण बैदिकवाक्यानि ब्राह्मणापरनामधेयान्युदाहरणभावेन प्रदर्श्य 'लोकेऽपि च बिधिरर्थवादो ऽनुवाद इति च त्रिविधं वाक्यम् । ओदनं पचेदिति बिधिवाक्यम् । अर्थवादवाक्यमायुर्बर्चोबलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम् । अनुवादः । पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः क्षिप्रं पच्यतामिति बा अङ्ग पच्यतामित्यध्येषणार्थम् । पच्यतामेवेति बा ऽवधारणार्थम् । यथा लौकिके वाक्ये बिभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वमेवं बेदवाक्यानामपि बिभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीति' बात्स्यायनेन इहैव प्रकरणेऽस्मदुक्तार्थस्य वादिनो ऽत्यन्तप्रतिकूलस्य स्फुटमभिधानात् । तस्मात् द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निके 'वाक्यबिभागस्य चार्थग्रहणा' दिति षष्टितमसूत्रमारभ्य चतुःषष्टितमसूत्रपर्यन्तमुपक्रमोपसंहाराभ्यासादिना ब्राह्मणानां बेदभावे सुव्यक्ते स्वीयदोषेण ब्राह्मणेषु शङ्कमानः कथन्न शङ्कनीयः । यत्तु 'न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किन्तर्हि ऐतिह्यमर्थापत्तिः सम्भवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि इतिहोचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्' इति बात्स्यायनीयमुपन्यस्य–

"अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मान्येव गृह्यन्ते नान्यत्" ।

इत्यर्थकथनं, तत्तु शुष्कमस्थि लिहानस्य स्वीयतालुविनिर्घर्षणजासृक्पाननिरतस्य शुनोबृत्तमनुहरतीति न किञ्चिदिह वक्तुमुचितम् ॥

॥ भाषा ॥

जो बात्स्यायनभाष्य का तात्पर्य ले कर गीत गाया है उस के बिषय में कुछ कहना नहीं है क्योंकि उस में किसी प्रमाण का उपन्यास ही नहीं है ।

भा० भू० "ब्राह्मणग्रन्थों की बेदों में गणना नहीं हो सकती" यहां से "ब्राह्मणग्रन्थ नहीं" यहां तक जो कहा गया है वह भी अज्ञान ही का प्रभाव है–

(१)–क्योंकि यहां अनुमान का यही आकार होगा कि बेदवाक्यों को पकड़ कर बेद का ब्याख्यानरूपी होने से ब्राह्मणभाग बेद नहीं है, और इसका खण्डन द्वितीयहेतु के खण्डन में पूर्व हीं हो चुका है ।

यदपि । अन्यच्च ब्राह्मणानि तु बेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्यानीति । कुतः । 'इषेत्वोर्ज्जेत्वेति' शतपथे काण्डे १ अध्या० ७ इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि*धृत्वा ब्राह्मणेषु बेदानां व्याख्यानकरणात् ॥

इत्याह कश्चिदिन्द्रियारामः, तदप्यनवबोधविजृम्भितम् । अत्र हि ब्राह्मणानि न बेदाः बेदवाक्यधारणपूर्वकबेदव्याख्यानरूपत्वात् इत्यादिन्यायाकारः। अत्र हि स्मर्य्यमाणकर्तृकत्वं रागवत्पुरुषकर्तृकत्वं चोपाधिरित्येतदनुमानं पूर्वोक्तरीत्याऽपाकरणीयमिति न किञ्चिदेतत् । किञ्च व्याख्यातव्यव्याख्यान † योर्नैकपदवाच्यत्वमिति व्याप्तिर्न सम्भवति 'पश्वादिभिश्चाबिशेषात्' इति भाष्यस्य स्वेनैव शङ्कराचार्येण भाष्यपदव्यपदेश्यबिपुलव्याख्यानकरणात् । भाष्ये हि स्वपदानि सर्वत्र स्वपदैरेव व्याख्यायन्ते, अतएव 'अथ शब्दानुशासन' मिति पातञ्जलेपि, अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थ इत्यादिव्याख्यानम् । नाप्यनेककर्तृकत्वं व्याख्यातव्यव्याख्यानयोरिति व्याप्त्यायेनेश्वरप्रणीतत्वाभाव आशङ्क्येत । ब्राह्मणेषु, पूर्वोक्तस्थलयो (१) रेवानेककर्तृकत्वस्य व्याख्यानव्याख्येयभावव्यभिचारित्वदर्शनात् । नच भाष्यादिग्रन्थे ग्रन्थान्तरस्थवृद्ध्यादिपदानां व्याख्यानं नाष्टाध्याय्यादिपदवाच्यमेवमिहापि संहितास्थपदव्याख्यानरूपैर्ब्राह्मणैर्न भवितव्यं संहितापदवाच्यैरितिमहदनिष्टमापद्येतेतिशङ्क्यम् । ब्राह्मणेषु संहितापदव्यवहार्यत्वस्यास्माकमप्यनिष्टत्वात् । नच तावता बेदाम्नायपदव्यवहार्य्यत्वस्य

॥ भाषा ॥

(२)—यह कोई नियम नहीं है कि एक पद का अर्थ एक ही पद से किया जाय क्योंकि भाष्यों में भाष्यकार लोग अपने कहे हुए एक पद बा वाक्य को बड़े बिस्तर के साथ अनेक वाक्यों से व्याख्यान करते हैं और भाष्यों का लक्षण भी यही है कि "जिस ग्रन्थ में ग्रन्थकार अपने पदों का स्वयं व्याख्यान करता है वही ग्रन्थ भाष्य कहलाता है" इस रीति के अनुसार शारीरिकभाष्य के उपोद्धातग्रन्थ में स्वामी शङ्कराचार्य्य ने 'पश्वादिभिश्चाबिशेषात्' इस अपने भाष्यवाक्य का बहुत बिस्तर से व्याख्यान किया है और व्याकरणमहाभाष्य के १ आन्हिक में 'अथ शब्दानुशासनम्' इस अपने भाष्यवाक्य को पतञ्जलिमहर्षि ने अपने अनेक वाक्यों से व्याख्यान किया ऐसे ही बिषय में अन्यान्य भाष्यों के भी अनेक उदाहरण हैं। और वे जैसे छोटे और उनके बृहद्-व्याख्यान, दोनों भाष्य ही हैं वैसे ही मन्त्रभाग और उसका व्याख्यान, ये दोनों बेद हैं, निदान-मन्त्र को पकड़ कर व्याख्यानरूपी होने के कारण, ब्राह्मणभाग के बेद होने में कोई बिरोध नहीं है। तथा इसी से यह भी नियम नहीं है कि जिस वाक्य का व्याख्यान किया जाता है वह वाक्य अन्यकृत और उसका व्याख्यान अन्यकृत ही होता है, क्यौंकि अनन्तरोक्त भाष्यरूपी उदाहरणों में इसकी अपेक्षा बिपरीत ही देखा जाता है ।

---

* प्रतीकानिति वक्तव्ये नपुंसकोक्तिर्वक्तुर्वैदुष्यनापुंसक्यं सूचयति ।

† प्रकृते व्याख्यातव्यानां मन्त्राणां व्याख्यानभूतानां ब्राह्मणानां न बेदपदवाचकत्वमित्येव ते तात्पर्य्यं भवेत् तत्तु युक्त्या निराकृतं । शास्त्राणामपिचाऽत्रार्थे परं प्रातिकूल्यम् । अथाह मनुः षष्ठेऽध्याये श्लो० २९ । एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा बिप्रो वने वसन् । बिबिधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" । अत्रोपनिषदां श्रुतिपदेनाऽभिधानादुपनिषदां च ब्राह्मणान्तर्गततया तदभिन्नाऽभिन्नस्य तदभिन्नत्वमितिन्यायेन भवितव्यं ब्राह्मणैरपि बेदैरेव ।

(१) पतञ्जलिशङ्कराचार्य्याभ्यां निजपदानां स्वयमेव व्याख्यातत्वात् ।

व्याहतिप्रसङ्गः, ब्राह्मणानि संहितापदाव्यवहार्याण्यपि वेदाम्नायपदव्यवहार्याणीत्यस्य वास्माभिरप्यङ्गीकारात् । नच " इषेत्वोर्ज्जेत्वे " त्यादिप्रतीकमुपादाय ब्राह्मणेषु व्याख्यानदर्शनात् स्फुटन्तेषान्तदनन्तकालिकत्वमिति कथं ब्राह्मणानां वेदभाव इति वाच्यम् । क्रमिकेषु संहितामन्त्रेष्वपि पूर्वोत्तरभावस्यावर्जनीयतया वेदत्वव्यवस्थितौ पूर्वोत्तरभावस्याकिञ्चित्करत्वात् । अथ यथा ब्राह्मणेषु संहितामन्त्रोल्लेखः, न तथा संहितास्विति संहितास्ववश्यं वैचित्र्यमङ्गीकरणीयमिति मा शङ्किष्ठाः । व्याख्यातव्यव्याख्यानभावरूपवैचित्र्यस्य संहिताब्राह्मणयोर्मयाप्यङ्गीकरणीयत्वात् । नहि अष्टाध्यायीस्थपदव्याख्यानस्य महाभाष्ये दर्शनवदष्टाध्याय्यां महाभाष्यस्थपदादर्शनादष्टाध्यायी व्याकरणतां जह्यादिति शङ्केदेति प्रेक्षावतः, ततश्च संहिताब्राह्मणयोः समानेऽपि वेदभावे, संहितास्थपदानां ब्राह्मणेषु व्याख्यानेऽपि ब्राह्मणस्थपदानां संहितायां व्याख्याया अदर्शनं संहितानां वेदभावे

॥ भाषा ॥

प्र०—जैसे पाणिनिसूत्र आदि रूपी अष्टाध्यायी आदि के भाष्यादिरूपी व्याख्यान अष्टाध्यायी आदि पदों से नहीं कहे जाते वैसे ही संहिता के पदों के व्याख्यानरूपी ब्राह्मणभाग ही संहितापद से नहीं कहे जायँगे इस आक्षेप का क्या समाधान है ?

उ०—यह तो सनातनधर्मी को इष्ट ही है ।

प्र०—यदि 'इषेत्वा' आदि के प्रतीकों को रख कर ब्राह्मणभाग में व्याख्यान देखा जाता है तब इतना तो स्पष्ट ही है कि मन्त्रभाग मूल और ब्राह्मणभाग उसकी टीका है तथा इसी के साथ यह भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि संहिता के उत्तरकाल ही में ब्राह्मणभाग की उत्पत्ति हुई और ऐसी दशा में ऐसे आधुनिक ब्राह्मणभाग को कैसे कोई वेद कह सकता है ?

उ०—वाह क्या बढ़ियाँ प्रश्न है क्योंकि इससे एक अन्य प्रश्न भी उत्थित होता है कि संहिताओं में प्रथममन्त्र के उत्तर सब अन्यान्य मन्त्रों के पाठ देखने से यह निश्चित होता है कि प्रथममन्त्र के उत्तरकाल ही में अन्य सब मन्त्रों की उत्पत्ति हुई तो ऐसी दशा में ऐसे २ आधुनिक मन्त्रों (प्रथममन्त्र से अन्य) को कैसे कोई वेद कह सकता है ? और इस प्रश्न का यदि यह उत्तर दिया जाय कि 'आगे पीछे पाठ मात्र से पूर्वकाल और उत्तरकाल में उत्पत्ति नहीं निकल सकती' तो इसी उत्तर से पूर्वोक्त बढ़ियां प्रश्न भी शांत ही हो जाता है ।

प्र०—जैसे ब्राह्मणभाग में संहिता के मन्त्रों का उल्लेख है वैसे ही संहिताओं में व्याख्यान करने के लिये मन्त्रों का उल्लेख नहीं है इससे ब्राह्मणभाग की अपेक्षा संहिताओं में विचित्रता क्यों न मानी जाय ।

उ०—यह कौन कहता है कि उक्तविचित्रता स्वीकार न की जाय ? क्योंकि इस विचित्रता को सनातनधर्मी भी स्वीकार करेगा कि संहिता, व्याख्येय और ब्राह्मणभाग व्याख्यान है । परन्तु इस विचित्रता से उक्तभूमिकाधारी को कुछ भी लाभ नहीं हो सकता क्योंकि अष्टाध्यायी के पदों का व्याख्यान जैसे महाभाष्य में है वैसे अष्टाध्यायी में महाभाष्य के पद नहीं हैं, इतने मात्र से किसी बुद्धिमान् का यह ध्यान नहीं हो सकता कि अष्टाध्यायी, व्याकरण ही नहीं है, निदान—जैसे संहिता और ब्राह्मण के वेद होने से तुल्य होने पर, संहिता के पदों का ब्राह्मणों में व्याख्यान देखने के साथ संहिता में ब्राह्मण के पदों का व्याख्यान न देखना, संहिता के वेद होने में उदासीन है अर्थात् कारण

अथोदासीनमेवं संहितास्थपदानां ब्राह्मणेषु व्याख्यानदर्शनमप्युदासीनमेवेति न व्याख्यातव्य व्याख्यानभावो वेदब्राह्मणयोरन्यतरस्याप्यवेदत्वमापादयतीति त्रैवर्णिकसर्वस्वेऽस्मद्गुरवो निराकृतैकोत्तरशतावैदिकमताः सत्यसरस्वतीव्यपदेशयोग्याः श्री ७ राममिश्रशास्त्रिणः ॥

इतरथा तु ब्राह्मणानां संहिताव्याख्यानरूपतया यथा तेषामवेदत्वं तथा मयाऽपि संहितानां ब्राह्मणव्याख्यानरूपत्वव्यभिचारितया तासामेवावेदत्वं साधयिष्यते नहि व्याख्यानरूपत्वमेवावेदत्वसाधकं, नतु व्याख्यातव्यत्वमितिविनिगन्तुंशक्यम् । व्याख्यातव्य-व्याख्यानभावस्य लौकिकग्रन्थसाधारणत्वात् । नच ब्राह्मणानि न वेदा वेदव्याख्यानत्वान्माधवीयर्ग्वेदव्याख्यानवदिति शङ्क्यम् । ब्राह्मणानि वेदा अपौरुषेयवाक्यत्वात् सहस्रशीर्षेतिवाक्यवदित्यादिहेतुशतद्वारा तस्य सत्प्रतिपक्षित्वात् । तस्मात्पूर्वोक्तरीत्या सर्वर्षिसंमते संहिताब्राह्मणयोर्वेदभावे ब्राह्मणानि न वेदा स्तद्व्याख्यानरूपत्वादिति पूतिकूष्माण्डायितं हेतुमुपन्यस्य विवदमानो विमतिः केनोपमेय इति न जानीमः ॥

यत्तु अन्यच्च महाभाष्ये, केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च तत्र लौकिका-

॥ भाषा ॥

नहीं है, वैसे ही ब्राह्मणभाग में संहिता के पदों का व्याख्यान देखना भी संहिता के वेद होने में कारण नहीं हो सकता । निचोड़ यह है कि व्याख्येयरूपी होना वा व्याख्यानरूपी होना मन्त्र और ब्राह्मण में से किसी के वेद होने में विरोधी नहीं है । और यदि ऐसा न माना जाय तो अन्य पुरुष भी निःसन्देह यह कह सकता है कि व्याख्येयरूपी होने से मन्त्रभाग ही नहीं वेद है और व्याख्यानरूपी होने से ब्राह्मणभाग ही वेद है, क्योंकि यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो चुका है कि वेद वही कहलाता है जो कि व्याख्येयरूपी ही हो अथवा व्याख्यानरूपी ही जो हो वही वेद कहलाता है ।

प्र०—यह अनुमान क्यों न किया जाय कि जो ग्रन्थ वेदव्याख्यानरूपी होता है वह वेद नहीं है जैसे ऋक्संहिता का भाष्य, और ब्राह्मणभाग भी वेदव्याख्यानरूपी है इसीसे वह वेद नहीं है ?

उ०—यह भी अनुमान क्यों न किया जाय ? कि जो अपौरुषेय वाक्य है वह वेद है जैसे 'सहस्रशीर्षापुरुषः' इत्यादि वाक्य, और ब्राह्मण अपौरुषेय वाक्य हैं इस से वे वेद हैं ।

प्र०—जब दोनों अनुमान अन्योन्य में विरुद्ध हैं तब कैसे निर्णय हो सकता है ?

उ०—हम अभी यह नहीं सिद्ध करते हैं कि ब्राह्मणभाग वेद हैं किन्तु ब्राह्मणभाग के वेद न होने में भूमिकाधारी के ओर से जो प्रमाण दिया गया है उनका खण्डनमात्र हम करते हैं सो हमारा उद्देश्य इतने ही से सिद्ध होता है कि हमारे अनुमान के साथ विरोध होने से भूमिकाधारी का अनुमान सन्देहपंक में निमग्न हो कर नष्ट हो गया । और यदि इसी समय उक्त अनुमानों में कोई यह निश्चय किया चाहै कि कौन ठीक है ? तो वह भी हो सकता है क्योंकि व्याख्यानरूपी होने से वेद न होना अनेक युक्तियों से अनन्तर ही खण्डित हो चुका है और अपौरुषेयवाक्य का वेद होना दोनों वादियों को स्वीकार ही है तथा ब्राह्मणभाग का अपौरुषेय होना भी पूर्व में सिद्ध ही हो चुका है तो ऐसी दशा में यह निर्णय बहुत ही सुलभ है कि हमारा ही अनुमान निर्दोष है और भूमिकाधारी का अनुमान सड़ियल कोहड़े के नाईं दुर्गन्धी है ।

भा०भू०—"ब्राह्मणग्रन्थों में वेद सञ्ज्ञा नहीं होने में व्याकरणमहाभाष्य का भी

स्तावत् "गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण" इति, वैदिकाः खल्वपि "शन्नो देः वीरभिष्टये । इषे त्वोर्ज्जे त्वा । अग्निमीले पुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतय" इति । यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसञ्ज्ञाऽभीष्टाभूत्तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् । अतएव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसञ्ज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि ॥

इत्याह मुण्डी, तत्तु तस्य व्यामोहमात्रम् । नहि भाष्यकारेण वैदिकोदाहरणतया ब्राह्मणवाक्यानि न धृतानीत्येतावता तेषामवेदत्वसिद्धिः । इतरथा संहितास्थानामपीतरेषामनिर्दिष्टवाक्यानां वेदत्वानुपपत्तेः । नच संहितास्वादिममन्त्रधारणात्तद्घटितानां तासां साकल्येन वेदत्वसिद्धिर्ब्राह्मणेषु तु कस्यापि वाक्यस्यानुपन्यासात्कथमिव तेषां वेदत्वसिद्धिरिति शङ्क्यम् । सर्वस्यापि ब्राह्मणस्य तत्तत्संहितोत्तरभागात्मकतया संहितामन्त्रधारणेन, विशिष्टायाः सब्राह्मणोपनिषत्कायाः संहितायाः प्रदर्शनस्य सिद्धत्वात् । नच तथासति ब्राह्मणेषु संहितामन्त्रादिव्यवहार्यत्वप्रसङ्गः, वेदपदव्यवहार्यत्वस्य तदुभयसाधारण्येपि प्रामाणिकानां संहितादिपदव्यवहार्यत्वस्य भागविशेषे एव प्रसिद्धेः । शक्तेः प्रामाणिकव्यवहारैकसमधिगम्यत्वात् नह्यष्टाध्यायी व्याकरणमिति स्त्रीप्रत्ययाः "तद्धिता" इति व्यप-

॥ भाषा ॥

प्रमाण है ... ...वेद सञ्ज्ञा नहीं हो सकती"

खं०—यदि भाष्यकार ने वैदिकशब्दों के उदाहरण में ब्राह्मणवाक्य नहीं दिखलाया तो इतने से यह नहीं सिद्ध हो सकता कि ब्राह्मणभाग वेद नहीं है क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो भाष्यकार के उदाहरण दिये हुए चार मन्त्रों से अन्य, सब मन्त्र वेद नहीं कहलावेंगे ।

स०—अब संहिताओं के प्रथम २ मन्त्रों को भाष्यकार ने उदाहरण में दिया है तो अवश्य उस से यह सिद्ध होता है कि पूर्ण संहिताभाग वेद है और ब्राह्मणभाग का तो एक वाक्य भी उदाहरण में भाष्यकार ने नहीं दिया इस से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणभाग वेद नहीं है ।

खं०—(१) वेद के प्रत्येक शाखा में प्रथम, संहिताभाग और द्वितीय, ब्राह्मणभाग है (जैसा कि वेददुर्गसज्जन के वेदविभागप्रकरण से इस ग्रन्थ अर्थात् सनातनधर्मोद्धार में पूर्व ही प्रतिपादन हो चुका है) तो ऐसी दशा में अब एक शाखा के प्रथममन्त्र को भाष्यकार ने प्रतीक के नाईं उदाहरण में दिया है तो यह स्पष्ट है कि यह पूर्ण शाखा (संहिता और ब्राह्मणभाग) वैदिकशब्दों के उदाहरण में आ गई इस कारण उस उदाहरण से भी यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मणभाग, वेद है और भूमिकाधारी अपने अज्ञान ही से उलटे उस उदाहरण से यह निकालता है कि ब्राह्मणभाग वेद नहीं है ।

प्र०—यदि संहिता और ब्राह्मण दोनों मिल कर एक शाखा पूर्ण होती है तो ब्राह्मणभाग भी संहिताशब्द से क्यों नहीं कहा जाता ?

उ०—प्रसिद्ध है कि एक ग्रन्थ में जब अनेक प्रकरण रहते हैं तब उन प्रकरणों के नाम भी पृथक् २ होते ही हैं जैसे अष्टाध्यायीरूप एक व्याकरणग्रन्थ में स्त्रीप्रत्यय, कारक और तद्धित आदि भिन्न २ नाम वाले अनेक प्रकरण हैं और उन में, एक ग्रन्थ में स्थित होने के कारण यह शङ्का कोई नहीं कर सकता कि स्त्रीप्रत्यय क्यों नहीं तद्धित कहे जाते, ? क्योंकि प्रकरणों वा किसी वस्तु का नाम, प्रामाणिकपुरुषों के व्यवहार ही के अधीन होता है ऐसे ही 'संहिता' नाम, मन्त्रभाग

दिश्यन्ते, ताद्धिता वा "स्त्रीप्रत्यया" इति यच्च स प्राह पुण्यपुरुषः ।

किन्तु यानि गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव घटन्ते कुतः तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् ॥

इति, सोऽस्य महामोहः । शुक्लयजुःसंहितायां चतुर्विंशतितमेऽध्याये "उक्ताः सञ्चरा एताः शुनासीरीयाः" इत्यादिसंहितास्वपि पशूनां पक्षिणाञ्च नामोत्कीर्तनस्यासकृद्दर्शनात् । तद्यथा । सर्प – मृग – व्याघ्र – सिंह – मूषक – कश – नकुल – न्यङ्कु – पृषत – कुलुङ्गर्ष्य – रुरु – परश्वत – गौरमृग – महिष – गवयोष्ट्र – प्लुषि – भृङ्ग – मेष – मर्कट – मनुष्य – राजरोहिदृष्य – कृमि – कीट – नीलङ्गु – मयूर – हलिक्ष्ण – वृषदंश – रक्त – सर्पाज – शकुन्ति – शृगाल – पिद्व – कुक्कुट – चक्रवाक – सेधावृक – हस्ति – ककर – शिशुमार – मकर – मत्स्य – मण्डूक – भेकी – कुलीपय – नक्र – पृदाकलज – प्लव – कूर्म – गोधा – कशर्क्ष – मान्थालाजगर – शका – वार्ध्रीणस – सृमर – खड्ग – कृष्णश्वा – कर्णगर्दभ – तरक्षु – शूकर – कृकलासादीनाम्परःशतानाम्पशुजातीयानाम्, मशक – करण्डाटवीक – कपिञ्जल – कलविङ्क – तित्तिरि – हंस – वलाका – क्रुंच – मद्गु – चक्रवाक – कुक्कुटोलूक – चाष – मयूर – कपोत – लावक – कौलीक – गोषादी – कुलाका – पारुष्ण – पारावत – सीचापू – जत्वहोरात्रदात्यूह – कालकण्ठ – सुपर्णवर्त्तिका – क्षिप्रश्येन – वक – धुंक्षा – कलविङ्क – पुष्करसादी – वलाका – शार्ङ्ग – सृजय – शयाण्डक शार्याती – वाहस – दार्विदा – दार्वाघाट – सुषिलीका – जहका – कोकिला – कुण्डृणाची गोलत्तिका – पिप्पकादीनां परःशतानाम्पक्षिणाञ्च संहितास्वाम्नानात् । तदयम्भ्रांतारकः स्वतन्त्र इति ॥

॥ भाषा ॥

ही का है क्योंकि वैसा ही व्यवहार प्रामाणिकपुरुषों का चला आता है ।

खं०—(२) भाष्यकार ने जो लौकिक शब्दों के उदाहरण में गौ, अश्व, शकुनि, (पक्षी) मृग आदि शब्दों को दिया उस से जो भूमिकाधारी ने यह सिद्ध किया है कि 'ऐसे २ पशु और पक्षी के वाचक शब्द ब्राह्मणभाग ही में होते हैं इस से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणभाग लौकिक ही है न कि वैदिक,' यह भी मिथ्या ही है क्योंकि संहिता में भी पशुओं और पक्षियों के बहुत से नाम आते हैं जैसे शुक्लयजुसंहिता अध्याय २४ आदि में, सर्प, मृग, व्याघ्र, सिंह, मूषक, कश, नकुल, न्यङ्कु, पृषत, कुलुङ्गर्ष्य, रुरु, परश्वत्, गौरमृग, महिष, गवय, उष्ट्र, प्लुषि, भृङ्ग, मेष, मर्कट, मनुष्य, राजरोहिदृष्य, क्रिमि, कीट, नीलङ्गु, मयूर, हलिक्ष्ण, वृषदंश, रक्त, सर्पाज, शकुन्ति, शृगाल, पिद्व, कुक्कुट, चक्रवाक, सेधावृक, हस्ति, ककर, शिशुमार, मकर, मत्स्य मण्डूक, भेकी, कुलीपय, नक्र, पृदाकलज, प्लव, कूर्म, गोधा, कशर्क्ष, मान्थालाजगर, शका, वार्ध्रीणस, सृमर, खड्ग, कृष्णश्वा, कर्णगर्दभ, तरक्षु, शूकर, आदि पशुओं के सैकड़ों नाम, तथा मशक, करण्डाटवीक, कपिंजल, कलविङ्क, तित्तिरि, हंस, वलाका, क्रुञ्च, मद्गु, चक्रवाक, कुक्कुट, उलूक, चाष मयूर, कपोत, लावक, कौलिक, गोषादी, कुलाका, पारुष्ण, पारावत, सीचापू, जत्वहोरात्रदात्यूह, कालकण्ठ, सुपर्णवर्त्तिका, क्षिप्रश्येन, वक, धुंक्षा, कलविङ्क, पुष्करसादी, वलाका, शार्ङ्ग, सृजय, शयाण्डक, शार्याती, वाहस, दार्विदा, दार्वाघाट, कुषिलीका, जहका, कोकिला, कुण्डृणाची, गोलत्तिका, पिप्पका, आदि पक्षियों के सैकड़ों नाम आते हैं । तो ऐसी दशा में संहिताभाग भी भूमिकाधारी के कथनानुसार लौकिक ही है न कि वैदिक, और अब वैदिकभाग भूमिकाधारीमहाशय के पेट ही में कोई

यच्च "द्वितीयाब्राह्मणे" १ । अ० २ पा० ३ सू० ६० "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" २ । अ० २ पा० ३ सू० ६२ । "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" ३ । अ० ४ पा० ३ सू० १०५ इत्यष्टाध्यायीसूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादितम् * तद्यथा । पुराणैःप्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अत एवैतेषां पुराणेतिहाससञ्ज्ञा कृताऽस्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसञ्ज्ञाऽभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् । द्वितीयाब्राह्मणेति † ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसञ्ज्ञाऽस्तीति ॥ इति, तदिदमनाकलितव्याकरणतत्त्वस्य तस्यात्यन्तमतत्त्वार्थाभिधानम् । तथाहि । "द्वितीया ब्राह्मणे" ।२।३।६०। ब्राह्मणविषये प्रयोगे व्यवहृपाणिसमानार्थस्य दीव्यतेः कर्म्मणि द्वितीया विभक्तिर्भवति । 'गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः" अत्र शतस्य दीव्यतीत्यादिवत् "दिवस्तदर्थस्य" २।३।५८। इति सूत्रेण गोरस्येति षष्ठीप्राप्तौ गामस्येति द्वितीया विधीयते । अत्र ब्राह्मणरूपवेदैकदेशे एव द्वितीयेष्टा, नतु मन्त्रब्राह्मणात्मके श्रुतिच्छन्दआम्नायनिगमवेदपदव्यपदेश्ये सर्वत्रेति युक्तमुत्तरसूत्रे "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" २।३।६२। इति मन्त्रब्राह्मणरूपे छन्दोमात्रे विषये चतुर्थ्यर्थे षष्ठीविधानम् । "पुरुषमृगश्चन्द्रमसः" "पुरुषमृगश्चन्द्रमसे" अत्र हि छन्दसीत्यभिधानेनाचार्य्यः सञ्जिघृक्षति मन्त्रब्राह्मणरूपं सकलमेव वेदमिति तदभिप्रयन्नेवोदाजह्रर "या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते । तिस्रो रात्रीरिति । तस्या इति प्राप्ते । यां मलवद्वाससं सम्भवन्ति यस्ततो जायते सोऽभिशस्तो, यामरण्ये तस्यै स्तेनो, यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्यप्रगल्भो, या स्नाति तस्या अप्सुमारुको, याऽभ्यंक्ते तस्यै दुश्चर्म्मा, या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी, याऽङ्क्ते तस्यै काणो, या दतोधावते तस्यै श्यावदन्, या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी, या कृणत्ति तस्यै क्लीवो, या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको, या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते अहल्यायै जारमनाय्यै तन्तुः" इति बहुना ब्राह्मणं भाष्यकारः । इति फलवैशिष्ट्यसत्त्वेन ब्राह्मणस्य छन्दोरूपत्वे व्याकरणभाष्यकृतां संवादसद्भावाच्च प्रकृतसूत्रे छन्दोग्रहणवैयर्थ्यमभिदधानः कथं न "स्वच्छन्द" इति विज्ञैरभिज्ञेयः ।

॥ भाषा ॥

होगा यही निश्चय उनके कथनानुसार होता है ।

भा०भू०—"द्वितीया ब्राह्मणे"....काम चल जाता ।

सं०—इस कथन से तो यही निश्चित है कि भूमिकाकार जी व्याकरण का भी तत्त्व नहीं जानते अन्य शास्त्रों की तो चर्चा ही क्या है । क्योंकि—

(१)—'ब्राह्मण' शब्द का संपूर्ण वेद नहीं अर्थ है किन्तु वेद का ब्राह्मणभागमात्र, इसी से "गामस्य तदहः सभायाम्" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य ही में 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र के अनुसार द्वितीया विभक्ति होती है न कि किसी मन्त्र में भी । और 'छन्दस्' शब्द का तो मन्त्रब्राह्मणरूपी संपूर्ण वेद अर्थ है इसी से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेदभागों में 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' के अनुसार कहीं षष्ठी और कहीं चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है जैसा कि भाष्यकार ने उदाहरण दिया है । अब देखना चाहिये कि यदि 'छन्दसि' निकाल कर ब्राह्मणे का संबन्ध किया जाता तो ३ सूत्र मन्त्रों में न लगता । इस रीति से तृतीय सूत्र मन्त्र में भी लगे इसी लिये उस में 'छन्दस्'

* व्युत्पत्तिरेषाऽस्य ॥ † "ब्राह्मणेति" इत्यपशब्दस्तु तस्यैव मुखे शोभताम् ॥

अन्यथा तु "मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशोण्विन्" ।३।२।७१। "अवे यजः" ।३।२।७२। "विजुपेच्छन्दसि" ।३।२।७३। इत्येवं क्रमिकसूत्रपाठे चरमे छन्दसीत्युक्त्वा मन्त्रभागेऽपि छन्दःपदव्यपदेश्यत्वं न सिद्ध्येत् । यथाहि । "ब्राह्मणे" इत्यभिधाय 'छन्दसी' त्यभिहितवतः पाणिनेर्ब्राह्मणं न छन्दःपदव्यपदेश्यत्वेनाभिमतमित्युत्प्रेक्षसे तथैवेहापि पूर्वसूत्रे 'मन्त्रे' इत्यभिधाय 'विजुपेच्छन्दसि' इति कथयतः पाणिनेर्मन्त्रोपि छन्दःपदव्यपदेश्यत्वेनानभिमत इति वक्तव्यं स्यादिति महदनिष्टं ब्राह्मणविद्विषस्तवापि । किञ्च "अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि" ।८।२।७०। इति पाणिनिश्छन्दःपदमुपादाय 'भुवश्च महाव्याहृतेः' ।८।२।७१। इति सूत्रेण वैकल्पिकं रुभावमनुशास्ति पुनरुत्तरसूत्रे, इति महाव्याहृतेरपि च्छन्दोभावच्युतिरावश्यकी स्यात् । नहि 'ब्राह्मणे' इत्युपादाय 'छन्दसी' त्युक्तिरेव ब्राह्मणानामच्छन्दोभावसाधिका, नतु 'छन्दसी' त्यभिधाय व्याहृतेर्विशिष्य व्याहरणं व्याहृतेश्छन्दोभावप्रणाशकं न स्यादिति पाणिपिधानं, तस्मादाचार्य्यः प्रयोगसाधुभावाप्रसङ्गातिप्रसङ्गनिविवारयिषया क्वचित् सामान्यं 'छन्दसी' त्युपादाय विशेषं 'महाव्याहृतेः' इति वक्ति । क्वचित्तु, विशेषं 'ब्राह्मणे' 'मन्त्रे' इति वोपादाय सामान्यं 'छन्दसी' ति तस्मात् ।

यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसञ्ज्ञाऽभीष्टाभवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात् कुतः । द्वितीया ब्राह्मणेति ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञाऽस्ति ।

इतिवदन् सतामसम्भाषणीयोऽयं कपटकाषाय इति पुष्कलम् । अत्रापरे ब्राह्मणद्विषो ऽम्लुष्यसंसर्गिणोऽनधीतशास्त्रा ग्राहिला अनभिज्ञा विवदन्ते । तथाहि । यदि ब्राह्मणानि छन्दांसि, तदा पाणिनिः कथं ब्रूते "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" ४।२।६६। यदि

॥ भाषा ॥

शब्द का ग्रहण है तो कैसे वह व्यर्थ होता ।

(२)—और जिस रीति से भूमिकाधारी ने 'चतुर्थ्यर्थे' इस सूत्र में 'छन्दस्' शब्द से यह बतलाया है कि ब्राह्मणभाग नहीं वेद है इस रीति से तो स्पष्ट ही यह सिद्ध होता है कि मन्त्रसंहिता भी वेद नहीं है क्योंकि वह यदि वेद हो तो (१) "मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशोण्विन्" अ० ३ पा० २ सू० ७१ । (२) 'अवे यजः' ३-२-७२ । (३) 'विजुपेछन्दसि' ३-२-७३ । यहां तृतीय सूत्र में 'छन्दस्' शब्द का ग्रहण व्यर्थ ही हो जायगा क्योंकि प्रथमसूत्र के मन्त्रशब्द की अनुवृत्ति से काम चल जायगा ।

(३)—"अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि" ८-२-७० । इस सूत्र में 'छन्दस्' शब्द कह कर "भुवश्च महाव्याहृतेः" ८-२-७१ । में पाणिनि के 'महाव्याहृति' शब्द कहने से 'महाव्याहृति' भी वेदत्व से प्रच्युत हो जाता क्योंकि छन्दसि के संबन्ध से काम चल जाता । तस्मात् सामान्यशब्द के संबन्ध से जैसे विशेषशब्द का ग्रहण नहीं व्यर्थ होता वैसे ही विशेषशब्द के संबन्ध से सामान्यशब्द का ग्रहण भी नहीं व्यर्थ होता । तब कैसे ब्राह्मणशब्द के संबन्ध से 'छन्दस्' शब्द व्यर्थ हो सकता है ।

प्र०—यदि ब्राह्मणभाग वेद है तो 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' ४-२-६६ । इस पाणिनिसूत्र से ब्राह्मणशब्द का ग्रहण क्यों है ? क्या वेदवाची 'छन्दस्' शब्द से ब्राह्मण का

हि ब्राह्मणानि छन्दांसि तदा पर्याप्तं छन्दांसीत्येव, यावता ब्राह्मणान्यपि छन्दांस्येवेति। सत्यम्। ब्राह्मणानां मन्त्रैः सह छन्दोभावस्य समानत्वे पृथग्ब्राह्मणग्रहणमपार्थकमिति प्राप्तं तथापि ब्राह्मणग्रहणमिह 'अधिकमधिकार्थम्' इति न्यायेन ब्राह्मणविशेषपरिग्रहार्थम्, तेनेह न, याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि सौलभानि। व्याकरणभाष्यकारोऽपि प्रकृतसूत्रे ब्राह्मणग्रहणप्रयोजनमिदमसूचयत् 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वदन्॥ अयमेवचार्थः 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' ।४।३।१०५। इति सूत्रे पुराणप्रोक्तत्वविशेषणेन ब्राह्मणानि विशिंषतः पाणिनेरभिमतः। इतरथा ब्राह्मणविशेषस्यापरिजिघृक्षितत्वे पुराणप्रोक्तेष्वित्याचार्यप्रवृत्तिरनर्थिका स्यादिति नापरोक्षं किमपि भाष्ये श्रमजुषां विदुषामिति बहुलेखादुदास्महे। यच्चाऽसौ ब्रूते धर्मध्वजी।

अन्यच्च कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा सम्मतेति विज्ञायते। एवमपि न सम्यगस्ति। कुतः। एवं तेनाऽनुक्तत्वादतोऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्। अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा भवितुमर्हतीति। इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्मन्त्राणामेव वेदसञ्ज्ञा न ब्राह्मणग्रन्थानामपिति सिद्धम्॥

इति, तदमुष्य गगननिष्ठीवनायितम्। केन वैदिकेनाभिहितं यत् कात्यायनोऽभिधत्ते "सहचारोपाधिना ब्राह्मणानां वेदसञ्ज्ञा सम्मता" इति, यच्चायमनालोचितशास्त्रोऽकृतगुरुकुलवासो ब्रूते "अन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात्" इति, तदप्यस्य हास्यास्पदम्। ब्राह्मणानां वेदभावस्य पूर्वोक्तरीत्या सर्वर्षिसम्मतत्वात्। यच्चैष कपटकाषायो ब्रूते। किञ्च भोः। ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्तव्यमाहोस्विन्नेति। अत्रब्रूमः। नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं

॥ भाषा ॥

ग्रहण नहीं हो सकता ?।

उ०—'अधिकमधिकार्थम्' इस न्याय से यहां 'ब्राह्मण' शब्द का ग्रहण इस लिये है कि जिस में सब ब्राह्मणों का ग्रहण इस सूत्र में न हो किन्तु पुराने ऋषियों के प्रवचन अध्यापन किये हुए ब्राह्मणों ही का ग्रहण हो इसी से नवीन ऋषियों के प्रवचन किये ब्राह्मणों के विषय में यह सूत्र नहीं लगता अर्थात् जैसे "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" ४-३-१०५। में ब्राह्मण का पुराणप्रोक्त (पुराने ऋषियों का प्रवचन किया हुआ) विशेषण है वैसा ही यहां ब्राह्मणशब्द का ग्रहण है और "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्" इस भाष्य से भी यही सूचित होता है।

भा०भू०—"कात्यायन के नाम से जो दोनों का वेद संज्ञा होने का वचन है.... इस से यह निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेद संज्ञा है ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं"

खं०—(१) कात्यायन के नाम से, इस कहने से ज्ञात होता है कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह कात्यायन का वाक्य ही नहीं है, सो यह भी वंचनामात्र है क्योंकि जब भूमिकाधारी से इस वाक्य के विरोध का परिहार नहीं हो सका तब अनन्यगति हो कर अब यही कहने लगा।

(२)—यह कथन भी कि 'कात्यायन ने ऐसा कहा भी हो तो यह मानने के योग्य नहीं है क्योंकि किसी अन्य ऋषि ने ऐसा नहीं कहा' मिथ्या ही है क्योंकि पूर्व में यह सिद्ध कर दिया गया है कि ब्राह्मणभाग का वेद होना सब ऋषियों को सम्मत है।

भा०भू०—"हम यह पूछते हैं....प्रमाण के योग्य तो हैं"

कर्तुं योग्यमस्ति। कुतः। ईश्वरोक्ता (१) भावात् तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येव॥

इति, सोऽस्य सर्वशास्त्रविपरीतस्तावदुपसंहारः। ब्राह्मणप्रामाण्यस्य मन्त्राविशेषेण-सकृत्साधितत्वात्। अतएव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापनप्रसङ्गेन "प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेने-तिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते" इत्याहस्म वात्स्यायनः। ब्राह्मणानां स्वतः-प्रामाण्यविरहे कथमिव परकीयप्रामाण्यबोधकतासम्भवस्तेषाम्। नहि प्रमाणभूमिमनधिरो-हन्ति ब्राह्मणान्यलब्धपदानि इतिहासपुराणीयप्रामाण्यव्यवस्थापनायेशते। तस्माच्छ्रुतिवेद-शब्दाम्नायनिगमपदानि मन्त्रभागमारभ्योपनिषदन्तानां वेदानां बोधकानीति शास्त्रविदां परामर्शः। अतएव 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' इत्यास्तिकजनजीवातुर्भ-गवान् मनुर्मेने। अतएव (२) तु वेदान्तचतुरध्याय्यां भगवान् व्यासोऽभिधित्सुरुपनिषदः समादृत्वेऽसकृच्छ्रुतिपदशब्दपदानि 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' अ० २ पा० १ सू० २७॥ 'पदात्तु तच्छ्रुतेः' अ० २ पा० ३ सू० ४१॥ 'भेदश्रुतेः' अ० ३ पा० ४ सू० १८॥ 'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते तद्विदः' अ० ३ पा० २ सू० ४॥ 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेः' अ० ३ पा० २ सू० ७॥ 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च' अ० ३ पा० ३ सू० ६४॥ 'वैद्युतेनैव

॥ भाषा॥

खं०—(१) यह अन्तिम उपसंहार (निचोड़) भी सब शास्त्रों से विपरीत ही है क्योंकि पूर्व में अनेक बार यह सिद्ध कर दिया गया है कि वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भाग तुल्य ही प्रमाण हैं।

(२)—जब कि पूर्व में 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानाम्प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' (ब्राह्मणरूपी प्रमाण से इतिहासों और पुराणों का प्रामाण्य सिद्ध होता है) यह वात्स्यायनमहर्षि का वाक्य अनेक बार दिखलाया गया है तब ब्राह्मणभाग को मनुस्मृति आदि के ऐसा परतःप्रमाण कहना भी मिथ्या ही है क्योंकि जो वाक्य स्वतःप्रमाण नहीं है उस से अन्य का प्रामाण्य कैसे सिद्ध हो सकता है ?।

तस्मात् यह सिद्ध हो गया कि श्रुति, वेद, शब्द, आम्नाय, समाम्नाय, निगम, ये सब पद मन्त्रभाग से ले कर उपनिषद् पर्य्यन्त ब्राह्मणभागरूपी वेदों के नाम हैं और यही दार्शनिकों का सिद्धान्त है। और मनु ने भी 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' अ० २ श्लो० १० ('श्रुति' इस पद का वेद अर्थ जानना चाहिये) ऐसा कहा है तथा व्यास भगवान् ने भी वेदान्तदर्शन में उपनिषद्रूपी, ब्राह्मणभाग के अन्तिम भाग को अनेक बार, वेदवाची 'श्रुति' और 'शब्द' पद से ग्रहण किया है जैसा कि उनके ये सूत्र हैं जो कि नीचे लिखे जाते हैं—

(१) श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् (अ० २ पा० १ सू० २७)
(२) पदात्तु तच्छ्रुतेः (अ० २ पा० ३ सू० ४१)
(३) भेदश्रुतेः (अ० ३ पा० ४ सू० १८)
(४) सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते तद्विदः (अ० ३ पा० २ सू० ४)
(५) तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेः (अ० ३ पा० २ सू० ७)
(६) गुणसाधारण्यश्रुतेश्च (अ० ३ पा० ३ सू० ६४)

(१) इत्युक्तिरमुष्यसाधीयसः साधुत्वं दर्शयति। (२) सूत्रेषूपनिषद्वाक्यानां सञ्जिघृक्षितत्वादेव।

ततस्तच्छ्रुतेः' अ० ४ पा० ३ सू० ६ ॥ इत्यादिसूत्रेषु ॥ अतएव च भगवान् कणादो दशाध्याय्या अन्ते "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" इत्युपसंजहाराम्नायपदेन बेदप्रामाण्यम्। अत्र हि आम्नायपदं संहितामारभ्योपनिषदन्तनिखिलबेदबोधकम् । समानतन्त्रे गौतमीये "मन्त्रायुर्बेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्" इति सूत्रे तत्पदोपादेयसोपनिषत्कवाक्यकलापस्यैव प्रामाण्यावधारणात् । तत्रत्यतच्छब्दस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकबेदबोधकता च प्रागवधारितैव । मन्वादिस्मृतयोऽप्यस्मिन्नर्थेऽनुकूलाः । तथाहि । षष्ठेऽध्याये मनुः "एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा बिप्रो बने वसन् । बिविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" २९॥ अत्र "औपनिषदीः श्रुतीः" इत्युक्त्या उपनिषदां श्रुतिशब्दवाच्यत्वं, श्रुतिशब्दस्य च बेदाम्नायपदपर्य्यायत्वम्। यथाह मनुरेव "श्रुतिस्तु बेदो बिज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः"। इति, ततश्च यद्युपनिषदः श्रुतय इत्यभिमेने व्यवजहार च मनुस्तर्हि ब्राह्मणानां बेदभाव आवश्यकः, यतो ब्राह्मणानामेव तु शेषभूता उपनिषदः । अतएव तु ता बेदान्त इत्यभिधीयन्ते । अतएव "दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः । बेदान्तं बिधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदृणो द्विजः" म० अ० ६ श्लो० ९४ ॥ इत्यादिमानवशास्त्रे बेदान्तपदेनोपनिषदां परिग्रहः।

॥ भाषा ॥

(७) बैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः (अ० ४ पा० ३ सू० ६) इत्यादि ।

(८) ऐसे ही बैशेषिकदर्शन अ० १० के अन्त में 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (ईश्वरोक्त होने से आम्नाय प्रमाण है) इस सूत्र में कणादमहर्षि ने आम्नायपद से, संहिता से उपनिषद् पर्य्यन्त समस्त बेद का ग्रहण किया है ।

(९) और गौतममहर्षि ने भी अध्याय २ आह्निक १ में 'मन्त्रायुर्बेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' ॥ ६१ ॥ (ईश्वरोक्त होने से वह अर्थात् ब्राह्मणभाग प्रमाण होता है और जैसे आयुर्बेद अर्थात् बैद्यक, प्रत्यक्षफल होने से प्रमाण है वैसे ही यज्ञों के प्रत्यक्षफल होने से भी बेद प्रमाण है) इस सूत्र से मन्त्र और ब्राह्मणरूपी समस्त बेद को प्रमाण कहा है ।

न्यायदर्शन और बैशेषिकदर्शन समानमन्त्र कहलाते हैं अर्थात् इन दर्शनों के बहुत से सिद्धान्त प्रायः तुल्य ही हैं इस से दोनों दर्शनों के उक्त दोनों सूत्रों का भी संहिता और ब्राह्मणरूपी समस्त ही बेद, बिषय है ।

(१०) तथा ६ अध्याय में मनु ने भी कहा है "एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा बिप्रो बने वसन् । बिविधाश्चौपनिषदी रात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥ (बानप्रस्थ को चाहिये कि पूर्वोक्त नियमों का और वानप्रस्थशास्त्र में उक्त अन्य नियमों का अभ्यास करै तथा अनेक प्रकार उपनिषदों की श्रुतियों को अपने तत्त्वज्ञान के लिये शब्दों के उच्चारण और अर्थ के बिचार से अभ्यास किया करै) यहां उपनिषदों को श्रुति शब्द से मनु ने ग्रहण किया है और अ० २ श्लो० १० में मनु ही ने 'श्रुतिस्तु बेदो बिज्ञेयः' ('श्रुति' इस पद का बेद अर्थ जानना चाहिये) कहा है । तो जब उपनिषदों को मनु ने बेदवाची 'श्रुति' शब्द से कहा तो उपनिषदों का बेद होना मनु ने स्वयं कह दिया और उपनिषद् ब्राह्मणभाग ही के अन्तिम भाग हैं इस रीति से मनु ने ब्राह्मणभाग को बेद कहा है ।

(११) मनु अध्या० ६ श्लो० ९४ 'दशलक्षणकं धर्म मनुतिष्ठन् समाहितः । बेदान्तं

नर्थकाम् ईशावास्योपनिषदमपहायापराः सर्वा अप्युपनिषदो ब्राह्मणान्तर्गता आर्ष्यो न वेदरूपाः। किन्तु ऋषिभिः प्राणायिषत । ईशावास्योपनिषत्तु शुक्लयजुःसंहितान्तर्गता तदीयाऽध्यायेषु चत्वारिंशत्तमस्वरूपेति तामेवैकां वेदरूपां मन्ये । तत्तात्पर्य्येणैव तु मनोरूपनिषत्सु श्रुतिवेदादिपदव्यवहार इति वाच्यम्। तथा सति "विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" इति मानवे बहुवचनासङ्गतेः । तदुपनिषदन्तर्गतश्रुतिबहुत्वतात्पर्य्येण कथञ्चिद् बहुवचनसमर्थनसम्भवेऽपि 'विविधा' इति तद्विशेषणं कथमपि नानुकूलयितुमर्हति, तथा सति "अनेकाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः" इत्येवोक्तं स्यादिति। एतेन एकामीशावास्योपनिषदमपहायापरा उपनिषदो न वैदिक्यः किन्तु आर्ष्य इति पुण्यजनस्यामुष्य कपटकाषायस्य वचः परं हसनीयमेव विदुषाम् । किञ्च । तथा सति व्याससूत्रेषु सर्वत्र विषयवाक्यभूता उपनिषद एवेति तत्तात्पर्य्येण व्यासस्य 'श्रुतेः' 'शब्दात्' इत्यसकृत्तथाऽभिधानमसङ्गतं स्यादिति पूर्वमवोचामैव । 'यथा ऋषीणां नामोल्लेखपूर्वका इतिहासा ब्राह्मणेषु वर्तन्ते नैवं संहितासु तस्माद्ब्राह्मणानि न वेदाः' इत्येतद्भ्रमनिराकरणं तु प्रकीर्णके प्रपञ्चयिष्यते इति सर्वं चतुरस्रमवदातं च ॥

व्यासोऽथ जैमिनिर्नाम कणादो गोतमस्तथा ।
वात्स्यायनस्तथापस्त-म्बश्च कात्यायनो मुनिः ॥
पतञ्जलिः पाणिनिश्चेत्येवमाद्या महर्षयः ।
प्राहुः स्म ब्राह्मणग्रन्थान् वेदं मन्त्रानिव स्फुटम् ॥

इति महामोहविद्रावणे प्रथमः प्रबोधः ।

॥ भाषा ॥

विधिवत्कृत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः' (द्विज को चाहिये कि गृहस्थाश्रम ही में धृति, क्षमा, दम, आदि १० पूर्वोक्त धर्मों का अनुष्ठान करता हुआ नियमपूर्वक गुरुमुख से वेदान्त अर्थात् उपनिषद्रूपी, वेद के अन्तिमभाग को उनके शब्दों के उच्चारण और अर्थ के विचार से समझ कर तथा अपना तीनों ऋण छुड़ा कर सन्यासाश्रम का ग्रहण करे) में जब ब्राह्मणभाग के उपनिषद्रूपी अन्तिम भाग, वेदान्त 'वेद का अन्तिमभाग' कहा है तब ब्राह्मणभाग के वेद होने में कुछ भी सन्देह नहीं है जैसे चरण के अङ्गुलियों को शरीर का अन्तिमभाग कहने से चरण के, शरीरभाग होने का निश्चय होता है । और केवल मनु जी ही ने नहीं उपनिषदों को वेदान्तशब्द से कहा है किन्तु अनादिकाल से सामान्यपुरुषों का भी उपनिषदों के विषय में 'वेदान्त' पद के व्यवहार का प्रवाह स्वाभाविक चला आता है ।

प्र०—एक ईशावास्य उपनिषद् तो वेद है क्योंकि वह शुक्लयजुसंहिता में ४० वां अ० है और ब्राह्मणभाग की उपनिषदें तो ऋषियों की बनाई हैं । ऐसी दशा में यह निश्चय क्यों नहीं हो सकता कि केवल ईशावास्यउपनिषद् ही के ध्यान से अनन्तरोक्त दो श्लोकों में मनु ने 'श्रुति' और 'वेद' पद का व्यवहार किया है ?

उ०—यदि ऐसा होता तो मनुजी 'विविधाः' (अनेक प्रकार की) 'औपनिषदीः' (उपनिषदों की) 'श्रुतीः' (श्रुतियों को) ऐसा न कहते क्योंकि एक ईशावास्य ही उपनिषद् के विषय में 'विविधाः' और बहुवचन कदापि नहीं घटित हो सकता । महामोहविद्रावण का प्रथम-

अत्रोच्यते । ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे मन्त्रास्तावत्प्रमाणम् ते यथा–

(१) स उत्तमां दिशमनुव्यचलत् ॥ ७ ॥ (अथर्व० कां० १५ अनु० १ सू० ६)

॥ भाषा ॥

प्रबोध समाप्त हुआ ।

अब इस के विषय में यह विवेक है कि पूर्वोक्त, भाष्यभूमिकानामक ग्रन्थ के प्रकरण में स्वामी ने ब्राह्मणभाग के वेद होने में जो २ युक्तिरूपी हेतु और शब्दरूपी प्रमाण दिखलाया उन में से हेतु सब इस प्रबोध में अटल दूषणों से ऐसा खण्डित और निर्मूल किये गये कि वे कदापि पुनः नहीं अंकुरित हो सकते और शब्दरूप प्रत्येक प्रमाण का भी स्वामी के उक्त मिथ्या अर्थों का खण्डन कर ऐसे अर्थ दिखलाये गये कि जिनके पुनः पलटने का सम्भव नहीं है तथा ब्राह्मण-भाग के वेद होने में प्रमाण भी अठारह १८ दिये गये जिन का अर्थ पूर्व में वर्णित हो चुका है और अब उनका स्वरूपमात्र एकत्रित कर दिया जाता है ।

(१) कात्यायन 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'
(२) आपस्तम्ब 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'
(३) जैमिनि 'शेषे ब्राह्मणशब्दः'
(४) कणाद 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'
(५) क० ब्राह्मणे सञ्ज्ञाकर्मसिद्धिर्लिङ्गम्"
(६) गोतम 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः'
(७) वात्स्यायन० न्यायभाष्य 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते'।
(८) व्यास-वे० द० 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' (अ० २ पा० १ सू० २७)
(९) ० ० ० 'पदात्तु तच्छ्रुतेः' (अ० २ पा० ३ सू० ४१)
(१०) ० ० ० 'भेदश्रुतेः' [अ० ३ पा० ४ सू० १८] इतिं

अब ध्यान देना चाहिये कि ब्राह्मणभाग के वेदत्व में संक्षेप से एक सहस्र पंद्रह [१०१५] प्रमाण हैं उनका ब्योरा यह है कि उक्त प्रबोधोक्त प्र० [१८] आगे परिगणित प्र० [१४७] अग्रिम [७] वें और [१४] वें अङ्कों से सूचित प्र० [८५०] हैं ।

(११) ० ० ० 'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः' [अ० ३ पा० २ सू० ४]
(१२) ० ० ० 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेः' [अ० ३ पा० २ सू०७]
(१३) ० ० ० 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च' [अ० ३ पा० ३ सू० ६४]
(१४) ० ० ० 'वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः' [अ० ४ पा० ३ सू० ६]
(१५) कणाद ० ० 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' [अ० १० अन्तिम सू०]
(१६) गोतम ० ० 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् [अ० २ आ० १ सू० ६१]
(१७) मनु 'एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः' ॥ [अ० ६ श्लो० २९]
(१८) ० 'दशलक्षणकं धर्मं मनुतिष्ठन् समाहितः ।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः' ॥ [अ० ६ श्लो० ९४]

अब ब्राह्मणभाग के वेद होने में और थोड़े से प्रमाण दिखलाये जाते हैं कि—

(१) "स उत्तमां०" वह परमेश्वर उत्तम दिशा की ओर चलते हैं [७]

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यऽचलन् ॥ ८ ॥

(२) ऋचां च वै ससाम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥९॥

अत्र हि ब्रह्मपदेन वेदवाचिना ब्राह्मणभागः स्पष्टमेवोच्यते। मन्त्राणामृगादिशब्दैः पृथगेवोपादानात्। किंच। ब्रह्मेति ब्राह्मणभागस्य श्रौती सञ्ज्ञा ब्राह्मणशब्दवत्। तथाच मनुः "ब्रह्मच्छन्दस्कृतंचैव" इति (अ० ४ श्लो० १००) ब्रह्म ब्राह्मणमिति कुल्लूकः।

(३) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दा ँ᳘सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।१। इति (यजु० अ० ३१ मं० ७)

अयमपि मन्त्रः स्वामिनं प्रति ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे प्रमाणम्। तेन हि छन्दःपदस्यात्रत्यस्य गायत्र्यादिपरत्वं नाभ्युपगम्यते। अतएव वेदभाष्याभासभूमिकायां ९ पृष्ठे "अथ वेदोत्पत्तिविषयः" इति प्रकरणे इममेव मन्त्रमुपन्यस्य "वेदानां गायत्र्यादिछन्दोऽन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्" इति स्वयमेव तेनोक्तम्। एतच्चानुपदमेवोद्धरिष्यते। एवं च छन्दःपदमत्रत्यं ब्राह्मणभागपरमेवेति भवत्येवायं मन्त्रः प्रकृतेऽर्थे प्रमाणम्।

यत्तु भाष्याभासभूमिकायाम् ९ पृष्ठे वेदोत्पत्तिविषय इत्युपक्रम्य—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दा ँ᳘सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत १॥ (यजु अ. ३१ मं. ७)

॥ भाषा ॥

"तमृचश्च०" उनके पीछे ऋक्, साम, यजु, और ब्रह्म भी चलते हैं।

(२) "ऋचाञ्च०" जो अनन्तरोक्त विषय को जानता है वह ऋचाओं, सामों, यजुओं और ब्रह्म का भी प्रियस्थान होता है। इन दो मन्त्रों में वेदवाचक ब्रह्मशब्द से ब्राह्मणभाग ही स्पष्ट कहा हुआ है और 'ब्रह्म' शब्द ही से ब्राह्मणशब्द बनता भी है और यह 'ब्रह्म' शब्द मन्त्रों को नहीं कहता क्योंकि ऋचा आदि मंत्र इन मन्त्रों से पृथक् ही कहे हुए हैं। और 'ब्रह्मन्' शब्द, ब्राह्मणभाग का 'ब्राह्मण' शब्द के तुल्य वेदोक्त नाम है जैसा कि मनु ने भी कहा है "ब्रह्मच्छन्दस्कृतं चैव" [अ० ४ श्लो० १००] और कुल्लूकभट्ट टीकाकार ने भी 'ब्रह्मन्' शब्द का यहां ब्राह्मणभाग अर्थ किया है। और प्र० खं० में भी यही सिद्ध हो चुका है।

(३) "तस्माद्यज्ञा०" (सर्वपूजित परमेश्वर से ऋङ्मन्त्र और साममन्त्र प्रकट हुए तथा छन्दस् अर्थात् ब्राह्मणभाग उन परमेश्वर से प्रकट हुए तथा यजुर्मन्त्र उन परमेश्वर से प्रकट हुए) इस 'छन्दस्' पद का ब्राह्मणभाग अर्थ है क्योंकि वेदभाष्यभूमिका ९ पृष्ठ में स्वामी ने कहा है कि "ऋक् आदि मन्त्र छन्दों के बिना नहीं होते और जब मन्त्रों की सृष्टि इस मन्त्र में पृथक् कही हुई है तब उसी से गायत्र्यादि छन्दों की सृष्टि गतार्थ हो जाती है" तो जब वे 'छन्दस्' शब्द का गायत्र्यादि अर्थ नहीं मानते तब उसका ब्राह्मणभाग ही अर्थ है जो कि अन्यकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ९ 'अथ वेदोत्पत्तिविषयः' इस प्रकरण में यह लिखा है कि भाषार्थ के साथ लिखा जाता है कि "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचःसामानिजज्ञिरे, छन्दा ँ᳘सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" [यजु अ० ३१ मं० ७]

प्रथम ईश्वर का नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं (तस्मात् यज्ञात्स०) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसोमुखम् ॥
स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः २॥ (अ. कां. १० प्र. २३ अनु ४ मं. २०)॥

भाष्यम् ।

(तस्माद्यज्ञात्सर्व०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दाꣳसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारोवेदास्तेनैवप्रकाशिता इति वेद्यम् । सर्वहुतइति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति वेदाः सर्वहुतः । यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं ग्रहीतुं योग्यः सन्त्यतः । जज्ञिरे अजायन्तेति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्वद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् । वेदानां गायत्र्यादिछन्दोऽन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः । श० कां० १ अ० १ ब्रा० १ कं० १३ । इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् य० अ० ५ मं० १५ । इति सर्वजगत्कर्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते नान्यत्र वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥१॥ (यस्मादृचो०) यस्मात्सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति । यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः अपाकषन् प्रादुर्भूतोऽस्ति । तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः (आङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः । एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन्मुख्योऽस्ति । सामानि लोमानीव सन्ति । यजुर्यस्य हृदयमृचः प्राणश्चेतिरूपकालङ्कारः । यस्माच्चत्वारो वेदा-

॥ भाषा ॥

चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है जो सब मनुष्यों के उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त हैं उसी परब्रह्म से [ऋचः] ऋग्वेद [यजुः] यजुर्वेद [सामानि] सामवेद और [छन्दांसि] इस शब्द से अथर्व भी चारो वेद उत्पन्न हुए हैं इस लिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों को ग्रहण करैं और वेदोक्त रीति से ही चलैं [जज्ञिरे] और [अजायत] इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त है ऐसा जाना जाता है वैसे ही [तस्मात्] इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं किसी मनुष्य से नहीं वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर [छन्दांसि] इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उस की उत्पत्ति का प्रकाश होता है । शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञशब्द से विष्णु का और विष्णुशब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है अन्यत्र नहीं ॥ १ ॥ [यस्मादृचो अपा०] जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उसी से [ऋचः] ऋग्वेद [यजुः] यजुर्वेद [सामानि] सामवेद [आंगिरसः] अथर्ववेद ये चारो उत्पन्न हुए हैं इसी प्रकार रूपकालंकार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के सम (तुल्य), सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण के नाईं है (ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) कि चारो वेद जिस से

उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोऽस्ति तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः । अस्योत्तरम् (स्कंभं तं) तं स्कंभं सर्वजगद्धारकम्परमेश्वरं त्वं जानीहीति तस्मात्स्कंभात्सर्वाधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिद-प्यन्योदेवो वेदकर्ता नवाऽस्तीति मन्तव्यम् ॥२॥ एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित-मेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः श० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ६ कं० ११ ॥ अस्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योऽभिवदति हे मैत्रेयि महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशादृग्वेदादिचतुष्टयं (निःश्वसितं) निःश्वासवत्सहजतयानिःसृतमस्तीति वेद्यम् । यथा शरीराच्छ्वासोनिःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चय इत्युक्तम् ।

तदेतत् स्वविषमूर्छितो भुजङ्गः स्वमेव दशतीतिन्यायोदाहरणमेव । नहि ऋगित्यादेर्ऋग्वेद-इत्यादिरर्थो वैदिकजनमाननीयः किंतु ऋगाद्याख्या मन्त्रा इत्येव । कथमन्यथाऽत्रैव प्रमाण-तया तदुपन्यस्ते 'एवं वा अरे अस्ये' त्यादौ ऋगादिपदसमभिव्याहृतवेदपदाभ्यासस्य सार्थकता समर्थ्येत, तथासति प्रकृतमन्त्र इव लाघवेनात्र ब्राह्मणेऽपि ऋगादिपदमात्रस्यै-

॥ भाषा ॥

उत्पन्न हुए हैं सो कौन सा देव है उसको तुम मुझ से कहो इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कंभं तं० जो सब जगत् का धारणकर्ता परमेश्वर है उसका नाम स्कंभ है उसी को तुम वेदों का कर्ता जानो और यह भी जानो कि उसको छोड़ कर मनुष्यों के उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है क्योंकि ऐसा अभागा कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़, दूसरे को परमेश्वर मान कर उपासना करे ॥ २ ॥ (एवं वा अरे अस्य) याज्ञवल्क्य महा विद्वान् जो महर्षि हुए हैं वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उससे ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारो वेद उत्पन्न हुए हैं जैसे मनुष्य के शरीर से श्वासा बाहर को आ कर फिर भीतर को जाती है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं बीजांकुरवत् जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है वही वृक्षरूप हो कर फिर भी बीज के भीतर रहता है इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं उनका नाश कभी नहीं होता क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है इस से उन को नित्य ही जानना ।

प्र०—उक्त दो मन्त्रों और उक्त ब्राह्मणवाक्य के इस व्याख्यान से जब यह सिद्ध है कि ऋगादि नामक मन्त्रभाग ही वेद हैं तब 'तस्माद्यज्ञात्०' इस मन्त्र से ब्राह्मणभाग का वेद होना (जो पूर्व ही कहा गया) कैसे सिद्ध हो सकता है ? ।

उ०—स्वामी के इस व्याख्यान ही पर यह प्रश्न निर्भर है इस लिये उक्त व्याख्यान ही पर विचार करना आवश्यक है और उस से भी यही निश्चित होता है कि वेदों के ईश्वरोक्त होने में स्वामी ने 'तस्माद्यज्ञात्०' इस मन्त्र को स्वयम् प्रमाण दिया परन्तु इसी मन्त्र से उन के मत (ब्राह्मणभाग वेद नहीं है) का स्पष्ट ही खण्डन होता है इस लिये जैसे अपने विष से मूर्छित हो कर सर्प अपने ही को काटै वैसे ही इस अवसर पर अपने उद्धृत 'तस्माद्यज्ञात्०' इस मन्त्र से स्वामी स्वयं अपने मत की हानि को प्राप्त होते हैं जिसका विवरण यह है कि—'तस्माद्यज्ञात्०'

बोपादातुमुचितत्वेन सकृदपि बेदपदोपादानस्य निष्फलतया बेदपदाभ्याससार्थकत्वसंभावनाया अपि दूरतरनिरस्तत्वात्। नच ऋगादीनां बेदपदव्यपदेश्यत्वबोधनायैव बेदपदाभ्यास इति वाच्यम्, बिकल्पासहत्वात्। तथाहि। ऋग्बेदइत्यादि समस्तं स्यात् व्यस्तं वा। नाद्यः। तथासति ऋगादिकमुद्दिश्य बेदत्वबिधानस्य वक्तुमशक्यत्वात्। प्रथमाविभक्तिप्रकृतित्वेन श्रोतृबिदितस्यैव हि नाम्नः स्वार्थे बिधेयताया अभेदसम्बन्धावच्छिन्नायाः समर्पकतां क्रोडीकरोति शाब्दी मर्यादा नत्वन्यादृशस्य। अतएव 'बषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इति श्रुतौ भक्षमुद्दिश्य लघुनोऽपि प्राथम्यमात्रस्य बिधातुमशक्यत्वात्प्राथम्यबिशिष्टस्य भक्षस्य गुरोरपि

॥ भाषा ॥

इस मन्त्र में ऋक् साम आदि शब्दों का ऋग्बेद सामबेद आदि अर्थ कदापि नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा हो, तो 'एवं बा अरेऽस्य०' इस, स्वामी के प्रमाण दिये हुए ब्राह्मणवाक्य में ऋग्बेदः, यजुर्बेदः, सामबेदः यह तीन बार बेदशब्द का उच्चारण इस कारण, व्यर्थ ही हो जायगा कि जैसे उक्त मन्त्र में 'बेद' शब्द के बिना भी ऋक् आदि शब्द से ऋग्बेद आदि का बोध स्वामी ने स्वीकार किया है वैसे ही इस ब्राह्मणवाक्य में बेदशब्द के बिना भी ऋक् आदि शब्द से जब ऋग्बेद आदि का बोध हो सकता है तब एक बार भी बेदशब्द के उच्चारण का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता और अनेक बार बेदशब्द के उच्चारण की तो कथा ही क्या है।

समाधान—"ऋक् आदि मन्त्रों का बेद नाम है" ऐसे बोध के लिये अनेक बार बेदशब्द का उच्चारण है क्योंकि ऋक् साम आदि शब्दों के साथ यदि बेदशब्द बार २ न कहा जाता तो यह कैसे ज्ञात होता कि ऋक् साम आदि मन्त्र बेद कहलाते हैं ?

खं० (१)—उक्त ब्राह्मणवाक्य में 'ऋग्बेदः' आदि, समास (दो शब्दों के मेल से बना हुआ एक शब्द) है, अथवा ऋक् और बेद पृथक् २ दो शब्द हैं ? यदि प्रथम पक्ष है तो "ऋक् मन्त्र, बेद है" ऐसा अर्थ ही नहीं हो सकता क्योंकि जैसे "राजा, पण्डित है" इस वाक्य से राजा के पण्डित होने का बोध, उस पुरुष को कराया जाता है जो कि राजा को जानता है, न कि उस पुरुष के बोधार्थ, जो कि राजा को नहीं जानता, अथवा राजा और उसके पण्डित होने को भी जानता है। और ऐसे ही बिषय में, ज्ञातबिषय को उद्देश्य और अज्ञातबिषय को बिधेय कहते हैं। तथा ऐसे बिषय में यह अनुभवसिद्ध नियम है कि उद्देश्यशब्द और बिधेयशब्द अलग २ रहते हैं जैसे कि "राजा-पण्डित है" इस वाक्य में राजा (उद्देश्यशब्द) अलग और पण्डित (बिधेयशब्द) अलग ही है अर्थात् ऐसे बिषयमें राजन् शब्द, और पण्डितशब्द, समस्त हो कर एक नहीं होते क्योंकि यदि एक हो जायं तो राजा उद्देश्य और पण्डित बिधेय नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि यदि दोनों को एक पद बना कर (राजपण्डित) वा (पण्डितराज) कहा जाय तो उस से यह बोध नहीं होता कि "श्रोता पुरुष, जिस को राजा जानता है वह पण्डित है" निदान—जब 'ऋग्वेदः' आदि एक शब्द हैं तब उतने मात्र का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि ऋगादि मन्त्र, बेद हैं। इसी से पूर्वमीमांसा अध्या० ३ पा० ५ "बषट्काराच्च भक्षयेत्" ॥ ३२ ॥ से जैमिनिमहर्षि ने यह सिद्धान्त किया है कि "बषट्कर्तुः प्रथमभक्षः" (प्रथम भोजन करना बषट् करने वाले ऋत्विक् का काम है) इस श्रुति में 'प्रथमभक्षः' शब्द से भक्षणरूपी उद्देश्य में प्रथमतामात्र के बिधान करने में यद्यपि लाघव है तथापि वैसा अर्थ तब ही हो सकता है कि जब "प्रथमः भक्षः" ऐसे

विधानेन तस्य वषट्कारनिमित्तकत्वं 'वषट्काराच्च भक्षयेत्' (पू० मी० अ० ३ पा० ५ सू० ३२) इति सूत्रेण सिद्धान्तितं भगवता जैमिनिना। एवं वेदशब्दस्य तन्त्रे विरुद्धत्रिक-द्वयस्य, आवृत्तौ तु वाक्यभेदस्य, प्रसङ्गो दुर्वारइत्यादिकं नेहोपन्यस्यते। विस्तरभयात्। एवं रसविद्याऽऽचार्यैरपि विधेयाविमर्शाख्यस्य काव्यदोषस्य 'अविमृष्टविधेयांशः समासपिहिते विधाविति लक्षणमभिहितम्। न द्वितीयः। 'ऋक्यजुःसाम च वेदा' इत्येतावतैव सामञ्जस्ये वेदपदाभ्यासवैयर्थ्यतादवस्थ्यात्। किंच। तथासत्यथर्वाङ्गिरसपदसमभिव्याहारे वेदपदा-नुपादानेनाथर्वाङ्गिरसे वेदपदार्थत्वाभावप्रसङ्गो वज्रलेपायते। एतेन छन्दांसीत्यनेनाथर्व-वेदोपग्रह इति निरस्तम्। उक्तरीत्या तत्र वेदत्वस्यैव वक्तुमशक्यत्वात्। छन्दःशब्दस्य वेद-सामान्यवाचकतया विशेषरूपेणाथर्ववेदवाचकत्वाभावेन हलवहनयोग्यगवादिबोधतात्पर्य-प्रयुक्तगवादिपदानामिव तस्य विशेषधर्मविशिष्टतात्पर्यकत्वे लाक्षणिकत्वप्रसङ्गाच्च। नच 'तस्माद्यज्ञा' दितिमन्त्रेऽथर्ववेदस्य विशेषतोऽनुपादानप्रसङ्गात्प्रसजन्त्या न्यूनतायाः परिहाराय

॥ भाषा ॥

अलग २ दो शब्द हों और इस श्रुति में तो उसके विपरीत अर्थात् समास कर "प्रथमभक्षः" यह एक ही शब्द है। तस्मात् वषट्कर्ता ही यहां उद्देश्य है, और प्रथमभक्षण ही का विधान है। इस लिये प्रथमभक्षण करने में वषट्कार ही कारण है। तथा साहित्यविद्या के आचार्यों ने भी 'विधेयाविमर्श' नामक काव्यदोष का 'अविमृष्टविधेयांशः समासपिहिते विधौ' यह लक्षण कहा है जिसका यह अर्थ है कि जहां विधेय बना कर किसी अर्थ के बोध कराने के लिये उस अर्थ के वाचक शब्द का, अन्य अर्थात् उद्देश्यशब्द के साथ समास कर दिया जाय वहां 'विधेयाविमर्श' नामक दोष होता है जैसे पूर्व में उदाहरण कह चुके हैं।

द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें दो दोष पड़ते हैं। एक यह कि ऋक् आदि और वेद शब्द, यदि अलग २ पद होते तो "ऋक् यजुः साम च वेदाः" (ऋङ्मन्त्र यजुर्मन्त्र, साममन्त्र वेद हैं) इतने मात्र से यह बोध हो सकता था कि "ऋगादिमन्त्र वेद हैं" तो ऐसी दशा में पुनः २ वेदशब्द का ग्रहण व्यर्थ ही हो जायगा। और दूसरा दोष यह है कि उक्त ब्राह्मण-वाक्य में 'ऋक्' आदि शब्द के साथ 'वेद' शब्द के होने से यदि ऋक् आदि वेद हैं तो अथर्व-मन्त्र, वेद न कहलावेंगे क्योंकि 'अथर्वाङ्गिरसः' के साथ वेदशब्द नहीं है।

खं०—(२) अनन्तरोक्त द्वितीयदोष से स्वामी का यह व्याख्यान भी परास्त हो गया कि 'तस्मात्यज्ञात्० इस मन्त्र में 'छन्दः' शब्द से अथर्ववेद का ग्रहण है' क्योंकि जब अथर्वा-ङ्गिरसः के साथ वेदशब्द के न होने से अथर्वमन्त्र, वेद ही नहीं हैं तब उक्त मन्त्र में छन्दःशब्द से उनका कैसे ग्रहण हो सकता है? तथा उक्त मन्त्र में छन्दःशब्द से केवल अथर्ववेद का ग्रहण इस कारण से भी नहीं हो सकता कि छन्दःशब्द, वेदशब्द का समानार्थक है इस से वह वेद-सामान्य ही का बोध करा सकता है न कि केवल वेदविशेष का।

समा०—'तस्माद्यज्ञात्०' इस मन्त्र में किसी शब्द से यदि अथर्ववेद का ग्रहण न किया जाय तो इस मन्त्र में न्यूनतादोष का कारण ही नहीं हो सकता क्योंकि अथर्ववेद की उत्पत्ति कहां से निकलैगी? तस्मात् उसी न्यूनतादोष के परिहारार्थ यह कल्पना की जाती है कि

बेदपर्यायस्यापि छन्दःपदस्य बेदबिशेषपरत्वमाश्रयणीयमिति वाच्यम्। एवं सति 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मा' दिति तृतीयेनैव पादेन निखिलन्यूनतापरिहारसंभवेऽवशिष्ट पादत्रयबैयर्थ्यापत्तेः। नचर्ग्यजुषादीनां बिशिष्योत्पत्तिबुबोधयिषयैव ऋगादिभिर्बिशेषपदैर्निर्देश इति वाच्यम्। एवं सति 'अथर्बाङ्गिरसोमुखम्' इति तदुपन्यस्तद्वितीयमन्त्रइवात्राप्यथर्बाङ्गिरसपदेनैवाथर्बबेदस्याप्युपादातुमौचित्येन 'छन्दांसी' ति सामान्यशब्दनिर्देशासङ्गतेर्दुरुद्धरत्वात्। नच 'अथर्बाङ्गिरसोमुखमि' त्यनुरोधादेवात्र मन्त्रे छन्दःशब्दस्य बिशेषपर्यवसानमुन्नीयते तदभिप्रायेणैव च मया द्वितीयो मन्त्र इहोपन्यस्त इति बाच्यम्। तथा सति द्वितीयमन्त्रानुरोधादेव ऋगादीनामपि प्रथममन्त्रे बिशिष्य लाभस्य सुवचतया 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मादि' ति सामान्यवाक्येनैव सामञ्जस्ये पादत्रयसार्थक्यस्य दुःसमर्थत्वापातात्।

॥ भाषा ॥

छन्दःशब्द, यद्यपि बेदसामान्य का वाचक है तथापि उक्त मन्त्र में ऋक् साम यजु का पृथक् ग्रहण होने पर छन्दःशब्द के उच्चारण से यह निश्चित होता है कि यहां छन्दःशब्द का अथर्बबेद ही में तात्पर्य है, क्योंकि तीन बेदों के ग्रहण होने पर वही अवशिष्ट रह जाता है।

खं०—यदि उक्त न्यूनतादोष के बारणार्थ ही उक्त मन्त्र में छन्दःशब्द का उच्चारण है तब तो वह ब्यर्थ ही है और वही नहीं ब्यर्थ है किन्तु उक्त मन्त्र के तीनों चरण ब्यर्थ हैं क्योंकि "छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्०" (उन परमेश्वर से बेद प्रकट होते हैं) इतने मात्र से चारो बेदों के प्रादुर्भाव का लाभ इस रीति से हो सकता था कि छन्दःशब्द का बेदसामान्य अर्थ है, जिस से कि उक्त न्यूनतादोष का गन्ध भी नहीं रह जाता।

समा०—उक्त मन्त्र के तीन चरण इस लिये हैं कि जिस में ऋक् साम आदि शब्द से ऋग्बेद आदि की पृथक् २ उत्पत्ति का बिशेषरूप से बोध हो, जो कि 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इतने मात्र से नहीं हो सकता। तथा "यस्मादृचो अपातक्षन्०" इस उक्त द्वितीयमन्त्र में अथर्बाङ्गिरस शब्द के नाईं प्रथममन्त्र में छन्दःशब्द भी अथर्बबेद ही के ग्रहणार्थ है, न कि ब्यर्थ।

खं०—यदि द्वितीयमन्त्र के दृष्टान्त ही से छन्दःशब्द का अथर्बबेद में तात्पर्य कहा जाता है तब तो प्रथममन्त्र में छन्दःशब्द का कथन हीं असङ्गत हो जाता है क्योंकि द्वितीयमन्त्र में जैसे अथर्बबेद मात्र का वाचक 'अथर्बाङ्गिरसः' शब्द है वैसे ही प्रथममन्त्र में भी अथर्बमन्त्र ही का वाचक शब्द रखना उचित था न कि छन्दःशब्द का, जिस से यह भी भ्रम हो सकता है कि ऋक् आदि, छन्द (बेद) नहीं हैं किन्तु उनसे अन्य ही कोई छन्द हैं क्योंकि यहां ऋक् आदि से पृथक् छन्दःशब्द कहा है।

समा०—द्वितीयमन्त्र में "अथर्बाङ्गिरसो मुखम्" कहा है उसी के प्रमाण से स्वामी यह कह सकते हैं कि प्रथममन्त्र में बेदसामान्य के वाचक छन्दःशब्द का अथर्बबेदरूपी बिशेष में तात्पर्य है और इसी अभिप्राय से उक्त भूमिका (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका) में स्वामी ने दोनों मन्त्रों को साथ ही उद्धृत भी किया है।

खं०—यदि द्वितीयमन्त्र ही के प्रमाण से प्रथममन्त्र में सामान्यवाचक शब्द का बिशेष में तात्पर्य कहा जाय तो तीन चरणों का बैयर्थ्यरूपी पूर्वोक्तदोष ही पलट कर ऐसा कोप करेगा जिसकी चिकित्सा ही नहीं हो सकती क्योंकि तब मुक्तकण्ठ हो कर यह कह सकते हैं कि प्रथममन्त्र में तृतीयपाद (छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्०) मात्र ही रहना चाहिये और द्वितीय-

नचानयोर्मन्त्रयोर्भिन्नाभिन्नस्थलस्थतया प्रथममन्त्रे विशिष्य ऋगादिनिर्देशाभावे द्वितीयमन्त्रादर्शिनां प्रथममन्त्रस्थतृतीयपादश्रवणमात्राद् विशिष्य ऋगादीनामुत्पत्तेर्बोधो न स्यादिति तदर्थमेव पादत्रयोपादानमिति वाच्यम् । तथासत्येवमेव द्वितीयमन्त्रादर्शिनां विशिष्याथर्ववेदस्योत्पत्तेरपि बोधो न स्यादिति तदर्थं द्वितीयमन्त्रइवात्राप्यथर्वाङ्गिरसशब्दस्यैवोपादेयतया वेदपर्यायछन्दःपदोपादानासङ्गतितादवस्थ्यात् । नच स्वतन्त्रेच्छेन भगवताऽथर्वाङ्गिरसपदोपादानौचित्येऽपि छन्दःपदमेवेहोपात्तमिति कस्तत्रपर्यनुयोगावसर इति वाच्यम् । तथासत्यसन्दिग्धवेदविशेषबोधनक्षमाभ्यां सामयजुःपदाभ्यामुभयतः सन्दंशेऽथर्वाङ्गिरसं विशेषतोऽबुबोधयिषोरुचिततममप्यथर्वाङ्गिरसपदं द्वितीयमन्त्रे स्वोपात्तमपि प्रकृतमन्त्रेऽनुपादाय

॥ भाषा ॥

मन्त्र के चार चरणों के अनुसार छन्दःशब्द का चारो वेदों में विशेषरूप से तात्पर्य है अर्थात् 'छन्दांसि जज्ञिरे' इस में छन्दःशब्द का ऋचाएं अर्थ हैं क्योंकि द्वितीयमन्त्र (ऋचो अपातक्षन्) में ऋचः कहा है। ऐसे ही उक्त छन्दःशब्द का यजु भी विशेषरूप से अर्थ है, क्योंकि द्वितीयमन्त्र (यजुर्यस्मादपाकषन्) में यजुः कहा है। ऐसे ही छन्दःशब्द का साम भी विशेषरूप से अर्थ है क्योंकि द्वितीयमन्त्र (सामानि यस्य लोमानि) में साम भी कहा है तथा छन्दःशब्द का अथर्ववेद भी विशेषरूप से अर्थ है जैसा स्वामी कहते हैं। इस क्रम से स्वामी की कही हुई रीति के अनुसार 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इस तृतीयचरणमात्र से चारो वेदों के पृथक् बोध होने के कारण उक्त प्रथममन्त्र के तीनों चरण व्यर्थ हो गये।

समा०—जो लोग अथर्ववेद (जिस में द्वितीयमन्त्र है) नहीं पढ़े हैं उनको विशेषरूप से ऋग्वेद आदि की उत्पत्ति समझाने के लिये प्रथममन्त्र में तीन चरण हैं क्योंकि द्वितीयमन्त्र, अथर्ववेद का है और जब वे उस मन्त्र को जानते नहीं तब कैसे उस मन्त्र के अनुसार उनको 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्०' इतने मात्र से उक्त बोध हो सकता है ? इस रीति से प्रथममन्त्र के तीन चरण व्यर्थ नहीं हैं।

खं०—यदि ऐसा है तब भी जैसे द्वितीयमन्त्र में 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द है वैसे ही प्रथममन्त्र में भी वही शब्द कह कर विशेषरूप से अथर्ववेद का ग्रहण करना उचित था न कि वेदसामान्य का वाचक छन्दःशब्द का कहना।

समा०—यद्यपि प्रथममन्त्र में अनन्तरोक्त रीति से छन्दःशब्द ही का कहना उचित था तथापि परमेश्वर स्वतन्त्र हैं इस से उन्हों ने यदि अथर्वाङ्गिरस शब्द को न कह कर छन्दःशब्द ही को कहा तो इस पर किसी को आक्षेप करने का क्या अवसर है ?।

खं०—इस समाधान में तीन दोष पड़ते हैं। एक यह कि प्रथममन्त्र के, द्वितीय और चतुर्थ चरण में वेदविशेष का वाचक सामशब्द और यजुःशब्द जैसे परमेश्वर ने कहा है वैसे ही उन दोनों के मध्य अर्थात् तृतीय चरण में यदि अथर्ववेद का ग्रहण करना उनको इष्ट था तो साम और यजुः शब्द के नाईं वेदविशेष का वाचक 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द ही का कथन उचित था जैसा कि 'अथर्वाङ्गिरसः' इस द्वितीयमन्त्र में उन्हों ने स्वयं कहा भी है तो ऐसी दशा में अथर्वाङ्गिरस शब्द को छोड़ कर छन्दःशब्द कहने से यही स्पष्ट निश्चित होता है कि प्रथममन्त्र के तृतीयचरण से अथर्ववेद का ग्रहण परमेश्वर को कदापि इष्ट नहीं है क्योंकि यदि वह इष्ट होता तो अथर्वाङ्गिरस

छन्दःपदमुपाददानस्य भगवतएवाकौशलकल्पनाप्रसङ्गात् । किंच । तेनैवोपन्यस्ते 'यस्मादृच' इति द्वितीयमन्त्रे तज्जातीयेष्वन्येषु च बैदिकेषु बेदबिशेषनिर्देशस्थलेषु बहुशोऽनुभूतचरी बेदत्रयनिर्देशपृष्ठचरस्याथर्वाङ्गिरसानिर्देशस्य सकलबैदिकलोकपरिशीलिता बैदिकी शैली, प्रकृते छन्दःपदस्याथर्वाङ्गिरसमात्रपरतां प्रलपता बिकलहृदयेनेवोल्लङ्घितैव स्यात् । यदि न्यूनतापरिहारस्यावश्यकत्वादिह छन्दःपदेनाथर्वाङ्गिरसपरिग्रहः तदा मीमांसादर्शने अ० २ पा० १ 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इति ॥ ३२ ॥ सूत्रे भाष्यबार्तिकन्यायसुधाशास्त्रदीपिकान्यायमालादावधिकरणबिषयवाक्यत्वेनोदाहृतम् ।

अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः ।
ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम् ॥ (तै० ब्रा० १।२।२६)

इत्येतं मन्त्रमाक्रामन्ती न्यूनता केन नामोपायेन परिहरणीयेत्यवश्यवचनीयमापद्यते। नचेह बेदपर्यायोऽपि कश्चिच्छब्दोऽस्ति योऽथर्वाङ्गिरसोपग्रहकुचोद्यचर्चामप्युदञ्चयेत् । यदि तु ऋङ्मन्त्रसमुदाय एव तुलापुरुषशान्त्यादिरूपा बैतानिकामेककर्मबिशेषावच्छेदेनैकनिबन्धतामापन्नोऽथर्वाङ्गिरसपदेनापादिश्यते न जातु तदन्यः कश्चित् । अतएव 'त्रयो बेदा असृज्यन्ते' त्यादिः श्रौती, 'त्रयं ब्रह्म सनातन' मित्यादिः स्मार्ती, 'त्रयी' तिच साधारणी प्रसिद्धि-

॥ भाषा ॥

शब्द ही को कहते न कि छन्दस् शब्द को ।

और दूसरा दोष यह है कि बेद, धर्मशास्त्र, आदि में जहां २ चार बेदों की गणना है वहां सर्वत्र अथर्बबेद की गणना अन्त ही में की जाती है इस रीति में कहीं व्यभिचार नहीं है जैसा कि स्वामी हीं के उद्धृत 'यस्मादृचो अपातक्षन्०' इस मन्त्र तथा उन्हीं के उद्धृत 'एवं वा अरे' इस ब्राह्मणवाक्य में अथर्बबेद की गणना अन्त ही में है । अब यह स्पष्ट हो गया कि स्वामी का यह कथन (प्रथममन्त्र में छन्दःशब्द से अथर्बबेद का ग्रहण है) अत्यन्तबिरुद्ध है क्योंकि प्रथममन्त्र में छन्दःशब्द अन्त में नहीं है किन्तु मध्य ही में है तब कैसे उस से अथर्बबेद के ग्रहण करने का संभव भी हो सकता है ?

और तीसरा दोष यह है कि यदि स्वामी के उक्त, न्यूनता के परिहारार्थ, छन्दस् शब्द से अथर्बबेद का ग्रहण स्वीकार किया जाय तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ैगा कि जिस बैदिकस्थल में ऋक् साम यजु तीन हीं शब्द हैं अर्थात् छन्दस् अथवा अथर्वाङ्गिरस आदि शब्द नहीं हैं वहां न्यूनतादोष के बारण का कोई उपाय नहीं है 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्' (तै० ब्रा० १।२।२६) (हे अहिंसक, जगत् के आदि में उत्पन्न आवसथ्य अग्नि ! तू जिस को तीनों बेदों के ज्ञाता लोग ऋक् साम यजु जानते हैं मेरे उस मन्त्र की रक्षा कर क्योंकि वही सत्पुरुषों की नित्य लक्ष्मी है) इस मन्त्र में अथर्वबेद की गणना न करने से न्यूनतादोष दुर्बार ही हो जायगा क्योंकि यहां तो छन्दस् आदि शब्द भी नहीं है कि जिस से अथर्बबेद के ग्रहण का व्यर्थ बकवाद भी उठाया जा सकै ।

समा०—अथर्बबेद के मन्त्र ऋग्बेद ही के हैं इसी से अथर्बबेद तीन हीं में अन्तर्भूत है अर्थात् पृथक् नहीं है इस में प्रमाण 'त्रयो बेदा असृज्यन्त' (तीन बेद प्रकट हुए) यह ब्राह्मण और 'त्रयं ब्रह्म सनातनम्' यह मनुस्मृति है । और बेदों को 'त्रयी' कहते हैं इस से भी तीन हीं

विकसति। अतएव च 'सा ऋग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः' इति भगवान् जैमिनी ऋक्सामयजूंष्येव निरूचे, नत्वथर्वाङ्गिरसमपि। अतएव चोक्ते 'एवं वा अरे' इत्यादौ शतपथवाक्येऽपि नाथर्वाङ्गिरससमभिव्याहारे वेदपदोपादानम्। तथाच 'अहे बुध्निये' ति मन्त्रे न्यूनतैव नास्तीति क्व तत्परिहाराय पर्यनुयोगस्यावकाश इत्युच्यते। तर्ह्यस्मिन्मन्त्र इव 'तस्माद्यज्ञादि' ति मन्त्रेऽपि तुल्यन्यायत्वान्नास्त्येव छन्दः-पदानुपादानेऽपि काचन न्यूनतेति कस्य दोषस्य परिहाराय भूमिकाभृता छन्दःशब्दस्या-थर्वाङ्गिरसोपग्राहकता दुरुद्ग्राह्यत इत्यप्युच्यताम्। तस्मात्प्रथममन्त्रे छन्दःशब्दस्य न कथ-मप्यथर्वाङ्गिरसमात्रपरत्वं शक्यमुत्प्रेक्षितुम्। नापि गायत्र्यादिपरत्वम्। 'वेदानां गायत्र्यादि-छन्दोऽन्वितत्वात्पुनश्छन्दांसीतिपदम्' इत्यभिदधता भूमिकाधारिणा छन्दःशब्दस्य गायत्र्या-दिपरतायाः स्वयमेव प्रत्याख्यातत्वात्। एवं च भूमिकाभृताऽवश्यमेव वर्णनीयम्। अयमत्र मन्त्रे छन्दःशब्दस्यार्थ इति, शरणीकरणीयं वाऽनन्यशरणेन तदेव यदस्माभिरुपवर्णितम्। किं तदिति चेत्। श्रूयताम्। 'ऋगादिशब्दा मन्त्राणामेव वाचकाः। ऋग्वेदादिशब्दास्तु ऋगादितत्सम्बन्धिब्राह्मणोभयसमुदायवाचकाः। अतएव 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाये' त्यादौ पूर्वोक्तमन्त्रे वेदशब्दो न श्रूयते, श्रूयते च पुनःपुनः 'एवं वा अरेऽस्य महतो

॥ भाषा ॥

वेद सिद्ध होता है। तथा इसी अभिप्राय से पूर्वमीमांसा अध्या० २ पा० १ में ऋक्, साम, यजु, इन तीन हीं का लक्षण कहा है अथर्व का नहीं, और उक्त ही अभिप्राय से 'एवं वा अरे' इस उक्त शतपथवाक्य में अथर्वाङ्गिरस के समीप में वेद शब्द नहीं कहा गया है। इस रीति से जब तीन हीं वेद हैं तब 'अहे बुध्निय' इस मन्त्र में अथर्ववेद न कहने पर भी न्यूनतादोष नहीं हो सकता।

खं०—यदि ऐसा है तो 'तस्माद्यज्ञात्' इस प्रथममन्त्र में यदि छन्दस् शब्द न कहा जाय तब भी 'अहे बुध्निय' इस मन्त्र के नाईं न्यूनतादोष नहीं है इस लिये ऐसी दशा में स्वामी का यह अभिप्राय 'न्यूनतादोष के वारणार्थ छन्दस् शब्द से अथर्ववेद का ग्रहण है' सर्वथा असङ्गत ही है।

तस्मात् प्रथममन्त्र में छन्दस्शब्द का अथर्ववेद अर्थ कदापि नहीं हो सकता और गायत्री उष्णिक् आदि अर्थ का निराकरण तो स्वामी ने हीं उक्त अपनी भूमिका में किया है। इस रीति से प्रथममन्त्र में 'छन्दस्' शब्द का अथर्ववेद और गायत्री आदि से अन्य अर्थ, स्वामी को अवश्य कहना पड़ा जिस को वे ब्राह्मणभाग को वेद माने बिना त्रिकाल में भी नहीं कह सकते।

प्र०—यदि उक्त दोनों अर्थ छन्दस्शब्द के नहीं हैं तो अन्य कौन अर्थ है ?

उ०—जब पूर्व में यह भी कहा जा चुका है कि 'प्रथममन्त्र में ऋचः आदि शब्द का जो स्वामी ने ऋग्वेदः आदि अर्थ किया है वह ठीक नहीं है' तब यही प्रश्न प्रथम होना चाहिये कि यदि ऋग्वेद आदि अर्थ नहीं है तो क्या अर्थ है ? इस प्रश्न को त्याग कर उक्त प्रश्न ही अनु-चित है। और यदि उचित क्रम से दोनों प्रश्न किये जायं तो उचित क्रम से उनके ये उत्तर हैं कि—पूर्व हीं वेददुर्गसज्जन के मन्त्रप्रकरण में यह कहा गया है कि "अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय" इस पूर्वोक्त मन्त्र में 'वेद' शब्द न होने से और 'एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इस उक्त शतपथवाक्य में पुनः २ वेद शब्द कहने से यह स्पष्ट ही

भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः’ इत्यादि शतपथवाक्ये’ इत्युक्तमस्माभिर्वेददुर्गसज्जने। वक्ष्यन्तेचात्रापि प्रकरणेऽपदान्तरमेव तत्रोपपत्तयः। एवंच ‘तस्माद्यज्ञादि’ ति मन्त्रे तदन्यस्थलेषु च ऋगादिशब्दानामृग्वेदादिशब्देन विवरणम्, ऋगादिमन्त्रसंहितासु ‘ऋग्वेद’ इत्यादिर्व्यवहारः, ऋगादिसंहितानां विवृतिग्रन्थेषु ‘ऋग्वेदादिभाष्य’ मित्यादिको व्यपदेशः, तद्भूमिकासु ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिके’ त्यादिकं साभिमानं नामोल्लेखनं, च सर्वमेवोक्तभूमिकाभुवः पण्डितरूपस्य तदनुयायिनां च ऋगादिऋग्वेदादिपदार्थाविवेकैकमूलकमेवेति चरितार्थोऽत्र ‘अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे’ इति न्यायः। तस्मात्—

वेदर्ग्वेदादिशब्दार्थानप्यविद्वान् हि भाष्यकृत्।
करालः कलिकालो यद्बलमेतदनर्गलम्॥ १॥

एवं च ‘तस्माद्यज्ञादि’ ति मन्त्रे ऋच इत्यादेर्ऋगाद्याख्या मन्त्रा इत्येवार्थः। छन्दःशब्देन च ऋगादिमन्त्रसंहिताभ्योऽतिरिच्यमान ऋग्वेदादिभागएव गृह्यते। स एव च ब्राह्मणमित्युच्यते। तस्य ऋगादिसकलमन्त्रविनियोजकतामभिव्यक्तुमेवचर्क्सामयजुषां मध्ये तद्वाचकस्य छन्दःपदस्योपन्यासोऽप्युचिततमः। छन्दःपदस्य च वेदपर्यायस्य मन्त्रब्राह्मण-

॥ भाषा ॥

सिद्ध है कि ऋक्, साम और यजुः शब्द केवल मन्त्रों ही के वाचक हैं और ऋग्वेद आदि शब्द तो ऋक् आदि मन्त्र और उनके सम्बन्धी ब्राह्मण इन दोनों के समूहों के वाचक हैं। इस से जहां केवल मन्त्रों को कहना होता है वहां केवल ऋक् आदि शब्दों ही का प्रयोग होता है जैसे ‘अहे बुध्निय’ इत्यादि मन्त्रों में, और जहां मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय को कहना होता है वहां केवल ऋक् आदि शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु ऋग्वेद आदि शब्दो हीं का प्रयोग होता है जैसे ‘एवं वा अरे०’ इत्यादि पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्य में, क्योंकि यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो इस में कौन कारण कहा जा सकता है कि जो कहीं केवल ऋक् आदि शब्द ही का और अन्यत्र उसके साथ वेद शब्द का प्रयोग है। तथा इस प्रकरण में भी आगे चल कर और भी उपपत्तियां इस विषय में दिखलायी जायंगी। इस रीति से उक्त प्रथममन्त्र में ‘ऋचः’ ‘सामानि’ और ‘यजुः’ शब्दों का ऋगादिमन्त्र मात्रही अर्थ है न कि ऋग्वेद आदि। इस से यह स्पष्ट हो गया कि इस मन्त्र में स्वामी का ‘ऋक्’ आदि शब्दों का ऋग्वेद आदि अर्थ कहना और मन्त्रसंहिताओं को ‘ऋग्वेद’ आदि कहना तथा उन संहिताओं के भाष्यों को ‘ऋग्वेदभाष्य’ आदि कहना तथा अपनी रची भूमिका को ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ कहना, केवल ‘ऋक्’ और ‘ऋग्वेद’ तथा ‘साम’ और ‘सामवेद’ तथा ‘यजु’ और ‘यजुर्वेद’ शब्दों के अर्थों के अज्ञान हीं का फल है। और उनके अनुयायीगण जो ऋक् ही को ऋग्वेद तथा साम ही को सामवेद, और यजु ही को यजुर्वेद कहते हैं, इस में उनका कुछ दोष नहीं है क्योंकि वे अन्धपरम्परान्याय से अपने गुरू के पीछे चल रहे हैं। और कलिकाल ही का यह कराल अनर्गल प्रभाव है कि जो, (स्वामी) वेद ऋग्वेद आदि शब्दों का अर्थ तक नहीं जानते थे वह भी ऋक्संहिता का भाष्यकार हो गये। यही प्रथमप्रश्न का उत्तर है और द्वितीय का उत्तर यह है कि उक्त प्रथममन्त्र (तस्माद्यज्ञात्) में छन्दस्शब्द से भी ब्राह्मणभागो हीं का ग्रहण है और ऋक्, साम, के अनन्तर तथा यजु से पूर्व अर्थात् मध्य में छन्दस्शब्द का होना भी बहुत ही उचित है। क्योंकि मन्त्रों को यज्ञकर्मों में लगाना ब्राह्मणभाग

समुदायवाचकत्वेऽपि 'ऋचो यजूंषि सामानि च्छन्दांस्याथर्वणानि च' (हरिवं० प० १ अ० १ श्लो० ३८॥) इत्यत्र 'जुष्टार्पिते च च्छन्दसि' 'नित्यं मन्त्रे' (पा० अष्टा० अध्या० ६ पा० १ सू० २०९-२१०) इत्यत्र च च्छन्दःशब्दवत् प्रकृते " अहे बुध्निय मन्त्रं" इत्यादि-मन्त्र इव ऋगादिपदैरत्र मन्त्राणां पृथगभिधानाच्चतुर्ष्वपि वेदेषु ब्राह्मणभागसत्वाच्च ब्राह्मण-भागपरत्वमित्ययमकामैरपि कामनीयः परमकमनीयो मन्त्रार्थस्वरसः श्लिष्यते । तस्माद-स्मिन्मन्त्रे छन्दःपदं ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे परमरमणीयं प्रमाणमिति शान्तं पापं प्रतिहत-ममङ्गलम् । इदश्च सर्वं स्वाम्युक्तमसत्यमपि छन्दःपदस्य गायत्र्यादिपरत्वाभावमभ्युपेत्य प्रतिपादितम् । वस्तुतस्तु छन्दःपदमिह गायत्र्यादिपरमेव । यजुःसंहिताभाष्यकारैस्तथैव व्याख्यानात् । " वेदानां गायत्र्यादिछन्दोऽन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेद-स्योत्पत्तिं ज्ञाययतीत्यवधेयम्" इति स्वामिवाक्ये हेतुभागोऽपि हेय एव । छन्दोहीनानामपि मन्त्राक्षराणां शक्योच्चारणत्वात् । अन्यत्र मन्त्रेभ्यः पृथक् गायत्र्यादिसृष्टिश्रवणाच्च ।

तथा च ऋङ्मन्त्रः—

अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव ।

अनुष्टुभा सोमंउक्थैर्महस्वान्बृहस्पतेर्बृहतीवाचं मावत् ॥ ४॥ इति ।

(ऋ० अ० ७ व० १८ मं० १० अ० ११ सू० १३०)

तस्माद्यज्ञादितिमन्त्रे जनेः प्रयोगेण वेदपौरुषेयत्वशङ्का तु वेददुर्गसज्जने वेदापौरुषे-यत्वप्रकरणे 'उच्चारणे स्वाजिः श्रौतः' इत्यादीनां श्लोकानां व्याख्यानेन निपुणतरमेव निराकृतेति तत्रैव द्रष्टव्यमधस्तात् ।

किंच "स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लो-काः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि" (श० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ६ कं० ११)

इति शतपथवाक्ये वेदपदाभ्यासो ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे दृढतरं मानम् । ऋग्वेदादि-

॥ भाषा ॥

ही का काम है । और इस रीति से ब्राह्मणभाग, मन्त्रभागों से प्रधान और उनके उपकारी हैं । इसी उपकार के सूचन करने के लिये 'ऋक्' 'साम' और 'यजु' शब्दों के मध्य में कहे हुए 'छन्दस्' शब्द से ब्राह्मणभाग का ग्रहण है तथा ब्राह्मणभाग, सब वेदों का भाग है अर्थात् प्रत्येक वेदों में ब्राह्मणभाग है इसी से वेदसामान्य के वाचक 'छन्दस्' शब्द ही से उसका ग्रहण किया गया है । इस सूधी रीति से 'तस्माद्यज्ञात्०' इस मन्त्र का स्वारसिक अर्थ जो कहा गया उसके अनुसार यह मन्त्र, ब्राह्मणभाग के वेद होने में अतिरमणीय प्रमाण है, इस कारण इस मन्त्र के उच्चारण से उक्त भूमिकारूपी पाप शान्त हो गया और उक्त भूमिका में जो 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्र से वेदों की उत्पत्ति दिखलाई गई है उसका खण्डन तो वेददुर्गसज्जन के वेदापौरुषेयत्वप्रकरण में पूर्व हीं हो चुका है । 'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य०' (श० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ६ कं० ११) इस वाक्य में 'वेद' का पुनः २ उच्चारण, ब्राह्मणभाग के वेद होने में दृढतर प्रमाण है क्योंकि यदि इस वाक्य में ऋग्वेद आदि शब्द का ऋगादिमन्त्रमात्र ही अर्थ हो, तो प्रथम प्रमाण में

शब्दानामृगादिमन्त्रमात्रपरत्वे हि 'अहे बुध्निये' त्यादाविव 'तस्माद्यज्ञा' दित्यादाविव च बेदपदं नेहोपादीयेत। बेदपदशक्तिजिग्राहयिषायामपि 'ऋग्यजुःसाम च बेदा' इत्येवं सकृदेवोपादीयेतेत्यनन्तराङ्कोक्तरीत्या बेदपदाभ्यासो निष्प्रयोजन एव स्यात्। यत्त्वनन्तराङ्केऽनूदितायां भूमिकायामिदमेव शतपथवाक्यमितिहासपुराणप्रामाण्यासहिष्णुतया 'ऽथर्वाङ्गिरस' इत्येतदन्तमेवोपन्यस्तम्। तदप्यज्ञानेनैव। तथाहि। इदं वाक्यं बैदिकं नवा। नाद्यः। ब्राह्मणभागो न बेद इति भूमिकाभृत्प्रतिज्ञाया एव भङ्गप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः। बिकल्पासहत्वात्। तद्ध्यपौरुषेयं पौरुषेयं बा स्यात्। तत्र नाद्यः। तेनानभ्युपगमात्, अभ्युपगमे पूर्वदोषाक्रमणात्। न द्वितीयः। तद्धि प्रमाणमप्रमाणं बा स्यात्। नाद्यः। पूर्वापादितस्य तेनानुद्धृतस्य च बेदपदाभ्यासबैयर्थ्यस्य प्रतापेनास्य वाक्यस्योन्मत्तवाक्यायमानतुल्यतया प्रामाण्यासंभवात्। न द्वितीयः। तथासति तदप्रामाण्यमभ्युपेत्य प्रमाणतया तदुपन्यासस्योन्मत्तकर्तव्यत्वापातात्। इत्थंचोक्ताया बेदपदाभ्यासबैयर्थ्यापत्तेः कथमुद्धारइति चेत्। इत्थम्।

॥ भाषा ॥

कही हुई रीति के अनुसार इस वाक्य में 'बेद' पद का पुनः २ उच्चारण ब्यर्थ ही हो जायगा। और प्रथमप्रमाण के ब्याख्यान में उद्धृत भूमिकाभाग में स्वामी ने जो इसी शतपथवाक्य के अथर्वाङ्गिरसः पर्यन्त ही भाग का उपन्यास किया है इस से उन का अज्ञान और लोकवञ्चन दोनों स्पष्ट ही प्रकट होते हैं। जिन में से अज्ञान इस रीति से प्रकट होता है कि यह शतपथवाक्य उन के प्रमाण देने योग्य नहीं था क्योंकि उस पर यह आक्षेप दुर्वार होता है कि इस शतपथवाक्य को आप [स्वामी] बैदिक मानते हैं बा नहीं ? यदि बैदिक मानते हैं तो आप का मत (ब्राह्मणभाग बेद नहीं है) मिथ्या ही है क्योंकि यह भी ब्राह्मणवाक्य ही है जिस को आप बैदिक मान रहे हैं। और यदि इस बाक्य को आप बैदिक नहीं मानते तो अपौरुषेय मानते हैं बा पौरुषेय ? यदि अपौरुषेय मानते हैं तो इस को बेद क्यों नहीं मानते क्योंकि अपौरुषेयबाक्य ही का नाम बेद है। और यदि इस बाक्य को पौरुषेय मानते हैं तो यह कहिये कि यह वाक्य प्रमाण है बा अप्रमाण ? यदि प्रमाण है तो उन्मत्तवाक्य की नाई इस वाक्य में बेद पद का अनेक बार उच्चारण ब्यर्थ क्यों किया गया ? क्योंकि अनन्तरोक्त प्रमाण के ब्याख्यान में आप से बेदपद के पुनः २ उच्चारण का प्रयोजन पूछा गया उस को आप अब तक ठीक नहीं कहते और जो प्रयोजन आप ने कहा भी उस का खण्डन वहीं हो चुका इस रीति से जब आप बेदशब्द के पुनः २ उच्चारण का प्रयोजन नहीं कह सकते तब इस बाक्य को आप कैसे प्रमाण कह सकते हैं ? और यदि यह वाक्य नहीं प्रमाण है तो अप्रमाण जानबूझ कर ऐसे वाक्य को आपने प्रमाण क्यों दिया ? इति।

और लोकवञ्चन यों प्रकट होता है कि स्वामी ने अपनी भूमिका में इस वाक्य को पूर्ण इस कारण नहीं लिखा कि पूर्ण लिखने से इतिहास और पुराण का प्रामाण्य इसी वाक्य से सिद्ध हो जायगा जो कि उन्ह के संमत नहीं है परन्तु इस पर भी वही दशा हुई कि जैसे बिच्छू के डर से भागा हुआ पुरुष कालसर्प के मुख में गिरे वैसे अपने (स्वामी के) ही उद्धृत इस अर्द्धवाक्य से ब्राह्मणभाग की बेदता सिद्ध होन के कारण उन्हको बड़ी हानि उठानी पड़ी क्योंकि उक्त वाक्य में 'बेद' शब्द के पुनः २ उच्चारण का वास्तविकप्रयोजन जब कहा जायगा तब उसी से ब्राह्मणभाग का बेद होना अवश्य सिद्ध हो जायगा जिसकी रीति कही जाती है कि—

मीमांसादर्शने अ० ३ पा० ३ 'बेदो बा प्रायदर्शनात्' इति २ सूत्रे 'अग्नेर्ऋग्वेदो बायोर्यजुर्वेदआदित्यात्सामवेद' इत्यर्थवादविषयके, वार्तिके।

बेदश्च व्यापकत्वादहेतुलक्षणयुक्तः सन् न शक्नोत्येवावयवं लक्षयितुम्। ऋगादयस्तु नियम्यत्वात्समुदायं लक्षयन्ति इति।

न्यायसुधायां च।

प्रायदर्शनोक्तेर्भूयोदर्शनवाचित्वेन प्राप्त्युक्त्यर्थत्वमङ्गीकृत्य बेदोऽव्यापकत्वेन हेतुलक्षणव्याप्यत्वशून्यत्वात् न ऋगादीन् लक्षयितुं शक्तः। स एव ऋगादिभिर्व्याप्यत्वेन हेतुलक्षणयुक्तैःशक्यो लक्षयितुमित्यन्वयात्स्वयंसूत्रव्याख्यां सूचयितुमाह॥ बेदश्चेति॥ बेदव्यभिचारात्, ऋगादीनामृगाद्युक्तिमात्रेणर्गादिरूपबेदावयवप्रतीतिसिद्धेस्तल्लक्षणार्थत्वे बेदोक्तिरनर्थिका। तस्मा 'द्दग्बहुलोबेद' इत्येवमादिमध्यमपदलोपिसमासत्वेनैवर्ग्वेदाद्युक्तिर्व्याख्येयेत्यप्यनेन ग्रन्थेन सूचितम् इति।

प्रदर्शितया दिशा ऋग्बेदादिपदस्य (१) ऋग्बहुलोबेदऋग्बेदइत्यादिः (२) ऋगवयवकोबेद ऋग्बेदइत्यादिः (३) ऋग्विनियोजकोबेद ऋग्बेदइत्यादिः (४) ऋग्द्रव्यकोबेद ऋग्बेदइत्यादिर्वा अर्थो वाच्यः। इमे चार्था मध्यमपदलोपिना बहुब्रीहिगर्भेणैव तत्पुरुषेण लब्धुं शक्यन्ते। मन्त्रमात्रवाचका ऋगादिशब्दाश्च प्रथमान्ताः केवलाः 'तस्माद्यज्ञा' दित्यादाविव

॥ भाषा ॥

प्र०—इस वाक्य में ऋग्वेद आदि का क्या अर्थ है ?।

उ०—मी० द० अध्या० ३ पा० ३ 'बेदो बा प्रायदर्शनात्'॥ २ सूत्र के वार्तिक की न्यायसुधा में कहे हुये 'तस्मात् ऋग्बहुलो बेद इत्येवमादिमध्यमपदलोपिसमासत्वेन ऋग्वेदाद्युक्ति र्व्याख्ययो' इस वाक्य के अनुसार ऋग्वेद आदि प्रत्येक शब्दों के चार २ प्रकार के अर्थ हो सकते हैं जिनमें से मैं एक 'ऋग्वेद' शब्द के अर्थों को उदाहरणरूप से दिखलाता हूं।

(१) जिस बेद में बहुत सी ऋचाएं हों वह ऋग्वेद है।

(२) ऋचाएं, जिस बेद के भाग हैं वह ऋग्वेद है।

(३) जिस बेद में, यज्ञ के समय, ऋचाओं के पढ़ने की आज्ञा है वह ऋग्वेद है।

(४) जिस बेद के विधिवाक्यों के अनुसार जव गेहूं आदि द्रव्यों के साथ ऋचाएं (मन्त्ररूपी द्रव्य) यज्ञों के काम आता है वह ऋग्वेद है।

ऐसे ही 'यजुर्वेद' और 'सामबेद' शब्द के भी अर्थ चार प्रकार के होते हैं। भेद इतना हीं है कि ऋचा क स्थान पर 'यजुर्वेद' के अर्थ में 'यजु' और 'सामबेद' के अर्थ में 'साम' कहा जायगा। और ऋक्, यजु, साम, शब्दमात्र से तो इन अर्थों का लाभ कदापि नहीं हो सकता क्योंकि वे शब्द केवल मन्त्र मात्र के वाचक हैं जैसा कि चतुर्थ प्रमाण के व्याख्यान में कहा जा चुका है। तथा 'ऋक्' शब्द के साथ जिस 'बेद' शब्द का समास (मेल) हुआ है उसका सम्बन्ध यजुशब्द में नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा हो तो 'ऋक्' शब्द के साथ 'बेद' शब्द का समास हीं नहीं हो सकैगा इस लिये यजु और साम शब्द के साथ एक २ 'बेद' शब्द का पृथक् २ उच्चारण किया गया। इस रीति से पूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों के लाभ ही के लिये इस वाक्य में 'बेद' शब्द का पुनः २ उच्चारण है। और उक्त चार अर्थों से यही निकलता है कि

प्रकृतेऽपि नेमानर्थान् क्रोडीकर्तुमीशते । ऋक्पदेनोक्तरीत्या समस्तमेकं वेदपदं च न यजुर्बहुलोवेदइत्यादिकमर्थं बोधयितुमलम् । तथासति सामर्थ्याभावेन समासस्यैव दौर्लभ्यप्रसङ्गात् । तथाचैकेन वेदपदेन निर्वाहासंभवात्स्पष्टप्रयोजनोऽसौ वेदपदाभ्यासः ।

अथ यज्ञोपयोगिनां यवगोधूमादीनामिव महामाहिमशालिनां मन्त्राणां कथमसौ चतुर्थेऽर्थे द्रव्यपदेन व्यपदेश इति चेत् । तर्हि । 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वे' त्यादौ व्रीह्यादिवत्करणत्वेनर्गादिकमुपगृह्णन्तः ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यादयो विधिवादा एव प्रथममेतमर्थमभियुज्यन्ताम्, तदनु च मीमांसादर्शने अ० ३ पा० ३ 'धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः' ॥ ४ ॥ इति सूत्रयन् भगवान् जैमिनिः, 'नास्य सामद्रव्येण सह सम्बन्धो वेदितव्य' इति वाक्येनैतत्सूत्रं व्याचक्षाणो भाष्यकारः शवरस्वामी च । तदनु चापरेऽपि शब्दस्य द्रव्यत्वमभ्युपगच्छन्तो दार्शनिकाः । एवञ्चोक्तेषु चतुर्ष्वप्यर्थेषु ऋगादितदन्यसमुदायेषु निविशमानस्य मन्त्रातिरिक्तस्य ब्राह्मणभागस्य समुदायिनो वेदत्वमृग्वेदादिशब्दैः सुश्लिष्टमेवोट्टङ्कितमिति ।

॥ भाषा ॥

जो शब्दसमुदाय, ऋग्वेद आदि शब्दों से कहे जाते हैं उन में दो २ भाग अवश्य हैं एक २ भाग तो ऋगादिमन्त्ररूपी हैं और दूसरे २ भाग उस से अतिरिक्त हैं जिन में ऋक् आदि मन्त्रों को यज्ञकर्मों में लगाने के लिये आज्ञारूपी विधिवाक्य बहुत से हैं । और उन्हीं वेदभागों को ब्राह्मणभाग कहते हैं । इस रीति से इस वाक्य में 'वेद' शब्द का पुनः २ उच्चारण, ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है ।

प्र०—पूर्वोक्त चतुर्थ अर्थ में जव चावल आदि के नाईं जो मन्त्रों को द्रव्य कहा गया है यह कैसा अनर्थ है ? क्योंकि कहां स्वर, ऋषि, छन्द, आदि से भूषित, महाशक्तिशाली मन्त्र और कहां जव चावल ?

उ०—इस प्रश्न का प्रथम 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' (चावल से यज्ञ करै वा जव से) 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्नि की स्तुति करै) 'इषेत्वेति पलाशशाखांछिनत्ति' (इषेत्वा, मन्त्र से पलाशशाखा को काटै) इत्यादि विधिवाक्यों से पूछना चाहिये कि वे क्यों चावल और जव के समान मन्त्रों को यज्ञकर्म में लगाने की आज्ञा देते हैं ? तदनन्तर पूर्वमीमांसाचार्य जैमिनिमहर्षि से पूछना चाहिये कि मी० द० अध्या० ३ पा० ३ 'धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः' सू० ॥ ३४ ॥ में उन्हों ने साममन्त्रों को क्यों द्रव्य कहा ? तथा भाष्यकार शवरस्वामी से भी पूछना चाहिये कि उक्त सूत्र के भाष्य में 'नास्य सामद्रव्येण सह सम्बन्धो वेदितव्यः' (उच्चत्व गुण का साममन्त्ररूपी द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं समझना चाहिये) इस वाक्य में उन्हों ने साममन्त्रों को क्यों द्रव्य कहा ? और तदनन्तर जो २ दार्शनिकगण शब्द को द्रव्य मानते हैं उन से भी पूछना चाहिये कि क्या ऋगादिमन्त्ररूपी शब्द भी द्रव्य हैं ? तात्पर्य यह है कि मन्त्र की महिमा वही है कि जो वेद से निकल सकती है और वेद ही, जब चावल और जव के समान यज्ञकर्म में मन्त्रद्रव्यों का विनियोग करता है तब प्रश्नकर्ता महाशय को जो अनर्थ की शंका होती है उसका कारण यही है कि पूर्व हीं वेददुर्गसज्जन के मन्त्रोपयोगप्रकरण में मीमांसादर्शन का सिद्धान्त जो कहा गया है उसका दर्शन स्वप्न में भी प्रश्नकर्ता ने नहीं पाया है ।

प्रमा० (५) एवम्—प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् स तपोऽतप्यत, तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निर्वायुरादित्यः, ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेदः (श० कां० ११ अ० ५)

इति शतपथवाक्यमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमुद्गिरज्जागर्तितराम् । अत्रोपपत्तिः सृजिप्रयोगप्रयुक्तवेदपौरुषेयत्वशंकानिराकरणं च पूर्ववत् ।

प्रमा० (६) एवम् यत्र यत्रैव मन्त्रे ब्राह्मणवाक्ये च ऋग्वेदादिशब्दा वेदशब्दस्तत्पर्यायाः श्रुतिस्वाध्यायादिशब्दा वा श्रूयन्ते तत्सकलमेव ब्राह्मणभागस्य वेदतायां प्रमाणम् ।

यथा 'सहोवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येति यजुर्वेदं सामवेदम्' (छान्दोग्योपनि० प्र० ७) स्वाध्यायान्माप्रमदः(तैत्तिरीयोपनि०अनु०११) स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (शत०ब्रा०११।५।६।७)

इत्यादीत्यवधारणीयम् 'यतः, यथा मन्त्रशब्द ऋगादीनां, ब्राह्मणशब्दश्च शतपथादीनामेव, ऋगादिशब्दाश्च तत्तन्मन्त्रविशेषाणामेव, वाचका नत्वत्र वैपरीत्यम् तथैव ऋग्वेदादिशब्दा ऋगादिमन्त्रशतपथादितत्तद्ब्राह्मणविशेषसमुदायस्यैव, वेदादिशब्दाश्च समस्तमन्त्रसमस्तब्राह्मणसमुदायस्यैव, वाचका नचेहापि विपर्ययसंभवः । यथा च क्वचिदृगादिशब्दानां

॥ भाषा ॥

प्रमा०—(५) 'प्रजापतिर्वा इदमेक०' यह शतपथवाक्य भी ब्राह्मणभाग के वेद होने को सिद्ध करता है क्योंकि इस में भी ऋग्वेद आदि शब्द स्थित हैं जो कि उक्त रीति से मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय ही को कहते हैं । इस वाक्य का अर्थ यह है कि आदिसृष्टिसमय में प्रजापति तप करते हैं उस समय अग्नि, वायु, सूर्य, ये तीन देवता उनसे उत्पन्न होते हैं और वे भी तप करते हैं उस समय अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, और सूर्य से सामवेद प्रकट होता है ।

प्रमा०—(६) जिस २ मन्त्रवाक्य अथवा ब्राह्मणवाक्य में ऋग्वेद आदि शब्द वा वेद शब्द अथवा वेदवाचक श्रुति, छन्द, आम्नाय, निगम और 'शब्द' आदि पद मिलते हैं वे सब ही वाक्य ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण हैं जैसा कि ऊपर संस्कृतभाग में उदाहरण के लिये दो तीन वाक्य लिखे हैं ।

क्योंकि ऋग्वेद आदि शब्दों के विषय में पूर्वमीमांसादर्शन का यह अटल सिद्धान्त है कि जैसे यह नियम है कि 'मन्त्र' शब्द ऋगादि ही का और 'ब्राह्मण' शब्द शतपथ आदि ही का तथा 'ऋगादि' शब्द उन २ मन्त्रों हीं के नाम हैं न कि अन्य किसी शब्द के वैसे ही ऋग्वेद आदि शब्द, ऋगादि मन्त्र और उनके संबन्धी शतपथ आदि ब्राह्मण के समुदाय ही के तथा 'वेद' आदि शब्द भी समस्त मन्त्र और समस्त ब्राह्मण के समुदाय ही के वाचक हैं न कि दूसरे किसी शब्द के । और (जैसे) यदि किसी अवसर पर कहीं ऋगादिशब्दों का मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय में प्रयोग है तो वह कदापि मुख्य नहीं है किंतु छत्रधारी और छत्ररहित मनुष्यों के समुदाय में 'छत्रिणो यान्ति' (छाता वाले जाते हैं) इस 'छत्रि' शब्द के प्रयोग के नाईं केवल मन्त्रवाचक ऋगादिशब्द का भी लक्षणा ही से वह प्रयोग है अर्थात् ऋगादिशब्द का मुख्य अर्थ मन्त्र ही है और उसका संबन्ध, मन्त्र, ब्राह्मण, दोनों के समुदाय से है इतने मात्र से उस समुदाय को ऋक् आदि शब्द से कहा जाता है क्योंकि मुख्य अर्थ के संबन्ध ही का नाम लक्षणा है जैसे उक्त उदाहरण में 'छत्रि' शब्द का 'छत्रधारी' मुख्य अर्थ है और उसका संबन्ध अर्थात् लक्षणा उस समुदाय

मन्त्रब्राह्मणसमुदाये प्रयोगो न मुख्यः किंतु लक्षणयैव निर्वाह्यः तथैव ऋग्वेदादिशब्दाना-मृगादिमन्त्रमात्रे तद्ब्राह्मणमात्रे वा वेदादिशब्दानां च मन्त्रमात्रे ब्राह्मणमात्रे वा क्वाचित्कः प्रयोगो यद्यानुभविकस्तदा स लक्षणैकप्राण एव नतु शक्तिमूल इति विवेकः।

तथाच मीमांसादर्शने ३ अध्याये ३ पादे १ अधिकरणं दर्शितम् शास्त्रदीपिका-याम् पार्थसारथिमिश्रैः।

पूर्वयोःपादयोः श्रुतिलिङ्गविनियोगौ चिन्तितौ इदानीं वाक्यविनियोगश्चिन्त्यते 'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति सतपोऽतप्यत तस्मात्तेपानात्त्रयोदेवा असृज्यन्ताग्नि-र्वायुरादित्यः ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयोवेदा असृज्यन्ताग्नेर्ऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेद' इत्युपक्रम्य श्रूयते ज्योतिष्टोमे 'तस्मादुच्चैर्ऋचाक्रियते उपांशुयजुषा उच्चैः साम्नेति, तत्र संशयः किमुच्चैस्त्वादयऋगादिजातानां धर्माः मन्त्राणामित्यर्थः ऋचामन्त्रेणो-च्चैरिति, किंवा वेदधर्माः ऋग्वेदेनोच्चैरिति। उपक्रमे वेदश्रवणादुपसंहारेच ऋगादिश्रवणा-त्संशयः। वेदशब्दो हि मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मनो ग्रन्थविशेषस्य वक्ता, नैकस्य मन्त्रवाक्यस्य ब्राह्मणवाक्यस्य वा वाचकः प्रयोगाभावात्। नह्येकं द्वे त्रीणि वाक्यान्यधीत्य 'वेदानधीत्य-वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रम' मित्येतच्छास्त्रार्थमनुष्ठितं मन्यन्ते। तस्मात् समुदायो वेदः,

॥ भाषा ॥

से है कि जिस में छत्रधारी और छत्रशून्य दोनों प्रकार के मनुष्य हैं (वैसे) ही ऋगादि मन्त्र और उनके ब्राह्मण, इनके समुदाय को कहने वाले ऋग्वेदादि शब्दों का केवल ऋगादि मन्त्रों अथवा केवल उनके ब्राह्मणों के विषय में तथा 'वेद' 'स्वाध्याय' आदि शब्दों का मन्त्रमात्र अथवा ब्राह्मणमात्र के विषय में यदि कहीं प्रयोग होता है तो वह भी मुख्य नहीं है किन्तु शरीर के एक देश (अवयव अर्थात् अङ्गुली आदि) में 'शरीर' शब्द के प्रयोग के नाईं लक्षणामूलक ही है।

अब उक्त सिद्धान्त के प्रदर्शनार्थ पूर्वमीमांसा अध्या० ३ पा० ३ अधि० १ दिखलाया जाता है जो कि शास्त्रदीपिका में पं० पार्थसारथिमिश्र ने विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त, के विभाग से वर्णन किया है कि—

विष०—(शतपथ कां० १३ अध्या० ५) 'प्रजापतिरकामयत प्रजाःसृजेयेति' (इसका अर्थ ५ वें प्रमाण में कहा गया है) ऐसा उपक्रम (आरम्भ) कर ज्योतिष्टोमयज्ञ के प्रकरण में 'तस्मादुच्चैर्ऋचाक्रियते, उपांशुयजुषा, उच्चैःसाम्ना' (उक्त कारण के अनुसार ऋक् से ऊंचा करे यजु से मन्द करे, साम से ऊंचा करे) यह श्रुति उपसंहार (अन्त) में है।

संशय—उक्त उपसंहारश्रुति में कहे हुए उंचाई आदि, क्या ऋगादिनामक मन्त्रों के धर्म हैं अर्थात् उक्त श्रुति का यह अर्थ है कि ऋगादिनामक मन्त्र को ऊंचा करे इत्यादि ? अथवा उंचाई आदि वेद के धर्म हैं अर्थात् ऋग्वेद से ऊंचा करे इत्यादि ?।

संशय का कारण यह है कि उपक्रमश्रुति (प्रजापतिरकामयत०) में 'वेद' शब्द सुना जाता है और उपसंहारश्रुति (तस्मादुच्चैः) में 'ऋक्' आदि शब्द ही सुने जाते हैं क्योंकि 'वेद' शब्द किसी एक मन्त्रवाक्य वा ब्राह्मणवाक्य का इस कारण वाचक नहीं है कि उतने मात्र में वेद शब्द का प्रयोग ही नहीं होता इसी से दो चार वाक्यों को पढ़ कर यह कोई नहीं समझता कि 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्' (यथाक्रम चार वा दो वा एक वेद को पढ़ कर) इस

नतु बेदयतीति व्युत्पत्त्या एकैकमेव वाक्यं वेद इति मूर्खमलपितमेतदनुसर्तव्यम् । ऋगादिश-ब्दास्तु मन्त्रवचनाः स्थापितास्तेनोपक्रमोपसंहारयोर्विप्रतिपत्तेः एकवाक्यत्वाच्चोभयोरेकवि-षयत्वे ऽवश्यंभाविनि किमुपसंहारस्थविध्युद्देशवशादुपक्रमस्थार्थवादगतोवेदशब्दोवेदैकदेश-मन्त्रपरोभवतु किं वोपक्रमगतार्थवादवशादुपसंहारस्थमृगादिपदमृगादिमायवेदपरं भवत्विति-संशयः । तत्र । गुणत्वादनुवादत्वादर्थवादस्य लक्षणा । मुख्यस्यापिप्रधानत्वादप्राप्तविषय-त्वतः ॥ १ ॥ विध्युद्देशोजघन्योऽपिस्वार्थहानिं न गच्छति । मुख्याऽपि दीक्षणीया न लभते हि स्वधर्मताम् ॥ २ ॥ जघन्यस्यापि सोमस्य प्रधानत्वात्स्वधर्मता । वक्ष्यते तद्वदत्रापि वि-ध्युद्देशस्य सा भवेत् ॥ ३ ॥ प्रधानत्वादप्राप्तविषयत्वाच्च विध्युद्देशे यथाश्रुतादन्यथात्वमप्रमा-णकम् । अर्थवादस्तु प्रमाणान्तरप्राप्तार्थत्वात्तद्वशेन लक्षणयाऽपि नीयमानो न दुष्यतीति जाताधिकारा उच्चैस्त्वादय इति प्राप्ते ब्रूमः । लब्धात्मनः प्रधानस्य बलीयस्त्वं गुणाद्भवेत् । विध्युद्देशस्त्वलब्धात्मा लब्धात्मानं न बाधते ॥१॥ 'यइष्ट्वा पशुना सोमेन यजेते' ति वचनात्तु-

॥ भाषा ॥

मनुवाक्य के अर्थ को मैंने चरितार्थ किया । इस से यही निश्चित होता है कि मन्त्र और ब्राह्मण के समुदायरूपी ग्रन्थविशेष ही का नाम 'वेद' है । और 'वेदयतीति वेदः (जो ज्ञान करावै वही वेद है) इस व्युत्पत्ति से प्रत्येक वाक्य का नाम वेद है' इस मूर्खप्रलाप के पीछे नहीं चलना चाहिये तथा पूर्व में यह निश्चित हो चुका है कि 'ऋगादि' शब्द, मन्त्र ही के वाचक हैं तथा उपक्रम उप-संहार दोनों श्रुतियां मिल कर एकवाक्य हैं इससे दोनों का विषय एक होना चाहिये जिसका संभव नहीं ज्ञात होता क्योंकि उपक्रमश्रुति में 'वेद' शब्द है जिसका और ही अर्थ है और उप-संहारश्रुति में ऋगादिशब्द हैं जिनका और ही अर्थ है तो क्या विधिवाक्यरूपी उपसंहारश्रुति के अनुसार अर्थवादरूपी उपक्रमश्रुति के 'वेद' शब्द को उक्त समुदायरूपी मुख्यार्थ से उतार कर वेद के भागविशेषरूपी मन्त्रों पर लगाना चाहिये ? अथवा अर्थवादरूपी उपक्रमश्रुति के अनुसार उपसंहारश्रुति के 'ऋगादि' पदों को मन्त्ररूपी मुख्यार्थ से चढ़ा कर उक्त समुदायरूपी वेद में लगाना चाहिये ? यह संशय होना उचित ही है क्योंकि उक्त दो रीतियों को छोड़ कर अन्य प्रकार से उप-क्रम और उपसंहार का मेल नहीं हो सकता ।

पूर्वपक्ष—उपसंहार (उच्चैर्ऋचा०) श्रुति, यद्यपि पीछे है तथापि विधिरूप होने से वह प्रधान है और उसके अर्थ का बोध दूसरे प्रमाण से नहीं होता इससे अत्यावश्यक भी है तथा उपक्रम (अग्नेर्ऋग्वेद०) श्रुति तो अर्थवादरूपी होने से विधि का अंग है जैसा कि वेददुर्गसज्जन के अर्थवादप्रकरण में पूर्व ही कहा जा चुका है तथा अत्यावश्यक भी नहीं है क्योंकि उसके अर्थ का बोध, उक्त उपसंहारश्रुति से होता है इससे वह अनुवादक ही है न कि विधायक । तो ऐसी दशा में जैसे राजा के अनुरोध से भृत्य नीचे उतारा जाता है वैसे उक्त उपसंहारश्रुति के अनुसार उपक्रम के 'ऋग्वेद' आदि शब्द, अपने मुख्यार्थ (मन्त्र और ब्राह्मण का समुदाय) से उतार दिये जायंगे और राजा के नाईं उपसंहारश्रुति के 'ऋक्' आदि शब्द अपने मन्त्ररूपी मुख्यार्थ ही पर स्थित रहैंगे न कि वहां से हटा कर मन्त्रब्राह्मणसमुदाय में उनकी लक्षणा की जायगी । जैसे 'सोमेन-यजेत' (सोमयाग करै) यह विधिवाक्य यद्यपि पीछे कहा हुआ है तथापि उसकी प्रक्रिया क्यों

सोमस्य कालो लब्धात्मा युक्तं यद्दीक्षणीयाकालं बाधते, विध्युद्देशस्त्विह मन्त्राविषयत्वेनालब्धात्मा कथमिवार्थवादं बाधेत। तथाहि। वेदशब्दः प्रक्रमगतोऽसंजातप्रतिपक्षत्वाद्यथाश्रुतार्थपर एव तावदवधार्यते। तस्मिंश्चावधारिते सत्युपसंहारगतमृगादिपदमुपसंजातप्रतिपक्षविज्ञानत्वाद्यथाश्रुतार्थसत्तदेकवाक्यतामप्रतिपद्यमानं तदनुगुणवेदपरतयैवात्मानं लभते नान्यथा येन बाधकं स्यात्, उपक्रमएव हि वेदानां किंचिद्विधास्यत इत्यवगतं किंतु तद्विधेयमित्येतावदनवगतमपेक्षितं च। अतो विध्युद्देशगतोऽपि ऋगादिशब्दो ऽवगतविषयत्वादनुवाद इति लक्षणं सहते, तस्माद्वेदधर्माः, ऋग्वेदेन यत्क्रियते विधीयते तदुच्चैरिति तदिहोपक्रमोपसंहारैकवाक्यतया वेदधर्मत्वमवधारितमिति वाक्यविनियोगः, एकदेशिनां त्वेकैकमेव वाक्यं वेदशब्दवाच्यमित्यभ्युपगमादुपसंहारवशेन मन्त्रवाक्यपरोऽपि वेदशब्दो व्याख्यायमानः श्रुत्यर्थाच्च च्यवते इति सिद्धान्तो दुर्लभः स्यात्। अत्र यदुच्यते विधेयतया न विधायकवद्वेदकत्वमिति तदयुक्तम्; यद्यपि हि विनियोगापेक्षं मन्त्रवाक्यं न विधायक

॥ भाषा ॥

की त्यों अपने काल पर स्थित रहती है और दक्षिणीयानामक यज्ञ यद्यपि पहिले कहा हुआ है तथापि वह अपने काल से हटा दिया जाता है निदान ऊंचाई आदि धर्म, ऋगादि मन्त्रों ही के हैं न कि अन्य क्रियाओं के।

सिद्धा०—उपक्रमश्रुति का 'वेद' शब्द जिस समय प्रथम श्रवण में आता है उस समय कोई उसका विरोधी नहीं रहता इस कारण वह, मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी अपने मुख्य अर्थ ही का निर्विघ्न बोध कराता है और जब यह निश्चय हो चुका कि उक्त वेदशब्द, मन्त्रब्राह्मणसमुदाय ही का बोधक है तब पश्चात् उपसंहारश्रुति के ऋगादिशब्दों का श्रवण होता है। उस समय वे केवल मन्त्ररूपी अपने मुख्यार्थ का बोध, दो कारणों से नहीं करा सकते एक यह कि केवल मन्त्ररूपी अर्थ का विरोधी मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी अर्थ है जिसका बोध, उपक्रमश्रुति के वेदशब्द से पूर्व हीं हो चुका है। दूसरा यह कि उपक्रम और उपसंहार का मेल न होने से उक्त वाक्य एक न रहैगा किन्तु टूट कर दो टुकड़ा हो जायगा। इस से केवल मन्त्ररूपी अर्थ में उक्त उपसंहारश्रुति के ऋगादिशब्द का जन्म ही नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि उपक्रम हीं में मन्त्रब्राह्मणवाची वेदशब्द से, प्रथम हीं यह निश्चय हो जाता है कि मन्त्रब्राह्मणरूपी वेदों के विषय में ऊपर चल कर किसी धर्म का विधान किया जायगा। केवल इतना ही अवशिष्ट अपेक्षित रहता है कि किस धर्म का विधान किया जायगा? जिसका बोध 'उच्चैः' आदि शब्दों से होता है। इसी से केवल उंचाई आदि धर्म ही अपेक्षित है न कि ऋगादिशब्द का मन्त्ररूपी मुख्यार्थ भी, तथा ऋगादिशब्द के मन्त्ररूपी मुख्यार्थ का बोध भी उपक्रम के 'वेद' शब्द ही से पूर्व में हो चुका है इस लिये यद्यपि ऋगादिशब्द विधिवाक्य में हैं तथापि वे विधायक (आज्ञा) नहीं हैं किन्तु अनुवादक ही हैं जिस से कि वे, मन्त्ररूपी मुख्यार्थ से हटा कर लक्षणा के द्वारा मन्त्रब्राह्मणरूपी अर्थ पर खींच दिये जायंगे और ऐसा करने में उपक्रम और उपसंहार के मेल से उक्त वेदवाक्य भी न टूटेगा क्योंकि ऋगादिशब्द से भी मन्त्रब्राह्मणसमुदाय ही का बोध होगा जैसा कि उपक्रम के वेदशब्द से हुआ है और उक्त रीति से सोमयज्ञ का काल भी दीक्षणीयायज्ञ के काल को न हटाता यदि यह वेदवाक्य न होता कि 'यइष्ट्वा पशुना सोमेन यजेत' (पशुयज्ञ करके सोमयाग करै) क्योंकि इस वाक्य से

वदनपेक्षं वेदकं तथापि तावद्वेदयति तावच वेदशब्दप्रवृत्तौ निमित्तम् इत्यविशेषः,यथा शुक्लमानयेति। यत्स्वभावशुक्लमुदकं यच्च पाकापेक्षं पार्थिवं तत्रोभयत्राप्यविशेषेण शुक्लशब्दः प्रवर्तते तथा वेदशब्दोऽपि । नहि विधिवाक्यमपि निरपेक्षं वेदयति पदार्थव्युत्पत्तिन्यायविचारादिसापेक्षत्वात् तस्मात् साधारणो वेदशब्दः कांस्यभोजिवदुपसंहारवशान्मन्त्रपरः स्यादित्यधिकरणविरोधः स्यादित्यास्तां तावत् इति ।

तथाच सूत्राणि ।

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥ १ ॥

बृ० ज्योतिष्टोमे श्रूयते, उच्चैः ऋचा क्रियते उच्चैस्साम्ना उपांशुयजुषेति । उच्चैस्त्वादिधर्माः ऋगादिजातिमधिकृत्य प्रवृत्ताः किंवा ऋग्वेदादीन् अधिकृत्य प्रवृत्ता इति संशये पूर्वपक्षमाह।श्रुतेरिति । जाते ऋक्त्वादिजातौ आधिकारःस्यात्, उच्चैस्त्वादिधर्माः ऋक्त्वादित्यवच्छिन्ना इत्यर्थः।ऋचेति श्रुतेः।ऋगादिशब्दानाम् ऋक्त्वादिजातौ शक्तत्वादितिभावः।१।

वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥ २ ॥

बृ० सिद्धान्तमाह । वेद इति । वेदः उक्तविध्युद्देशः मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपवेदधर्मः ऋग्वेदेन यद्विहितं तत्सर्वमुच्चैरित्यर्थः । प्राये वाक्योपक्रमे वेदशब्ददर्शनात् । प्रजापतिरकामयत प्रजाःसृजेयेति स तपोऽतप्यत तस्मात्तपस्तेपानात्त्रयो देवा असृज्यन्ताग्निर्वायुरादित्यस्ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयोवेदाअसृज्यन्ताग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात्सामवेद इति उपक्रम्य तस्मादुच्चैर्ऋचा क्रियत इत्युपसंहारादसंज्ञाताविरोधित्वेन प्रवलत्वेन उपक्रमानुसारेण उपसंहारनयनमिति भावः ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

सोमयाग का काल निश्चित हो चुका है तो ठीक ही है कि उसके अनुसार दीक्षणीया का काल हटा दिया जाता है । तस्मात् मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी वेद ही के धर्म ऊंचाई आदि हैं न कि केवल ऋगादिमन्त्रों के । और उपसंहारश्रुति का अर्थ भी यही होगा कि ऋग्वेद आदि के ब्राह्मणरूपी विधिवाक्यों से जिन २ कर्मों का विधान है वे सब उक्त उपसंहारश्रुति के अनुसार ऊंचे वा नीचे किये जायंगे न कि केवल मन्त्रमात्र ।

अब इस अधिकरण के सूत्र दिखलाये जाते हैं कि—

"श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्" ॥ १ ॥ ज्योतिष्टोम में सुने हुए "उच्चैर्ऋचाक्रियते०" इत्यादि वाक्य में उक्त ऊंचाई आदि धर्म ऋगादिमन्त्रों से सम्बन्ध रखते हैं ? अथवा मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी ऋग्वेद आदि से ? ऐसे सन्देह के अनन्तर इस सूत्र से यह पूर्वपक्ष किया जाता है कि ऋगादिमन्त्रों ही में ऊंचाई आदि धर्म का अधिकार है क्योंकि केवल मन्त्र ही, ऋक् आदि शब्दों का मुख्य अर्थ है ॥ १ ॥

"वेदोवा प्रायदर्शनात्" ॥ २ ॥ सिद्धान्त यह है कि ऊंचाई आदि, मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी वेद ही के धर्म हैं अर्थात् उक्त श्रुति का यह अर्थ है कि ऋग्वेद आदि के ब्राह्मणभाग से जिन कर्मों का विधान है वे सब ऊंचे किये जायं क्योंकि उक्त उपक्रमश्रुति में 'वेद' यह कहा हुआ है जिसका मन्त्रब्राह्मणसमुदाय मुख्यार्थ है और इस उपक्रमरूपी मुख्यप्रमाण के अनुसार उपसंहार के ऋगादिशब्दों का मन्त्ररूपी मुख्यार्थ, नहीं अर्थ है किंतु मन्त्रब्राह्मणसमुदाय ही लक्ष्य अर्थ है ॥२॥

लिङ्गाच्च ॥ ३ ॥

बृ० ऋक्पदेन वेदबोधोऽपि अन्यत्र दृश्यत इत्याह। लिङ्गादिति। ऋग्भिःप्रातर् दिवि-देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य-इत्यत्र प्रथमचरणे ऋग्भिरित्यत्र ऋग्वेदे ऋग्व्यवहार इत्यत्र चतुर्थचरणे वेदैरिति बहुवचनं लिङ्गम् अन्यथा वेदाभ्यामित्येव वदेत् ॥ ३ ॥

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥ ५ ॥

बृ० हेत्वन्तरमाह। त्रयीति। त्रयी विद्या यस्य स त्रयीविद्यः। त्रयीति ऋक्सामयजुःषु प्रसिद्धः तथापि त्रयीत्यनेन न ऋक्सामयजुषो गृह्यन्ते किंतु त्रयीपदस्य वेदत्रये लक्षणां कल्पयित्वा तद्विदि त्रयीविद्य इत्याख्या भवति तथा प्रकृतेऽपि उपसंहारवाक्ये लक्षणया एकवाक्यत्वसंपादनमिति भावः ॥ ५ ॥

धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण संबन्धः ॥ ४ ॥

बृ० इतश्च वेदधर्मइत्याह। धर्मेति। उच्चैःसाम्नेति साम्नः पृथक् धर्मोपदेशात्। 'ऋच्यध्यूढं साम गायती' ति ऋच्येव गेयत्वात् उच्चैस्त्वसिद्धेः पुनर्विधानं व्यर्थं स्यादिति भावः।

॥ भाषा ॥

लिङ्गाच्च ॥ ३ ॥ 'ऋक्' शब्द का लक्षणा के द्वारा मन्त्रब्राह्मणरूपी वेदरूप अर्थ अन्यत्र भी होता है जैसे "ऋग्भिः प्रातर्दिवि०" (सूर्यदेव तीन वेदों से शून्य हो कर कदापि नहीं चलते क्योंकि प्रातःकाल ऋक् से, मध्याह्न में यजुर्वेद से और सायंकाल में सामवेद से उनकी स्तुति की जाती है) इस मन्त्र में 'ऋग्भिः' यहां पर 'ऋक्' शब्द के साथ वेदशब्द नहीं है तथापि 'ऋक्' शब्द का मन्त्रब्राह्मणरूपी वेद ही अर्थ है क्योंकि इसी मन्त्र में कहा है कि 'तीन वेदों से' और इस में ऋक् शब्द का यदि केवल मन्त्र ही अर्थ हो तो यजुर्वेद, सामवेद ये दो ही वेद हो सकेंगे॥ इसी से ऋक् शब्द का मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी वेद अर्थ कर इस मन्त्र में वेद की तीन संख्या पूर्ण की जाती है। वैसे ही प्रकृत उपसंहारश्रुति में भी ऋक् आदि शब्दों का लक्षणा के द्वारा मन्त्रब्राह्मणसमुदाय ही अर्थ है। त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥ ५ ॥ जैसे यद्यपि 'त्रयी' ऋक्, साम और यजु मन्त्र ही को कहते हैं तथापि 'त्रयीविद्य' वही पुरुष कहा जाता है कि जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदरूपी मन्त्रब्राह्मणसमुदाय को जानता है और वह पुरुष कदापि 'त्रयीविद्य' नहीं कहा जाता जो कि ऋक्आदि मन्त्रमात्र का ज्ञाता है तथा इसी व्यवहार के अनुसार 'त्रयी-विद्य' शब्द में त्रयी शब्द को ऋक्, साम, यजु, मन्त्ररूपी मुख्यार्थ से हटा कर मन्त्रब्राह्मणसमुदाय-रूपी तीनों वेद, लक्षणा के द्वारा उस (त्रयीशब्द) का अर्थ किया जाता है ऐसे ही उक्त उपसंहार-श्रुति में ऋक् आदि शब्दों का लक्षणा के द्वारा मन्त्रब्राह्मणसमुदाय ही अर्थ होता है ॥ ५ ॥

'धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण संबन्धः' ॥ ४ ॥ उक्त उपसंहारश्रुति से ऋक् में ऊंचाई का विधान पृथक् है कि 'उच्चैर्ऋचा' और साम में ऊंचाई का विधान अलग है कि 'उच्चैःसाम्ना' तथा 'ऋच्यध्यूढं साम गायति' (ऋक् मन्त्रों में ऊपर से साम गावै) इस श्रुति के अनुसार यह सिद्ध है कि साममन्त्र अक्षररूपी नहीं होते किन्तु गानमात्ररूपी होते हैं और गान भी उनका ऋङ्मन्त्रों ही पर होता है। अब ध्यान देना चाहिये कि उक्त उपसंहारश्रुति से यदि ऋगादिमन्त्रों ही में उच्चता का विधान होता तो साममन्त्र में उच्चता का विधान व्यर्थ ही हो जाता क्योंकि ऋक् की उच्चता से साम की उच्चता आप से आप इस कारण हो जाती कि गानरूपी साममन्त्र ऋचाओं ही

उक्तार्थमेवाह । नहीति । द्रव्येण साम्ना सम्बन्धो वक्तव्यो नहि ॥ ३ ॥ इति

प्रमा० (७) एवम् ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे 'श्रुतेर्जाताधिकारःस्या' दित्युक्तं पूर्वपक्षसूत्रमपि मानम् अन्यथा हि मन्वादिस्मृतिवाचकत्वस्येव ब्राह्मणभागवाचकत्वस्यापि उच्चैर्ऋचेत्यादिवाक्यस्थऋगादिपदेषु प्राप्त्यभावेन श्रुतिशब्दवाच्यऋगादिपदोत्तरतृतीयाशक्त्या जाताधिकारत्वव्यवस्थापनस्य व्यावर्त्यशून्यतया सूत्रस्यैव वैयर्थ्यप्रसंगात् ।

प्रमा० (८) एवम् 'वेदोवाप्रे' ति सिद्धान्तसूत्रमपि तत्र मानम्, मन्त्रमात्रस्य वेदत्वे हि वेदमुपक्रस्य ऋगादिशब्दप्रयोगदर्शनाद्वेद एव ऋगादिपदार्थइति पक्षान्तरं न शक्यते वक्तुम्, उपक्रमस्थऋग्वेदादिशब्दस्यापि भूमिकाधारिमते मन्त्रमात्रवाचकतया जाताधिकारवेदाधिकारयोरैक्यापत्त्या 'वेदोवे' ति पक्षान्तरसूचकस्य वा शब्दस्योन्मत्तप्रलापत्वापत्तेः । तन्मते हि ऋगादिऋग्वेदादिशब्दानां पर्यायत्वमेव, अस्मिंश्च सूत्रे वेत्यनेन पूर्वसूत्रोक्तमन्त्रजातातिरिक्तो मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एव विषयभूतविधिवाक्यस्य ऋगादिपदबोध्यत्वेन सिद्धान्त्यते । एवंच 'अहे बुध्निय मन्त्र' मित्याद्युक्तश्रुतिपर्यालोचनया मन्त्रमात्रशक्तानामृगादिपदानां बोध्यत्वं मन्त्रब्राह्मणसमुदाये, बिना लक्षणां न संभवतीति प्रकृते विध्युद्देशे स्थितानामृगादिशब्दानां तत्र लक्षणा स्वीक्रियते वेदशब्दस्य तु सौत्रस्य मन्त्रब्राह्मणसमुदायवाचकतां

॥ भाषा ॥

पर गाये जाते हैं न कि पृथक् और जब सामशब्द का साममन्त्र और ताण्ड्यादिब्राह्मण का समुदाय अर्थ माना जाय तब तो उच्चैःसाम्ना यह विधान व्यर्थ नहीं होता क्योंकि इस का यह अर्थ होता है कि ताण्ड्यादिरूपी ब्राह्मणभाग से जिन कर्मों का विधान है उनको ऊंचा करै । इस रीति से जब सामशब्द का मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी अर्थ अनन्यगति हो कर करना ही पड़ता है तब ऐसे ही उक्त उपसंहारश्रुति में ऋक् यजुः शब्द का भी लक्षणा के द्वारा मन्त्रब्राह्मणसमुदाय ही अर्थ करना उचित है जिस से उक्त उपसंहारश्रुति में तीनों (ऋक् यजुः साम) शब्दों का अर्थ तुल्यरूप हो जाय । इसी अभिप्राय से उक्त सूत्र में जैमिनिमहर्षि ने मुक्तकण्ठ हो कर यह कहा है कि द्रव्यरूपी साममन्त्र में उच्चतारूप धर्म का विधान हो ही नहीं सकता ॥ ४ ॥ इति ।

प्रमा०—(७) ब्राह्मणभाग के वेद होने में 'श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्' यह अनन्तरोक्तसूत्र भी प्रमाण है क्योंकि यदि मन्त्रभाग ही वेद होता तो यह सूत्र व्यर्थ ही हो जाता । प्रसिद्ध हो चुका है कि 'ऋगादि' शब्द से ब्राह्मणभाग का ग्रहण न हो, इसी के लिये यह सूत्र है और ब्राह्मणभाग का ग्रहण तभी प्राप्त हो सकता है जब कि ब्राह्मणभाग वेद है । और जिस ग्रन्थ में वेद होने का संभव नहीं है उसके ग्रहण के वारणार्थ तो यह सूत्र नहीं हो सकता क्योंकि प्राप्ति होने हीं पर वारण किया जाता है ।

प्रमा० —(८) 'वेदोवा प्रायदर्शनात्' यह उक्त सिद्धान्तसूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है क्योंकि इस सूत्र में वा शब्द से, मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी वेद ही 'उच्चैर्ऋचा०' इस उपसंहारश्रुति के ऋगादिशब्द का अर्थ है । यह पक्षान्तर सिद्धान्तरूप से स्थापित किया गया है और उस में कारण यह दिखलाया गया है कि उपक्रमश्रुति में (ऋग्वेदः) यह वेदशब्द है जो कि मन्त्रब्राह्मणसमुदाय को कहता है । और स्वामी के मत में तो ऋक् आदि शब्द के नांई वेदशब्द का भी केवल मन्त्र ही अर्थ है इस लिये दो पक्ष हुआ ही नहीं, इस कारण 'वेदोवा०' इस शब्द

विना वाशब्दबोध्यपक्षान्तरोत्थानमेव न संभवतीति बेदशब्दस्य मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एव वाच्य इति पूर्वोक्तं निरवद्यमेव ।

प्रमा० (९) एवम् ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे 'लिङ्गाच्चे' ति सूत्रमपि मानम् । लिङ्गाच्च उक्तविधिस्थऋगादिपदानां मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मको बेद एव बोध्यो नत्वन्यत्रेव ऋगादिमन्त्रमात्रमिति हि तस्यार्थः । मन्त्रमात्रस्य बेदत्वे तु तत्र ऋगादिपदबोध्यतायाः शक्त्यैव लब्धतया लक्षणाप्रमाणभूतलिङ्गोपन्यासानर्थक्यप्रसङ्गः ।

प्रमा० (१०) किंचोक्तबिषये 'त्रयीबिद्ये' ति सूत्रमपि मानम् चो हेतौ यतो मन्त्रब्राह्मणसमुदायबिद्येव पुरुष त्रयीविद्य इति ब्यवहारो न ऋगादिमन्त्रसमुदायत्रयमात्रबिदि अतो बेद एव प्रकृते लक्षणया ऋगादिपदबोध्यो नत्वन्यत्रेवात्रापि शक्त्या मन्त्रमात्रमृगादिपदानामर्थ इति हि तदर्थः । नहि ब्राह्मणभागस्य बेदत्वं बिना तद्घटितसमुदाये त्रयीपदब्यवहार्यत्वमुपपद्यते नच पौरुषेयापौरुषेयवाक्यसमुदाये केचन त्रयीपदं प्रयुञ्जाना उपलभ्यन्ते।

प्रमा० (११) अपिच 'उच्चैर्ऋचे' त्यादिवाक्यस्यैतदधिकरणबिषयत्वमपि ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे मानम् । मीमांसादर्शने हि बेदवाक्यार्थस्यैव बिचारःक्रियते नतु स्मृत्यादिपौरुषेयवाक्यार्थस्य । अतएव 'मीमांसाबेदवाक्यबिचारः' इति वदन्ति । शतपथब्राह्मणस्थमेवचो 'च्चैर्ऋचे' त्यादिवाक्यं यदिह बिषयत्वेनोपादीयते । बेदत्वाभावे चास्य वाक्यस्य पौरुषेयत्वापत्त्योक्ताधिकरणबिषयत्वमेव नोपपद्येत ।

प्रमा० (१२) एवमुक्ताधिकरणघटकःसंशयस्तदुपपादकसंशयश्च ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे मानम् सहि किमुच्चैस्त्वादय ऋगादिजातानां मन्त्राणां धर्मा ऋचा मन्त्रेणोच्चैरिति

॥ भाषा ॥

से जो पक्षान्तर कहा गया है वह उन्मत्तप्रलाप के तुल्य हो जायगा । और जब इस सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी बेद ही लक्षणा के द्वारा उक्त उपसंहारश्रुति के ऋगादिशब्दों का अर्थ है तब ब्राह्मणभाग के बेद होने में अणुमात्र भी संदेह नहीं हो सकता ।

प्रमा०—(९) ब्राह्मणभाग के बेद होने में 'लिङ्गाच्च' यह उक्त सूत्र भी प्रमाण है क्योंकि यदि केवल मन्त्र ही बेद होता तब तो वह ऋगादिशब्दों का मुख्यार्थ ही था उसमें लक्षणा करने का कोई प्रयोजन ही नहीं था इस से लक्षणा में प्रमाण देना महर्षि का ब्यर्थ ही हो जाता ।

प्रमा०—(१०) 'त्रयीबिद्याख्या च तद्विदि' यह उक्त सूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है क्योंकि यदि ब्राह्मणभाग बेद न होता तो मन्त्रब्राह्मणसमुदाय में त्रयीशब्द का ब्यवहार जो इस सूत्र से दिखलाया गया है वह कदापि नहीं बनता । प्रसिद्ध है कि पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्य के समुदाय में 'त्रयी' पद का कोई ब्यवहार नहीं करता ।

प्रमा०—(११) यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं है तो षष्ठ प्रमाण में उद्धृत अधिकरण ही निर्बिषय हो जायगा क्योंकि बेदवाक्यों ही के बिचार का नाम मीमांसादर्शन है और उच्चैर्ऋचा यह उक्त वाक्य शतपथब्राह्मण ही का है जो कि स्वामी के मत से बेद ही नहीं है किन्तु पौरुषेय है तो पौरुषेयवाक्य कैसे उक्त अधिकरण का बिषय हो सकता है ।

प्रमा०—(१२) यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं है तो पूर्वोक्त अधिकरण का मूलभूत संशय और उस संशय की उपपत्ति ये दोनों कदापि नहीं हो सकते क्योंकि संशय यह किया गया है कि

किंवा मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकवेदधर्मा ऋग्वेदेनोच्चैरितीत्याकारकः। नच ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाभावे ऽसौ संभवति, द्वितीयकोटेरेवानुत्थानप्रसङ्गात्। किंच एवं ह्यस्य संशयस्योपपत्तिः वेदशब्दो हि मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मनो ग्रन्थविशेषस्य वाचको नैकस्य मन्त्रवाक्यस्य ब्राह्मणस्य वा, तत्र प्रयोगाभावात् नह्येकं द्वे त्रीणि वाक्यान्यधीत्य 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रम' मित्येतच्छास्त्रार्थमनुष्ठितं मन्यन्ते, तस्मान्मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मको ग्रन्थविशेष एव वेदः ऋगादिशब्दास्तु मन्त्रवाचकत्वेन स्थापिता एव। एवंचोपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यत्वानुरोधादेकविषयत्वेऽवश्यंभाविनि किमुपसंहारस्थविध्युद्देशवशादुपक्रमस्थार्थवादगतो वेदशब्दो लक्षणया वेदैकदेशमन्त्रपरो भवतु किंवा उपक्रमगतार्थवादवशादुपसंहारस्थमृगादिपदमेव लक्षणया मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकवेदपरं भवतु इति भवति संशय इति। अत्रापि च संशये द्वितीयकोटिर्नोत्तिष्ठेत यदि मन्त्रभागस्येव ब्राह्मणभागस्यापि वेदत्वं न स्यादिति स्पष्टमेव।

प्रमा० (१३) किंच उच्चैस्त्वादयोधर्मा न मन्त्राधिकाराः किंतु मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकवेदाधिकारा इति सिद्धान्तोऽपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे प्रमाणम् पूर्वं 'वेदोवे' ति सूत्रे 'वा' शब्दः प्रमाणतया दर्शितः 'अत्र तु' सिद्धान्त इति विशेषः।

प्रमा० (१४) एवमस्य विचारस्य फलमपि प्रकृतविषये मानम्। तद्धि ऋग्वेदादि-

॥ भाषा ॥

'उच्चता आदि धर्म, मन्त्रों में विधान किये जाते हैं अथवा मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी वेद में' ब्राह्मणभाग यदि वेद नहीं है तो वेद और मन्त्र एक ही हुआ और ऐसी दशा में संशय के द्वितीयपक्ष का उत्थान ही नहीं हो सकता। तथा अनन्तरोक्त संशय उठाने के लिये उक्त अधिकरण में यह अन्य संशय दिखलाया गया है कि "उपसंहार में कहे हुए, मन्त्र मात्र के वाचक 'ऋगादि' शब्दों के अनुसार, उपक्रम के 'वेद' शब्द से केवल मन्त्रों ही का ग्रहण है अर्थात् उपक्रम के 'वेद' शब्द का केवल मन्त्र ही अर्थ है, अथवा उपक्रम में कहे हुए, मन्त्रब्राह्मणसमुदाय के वाचक 'वेद' शब्द के अनुसार उपसंहार के ऋगादिशब्दों से मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी वेद का ग्रहण है अर्थात् उपसंहार के ऋगादिशब्दों का केवल मन्त्र ही अर्थ नहीं है किन्तु मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी वेद अर्थ है ?"। यदि ब्राह्मणभाग वेद नहीं है तो इस संशय का द्वितीयपक्ष ही नहीं उठ सकता क्योंकि इस संशय का सारांश यह है कि 'उच्चैरृचा०" इस उपसंहारश्रुति में 'ऋक्' आदि शब्द का केवल मन्त्र ही अर्थ है (जैसा कि अन्यत्र होता है) अथवा वेद (मन्त्रब्राह्मणसमुदाय) अर्थ है ? यदि मन्त्र और वेद एक ही वस्तु होता अर्थात् मन्त्र ही वेद होता और ब्राह्मणभाग नहीं, तो यह संशय कैसे हो सकता।

प्रमा०—(१३) अनन्तरोक्त अधिकरण का सिद्धान्त (उच्चता आदि धर्मों का विधान केवल मन्त्रों ही में नहीं है किन्तु मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी वेद से विहित कर्मों में है) भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है और इस सिद्धान्त की उपपत्ति पूर्व ही दिखलाई गई है। भेद इतना ही है कि पूर्व में 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इस सूत्र में केवल 'वा' शब्द प्रमाण दिखलाया गया है और यहां उक्त सिद्धान्त ही प्रमाण कहा जाता है।

प्रमा०—(१४) पञ्चम प्रमाण में उक्त अधिकररूपी विचार, का फल भी ब्राह्मणभाग

घटकब्राह्मणीयविधिवाक्यैर्यद्यद्विधीयते यज्ञाङ्गभूतं कर्म तत्सर्वमेव यथायथमुच्चैरुपांशु वा कार्यं नतु मन्त्रपाठमात्रमिति निर्णय एव। एवंच ऋग्वेदादयो मन्त्रातिरिक्तेन येन भागेन घटितास्तद्भागाविहितानि कर्माण्युच्चैरुपांशु वा कार्याणीत्युक्तनिर्णयनिष्कर्षः। सच मन्त्रातिरिक्तो वेदभागो ब्राह्मणमेवेति।

प्रमा० (१५) एवम्–मानवे २ अध्याये–

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥ १५॥

इत्यपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे मानम्। अत्र हि 'उदिते होतव्यम्' इत्यादीनां विधीनामुद्देश्यांशं कालं तदीयेनैवोदितादिपदेन, विधेयांशं च वर्तत इतिपदेनानूद्य इतीयमित्यनेन च तादृशविधिवाक्यानामाकारं विशिष्योल्लिख्य 'वैदिकी श्रुति' रित्यनेन स्पष्टमेव तेषां वेदत्वमाचष्टे मनुः, विधिवाक्यानि चेमानि ब्राह्मणभागस्थान्येवेति ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाभावे तद्घटकेष्वेषु विधिवाक्येषु स्पष्टमुपलभ्यमानो 'वैदिकी श्रुति' रिति स्वतःप्रामाण्यमूलकमादरगरिमाणमुद्गिरन्मानवो वेदत्वव्यवहारो न कथमप्युपपादयितुं शक्यते। नच 'अग्निर्ज्योति' रित्यादिमन्त्रलिङ्गानुमितविधिवाक्यविषयकत्वमेवास्य व्यवहारस्येति वाच्यम्। प्रसिद्धस्यैवानुमेयत्वेनाप्रसिद्धसाध्यकानुमानासंभवात्। 'इतीयमि' ति प्रत्यक्षपरामर्शानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च।

॥ भाषा ॥

के वेद होने में प्रमाण है। क्योंकि उक्त विचार का यह निर्णय ही फल है कि "ऋग्वेदादिरूपी मन्त्रब्राह्मणसमुदाय में मन्त्र से भिन्न विधिवाक्यरूपी भाग से जिन २ कर्मों का विधान होता है वे सब कर्म ऊंचे किये जाते हैं" और मन्त्र से अतिरिक्त वेदभाग वही है जिसका ब्राह्मण नाम है।

प्रमा०—(१५) मनु० अध्या० २ श्लो० १५ 'उदितेऽनुदितेचैव०' भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में स्पष्ट प्रमाण है जिसका यह अर्थ है कि 'यह अ० वेद की श्रुति है कि अपने २ आरम्भिक संकल्पवाक्य के अनुसार उदित (सूर्यमण्डल के रेखामात्र भाग के उदय होने का समय) और अनुदित (रात्रि का अन्तिम सोलहें भाग में जब तक नक्षत्र स्पष्ट देख पड़ें) तथा समयाध्युषित (नक्षत्रों के लुप्त होने के अनन्तर और सूर्योदय से प्रथम) में अर्थात् इन सब कालों में अग्निहोत्र होता है। इस श्लोक से मनु ने 'उदिते होतव्यम्' 'अनुदिते होतव्यम्०' 'समयाध्युषिते होतव्यम्' इन तीनों, अग्निहोत्र के विधिवाक्यों के 'उदिते' 'अनुदिते' 'समयाध्युषिते' इन एक २ शब्दों को कह कर इन वाक्यों के विषय में यह कहा है कि ये वाक्य वेद की श्रुति हैं। और ये वाक्य ब्राह्मणभाग ही में हैं न कि मन्त्रभाग में निदान यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता तो उन श्रुतियों को मनु वेद की श्रुति कैसे कहते।

प्रश्न—"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" इस अग्निहोत्रमन्त्र के अनुसार यह अनुमान किया जाता है कि अग्निहोत्र का विधान करने वाला वेदवाक्य अवश्य है, तो यह क्यों नहीं कहा जाय कि उसी वाक्य को मनु ने वेद की श्रुति कहा है न कि "उदिते होतव्यम्" इत्यादि वाक्य को?

उत्तर—अनुमान उसी पदार्थ का होता है जो कि कहीं प्रसिद्ध हो, इसी से मनुष्य शृङ्ग आदि का अनुमान अन्यत्र नहीं होता तो जब स्वामी के मत में मन्त्र से अन्य कोई वेदभाग

नचोक्तमन्त्रविषयकत्वमस्य व्यवहारस्य संभवति. तथा सति तेषु मन्त्रेषु लिङादिविधिशब्दाभावेन 'वर्तते यज्ञ' इति विध्यर्थघटकप्रवृत्त्यनुवादिना वाक्यस्यासङ्गतेर्दुःसमाधानत्वात् ।

प्रमा० (१६) तथा तत्रैव—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

इत्यपि वाक्यं प्रकृतेऽर्थे मानम् । नहि वर्णाश्रमधर्माणां कर्तव्यतया विधायकं वाक्यं मन्त्रसंहितासु श्रूयते । श्रूयते च ब्राह्मणभागेषु । नापि मन्त्रस्थानां विरलाविरलपदानां कया

॥ भाषा ॥

प्रसिद्ध ही नहीं है तब उसका अनुमान ही नहीं हो सकता ।

प्रश्न—उक्त मन्त्र से इतना अनुमान तो अवश्य ही हो सकता है कि अग्निहोत्र का कोई विधिवाक्य है और वह विधिवाक्य यदि वेद नहीं है तो क्या हानि है ?

उत्तर (१)–हानि यही है कि मनुवाक्य से विरोध पड़ जायगा क्योंकि मनु ने उसको वेद की श्रुति कहा है ।

उत्तर (२)–मनु ने जब 'उदिते' आदि शब्दों को प्रत्यक्षरूप से कह कर जैसे कोई अंगुली से दिखला कर कहता है वैसा कहा है कि "यह वेद की श्रुति है" तब "उदिते होतव्यम्" इत्यादि वाक्यों को छोड़ कर किसी अन्यवाक्य के अनुमान की चर्चा भी इस अवसर पर नहीं हो सकती ।

प्रश्न—यह क्यों नहीं कहा जाय कि " अग्निर्ज्योतिः" इत्यादि मन्त्रों हीं को मनु ने वेद कहा है ?

उत्तर (१) जब उक्त मन्त्रों के किसी शब्द को मनु ने अपने उक्तवाक्य में नहीं कहा है तब यह प्रश्न ही निर्मूल है ।

उत्तर (२)–वेददुर्गसज्जन के मन्त्रोपयोगप्रकरण में पूर्व हीं भली भांति यह सिद्ध कर दिया गया है कि मन्त्र, किसी कर्म का विधान नहीं करते और मनु ने इस वाक्य में "वर्तते यज्ञः" कहा है जिसका यह तात्पर्य है कि तीनों काल में अग्निहोत्र का पृथक् विधान है तो ऐसी दशा में यही निश्चय उचित है कि मनु ने विधिवाक्यों अर्थात् "उदिते होतव्यम्" इत्यादि प्रत्यक्ष ब्राह्मण-वाक्यों हीं को वेद की श्रुति कहा है न कि "अग्निर्ज्योतिः" इत्यादि मन्त्रवाक्यों को, क्योंकि लिङ् लोट् आदि प्रत्ययों के न रहने से अग्निर्ज्योतिः आदि मन्त्र, विधिरूपी नहीं हैं ।

प्रमा० (१६)–मनु अध्या० २ श्लो० ७–"यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो०" भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है जिस का यह अर्थ है कि "मनु ने अपने धर्मशास्त्र में किसी वर्ण वा आश्रम वा सामान्य का जो कुछ धर्म कहा है वह सब, वेद में कहा है क्योंकि वेद सब के ज्ञानों से भरा है" ॥ प्रसिद्ध है कि मन्त्रसंहिताओं में कहीं भी धर्म का विधान करने वाला कोई वाक्य नहीं है जैसा कि वेददुर्गसज्जन के मन्त्रोपयोगप्रकरण में पूर्व हीं सिद्ध हो चुका है किंतु धर्म के विधायक "स्वर्गकामो यजेत" आदि सभी विधिवाक्य ब्राह्मणभाग ही में है इस से यह निश्चित होता है कि इस वाक्य में वेदशब्द से ब्राह्मणभाग ही कहा गया है ।

प्र०–मन्त्रों में भी जब किसी २ पद के अर्थ लगाने से उन धर्मों की सूचना हो सकती है जो कि मनुस्मृति में कहे हुए हैं तब यह क्यों नहीं कहा जा सकता कि इस वाक्य में 'वेद' शब्द

कया चित्कुसृष्ट्या तादृशयत्किंचिद्धर्मबोधकत्वारोपमात्रेण स्मृतिरियमुपपादयितुं शक्यते, तथासत्यपि ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे 'यः कश्चित्कस्य चित्' 'स सर्वः' इत्येताभ्यामेतद्वाक्यावयवाभ्यां बिरोधस्य बज्रलेपत्वात् । नहि प्रवृत्तिबारिविकलमन्त्रमरुकूपिकायमानाभिः कतिपयतादृशदुरर्थकपोलकल्पनाकुसृष्टिभिरसंख्यप्रभेदकल्लोलमालाऽऽकुलस्तलबिकलोऽसौ धर्मकल्लोलिनीबल्लभः कवलयितुं कल्प्येतेत्यवकल्पनीयमप्यबिकलहृदयेन। किंच नह्यत्र'सूचित' त्युच्यते किं त्व 'भिहित' इति, अभिधानञ्च तादृशधर्माणां बिधेयतया स्फुटतरं प्रतिपादनमेव तच्च मन्त्रेषु स्वाप्निकमपि न संभवति, जागर्तितरां च ब्राह्मणभागेषु । तस्मात् 'वेदेऽभिहित' इत्युक्त्या ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं कण्ठत एवोक्तमिहेति ध्येयम् ।

प्रमा० (१७) एवम् तत्रैव ३ अध्याये

वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथाऽऽदित्या-नित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ २८४ ॥ इति

अत्र 'ह्येषे' ति प्रत्यक्षनिर्देशादादितः पादत्रयमपि श्रुतिस्वरूपानुकरणमिति 'वसून्पितॄन्वदन्ति रुद्रान्पितामहानादित्यान्प्रपितामहान्' इति वाक्यम् 'एषा' इत्यनूद्य सनातनीश्रुतिरित्युच्यते नचेयं सनातनीश्रुतिर्मन्त्रभागे क्वचिदस्ति अपितु ब्राह्मणभागे तथाच कथमसौ न वेदः ? कथं चाधुनातनइति शक्यते वक्तुम् ।

॥ भाषा ॥

का केवल मन्त्रभाग ही में तात्पर्य है ।

उ० १—यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तब भी, यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं है तो इस वाक्य की उपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि मन्त्रों में किसी २ पद का अनेक क्लेशपूर्वक खींच खांच कर अर्थ करने से यदि किसी धर्म का सूचन हो भी गया तो मनुस्मृति में कहे हुए सब धर्मों का कथन तो मन्त्रभाग में कदापि नहीं हो सकता क्योंकि मन्त्रसंहितारूपी कतिपय छोटी २ बावलियों में, मनु के कहे हुए धर्मसमुदायरूपी महासमुद्र का अंट जाना किसी चेतन के सम्भावना में भी नहीं आ सकता ॥

(२) इस वाक्य में यह कहा हुआ है कि 'मनु ने जो कुछ किसी का धर्म कहा है वह सब बेद में कहा है" इस से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि मनु का कहा हुआ कोई ऐसा धर्म नहीं है कि जो बेद में न कहा हो तथा यह भी निश्चित है कि सूचना मात्र को, कहना नहीं कहते किंतु करने के लिये धर्मों का स्पष्टरूप से बिधान करने ही को कहना कहते हैं जो कि मन्त्रों में कतिपयपदों के खींच खांच के अर्थ से कतिपयधर्मों की सूचना मात्र करने पर भी नहीं हो सकता और ब्राह्मणभाग में तो सब धर्मों का स्पष्टरूप से बिधान है इस लिये इस वाक्य में बेदशब्द का ब्राह्मणभाग ही अर्थ है मन्त्रभाग कदापि अर्थ नहीं हो सकता ।

प्रमा० (१७) 'वसून्०' अ० यह सनातनी श्रुति (बेद) है कि 'वसून् पितॄन् वदन्ति रुद्रान् पितामहान् आदित्यान् प्रपितामहान्' (बेदवादी, वसुओं को पिता रुद्रों को पितामह तथा आदित्यों को प्रपितामह कहते हैं) ।

यह श्रुति मन्त्रभाग में कहीं नहीं है किंतु ब्राह्मणभाग में है और मनु, इसको सनातनी श्रुति (बेद) कहते हैं तब कैसे ब्राह्मणभाग बेद नहीं है ?

प्रमा० (१८) किंच तत्रैव ४ अध्याये—

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्म च्छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥ इति

अत्र कुल्लूकः । यथोक्तविधिना नित्यम् छन्दस्कृतम् गायत्र्यादिच्छन्दोयुक्तं मन्त्रमात्रं पठेत्, मन्त्राणामेव कर्मान्तरङ्गत्वात्, अनापदि सम्यक्करणादौ सति ब्रह्म ब्राह्मणम् मन्त्रजातं च यथोक्तविधिना युक्तः सन् द्विजः पठेत् इति ।

अत्र हि जलादीनामिव मन्त्राणां सन्ध्योपासनादिनित्यकर्माङ्गद्रव्यत्वात्तत्पाठो नित्यत्वेन विहितः, ब्राह्मणभागस्य नित्यान्यकर्माङ्गमन्त्राणां च पाठस्त्वनापदि कर्तव्यत्वेन परन्तूपाकरणाद्युत्सर्गान्तनियमकलापं ब्राह्मणभागस्य मन्त्रभागस्य च पाठयोरविशिष्टत्वेनोक्तः । एवं च नित्यकर्माङ्गानामन्यकर्पाङ्गानां च मन्त्राणां वेदत्वमभ्युपगच्छता ऽत्र श्लोके ताँस्ताँश्चान्तरा ब्रह्मशब्देन निर्दिष्टस्य ब्राह्मणभागस्य वेदता केन मुखेन नास्तीति वक्तुं शक्यते, नचेह च्छन्दस्कृतमित्यस्य ब्रह्मेत्यनेनाभेदान्वयः शक्यशङ्कोऽपि, चैवेति समुच्चायकनिपातसमुदायोपादानविरोधात् छन्दस्कृतमित्यस्य द्विरुपादानवैयर्थ्यात् चेति ध्येयम् ।

प्रमा० (१९) अपिच–तत्रैव ७ अध्याये—

राज्ञश्च दद्युरुद्धार मित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ ९७ ॥ इति

अत्र कुल्लूकः । उद्धारं योद्धारो राज्ञे दद्युः, उद्ध्रियतइत्युद्धारः । जितधनादुत्कृष्टधनं सुवर्णरजतकुप्यादि राज्ञे समर्पणीयम् करितुरगादिवाहनमपि राज्ञे देयम् वाहनं च राज्ञ उद्धारं चेति गोतमवचनात् । उद्धारदाने च श्रुतिः 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा' इत्युपक्रम्य स महान् भूत्वा देवता

॥ भाषा ॥

प्रमा० (१८) 'यथोदितेन०' अ० पूर्वोक्त नियमों से युक्त हो द्विज, प्रतिदिन (आपत्काल में भी) गायत्री आदि छन्दों से युक्त केवल मन्त्रों का पाठ किया करे (क्योंकि मन्त्र ही सन्ध्योपासनादि नित्यकर्मों के अन्तरङ्ग हैं) और ब्रह्म (ब्राह्मणभाग) नित्यकर्माङ्गमन्त्रों से अन्यमन्त्रों को भी उन हीं नियमों के साथ प्रतिदिन पढ़े परन्तु आपत्काल में नहीं ।

जब कि यहाँ मनु ने नित्यकर्माङ्गमन्त्रों और ब्राह्मणभाग तथा अन्यमन्त्रों का तुल्य ही नियमों के साथ पाठ करने का विधान किया है और दोनों प्रकार के मन्त्रों के मध्य में ब्राह्मणभाग का वेदवाचक 'ब्रह्म' शब्द से निर्देश भी किया है तब जो पुरुष दोनों प्रकार के मन्त्रों को वेद मानता है वह किस मुख से ब्राह्मणभाग के वेद होने को नमेट सकता है ?

प्रमा० (१९) 'राज्ञश्च०' अ० युद्ध में विजय से जिन २ राजभटों को जो २ वस्तु मिलें उनमें से सर्वोत्तम वस्तु उद्धृत कर वे अपने स्वामी राजा को दें यह वैदिकी श्रुति है अर्थात् 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा, समहान्भूत्वा देवता अब्रवीत् उद्धारं समुद्धरतेति' (वृत्रासुर को मार कर विजयी इन्द्र, देवताओं से कहते हैं कि उद्धार अर्थात् सर्वोत्तमवस्तु को उद्धृत करो अर्थात् मेरे लिये) यह वेद की श्रुति है ।

यहाँ मनु ने अर्थानुवाद के द्वारा अनन्तरोक्त श्रुति की सूचना दे कर यह स्पष्ट ही कहा है कि 'यह वेद की श्रुति है' और यह श्रुति मन्त्रभाग में कहीं नहीं है किंतु ब्राह्मणभाग ही की है तो ब्राह्मणभाग यदि वेद नहीं है तो मनु ने इस को कैसे वेद की श्रुति कहा ? इस में ब्राह्मण-

अब्रवीत् उद्धारंसमुद्धरतेति ।

प्रमा० (२०) एवम् तत्रैव ९ अध्याये—

नौद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥ इति

अत्र हि मन्त्रेषु वैवाहिकेषु नियोगो न क्वचित् कीर्त्यते नवा विवाहविधिवाक्येषु क्वचित् विधवायाः पुरुषान्तरेण सह पुनर्विवाह उक्त इति वदता मनुना मन्त्रविधिवाक्ययोस्तुल्यस्कन्धतया प्रामाण्यमभ्युपगच्छता तयोरनुक्तत्वाद्विधवानियोगपुनर्विवाहयोरकार्यत्वमुक्तम् मन्त्राणां च न विधायकत्वमिति वेददुर्गसज्जने मन्त्रप्रामाण्यनिरूपणे पूर्वमेवास्माभिर्निरूपितम्, 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जाबालोपनिषत्) इत्यादयो विवाहविधयश्च ब्राह्मणभागा एवेति कथं न ब्राह्मणभागस्य वेदत्वम् ।

प्रमा० (२१) एवम्—मीमांसादर्शने १ अध्याये २ पादे—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते ॥ १ ॥

इतीदमर्थवादाधिकरणपूर्वपक्षस्यादिमं सूत्रमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे मानम् । अस्यायमर्थः आम्नायस्य वेदस्य क्रियाऽर्थत्वात् प्रवृत्त्याद्यर्थत्वात् धर्मे प्रामाण्यं पूर्वमुक्तम् । अतदर्थानाम् प्रवर्तकविध्याद्यघटितानामर्थवादादीनाम् आनर्थक्यम् प्रवृत्त्याद्यजनकत्वम् यस्मात् तस्मात् तेषु अनित्यम् धर्मप्रमित्यजनकत्वम् उच्यते इति । अनेन हि सूत्रेण प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थकयोर्विधिनिषेधवाक्ययोर्वेदभागयोः क्रियार्थत्वेन धर्मे प्रामाण्यमभ्युपगम्य क्रियार्थत्वा-

॥ भाषा ॥

भाग का वेद होना इस मनुवाक्य से स्पष्ट ही सिद्ध है ।

प्रमा० (२०) 'नौद्वाहिकेषु०' अ० न विवाह के मन्त्रों में कहीं (विधवा में) नियोग की चर्चा है और न विवाह के विधिवाक्यों 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करे विवाह करे (जाबालोपनिषत्) इत्यादि में कहीं (अन्य पुरुष के साथ) विधवा के पुनर्विवाह का विधान है ।

यहाँ मनु ने मन्त्रों के तुल्य विधिवाक्यों का प्रामाण्य स्वीकार किया है और वेददुर्गसज्जन के मन्त्रप्रामाण्यप्रकरण में यह पूर्व ही यहाँ सिद्ध हो चुका है कि मन्त्रों में विधानशक्ति नहीं है तो ऐसी दशा में यदि विधिवाक्यवाले ब्राह्मणभाग वेद न होते तो मनु, मन्त्रभाग के तुल्य उन के प्रामाण्य को कदापि स्वीकार न करते इससे ब्राह्मणभाग का वेद होना निःसन्देह ही है ।

प्रमा०—(२१) पू० मी० द० अध्या० १ पा० २ "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते" सू० १ ॥ यह अर्थवादाधिकरण के पूर्वपक्ष का सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है जिसका अर्थ यह है कि वेद, पुरुषों की धर्म में प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति के लिये है तथा अर्थवादभाग वा मन्त्रभाग से न प्रवृत्ति होती है न निवृत्ति, इस कारण यह कहा जाता है कि दोनों भाग धर्म वा अधर्म में प्रमाण नहीं हैं । इस सूत्र में जैमिनिमहर्षि ने "स्वर्गकामो यजेत" आदि विधिवाक्यों को प्रवृत्ति करने से और 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इत्यादि निषेधवाक्यों को निवृत्ति करने से प्रमाण मान कर प्रवृत्ति वा निवृत्ति न करने के कारण मन्त्र और अर्थवाद के प्रामाण्य पर आक्षेप किया है जिस से कि यह स्पष्ट है कि मन्त्रसंहिताओं में

भावान्मन्त्रार्थवादादीनां धर्मे प्रत्यप्रामाण्यमापाद्यते। विधिनिषेधभागाश्च ब्राह्मणभागान्तर्गता एवेति तद्रूपस्याम्नायस्य प्रामाण्यमभ्युपगच्छता तांश्च भागानाम्नायशब्देन व्यपदिशता भगवता जैमिनिना ब्राह्मणभागस्याम्नायत्वापरपर्यायं वेदत्वं कण्ठरवेणैवोक्तम्। नच क्रियापदेनात्र स्पन्दो गृह्यते तदर्थकत्वं च धातुघटितत्वान्मन्त्रभागेऽप्यस्ति, अर्थपदं चेह वाच्यपरं नतु प्रयोजनपरम् तथाचात्राम्नायपदं मन्त्रभागमात्रपरमेवेति वाच्यम्। तथा सति क्रियापदं विना वाक्यत्वस्यैवासंभवेन क्रियार्थत्वस्य सर्ववाक्यसाधारणतया प्रामाण्यप्रयोजकत्वेन क्रियार्थत्वोक्तेरेव वैयर्थ्यापत्तेः। किंचैवमर्थे क्रियमाणे 'ऽतदर्थाना' मित्यसङ्गतं स्यात् क्रियाबोधकत्वाभावरूपस्यातदर्थत्वस्य लौकिकवाक्य इव वैदिकवाक्येऽप्यसंभवात्। 'यत्रान्यत् क्रियापदं नास्ति तत्रास्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' 'सर्वं हि वाक्यं क्रियायां परिसमाप्यते' इत्यादिन्यायेन हि वाक्यत्वस्य व्यापकमेवैतादृशं क्रियार्थत्वम्। तथाच शावराद्युक्तो मदुपन्यस्त एव सूत्रार्थो रमणीयः। किंच मन्त्रार्थवादादीनां धर्मे प्रामाण्यमक्रियार्थत्वादनेन सूत्रेणाक्षिप्यते तच्च तदैवोपपद्यते यदि मन्त्रार्थवादादीनां वेदत्वं स्यात् नत्वन्यथा, तथा सति लौकिकवाक्येष्विव मन्त्रादिषु धर्मे प्रामाण्यस्य प्रसक्त्यभावात्तन्निरासायारभ्यमाणं सूत्रमेवेदमनर्थकं स्यात् अक्रियार्थत्वं च यथा मन्त्रेऽर्थवादे च तुल्यं तथैवाम्नायत्वमप्युभयोस्तुल्यमेव वाच्यमिति दिक्।

॥ भाषा ॥

विधिवाक्य या निषेधवाक्य कोई नहीं है और विधिवाक्य तथा निषेधवाक्य को महर्षि ने इस सूत्र में आम्नाय (वेद) कहा है तथा विधिवाक्य और निषेधवाक्य ब्राह्मणभाग ही में होते हैं इस से यह निर्विवाद सिद्ध है कि महर्षि ने कण्ठरव से इस सूत्र में ब्राह्मणभाग को आम्नाय (वेद) कहा है।

प्र०—इस सूत्र में 'क्रिया' शब्द से प्रवृत्ति और निवृत्ति का ग्रहण नहीं है किन्तु व्यापारमात्र का, तथा 'अर्थ' शब्द का भी, प्रयोजन अर्थ नहीं है किंतु वाच्य (अक्षरार्थ) अर्थ है। और व्यापार के वाचक 'ददाति' आदि शब्द, मन्त्रों में रहते ही हैं इस से यहां आम्नाय शब्द का केवल मन्त्रभाग ही अर्थ क्यों न हो क्योंकि मन्त्र का क्रियारूप अर्थ है ?

उ०—(१) 'जाता है' इत्यादि क्रियाशब्द के बिना लौकिकवाक्य भी कोई (चाहे वह सत्य हो वा मिथ्या) नहीं होता इस रीति से क्रिया अर्थ होने मात्र के कारण कोई वाक्य, प्रमाण नहीं हो सकता और इस सूत्र में महर्षि ने क्रियार्थ होने से आम्नाय को धर्म में प्रमाण कहा है इस से प्रश्नोक्त अर्थ करने में यह महर्षि का कथन असङ्गत ही हो जायगा क्योंकि व्यापार के अर्थ होने मात्र से कोई वाक्य प्रमाण नहीं होता।

उ०—(२) इस सूत्र के 'क्रियार्थ' शब्द का प्रश्नोक्त अर्थ लगाने में इसी सूत्र का 'अतदर्थानाम्' यह शब्द असङ्गत हो जाता है क्योंकि तब प्रश्नकर्ता को इस शब्द का, अनन्यगति हो कर यही अर्थ करना पड़ेगा कि 'मन्त्रभाग और अर्थवादभाग का व्यापार अर्थ नहीं है' जो कि मिथ्या ही है क्योंकि इन दोनों भागों में व्यापार अर्थवाले 'ददाति' आदि शब्द सहस्रों हैं।

यदि अर्थवादभाग (जो कि ब्राह्मणभाग ही में होता है) वेद न होता तो धर्म में उसके प्रमाण होने का संभव ही नहीं होता इस कारण यह सूत्र ही व्यर्थ हो जाता क्योंकि इस सूत्र से मन्त्र और अर्थवाद के प्रमाण होने का निषेध किया जाता है और जब अर्थवाद के प्रमाण होने

प्रमा० (२२) किंच-तत्रैव-

तदर्थशास्त्रात् ॥ ३१ ॥

इतिसूत्रमप्युक्तेऽर्थे मानम् । इदं हि मन्त्राधिकरणस्यादिमं पूर्वपक्षसूत्रम् । अस्य च 'अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यं' मित्येकोनचत्वारिंशतमसूत्रस्थे मन्त्रानर्थक्यमित्यत्रान्वयः। तथा चायमर्थः 'उरुप्रथस्वे' त्यादौ यः तदर्थः पुरोडाशप्रथनादिरूपोऽर्थः स यादृशि शास्त्रे तादृशशास्त्रात् 'उरुप्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयती' त्यादि विधिवाक्यात्तदर्थज्ञानसंभवात्, मन्त्राणाम् उरुप्रथस्वेत्यादीनाम्, आनर्थक्यम् वाच्यार्थतात्पर्यराहित्यमिति । अत्र हि शास्त्रपदेन ब्राह्मणवाक्यं गृह्यते शास्त्रपदं चेह वेदपरमेव नतु पौरुषेयवाक्यपरं भवितुमर्हति, पौरुषेयवाक्येन वेदानर्थक्यसाधनस्यात्यन्तानौचित्यापातात् । नह्युरुप्रथस्वेत्यादिमन्त्रे पुरोडाशप्रथनादिसाधनत्वं शब्दातिरिक्तेन केनचित्प्रमाणेन शक्यमवगन्तुम्, नापि प्रमाणान्तरागृहीतेऽर्थे पौरुषेयवाक्यानां प्रामाण्यं क्वचिदपि दृष्टचरम् तत्प्रामाण्यस्य प्रमाणान्तरसंवादोपजीवितानियमात् ।

॥ भाषा ॥

का संभव ही नहीं है तब उसका निषेध व्यर्थ ही है ।

प्रमा०—(२२) पूर्वोक्त १ अध्याय २ पाद के मन्त्राधिकरण में 'तदर्थशास्त्रात्' ॥३१॥ यह पूर्वपक्षसूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है । इसका यह अक्षरार्थ है कि 'उरुप्रथस्व' आदि मन्त्रों को पढ़ कर पुरोडाश का प्रसरण आदि जो क्रियाएं की जाती हैं उनका विधान ब्राह्मणवाक्यों से होता है इसी से मन्त्र, विधायक नहीं हैं और न उनका अपने अर्थ में तात्पर्य है । तथा तात्पर्य इस सूत्र का यह है कि जैसे नीलीरोग (जिस से आंख में विकार स्पष्ट न हो और देख न पड़े) वाले अर्थात् प्रसन्नान्धपुरुष की आंखों को देख कर लोग यह समझते हैं कि यह देखता है परन्तु जब दूसरे मनुष्य की अंगुली पकड़ कर उसे चलते देखते हैं तब यह निश्चय करते हैं कि इस को देख नहीं पड़ता, वैसे ही 'उरुप्रथस्व' (हे पुरोडाश ! अर्थात् होम का द्रव्य तू पूर्णरूप से पसर जा।) इत्यादि क्रियार्थ मन्त्रों के स्वरूप देखने से ज्ञात होता है कि यह किसी क्रिया में पुरुष को नियुक्त कर सकता है परन्तु जब 'उरुप्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' ('उरुप्रथस्व' इस मन्त्र से पुरोडाश को पसार) इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों से पुरोडाश के प्रसरण आदि कार्यों में उन मन्त्रों को नियुक्त किये जाते देखते हैं तब यह निश्चय होता है कि मन्त्रों में नियुक्त करने की शक्ति नहीं है क्योंकि जब क्रियाओं में वे आप ही ब्राह्मणवाक्यों से नियुक्त हो रहे हैं तब दूसरों को क्या नियुक्त कर सकते हैं और यदि वे अपने ही से अपने को नियुक्त करें तब तो उनको नियुक्त करने वाले ब्राह्मणवाक्य ही व्यर्थ हो जायंगे । इसी से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है किंतु वे ब्राह्मणवाक्यों से नियुक्त हो कर अपने पाठमात्र के द्वारा यज्ञ के उपकारी हैं इति । और इस सूत्र में शास्त्रशब्द से जब पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्यों का ग्रहण है तब ब्राह्मणवाक्यों के वेद होने में क्या सन्देह है क्योंकि ब्राह्मणवाक्य यदि वेद न होते अर्थात् पुरुषों के रचित होते (जैसा कि स्वामी का मत है) तो ब्राह्मणवाक्यों के बल से महर्षि कदापि यह नहीं कहते कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है ।

तथा जब 'उरुप्रथस्व' आदि मन्त्रों का, पुरोडाश के प्रसरण आदि कार्यों के प्रति साधक होना किसी लौकिकप्रमाण से कदापि नहीं ज्ञात हो सकता तब उसका ज्ञान कराने वाला ब्राह्मणवाक्य वेद नहीं है तो क्या है ? क्योंकि पूर्व में यह सिद्ध हो चुका है कि वेद उसी सत्

एवंच 'उरुप्रथस्वेति पुरोडाश' मित्यादीनां ब्राह्मणवाक्यानामवेदत्वे पौरुषेयत्वापत्त्या तदर्थे च प्रमाणान्तरसंवादस्य दुर्वचत्वाचेषु प्रामाण्यमेव न स्यात् । असति च प्रामाण्ये कथमिव शास्त्रत्वमपि तेषु स्यात् । कथं चाप्रामाणिकेन वञ्चकवाक्यकल्पेन ब्राह्मणवाक्येन वेदानां मन्त्राणामानर्थक्यमस्माभिरपि शङ्कितुमपि शक्येत किं पुनरुपन्यसितुं महर्षिणा । अथो 'रुप्रथस्वे' त्यादिमन्त्ररूपवेदमूलकत्वात्तद्विनियोजकानां पौरुषेयाणामपि ब्राह्मणानां मन्वादिस्मृतिवत्प्रामाण्यमाश्रित्य मन्त्रवैयर्थ्यमापाद्यते महर्षिणेति चेत्, अहो साध्वीयं बुद्धिः यददृष्टश्रुतचरं स्मृत्या श्रुतिवैयर्थ्यमापाद्यतं ब्राह्मणभागस्य पौरुषेयत्वं ब्रुवता, तत्रापि इदमतिचित्रं यत् मन्त्रस्वार्थपरत्वाभावापादकत्वेन महर्षेरभिमेतस्य ब्राह्मणवाक्यस्य तन्मन्त्रमूलकत्वमप्युच्यते । स्वार्थपरत्वद्वारैव हि वेदानां पौरुषेयवाक्यमूलता सम्भवति । तथाच मन्त्रेषु स्वार्थपरत्वाभावब्राह्मणवाक्यमूलत्वयोस्तमःप्रकाशयोरिव

॥ भाषा ॥

वाक्यसमुदाय का नाम है कि जिसका अर्थ किसी लौकिकप्रमाण से ज्ञात न हो सके ।

तथा यह भी एक विशेष बात है कि उक्त ब्राह्मणवाक्य यदि वेद नहीं है अर्थात् पौरुषेय है तो वह प्रमाण ही नहीं हो सकता क्योंकि पौरुषेयवाक्य तभी प्रमाण हो सकते हैं कि जब उनका अर्थ लौकिकप्रमाणों से निश्चित होता है और उक्त ब्राह्मणवाक्य का अर्थ (उरुप्रथस्व आदि मन्त्रों में पुरोडाश के प्रसारण आदि कार्यों के प्रति साधक होना) जब किसी लौकिकप्रमाण से नहीं ज्ञात हो सकता तब पौरुषेय ब्राह्मणवाक्य अप्रमाण ही है और ऐसी दशा में महर्षि का यह कहना कि " ब्राह्मणवाक्यों से कार्यों के विधान होने के कारण मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है " अनुचित ही हो जायगा क्योंकि अप्रमाणवाक्यों के बल से प्रमाणवाक्यों के अर्थ का संकोच, कोई साधारणमनुष्य भी स्वीकार नहीं कर सकता जैसे लोक में भी वञ्चकपुरुष के वाक्य से, सत्यवाक्य का संकोच कोई नहीं स्वीकार करता इससे यह सिद्ध हो गया कि ब्राह्मणवाक्य प्रमाण भी है और वेद भी है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इस सूत्र में जैमिनिमहर्षि ब्राह्मणवाक्यों के बल से इस बात के कहने का साहस कदापि न करते कि 'मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है' ।

प्रश्न—धर्म के विषय में पौरुषेयवाक्य तभी प्रमाण होता है जब कि वह वेदमूलक हो जैसे मनु आदि की स्मृति, ऐसे ही ब्राह्मणवाक्य यद्यपि पौरुषेय हैं तथापि कार्यों में मन्त्रों को नियुक्त करने से वेदमूलक हो कर प्रमाण हैं और ऐसी दशा में यदि महर्षि ने उनके बल से, अपने अर्थ में मन्त्रों का तात्पर्य न होना कहा तो क्या अनुचित किया ? और महर्षि के इस कथन से सनातनधर्मी के पक्ष में लाभ भी क्या हो सकता है ? ।

उ०—वाह २ क्या अच्छी बुद्धि है क्योंकि एक तो प्रश्नकर्ता, स्मृति के बल से मन्त्ररूप वेद के अनर्थक होने को जैमिनिमहर्षि के सम्मत कहता है जो कि आज तक न किसी प्रामाणिक से सुना गया है और न किसी ग्रन्थ में लिखा गया । और उस से भी अति आश्चर्य यह है कि जो यह कहता है कि 'ब्राह्मणभाग मन्त्रमूलक है' क्योंकि मन्त्र अपने अर्थ ही के द्वारा ब्राह्मणवाक्य का मूल हो सकता है तो जब मन्त्र का अपने अर्थ में तात्पर्य ही नहीं है तब वह कैसे ब्राह्मणवाक्य का मूल हो सकता है । और यदि मन्त्र, ब्राह्मणवाक्य का मूल है तो कैसे उसका अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है । इस रीति से यह सूत्र ही अनर्थक और अप्रामाणिक हो जायगा । और ब्राह्मण-

परस्परविरोधात्सूत्रमेतद्बाधितार्थमेव स्यात् । सति तु ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे, तस्य बिनियोजकतया स्वार्थबोधपरताया आवश्यकत्वेन यवव्रीह्याद्यपरबिनियोज्यद्रव्यवन्मन्त्रद्रव्याणां स्वार्थपरत्वाभावेऽपि न बिनियोगानुपपत्तिरतो निष्प्रयोजनैव मन्त्रेषु स्वार्थपरत्वकल्पनेत्यनर्थकामन्त्रा इति सहजत एवोपपद्यते सूत्रार्थः ।

एतेन 'किंच भोः ब्राह्मणग्रन्थानामपि बेदवत्प्रामाण्यं कर्तव्यमाहोस्विन्नेति। अत्र ब्रूमः। नैतेषां बेदवत्प्रामाण्यं कर्तुंयोग्यमस्ति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात् तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाचेति । परंतु सन्ति तानि परतः प्रमाणयोग्यान्येवेती' ति पूर्वानूदितभाष्याभासभूमिकोक्तमपि प्रत्याख्यातम् ।

नहि 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वे' त्यादिषु बिनियोजकब्राह्मणवाक्येषु बिनियोज्ययवव्रीह्यादिमूलकत्वं केनचित्प्रेक्षावता व्यपदिश्यते येन बिनियोज्यभूतमन्त्रमूलकत्वमपि तेषु शक्यते वक्तुम् । नापि पौरुषेयीभिरुपजीविनीभिर्वाग्भिरपौरुषेयीणामुपजीव्यानां श्रुतीनां स्वार्थपरत्वाभावमबिकलकरणः कश्चिदपि शङ्कितुं शक्नोति येन महर्षिरपि पौरुषेयैर्ब्राह्मणैस्तथाऽऽपादितवानिति वक्तुमपि शक्यते तथाच ब्राह्मणभागस्य बेदत्वाभावे दुरुद्धर एवैतत्सूत्रविरोधः ।

किंच स्वीकर्तव्यमित्यर्थे 'कर्तव्यमिति' स्वीकर्तुमित्यर्थे च 'कर्तुमिति' 'ईश्वरोक्ताभावात्' इत्यत्रेश्वरोक्तपदात् 'प्रमाणयोग्यानि' इत्यत्र प्रमाणपदाच्च भावप्रत्ययाप्रयोग इति चत्वारि बालानामिवातिस्थूलान्यकौशलानीत्यन्यत् ।

प्रमा० (२३) तथा-तत्रैव—

बुद्धशास्त्रात् ॥ ३३ ॥

इत्यपि सूत्रमुक्तार्थे मानम् । अस्य हि, प्रयोगाद्बहिः 'अग्नीदग्नीन्विहरेदि' ति प्रैषादे-

॥ भाषा ॥

भाग के बेद मानने से इस सूत्र का अर्थ सहज ही में ठीक हो जाता है क्योंकि ब्राह्मणभाग, जब बेद है तब मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य न होने पर भी जब तण्डुल आदि के नाईं यज्ञकर्मों में ब्राह्मणभाग, मन्त्रों को नियुक्त कर सकता है इस कारण मन्त्रों का उन के अर्थ में तात्पर्य की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं है इसी से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है । इस व्याख्यान से वह भी परास्त हो गया जो कि स्वामी ने पूर्व ही उद्धृत भूमिका के अन्त में यह कहा है कि "ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण बेदों के तुल्य नहीं हो सकता क्योंकि वे इश्वरोक्त नहीं हैं" "परन्तु बेदों के अनुकूल होने से प्रमाणयोग्य तो हैं" इति, क्योंकि यदि "व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा" (चावल से याग करै अथवा जव से) इत्यादि ब्राह्मणवाक्य, तण्डुल और जव आदि को यज्ञ में नियुक्त करते हैं परन्तु इतने मात्र से वे तण्डुलमूलक वा यवमूलक नहीं हो सकते तब मन्त्र को नियुक्त करने से वे मन्त्रमूलक भी नहीं हो सकते और जब मन्त्रमूलक नहीं हैं तब कैसे प्रमाण होने के योग्य हैं। तथा यदि ब्राह्मणवाक्य पौरुषेय होते तो जैमिनिमहर्षि, कैसे उन से अर्थबोध होने के कारण यह कहते कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है । निदान ब्राह्मणभाग को बेद न होना स्वीकार करने में इस सूत्र का बिरोध अटल है ।

प्रमा०—(२३) पू० मी० द० अध्या० १ पा० २ । "बुद्धशास्त्रात्" ॥ ३३ ॥ यह सूत्र

ग्नाग्नीध्रेण अग्निविहरणादि कर्म मदीयमिति बुद्धे सति 'अग्नीदग्नीन्विहर' 'वर्हिस्तृणीहि' इत्यादि शास्त्रात् मन्त्रात् ज्ञातस्य ज्ञानं निष्प्रयोजनमतो मन्त्रानर्थक्यमित्यर्थः। तात्पर्यंतु मदुपन्यस्तमन्त्राधिकरणपूर्वपक्षे दर्शनीयम्। एवंच ब्राह्मणवाक्यमवलम्ब्य प्रैषमन्त्रसार्थक्यमाक्षिपता, 'तदर्थशास्त्रा' दिति पूर्वोक्तसूत्रे ब्राह्मणमन्त्रसूत्रे च मन्त्रं शास्त्रपदेनैव व्यवहरता च महर्षिणा ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सिद्धवदेवाङ्गीकृतम्। नहि ब्राह्मणीयप्रैषवाक्यस्य पौरुषेयत्वे मन्वादिस्मृतिवाक्येनेव तेन मान्त्रप्रैषवैयर्थ्यं शक्यते शङ्कितुम्। विशेषत उपपत्तिस्तु पूर्वोक्तवत्।

प्रमा० (२४) तथैव-तत्रैव-

स्वाध्यायवदवचनात् ॥ ३७ ॥

इति सूत्रमप्युक्तार्थमानम्। अस्य हि यथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यक्षरग्रहणविधिः।

॥ भाषा ॥

भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है और इसका अक्षरार्थ यह है कि "जब अग्निविहरण आदि कार्य पूर्व ही से बुद्ध अर्थात् ज्ञात हैं तब मन्त्ररूपी शास्त्र से उन को ज्ञात कराना व्यर्थ ही है" और भावार्थ यह है कि " किसी यज्ञक्रिया को बिना समझे कोई नहीं कर सकता इस से यज्ञारम्भ के पूर्व हीं अग्नीध् आदि ऋत्विक् अपने २ अध्ययनकाल ही में "अग्नीदग्नीन्विहर" (अग्नीध्नामक ऋत्विक् अग्नि का विहरण करै) इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों ही से अपने २ कामों को समझे रहते हैं तब यज्ञ के प्रयोगकाल में "अग्नीदग्नीन् विहर" (हे अग्नीध् तू अग्नि का विहरण कर) इत्यादि मन्त्रों से उन को अपने २ काम में प्रेरण करना व्यर्थ ही है क्यौंकि वे तो प्रथम हीं से यह जानते हैं कि अमुक २ अवसर पर हमको अमुक २ काम करना चाहिये। इसी से इस प्रकारके मन्त्र उस २ अवसर पर अपने पाठमात्र ही से यज्ञ के उपकारी हैं न कि अर्थबोध कराने से। और यह भी नहीं कह सकते कि ऐसे मन्त्र उस २ अवसर पर उन २ कामों को स्मरण कराने के लिये हैं, क्यौंकि ऋत्विजों के अन्तःकरण में ब्राह्मणवाक्यों के अध्ययनाभ्यास ही से ऐसे दृढतर संस्कार उत्पन्न होते हैं जो कि उन कामों को अवसर पर स्मरण करा देते हैं स्मरण के लिये मन्त्रों की कुछ आवश्यकता नहीं रहती। तथा यह भी नहीं कह सकते कि उन्हीं संस्कारों को जगाने के लिये ऐसे मन्त्रों की आवश्यकता है, क्यौंकि वह अवसर ही उन संस्कारों को झट जगा लिया करता है। इन उक्त युक्तियों से यह निश्चित होता है कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है इति। अब ध्यान देना चाहिये कि जैसे 'तदर्थशास्त्रात्' सूत्र में जैमिनिमहर्षि ने ब्राह्मणबाक्य को शास्त्रशब्द से कहा और उसी के बल से यह भी कहा कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है वैसे ही इस सूत्र में भी मन्त्रों को शास्त्रशब्द से कहा जिस से यह स्पष्ट निश्चित होता है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को तुल्यरूप से बेद होना महर्षि को संमत है और इस सूत्र में भी ब्राह्मणवाक्य ही के बल से महर्षि ने यह कहा कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है। यह कथन भी तब ही ठीक हो सकता है कि जब ब्राह्मणभाग बेद है और इस की बिशेषरूप से उपपत्ति पूर्व कही गई है।

प्रमा०—(२४) पू० मी० द० अध्या० १ पा० ॥ २॥ "स्वाध्यायवदवचनात्" ॥ ३७॥ यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है इसका अक्षरार्थ यह है कि जैसे "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (बेद अवश्य पढ़ा जाय) इस बेदवाक्य से बेद के अक्षराभ्यास का बिधान है वैसे इस

तथा अवचनात् अर्थस्मरणं मन्त्रेण कर्तव्यमितिविध्यभावात् मन्त्रानर्थक्यमित्यक्षरार्थः। अतश्च यदि 'अर्थस्मरणं मन्त्रेण कर्तव्य' मितिविधिः श्रूयेत तदा तदनुरोधान्मन्त्राणां स्वार्थपरत्वं स्यात् यथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यस्य विधेरनुरोधात्तेषामक्षरशोऽध्ययनम्। नच तादृशः कश्चिद्विधिः श्रूयते तथाच किमनुरोधान्मन्त्राणां स्वार्थपरत्वं स्यादित्यनर्थका मन्त्रा इति स्पष्ट एव सूत्राशयः। एवंच मन्त्रस्वरूपपर्यालोचनयाऽनुभूयमानमपि मन्त्राणां स्वार्थस्मारकत्वं यदनुग्रहाभावान्महर्षिणाऽपलप्यते तस्य विधेर्माहात्म्यं कियद्वर्णनीयम् सच विधिर्यदि श्रूयेत तदा विध्यन्तरवद्ब्राह्मणभागान्तर्गत एव स्यात्। एवं 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्ययं विधिर्यदि न श्रूयेत तदा मन्त्राणामक्षरशोऽध्ययनस्यापि पुरुषार्थसाधनतां मानान्तरागम्यामवगमयितुं को नाम क्षमेत। तथाच सत्यप्यपौरुषेयत्वे मन्त्राणां निष्प्रयोजनमायामबहुलश्चाक्षरग्रहणमप्यधिकृत्य को नाम प्रेक्षावाँस्तत्र प्रवर्तेतेति निरर्थका एव ते भवेयुरित्यपि 'स्वाध्यायव' दित्यतःसूत्रावयवात्स्पष्टमेव लभ्यते। एवंच स्वसार्थक्याय संततमेव स्वाविनियोजकब्राह्मणभागमुखप्रेक्षिणा विनियोज्यस्यापि मन्त्रभागस्य यदि वेदत्वं तदा ब्रीहियवादीनिव मन्त्रान् यज्ञेषु विनियुञ्जानस्य ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे को नाम संशयः, नह्यवेदेन ब्राह्मणेन सादिनाऽनादिवेदात्मका मन्त्रा विनियोक्तुं शक्यन्ते, उत्तमानामिव

॥ भाषा ॥

वाक्य से यह विधान नहीं है कि "मन्त्र से अर्थ का स्मरण करै" इस से भी मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है इति, और भावार्थ यह है कि "अनादि शिष्टाचार के अनुसार वृद्ध विद्वान् लोग अपने शिष्यों से केवल मन्त्रों ही का अभ्यास कराते हैं न कि उनके अर्थों का, और अभ्यास उसी का उचित होता है कि जिस का यज्ञों में उपयोग हो। इस से निश्चित होता है कि मन्त्रों का पाठ ही यज्ञकर्म का उपयोगी है न कि अर्थ। इसी से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है इति। अब ध्यान देना चाहिये कि "मन्त्र से अर्थ का स्मरण करै" ऐसे ब्राह्मणवाक्य के न होने हीं से महर्षि ने यह कहा है कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है। जिसका यह आशय है कि यदि उक्त प्रकार का ब्राह्मणवाक्य होता तो मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य अवश्य ही स्वीकार किया जाता तथा उक्त सूत्र से यह भी प्रकट ही है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह शतपथ ब्राह्मणवाक्य यदि न होता तो इस में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि मन्त्रों के अक्षराध्ययन का कुछ भी फल है तब मन्त्रभाग के अक्षराध्ययन में किसी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि ऐसे निष्फल और अधिक परिश्रम वाले काम में कैसे किसी की प्रवृत्ति हो सकती है, इस रीति से संपूर्ण मन्त्रभाग ही व्यर्थ हो जाता। तो जब अपने सफलता के लिये ब्राह्मणभाग के मुख को सदा देखने वाला मन्त्रभाग भी वेद है तब जव चावल आदि के नाईं मन्त्रभाग को भृत्य के तुल्य यज्ञकर्मों में नियुक्त करने वाले ब्राह्मणभाग के वेद होने में सन्देह ही क्या हो सकता है, क्योंकि यदि ब्राह्मणभाग पुरुषरचित होते तो उन में कदापि यह योग्यता नहीं होती कि वे मन्त्रों को यज्ञकर्मों में नियुक्त करें। प्रसिद्ध ही है कि नियुक्त की अपेक्षा नियुक्त करने वाला स्वतन्त्र होता है।

प्रश्न—अनादि शिष्टाचार ही के अनुसार यज्ञकर्मों में मन्त्र, नियुक्त होते हैं ब्राह्मणभाग का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—उक्त शिष्टाचार में यदि कोई मूल न होता तो वह शिष्टाचार ही अन्धपरम्परा

हीनाविनियोजकत्वस्य लोके दर्शनात् ।

प्रमा० (२५) एवम्—शेषे ब्राह्मणशब्दः (पू० मी० द० अ० २ पा० १ सू० ३३) इतिसूत्रमप्युक्तेऽर्थे मानम्। इदं हि सूत्रं तृतीयादिमकारान्व्यवच्छिन्देत् मन्त्रोब्राह्मण-मिति द्वैराश्यमेव वेदस्येतिबोधनार्थमेवारभ्यते। तथाच—

अत्रैव शाबरम्।

अथ किंलक्षणम् ब्राह्मणम् ? मन्त्राश्च ब्राह्मणंच वेदाः तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेष-

॥ भाषा ॥

के नाई अप्रामाणिक हो जाता और ऐसी दशा में वह कैसे मन्त्रों को नियुक्त कर सकता ।

प्रश्न—अनादि शिष्टाचार ही से यह अनुमान कर सकते हैं कि उसका मूल कोई वेद-भाग अवश्य था जो अब लुप्त हो गया तब कैसे वह शिष्टाचार अप्रामाणिक हो गया ?

उत्तर—उक्त शिष्टाचार से जिस वेदभाग का अनुमान होगा वह वेदभाग भी मन्त्रों को यज्ञकर्म में नियुक्त करने वाला ही होगा क्योंकि जिस शिष्टाचार से उसका अनुमान होता है वह ऐसा ही है और मन्त्रों का यह स्वभाव स्पष्ट ही देखा जाता है कि वे मन्त्रों को कर्म में नियुक्त नहीं कर सकते बरुक आप ही नियुक्त होते हैं। और ऐसी दशा में अनन्यगति हो कर यह स्वीकार करना पड़ैगा कि शिष्टाचार से जिस वेदभाग का अनुमान किया जायगा वह मन्त्रभाग से अन्य ही था तब तो इतना ही कहना अवशिष्ट है कि उसी लुप्तवेदभाग का ब्राह्मणभाग नाम है। और अब ब्राह्मणभाग के वेद होने में कुछ विवाद ही नहीं रहा किन्तु इतना ही विचार करना अवशिष्ट रहा कि मन्त्रों को नियुक्त करने वाले ब्राह्मणभाग सभी लुप्त हो गये अथवा कुछ बँचे भी हैं ? ऐसी दशा में जो शतपथ आदि ब्राह्मणभाग (जिन में कि मन्त्रों को नियुक्त करने वाले सहस्रों वाक्य हैं) पूर्णरूप से इस समय प्रचलित हैं उनके देखने से यह निश्चय सहज ही में हो सकता है कि उतने ही ब्राह्मणभाग लुप्त हुए कि जिनका लुप्त होना वेददुर्गसज्जन के अन्त में पूर्वहीं कहा जा चुका है। और प्रश्नकर्ता की यह प्रशंसा है कि जो वह शतपथ आदि प्रत्यक्ष ब्राह्मणभागों को अपने निर्मूल और दुष्ट केवल आग्रह से वेद न मान कर लुप्तब्राह्मणभागों के पीछे अनुमान का घोड़ा दौड़ाता है।

प्रमा०—(२५) शेषे ब्राह्मणशब्दः (पू० मी० द० अ० २ पा० १ सू० ३३) यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है। इसका अर्थ यह है कि मन्त्र से अन्य वेदभाग ब्राह्मण कहलाता है। इस सूत्र का यह निश्चय ही प्रयोजन है कि वेद का कोई भाग ऐसा नहीं है कि जो मन्त्र और ब्राह्मण से अन्य हो अर्थात् वेद के दो ही भाग हैं मन्त्र और ब्राह्मण, तीसरा भाग ही नहीं है। इसी से शाबरभाष्य में इस सूत्र पर आक्षेप और उसका समाधान कहे हैं जो कि उद्धृत किये जाते हैं कि—

(आ०) इस सूत्र का कुछ फल नहीं ज्ञात होता क्योंकि जब वेद के दो ही भाग होते हैं मन्त्र और ब्राह्मण, और मन्त्र का लक्षण पूर्व हीं कहा जा चुका तब तो "वह लक्षण जिस वेदभाग में न हो वह ब्राह्मण है" यह ब्राह्मण का लक्षण इस सूत्र के बिना ही निश्चित हो गया।

स०—यह आक्षेप तब ठीक होता कि जब इस सूत्र के बिना भी आप से आप सर्व-साधारण को यह निश्चित होता कि वेद के, मन्त्र और ब्राह्मणरूपी दो ही भाग होते हैं न कि

शा.सिद्धत्वाद्ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम् मन्त्रलक्षणेनैव सिद्धम् यस्यैतल्लक्षणं नास्ति तद्ब्राह्मणम् इति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम् इति परिशेषसिद्धत्वाद्ब्राह्मणलक्षणमवचनीयमिति सूत्रमिदमनारभ्यमिति प्रतिभाति। तत्र शेषशब्दप्रयोगाल्लक्षणानभिधानाच्च सूत्रव्याख्यानमेवेदमिति द्रष्टव्यम् । किमर्थं पुनः सूत्रमारभ्यते ? नारभ्येत यदिमन्त्रब्राह्मणात्मकएव वेद इति सर्वेषां प्रसिद्धं भवेत् । येषां त्वप्रसिद्धं तेषां तृतीयादिप्रकारानिराकरणार्थं द्वैराश्यमेव वेदस्येति प्रतिपादयितुमाह शेषे ब्राह्मणशब्द इति । इति च पूर्वोद्धृते महामोहविद्रावणप्रथमप्रबोधे तु मन्त्रलक्षणसूत्रमृगादिलक्षणसूत्राणि चान्तरेणैतत्सूत्रोपन्यासमात्रं प्रमाणतया दर्शितम् इहत्वेतत्सूत्रारम्भएव तथा दर्श्यत इति विशेषः ।

किंच मीमांसादर्शने ३ अध्याये ३ पादे—

धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः ॥ ४ ॥

इति सूत्रं ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे मानम्। एतदर्थोऽपि पूर्वमुक्तः अत्र हि लाघवात् सामस्वेव वाच्ये द्रव्यपदमुपाददानेन महर्षिणा शब्दात्मकस्य मन्त्रस्य] तार्किकसंमतं गगनगुणत्वं निराकृत्य द्रव्यत्वमातिष्ठमानेन मन्त्राणां द्रव्यत्वाद्यवव्रीह्यादिरूपयज्ञाङ्गद्रव्यसाधर्म्यमभिदधानेन यवादिवदेव विधिविनियोज्यत्वं तेषु सूचितमेव सूचितम् । एवंच यथा वैधं विनियोगं बिना यवादीनां नालौकिकस्वर्गाद्यर्थसाधनता तथा मन्त्राणामपीत्ययमर्थः सहजत एव लभ्यते । तथाच द्वितीयेऽध्याये प्रथमे पादे 'विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्' ३० इति सूत्रे वार्तिककारोद्धृतः—

यस्माद्व्रीह्यादिवन्मन्त्राः करणत्वेन कर्मणाम् ।
ब्राह्मणेन नियुज्यन्ते तस्मात्ते न विधायकाः ॥

॥ भाषा ॥

तीसरा, किन्तु ऐसा नहीं है इस से जिस २ को उक्त निश्चय नहीं है उस २ को उक्त निश्चय कराने के लिये यह सूत्र है इति। (पूर्व ही उद्धृत महामोहविद्रावण के प्रथमप्रबोध में ब्राह्मणभाग का वेद होना, मन्त्रलक्षणसूत्र और ऋगादिलक्षणसूत्र के बीच में इस सूत्र के उपन्यासमात्र से सिद्ध किया गया है । और यहां तो यह कहा जाता है कि यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता तो यह सूत्र ही झूठा हो जाता)

पू० मी० द० अध्या० ३ पा० ३ । "धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः" ॥ ४ ॥ यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है और इसका अर्थ भी पञ्चम प्रमाण में दिखलाया गया है । इस सूत्र में सामसन्त्रों को जैमिनिमहर्षि ने द्रव्य कहा है जिसका यह तात्पर्य है कि "नैयायिक लोग शब्द को आकाश का गुण कहते हैं परन्तु वास्तविक में शब्द गुण नहीं है किन्तु द्रव्य ही है और मन्त्र भी द्रव्य ही हैं क्योंकि वे भी शब्द ही हैं इसी से जैसे जव चावल आदि द्रव्य ब्राह्मणभाग की आज्ञा से यज्ञकर्मों में लगाये जाते हैं वैसे ही मन्त्ररूपी द्रव्य भी । और जैसे ब्राह्मणभाग ही जव चावल आदि के अलौकिक स्वर्ग आदि फलों के प्रति यज्ञ के द्वारा साधक होने में एक मात्र प्रमाण है वैसे ही मन्त्रों के भी यज्ञ के द्वारा अलौकिक स्वर्गादि फलों के प्रति साधक होने में ब्राह्मणभाग ही प्रमाण है न कि अन्य, इति । और पू० मी० द० अध्या० २ पा० १ । विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥ ३० ॥ इस सूत्र के तन्त्रवार्तिक में कुमारिलभट्टपाद ने पूर्वाचार्यों का 'यस्माद्व्रीह्यादि०' यह श्लोक उद्धृत किया है जिस का यह अर्थ है कि किसी कर्म के विधान

इति श्लोकः। एवंच प्रमाणान्तरागम्यत्वेन वेदैकगम्या धर्ममूलतैव सत्यप्यपौरुषेयत्वे मन्त्राणां बिलीयेत यदि ब्राह्मणभागस्तस्य वेदत्वं च न स्याताम् अतश्च स्वस्मिन्नलौकिक-स्वर्गादिफलसाधनताया बोधाय यवादिवदेव मन्त्रा अपि भिक्षव इव धनिनां ब्राह्मण-वाक्यानामेव मुखचेष्टामभीक्ष्णमुत्प्रेक्षन्त इतीयानेव महिमा मन्त्राणाम्। तथाच मन्त्रेषु वेदत्व-मभ्युपेत्य ब्राह्मणेषु तदपलपता स्वर्णकार्षापणं संगृह्य चिन्तामणिरेव सागरे प्रक्षिप्यते इति साधीयसी धीधुरन्धरता तस्य।

प्रमा० (२६) अपिच ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे मीमांसादर्शनस्य

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २ ॥

इतिसूत्रमपि प्रमाणम्। अस्य च, निर्धार्यमाणबलवदनिष्टाप्रयोजकत्वे सति श्रेयः-साधनतया वेदप्रमापितो धर्म इतिलक्षणमतिनिष्कृष्टोऽर्थः। विस्तरस्तु धर्मराजसज्जनाख्ये प्रथमप्रकरणे एतत्सूत्रव्याख्याने द्रष्टव्यः। धर्मप्रमापकत्वं चान्वयव्यतिरेकानुरोधात्साक्षा-द्विधिवाक्यानामेव, तानि च प्रायो ब्राह्मणभागस्थान्येवेति धर्मो ब्राह्मणभागेनैव प्रमाप्यः।

॥ भाषा ॥

करने की शक्ति, मन्त्रों में नहीं है क्योंकि चावल आदि द्रव्यों के नांई मन्त्र सब, आप भी ब्राह्मण-भाग की आज्ञा से नियुक्त होते हैं। अब ध्यान देना चाहिये कि यदि ब्राह्मणभाग न होता अथवा होता भी परन्तु वास्तविक में वह वेद न होता तो अपौरुषेय होने पर भी मन्त्रभाग का धर्ममूल होना नष्ट ही हो जाता क्योंकि यज्ञकर्मों में मन्त्रों का उपयोगी होना ब्राह्मणभाग ही से सिद्ध होता है न कि किसी अन्य प्रमाण से। और ऐसी दशा में जैसे अपने को स्वर्गादि के प्रति साधक बनाने के लिये जब चावल आदि द्रव्य, ब्राह्मणभाग का मुख देखा करते हैं अथवा जैसे भिक्षुगण अपना पेट पालने के लिये धनी पुरुषों की मुखचेष्टाओं को एकाग्र हो कर निहारा करते हैं वैसे ही मन्त्रगण भी अपने को स्वर्गादिसाधक होने के लिये ब्राह्मणभाग ही के मुख को ताकते रहते हैं इसी से ब्राह्मण-भाग ऐसे प्रधान वेदभाग के सामने कुछ भी महिमा मन्त्रों की नहीं है। तो ऐसी दशा में मन्त्रों को वेद मान कर जो पुरुष ब्राह्मणभाग की वेदता को नहीं स्वीकार करता है वह मानों स्वर्णमुद्रा को गांठ में बांध कर हाथ के चिन्तामणि (पारस) को अगाधसमुद्र में फेंकता है इस से उस को बुद्धिधुरंधर ही समझना चाहिये।

प्रमा०—(२६) ब्राह्मणभाग के वेद होने में पू० मी० द० अध्या० १ पा० १। "चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः" ॥ २ ॥ यह धर्मलक्षण का सूत्र भी प्रमाण है जिस का कि परमसंक्षिप्त अर्थ यह है कि "जो, प्रवृत्ति कराने वाले वेदवाक्य ही से यथार्थनिश्चय करने योग्य है और उस से, निश्चित प्रबल अनिष्ट नहीं उत्पन्न होता वह धर्म है। इस का भावार्थ विस्तार के भय से यहां नहीं लिखा जाता किन्तु धर्मराजसज्जननामक प्रथमप्रकरण ही में पूर्व हीं कहा जा चुका है। इस सूत्र में महर्षि ने स्पष्ट ही यह कहा है कि "धर्म का यथार्थनिश्चय वेद ही से होता है" इति। और वेद के भी "स्वर्गकामो यजेत" आदि विधिवाक्य (जो कि विधान करने के द्वारा यज्ञों में पुरुषों की प्रवृत्ति कराते हैं) ही से धर्म का निश्चय होता है न कि मन्त्रों से, क्योंकि अभी पूर्व में निश्चित हो चुका है कि मन्त्रों में विधान करने की शक्ति नहीं है तथा इस सूत्र में "चोदना" शब्द का अर्थ भी वैदिकविधिवाक्य ही है क्योंकि वही यज्ञादिकर्मों में पुरुषों की "चोदना" (प्रेरण) अर्थात्

एवंच ब्राह्मणभागस्य बेदत्वाभावे मन्त्रभागस्य धर्मप्रमापकत्वाभावेनास्मिन्सूत्रे महर्षिणा कण्ठोक्तं धर्मस्य बेदप्रमापितत्वं नोपपादयितुं शक्यत इति वृद्धकुमारीवरन्यायेनैतत्सूत्रं ब्राह्मणभागे बेदत्वं साधयति । अथ धर्मः श्रेयःसाधनम् साधनत्वं च भावनाद्वारकम् भावना च सर्वेष्वेवाख्यातेषु गम्यते आख्यातं च सर्वेष्वेव वाक्येषु । आकाङ्क्षापूरणस्य तदायत्तत्वात् । तथाच बिधिं बिनाप्याख्यातघटितानां मन्त्रवाक्यानां स्वर्गादियज्ञयोर्मिथः-साध्यसाधनभावस्य बोधकतायाः संभवाद्धर्मस्य बेदप्रमापितत्वं सूत्रोक्तं, ब्राह्मणभागस्य बेदत्वं बिनाऽपि मन्त्रभागस्य बेदत्वेनैवोपपादयितुं शक्यते । नच पुरुषप्रवृत्तये विधिरवश्याश्रयणीय इति वाच्यम् । नहि बिधिरपि बलात्पुरुषं प्रवर्तयति किंतु यज्ञादेः श्रेयःसाधनतां गमयत्येव, तस्याश्च ज्ञानात्पुरुषस्येच्छा, ततश्च प्रवृत्तिः, श्रेयःसाधनताज्ञानं च बिधिनेव जन्यतएवाख्यातान्तरेणापि । तथाचान्यथोपपन्नमेवैतत्प्रमाणमितिचेन्न । यदा हि भावनाया भाव्यकरणेतिकर्तव्यतारूपाँस्त्रीनप्यंशान्साकल्येन बिशिष्य प्रतिपादयद्भिः पदैः पूर्णेषु ब्राह्मणभागेष्वपि विधिमन्तरेण धर्मप्रमापकता न कथमप्युपपादयितुं शक्यते तदा तादृशभावनांऽशत्रयोपस्थापकपदाबिकलेषु मन्त्रेषु बिधिं बिना धर्मप्रमापकत्वस्य प्रत्याशा, षण्ढकात्पुत्रोत्पत्तेः प्रत्याशैव । तथाहि । 'स्वर्गकामो यजेते' त्यादावसति बिधौ सत्यपि चाख्यातान्तरे तदर्थ-

॥ भाषा ॥

प्रवृत्ति कराता है । तथा बिधिवाक्य, ब्राह्मणभाग ही में होता है । तब ऐसी दशा में यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं है तो बिधिवाक्य भी बेद नहीं है जिससे कि धर्म का निश्चय होता है । और जब बिधिवाक्य बेद नहीं है तब महर्षि ने बेद से धर्म का निश्चय होना कैसे कहा, क्योंकि धर्म का निश्चय बिधिवाक्य ही से होता है जो कि स्वामी के मत में बेद ही नहीं है ।

प्र०—स्वर्गादिरूप इष्ट के साधक यागादिक्रिया को धर्म कहते हैं और यागादि, तभी स्वर्गादि के साधक हो सकते हैं जब उन की भावना (अनुष्ठान) की जाय और भावना का सब आख्यातों (क्रियाशब्द अर्थात् तिङन्त पकाता है खाता है इत्यादि) से बोध होता है और आख्यात, सभी वाक्यों से होते हैं क्योंकि आख्यात के बिना सभी वाक्य अधूड़े रहते हैं जैसे "मुझ को" इत्यादि शब्द, "मिलता" इत्यादि आख्यात के बिना अधूड़े रहते हैं । इस रीति से जब बिधि (प्रेरण आज्ञा) के बिना भी "याग से स्वर्ग होता है" इत्यादि आख्यात वाले वाक्यों से, याग के स्वर्गसाधक होने का बोध हो सकता है तब इस के बोधार्थ वाक्य में बिधि का कोई काम नहीं है और आख्यात तो मन्त्रों में होते ही हैं, तो क्या मन्त्र, यागों के स्वर्गसाधक होने का बोध नहीं करा सकते? अथवा उन से धर्म का निश्चय नहीं हो सकता ? इस रीति से जब मन्त्र भी बिधि के बिना धर्म का निश्चय करा सकते हैं तब इस सूत्र में "चोदना" शब्द से मन्त्रों ही का ग्रहण है न कि ब्राह्मणभाग के बिधिवाक्यों का और ऐसी दशा में यह सूत्र ब्राह्मणभाग के बेद होने में कैसे प्रमाण हो सकता है? यह तो कह नहीं सकते कि यागों में पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये "यजेत" (याग करै) ऐसे बिधिवाक्य की आवश्यकता है, क्योंकि यदि कोई पुरुष याग करना न चाहै तो बिधि उस को बलात्कार से प्रवृत्त नहीं करता किन्तु दूसरे आख्यातों के नाईं इतना ज्ञानमात्र करा देता है कि "यज्ञ, पुरुषार्थरूपी स्वर्गादि का साधक है" और प्रवृत्ति तो पुरुष की इच्छा के अधीन है ।

उ०—"स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्ग चाहने वाला याग करै) इत्यादि वाक्यों में यदि बिधि न हो तो इन वाक्यों का यह अर्थ होगा कि "स्वर्ग चाहने वाला याग करता है" और तब "करता है"

भूताया भावनायाः साध्यताऽपरपर्याया भाव्यता, समानपदोपात्तत्वाद्धात्वर्थं यागमेवावलम्बेत नतु स्वर्गादिकम्, तस्य कामनाविशेषणतया स्वर्गादिपदोपात्तत्वेन चरमोपस्थितिकतयाऽऽख्यातप्रकृत्युपस्थाप्यं यागमपहाय भावनया कथंचिदप्यन्वेतुमसंभाव्यमानत्वात्। यागश्च न स्वरूपतः पुरुषार्थः किन्तु बहुवित्तव्ययायाससाध्यत्वाद् द्वेष्यकल्पः। पुरुषार्थं साधयन्तीष्वेव च भावनासु पुरुषाः प्रवर्तन्ते, स्वतोऽप्रवर्तमाना अपि तस्याः पुरुषार्थसाधनतां बोधयित्वा प्रवर्तयितुं शक्यन्ते च। तथाचापुरुषार्थसाधिकायां पुरुषप्रवृत्तिपर्यवसितरूपायामर्थभावनायामाख्यातान्तरघटितेन तादृशवाक्येनानेकशो बोधितायामपि नतरां तेन वाक्येन कथमपि पौरुषी प्रवृत्तिः शक्येतार्जयितुमिति व्यर्थमेव तद्वाक्यं स्यात्। सति तु विधौ तदुपस्थापितया समानप्रत्ययोपात्तत्वाद्धात्वर्थादपि नेदिष्ठया प्रवर्तनारूपया शब्दभावनया कर्मतासंबन्धेनान्वीयमानाऽऽख्यातसामान्यसुलभा प्रवृत्तिरूपाऽर्थीभावना, सन्निकृष्टमपि धात्वर्थं यागमपुरुषार्थत्वादपहाय विप्रकृष्टमपि कामनाविशेषणतयोपास्थितमपि च स्वर्गादिकं स्वविषयकशब्दभावनाबलेन पुरुषार्थतया स्वानुकूलत्वादुपगृह्णती धात्वर्थं यागं साधनतयैव गृह्णाति। तथाच 'यागेन स्वर्गं भावयेदि' त्यादिवाक्यार्थसम्पत्तिद्वारा प्रवृत्तेरुपपत्तये विधेरावश्यकत्वात्ततः श्रेयःसाधनतारूपं धर्मत्वं यागादीनां लभ्यते इति रीत्या विधीनां धर्मे प्रमाणत्वं सुतरामुपपद्यते।

तथा च 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन०' मी० द० अ० १ पा० १ सू० ५ इत्यत्र वार्त्तिके भट्टपादाः—

> विधावनाश्रिते साध्यः पुरुषार्थो न लभ्यते।
> श्रुतस्वर्गादिबाधेन धात्वर्थः साध्यतां व्रजेत्॥ १४॥
> विधौ तु तमतिक्रम्य स्वर्गादेः साध्यतेष्यते।
> तत्साधनस्य धर्मत्वमेवं सति च लभ्यते॥ १५॥ इति।

॥ भाषा ॥

इस शब्द के अर्थ, अर्थात् अनुष्ठानरूपी भावना का साध्य, (कार्य) याग ही होगा जो कि परिश्रम और द्रव्यव्ययरूपी होने से दुःखमय है, और केवल दुःखमयकार्य के अनुष्ठान में साधारणपुरुषों की भी निवृत्ति को छोड़ प्रवृत्ति नहीं होती तब इस वाक्य से यागादिक में पुरुषों की प्रवृत्ति कैसे होगी? इस से ये वाक्य व्यर्थ ही हो जायंगे। और वाक्यों में विधि रहने पर तो उक्त अर्थ के अनुसार विधि से प्रेरणा का बोध होता है तथा प्रेरणा से प्रयत्नरूपी भावना पुरुष में उत्पन्न होती है और अनुष्ठानरूपी भावना उक्तरीति से दुःखमय होने के कारण याग को छोड़ कर सुखरूपी स्वर्गादि को अपना साध्य बनाती है और छूटा हुआ याग, करण (साधन) हो कर भावना (अनुष्ठान) के पीछे लग पड़ता है तब विधिवाक्य का यह अर्थ होता है कि याग से सुखरूपी स्वर्ग को उत्पन्न (सिद्ध) करे, अब "यह भावना (अनुष्ठान) स्वर्ग को सिद्ध करने वाली है" ऐसा ज्ञान होने पर पुरुषों की प्रवृत्ति अवश्य ही होती है इस रीति से याग की भावना (अनुष्ठान अर्थात् याग में पुरुषों की प्रवृत्ति) के लिये विधि की आवश्यकता है और विधि ही से याग में, सुख का साधक होना भी स्पष्ट निकलता है तथा धर्म होना और सुखसाधक होना एक ही बात है। इस रीति से विधिवाक्य ही धर्म में प्रमाण हो सकते हैं न कि मन्त्रवाक्य। और इन युक्तियों को, पू० मी० द० अध्या० १ पा० १ "औत्पत्तिक० ५"॥ सूत्र पर श्लोकवार्त्तिक में भट्टपाद ने भी १४

(प्र० २७) एवम्–मी० द०—

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् अ० २ पा० १ । सू० । ३० ॥
अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥ ३१ ॥

इति सूत्रद्वयमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे स्फुटतरं प्रमाणम् । तथाहि । अनयोः सूत्रयोः क्रमेणेमावर्थौ । 'देवाँश्च याभिर्यजते ददाति चे' त्यादिमन्त्रे श्रूयमाणं यजत इत्याद्याख्यातपदं विधायकं नवेति संशये ' विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यम्' उभयोरपि विधिवाक्यमन्त्रवाक्यघटकयोराख्यातयोर्विधायकत्वम् ' ऐकशब्द्यात् ' उभयोरप्याख्यातजातीयत्वादिति पूर्वपक्ष इति । मन्त्रः मन्त्रस्थाख्यातपदम् अभिधानवाची अर्थप्रकाशनमात्रपरः प्रयोगे अनुष्ठाने क्रियमाणे तावदर्थस्मरणमात्रसामर्थ्यात् न तु विधायकमिति सिद्धान्त इति । अथ पूर्वसूत्रस्य भावसङ्क्षेपः । मन्त्राणां विधायकत्वं नासंभवदुक्तिकम्, ब्राह्मणवाक्ये ' समिधो यजती '-त्यादौ छान्दसेन व्यत्ययानुशासनेन लिङादिभिन्नानामपि लकाराणां विधायकत्वदर्शनादिति । उत्तरसूत्रभावसङ्क्षेपस्तु—

ब्राह्मणस्थविधिवाक्यानां कर्म किंचिदनूद्य केनचिदन्येन वाक्येनाविनियुज्यमानत्वात्कर्मविधायकत्वं युज्यत एव । मन्त्राणान्तु तत्तत्कर्मानूद्य तत्तत्स्मारकतया तत्तद्ब्राह्मणवाक्येन विनियुज्यमानत्वात्कर्मविधायकत्वं विरुध्यत एव । किंच विधिशक्तिविहन्तारस्तावद् यच्छब्दसंबोधनविभक्त्युत्तमपुरुषयदिशब्दा मन्त्रेष्वेव जाग्रति न ब्राह्मणेषु दिङ्मात्रं च तदुदाहरणस्य यथा—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिर आदधर्षति ।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥

॥ भाषा ॥

और १५ वें श्लोक से कहा है और वे श्लोक ऊपर संस्कृतभाग में उद्धृत हैं ।

(प्रमा० २७) पू० मी० द० अध्या० २ पा० १ । "विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्" ३० । "अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्" ३१ ॥ ये पूर्वपक्ष और सिद्धान्त के दोनों सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण हैं । प्रथमसूत्र का अक्षरार्थ यह है कि जैसे विधिवाक्य, कर्मों का विधान करते हैं वैसे ही मन्त्रवाक्य भी क्योंकि जैसे विधिवाक्यों में "यजेत" (याग करे) आदि क्रियाशब्द रहते हैं वैसे ही मन्त्रों में भी "ददाति" आदि क्रियाशब्द रहते हैं, और इन क्रियाशब्दों का ' देता है ' इत्यादि अर्थ नहीं है किन्तु ' दे ' इत्यादि अर्थ है । और इस का संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि जैसे " समिधो यजति " (समिध् नामक याग करे) इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों में " ति " आदि शब्द से भी याग का विधान होता है वैसे ही मन्त्रों के " ददाति " आदि शब्द में ' ति ' आदि शब्द से भी दानादि कर्मों का विधान हो सकता है । और द्वितीयसूत्र का अक्षरार्थ यह है कि मन्त्र, विधान नहीं करते हैं, और न प्रशंसा करते हैं, किन्तु याग करने के समय उन क्रियाओं का स्मरण मात्र कराते हैं जिन का कि विधान, ब्राह्मणभाग के वाक्यों से हुआ रहता है । इस का संक्षिप्त भावार्थ यह है कि मन्त्र, विधान नहीं कर सकते क्योंकि "यद्" (जो + जिन) संबोधनविभक्ति, (हे + रे + अरे) उत्तमपुरुष, (मैं + हम आदि) यदि, (जो) इत्यादि शब्द, मन्त्रों में प्रायः रहते हैं और वे शब्द, विधान करने की शक्ति को नाश करते हैं जैसे

इति मन्त्रे (याभिर्गोभिर्यजते याश्च ददाति ता गावो न नश्यन्ति नच तास्तस्करो हरति न तासां कंचिदवयवमामित्रकृतो व्याधिरुपद्रवः पीडयति गोस्वामी च ताभिः सह चिरकालं संयुक्तो भवती' ति गोस्तुत्यर्थके गोयागगोदानयोः सिद्धवद्भावाभिधायिना यच्छब्देन विधायकत्वमुपहन्यते । यथा वा—

अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय०

इत्यादौ पूर्वोक्तमन्त्रे वक्त्रभिमुखीकरणार्थया 'अहे' इति संबोधनविभक्त्या सामान्यतो वक्त्रभिहितार्थानुष्ठानप्रवृत्तवक्त्रभिमुखपुरुषप्रवर्त्तकत्वमस्य मन्त्रस्यावगमयन्त्या स्वतोऽप्रवृत्तपुरुषप्रवर्त्तनात्मिका विधिशक्तिर्नाश्यते । यथा वा—

बर्हिर्देवसदनं दामि शुक्रं त्वा शुक्राय

धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषे यजुषे गृह्णामि ॥

इति मन्त्रे अस्मदर्थकेनोत्तमपुरुषेणात्मनि प्रवर्त्तनानुपपत्त्या विधिशक्तिर्बाध्यते । यथा वा—

यदि सोममपहरेयुः०

इत्यादि मन्त्रे निमित्तत्ववाचिना प्राप्तिबोधोपधायिना यदिशब्देनाप्राप्तप्रापणात्मिका विधिशक्तिरपनीयते । एवंजातीयकानां च विधायकत्वविहन्तॄणां मन्त्रेषूपलम्भान्मन्त्राणां न विधायकत्वम् किन्तु गुणकर्मविधायकत्वप्रधानकर्मविधायकत्वाभ्यामन्यदेव विधिवाक्यविहिततत्तत्कर्मस्मारकतारूपमनुवादकत्वापरपर्यायं 'मन्त्रेणैव स्मरणीयमि' ति नियमाददृष्टोप-

॥ भाषा ॥

" न ता नशन्ति " (जिन गौओं से याग करता है और जिन गौओं को देता है, वे गौएं नष्ट नहीं होतीं, न उन को चोर चुराता, न उन के अंगों में शत्रुकृत वा व्याधिकृत पीडा होती है और उन गौओं का स्वामी उन के साथ चिरकाल तक संयुक्त रहता है) यह मन्त्र विधायक नहीं है क्योंकि " यद् " (जिन) शब्द के रहने से ' गौ ' नामक याग और गोदान की सिद्ध होने की दशा ज्ञात होती है और विधान, सिद्ध का नहीं होता किन्तु असिद्ध ही का । तथा " अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय० " हे अहिंसक, आदिसृष्टि में उत्पन्न चतुर्थ अग्नि ! तू मेरे मन्त्र की रक्षा कर) इत्यादि मन्त्र, विधान नहीं करते क्योंकि ' हे ' इस संबोधन से यह निश्चित होता है कि अग्नि, मन्त्र बोलने वाले के अभिमुख स्थित हैं और उसके काम करने में प्रवृत्त हैं, तो ऐसी अवस्था में विधान नहीं हो सकता क्योंकि पूर्व से जो जिस काम में प्रवृत्त नहीं है उस को उस काम में प्रवृत्त करने को विधान कहते हैं । और उक्त यद् आदि शब्द, ब्राह्मणभाग के वाक्यों में प्रायः नहीं रहते इस कारण ब्राह्मणभाग के वाक्य, कर्मों का विधान करते हैं इति ॥ और इस भावार्थ का पूर्णनिरूपण तो वेददुर्गसज्जन के मन्त्रप्रकरण में पूर्व हो ही चुका है । अब यह ध्यान देने के योग्य है कि प्रथमसूत्र में विधिवाक्य के दृष्टान्त से मन्त्रवाक्य में विधानशक्ति होने का पूर्वपक्ष किया गया है और यह भी कहा गया है कि विधिवाक्य के क्रियाशब्द तो विधान करते ही हैं परन्तु मन्त्रवाक्य के क्रियाशब्द भी विधान कर सकते हैं और द्वितीयसूत्र में तो विधिवाक्यों की अपेक्षा मन्त्रों में भेद दिखला कर महर्षि ने मन्त्रों की विधानशक्ति का खण्डन कर मन्त्रों को लौकिकवाक्यों के नाईं स्मारक अर्थात् ब्राह्मणभाग से विहित कर्मों का अनुवादक बतलाया और " अभिधानवाची " (स्मारक अर्थात् अनुवादक) इस शब्द से मन्त्रों

पादितसार्थकताकेषु मन्त्रेषु लौकिकवाक्यसाधारणमभिधायकत्वमात्रमिति सिद्धान्त इति। विस्तरस्तु वेददुर्गसज्जने मन्त्रोपयोगाधिकरणसिद्धान्ते वीक्षणीयः। एवं च विधिमन्त्रयोरिति तुल्यवदेव द्वयोरुपादानात् यथा विधेर्विधायकत्वमविवादं तथा तदैकशब्द्यान्मन्त्राणामपि विधायकत्वमिति द्योतयितुं विधिशब्दस्य प्रथममुपादानात् 'ऐकशब्द्यादि' त्यत्र 'अनयोरेकामाते' त्यादाविव समानार्थकस्यैकशब्दस्योपादानेन यथा विधिवाक्यगतानामाख्यातानां शब्दभावनार्थकत्वं मीमांसादर्शनसिद्धान्तसिद्धं तथा मन्त्रगतानामप्याख्यातानां शब्दभावनाऽर्थत्वमुचितमिति ध्वननाच्च ब्राह्मणभागगतानां विधिवाक्यानां विधायकतया पूर्वोक्तरीत्या साक्षाद्धर्ममूलत्वमनादिमीमांसादर्शनसिद्धान्तसिद्धम् मन्त्राणां तु विधिसाधर्म्यादिदानीमेव धर्ममूलतायाः साक्षात्त्वं सिषाधयिषितमिति स्पष्ट एव पूर्वसूत्राशयः। उत्तरसूत्रे तु विधिवाक्यान्मन्त्राणां वैषम्यं दर्शयित्वा 'अपि वे' ति पक्षान्तरं दर्शयता महर्षिणा विधायकत्वं प्रत्याख्याय लौकिकवाक्यसाधारणीकरणेनाभिधायकत्वापरपर्यायमनुवादकत्वमेव मन्त्राणां कण्ठरवेणैव सिद्धान्तितम्। तथाच लौकिकवाक्यसजातीये नियमादृष्टकल्पनामात्रोपपादितसार्थकताकेऽनुवादकमात्रे व्रीहियवादिवद्ब्राह्मणभागविनियोज्येऽङ्गवेदभूते मन्त्रभागेऽपि यदि वेदत्वं तदा विधायके साक्षादासादितधर्ममूलताके लौकिकवाक्येभ्योऽत्यन्तविलक्षणे मानान्तरानवलीढार्थाभिधायिनि मन्त्रविनियोजके भाव्यकरणेतिकर्तव्यतारूपभावनात्र्यंशपरिपूर्णे राजनीव प्रधाने ब्राह्मणभागे वेदत्वमस्तीत्यत्रैतावदेव कथनीयमवशिष्यते यत् यदि वेदत्वं ब्राह्मणभागेऽपि नास्ति तर्हि खपुष्यमिव क्वचिदपि तन्नास्तीति।

(प्रमा० २८) एवम् पू० मी० द०—

	१ वेदाँश्चैके सन्निकर्षम्पुरुषाख्याः	अ० १ पा० १ सू० २७
(प्रमा० २९)–	२ अनित्यदर्शनाच्च।	अ० १ पा० १ सू० २८
(प्रमा० ३०)–	३ परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्।	अ० १ पा० १ सू० ३१

॥ भाषा ॥

को लौकिकवाक्यों के समान कहा और इसी को सिद्धान्त कर दिया। तो ऐसी दशा में लौकिकवाक्यों के समान स्मारक, अर्थात् ब्राह्मणभाग का, अनुवादक और अपने अक्षर के पाठमात्र से यज्ञों का उपकारी तथा ब्राह्मणभाग की आज्ञा से जव चावल के नाईं कर्मों में नियुक्त, और ब्राह्मणभाग का अङ्गभूत मन्त्रभाग भी जब वेद है तब यज्ञों के विधान करने में समर्थ, और धर्म में साक्षात् प्रमाण, तथा लौकिकवाक्यों की अपेक्षा (इस कारण से कि विधिवाक्यों का अर्थ लौकिक स्वतन्त्रप्रमाणों से नहीं ज्ञात हो सकता) अत्यन्त विलक्षण, और पूर्वोक्त अर्थभावना, शब्दभावना के प्रत्येक अंश से संपूर्ण, तथा मन्त्रों को सेवक के समान यज्ञकर्मों में नियुक्त करने वाले, महाराज के सदृश स्वतन्त्र ब्राह्मणभाग को इतना ही नहीं कहना चाहिये कि ये वेद हैं किन्तु योंहीं कहना उचित है कि यदि वे वेद नहीं हैं तो 'वेद' शब्द किसी पदार्थ का नाम ही नहीं है।

(प्रमा० २८)–पू. मी. द.—	१ वेदाँश्चैके सन्निकर्ष पुरुषाख्याः।	अ० १ पा० १ सू० २७।
(प्रमा० २९)—	२ अनित्यदर्शनाच्च	अ० १ पा० १ सू० २८।
(प्रमा० ३०)—	३ परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्	अ० १ पा० १ सू० ३१।

(प्रमा० ३१)-४ अनित्यसंयोगात् । अ० १ पा० २ सू० ६
(प्रमा० ३२)-५ अन्त्ययोर्यथोक्तम् । अ० १ पा० २ सू० १८
(प्रमा० ३३)--६ अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् । अ० १ पा० २ सू० ३९
(प्रमा० ३४)--७ उक्तश्चानित्यसंयोगः । अ० १ पा० २ सू० ५०

इति सप्तसूत्री ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे मानम् । क्रमेण च सूत्राणामिमेऽर्थाः । एके नैयायिकादयः वेदान् सन्निकर्षम् त्वरया आपातमात्रेण सन्निकृष्य सामीप्येन आधुनिकत्वेन स्वीकृत्य आहुः पौरुषेयानाहुरितियावत् । चो हेतौ यतः एषां वेदानां पुरुषाख्याः काठकम् कौथुममिति पुरुषघटिता आख्याः नामानीति ॥ १ ॥ अनित्यानाम् जननमरणवतां पुरुषाणां प्रावाहण्यादीनाम् दर्शनाच्च प्रतिपादनदर्शनादपि एके वेदान्सन्निकर्षमाहुरिति ॥ २ ॥ यद्यपि 'बर्बरः प्रावाहणि' रित्यस्ति परन्तु । श्रुतिः । प्रावाहण्यादिरूपा सामान्यमात्रम् उपदेशसौकर्याय कालजातिविशेषाद्यविशेषितस्य लौकिकाख्यायिकास्थकल्पितदेवदत्तयज्ञदत्तादिवत्कल्पितपुरुषसामान्यस्यैवाभिधायकम् नतु कालविशेषजातिविशेषाद्यवच्छिन्नस्य कस्यचिदनित्यस्य वस्तुन इति ॥ ३ ॥ अनित्यानाम् प्रावाहण्यादीनां जन्मवत्पुरुषाणाम् संयोगात् प्रतिपादनात् अर्थवादानाम् अनित्यम् धर्मप्रवृत्त्यजनकत्वम् उच्यत इति पूर्वसूत्रसम्बन्धेनार्थः ॥ ४ ॥ अन्त्ययोः 'अभागिप्रतिषेधात्' 'अनित्यसंयोगा' दितिसूत्रयोः यथोक्तम् स्वार्थम्प्रत्यप्रामाण्येऽपि 'नान्तरिक्षे चिन्वीते' त्यर्थवादस्य 'रुक्ममुपदधाती' ति विधेयस्तावकतया, 'बर्बरः प्रावाहणि' रित्यर्थवादे प्रावाहणिशब्दस्य जातिकाल-

॥ भाषा ॥

(प्रमा० ३१)—४ अनित्यसंयोगात् । अ० १ पा० २ सू० ६ ।
(प्रमा० ३२)—५ अन्त्ययोर्यथोक्तम् । अ० १ पा० २ सू० १८ ।
(प्रमा० ३३)—६ अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् । अ० १ पा० २ सू० ३९ ।
(प्रमा० ३४)—७ उक्तश्चानित्यसंयोगः । अ० १ पा० २ सू० ५० ।

ये सात सूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण हैं। क्रम से इन सूत्रों का यह अर्थ है कि नैयायिक आदि, अपने थोड़े बिचार से बेद को पौरुषेय इस कारण कहते हैं कि काठक (बेद की शाखा का नाम) आदि में कठ आदि, पुरुषों के नाम हैं ॥ १ ॥

और इस कारण से भी वे (नैयायिक आदि) बेदों को पौरुषेय कहते हैं कि "बर्बरः प्रावाहणिरकामयत" (प्रवाहणि के पुत्र बर्बर ने इच्छा किया) इत्यादि बेदवाक्यों में बर्बर आदि अनित्य (उत्पन्न और बिनष्ट होने वाले) पदार्थों का कथन है । २ ।

उक्त बेदवाक्य में 'प्रावाहणि' 'बर्बर' आदि शब्द, कालबिशेष में उत्पन्न और जातिबिशेष वाले किसी पुरुषबिशेष के बोधक नहीं हैं किन्तु जैसे लौकिक आख्यायिकाओं (कादम्बरी आदि) में कल्पितनामों से ब्यवहार होता है वैसे ही उक्त बेदवाक्यों में भी उपदेश की सुगमता के लिये बर्बर आदि कल्पितनामों से ब्यवहार है ३ अर्थवाद, धर्म के बिषय में प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि "बर्बरः प्रावाहणिः०" आदि अर्थवादों में बर्बर आदि अनित्य पदार्थ कहे हुए हैं जिस से कि अर्थवाद पौरुषेय सिद्ध होते हैं । ४ ।

"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (इस उक्त तृतीयसूत्र) से बेद के पौरुषेय होने का जो

विशेषाद्यनवच्छिन्नकल्पितपुरुषसामान्यबोधकतया च पूर्वमुक्तं समाधानं क्रमेण ज्ञेयमिति ॥ ५ ॥ किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः नाशिरं दुह्रे न तपन्ति धर्मम् । आनो भर प्रमगन्दस्य-वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः' इति मन्त्रे कीकटदेशादिरूपानित्यवस्तुवचनपद-घटितत्वादर्थविवक्षायामनित्यत्वं वेदस्य स्यात् अतो 'मन्त्राणामानर्थक्यम्' न दृष्टार्थ-स्मारकत्वम् किन्त्वदृष्टार्थमेव तदुच्चारणमिति ॥६॥ अनित्यसंयोगः अनित्यार्थकत्ववारणोपायः उक्तः 'परन्तु श्रुतिसामान्मात्रम्' इति सूत्रे कथितः स इहापि ज्ञेय इति । 'उक्तमन्त्रस्यार्थौ तु पौरुषेयत्वतदभावयोरनुकूलौ बेददुर्गसज्जने पूर्वमुक्तौ ॥ ७ ॥ तात्पर्यवर्णनविस्तरस्तु पूर्वस्य सूत्रत्रयस्य बेदापौरुषेयत्वप्रकरणे, मध्यस्य सूत्रद्वयस्य अर्थवादाधिकरणे, चरमस्य सूत्रद्वयस्य च मन्त्राधिकरणे, बेददुर्गसज्जने बिलोकनीयः । अत्रचेयं प्रकरणशुद्धिः पूर्वसूत्रत्रयेण मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकस्य बेदस्यानित्यार्थप्रतिपादकत्वात्प्रसक्तं पौरुषेयत्वं, बोधसौकर्यार्थ-कल्पितार्थप्रतिपादकतामुपपाद्य निराकृतम् । मध्यमेन च सूत्रद्वयेनार्थवादाधिकरणस्थेन ब्राह्मणभागमात्रान्तर्गतेष्वर्थवादेषु पूर्ववदेव प्रसक्तं पौरुषेयत्वं तथैव प्रत्याख्यातम् । चरमेण तु सूत्रद्वयेन मन्त्रेषु तथैव प्रसक्तं पौरुषेयत्वं पूर्ववदेव प्रत्यादिष्टम् । यदि तु मन्त्रभागस्यैव बेदत्वं स्यात् तदा मध्यमा द्विसूत्री पुनरुक्तिदोषात् चरमा च पुनःपुनरुक्तिदोषान्न मुच्येत, बेदत्वे तु ब्राह्मणभागस्य स्वीक्रियमाणे नोक्तपुनरुक्तिदोषस्य शङ्कालेशोऽपि किम्पुनः,

॥ भाषा ॥

समाधान किया गया वहीं समाधान यहां भी है । ५ ।

यदि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य होता तो "किंते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः०" इत्यादि मन्त्र, (जिस का पूर्ण अर्थ मन्त्रोपयोगप्रकरण में कहा जा चुका है) में मगधदेश आदि अनित्यपदार्थों के वाचक कीकट आदि शब्दों के रहने से बेद अनित्य हो जाता, इसी से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है किन्तु उनका अक्षरपाठमात्र यज्ञ का उपयोगी है । ६ ।

बेदार्थ की अनित्यता के बारण का उपाय "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इस सूत्र से पूर्व में जो कहा गया है वही यहां भी है ॥ ७ ॥

बेदापौरुषेयत्व के प्रकरण में इन प्रथम तीन सूत्रों का, अर्थवादाधिकरण में मध्य दो सूत्रों का और मन्त्राधिकरण में अन्तिम दो सूत्रों का भावार्थ बिशदरूप से बेददुर्गसज्जन में पूर्व हीं कहा जा चुका है । और इन सूत्रों की प्रकरणशुद्धि भी यह है कि मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपी समस्त बेद के बिषय में पौरुषेयत्व की शङ्का और उस का समाधान, प्रथम तीन सूत्रों से किया गया है । और बेद के अर्थवादभाग मात्र (जो कि ब्राह्मणभाग में अन्तर्गत है) के बिषय में वही शङ्का और समाधान मध्य दो सूत्रों से कहा गया है तथा बेद के मन्त्रभागमात्र के बिषय में वही शङ्का और समाधान अन्तिम दो सूत्रों से किया गया है । अब ध्यान देना चाहिये कि यदि केवल मन्त्र-भाग ही बेद होता तो प्रथम तीन सूत्रों से उस के अपौरुषेयत्व सिद्ध हो जाने पर अन्तिम दोनों सूत्र व्यर्थ ही हो जाते । और यदि ब्राह्मणभाग बेद न होता तो उस में अन्तर्गत अर्थवादभाग के भी बेद न होने से मध्य दो सूत्रों का भी अनन्यगति हो कर केवल मन्त्रभाग ही में योजना करनी पड़ती तब पूर्व तीन सूत्रों से सिद्ध किये हुए बिषय का प्रतिपादन करने से मध्य के दोनों सूत्र भी व्यर्थ ही हो जाते । तथा यदि ब्राह्मणभाग बेद न होता तो मध्य के दोनों सूत्र, अर्थवादभाग के

पुनःपुनरुक्तेः । किंच । ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाभावे मध्यमाद्विसूत्री स्वप्रकरणविरुद्धैव स्यात् अर्थवादाधिकरणएव तस्याः सत्वात् अर्थवादानां च प्रायो ब्राह्मणभागान्तर्गतत्वात् । अपि च । प्रथमसूत्रे वेदपदेन चरमसूत्रे च मन्त्रपदेन निर्देश इति मन्त्रभागस्यैकस्यैवोभयत्र निर्दिदिक्षितत्वे निर्देशवैषम्यसार्थक्यं दुरुपपादमेव स्यात् ।

प्रमा०(३५) किंच अनन्तरोक्तायां सप्तसूत्र्यां केवलम् (सूत्रान्तरानपेक्षमिति यावत्) अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥ ५ ॥

इति पञ्चमं सूत्रमपि विशिष्य ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं प्रमापयति । अनेन हि सूत्रेण 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादिष्वर्थवादेषु पूर्वसूत्रेण प्रसञ्जितस्य पौरुषेयत्वस्य परिहारायानित्यसंयोगस्तेषु परिह्रियते । ब्राह्मणभागस्य पौरुषेयत्वे तु तदन्तर्गतानामुक्तार्थवादानामपि पौरुषेयतया तेष्वनित्यार्थप्रतिपादकत्वस्य परिहारे प्रयासो महर्षेर्व्यर्थो विरुद्ध एव न स्यात् । नच 'किन्ते कृण्वन्ति कीकटे' ष्वित्यादिषु मन्त्रेष्वेव स परिहार इति वाच्यम् । अर्थवादप्रकरणाविरोधेन तथा वक्तुमशक्यत्वात्, अनन्तरोक्तषष्ठसप्तमसूत्राभ्यां मन्त्रेषु पौरुषेयत्वशङ्कातत्परिहारयोर्विशिष्यपृथगुक्तयोर्वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेन 'यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां

॥ भाषा ॥

वेद न होने के कारण अपने प्रकरण (पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र) से विरुद्ध ही हो जाते क्योंकि अर्थवाद ही के अधिकरण में ये दोनों सूत्र हैं । और यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता तो कोई कारण न था कि उक्त प्रथमसूत्र में उसी को 'वेद' शब्द से और छठें सूत्र में उसी को मन्त्रशब्द से जैमिनिमहार्षि कहते । तो ऐसी दशा में इन दो (वेद और मन्त्र) शब्दों के निर्देश से भी यह सिद्ध होता है कि 'वेद नाम दूसरे का है और मन्त्र नाम दूसरे का है' अर्थात् मन्त्रब्राह्मणसमुदाय का नाम वेद है जैसा कि आपस्तम्ब आदि महर्षियों ने कहा है और उसी के एकभाग का जैसे 'मन्त्र' नाम है वैसे ही उसी के द्वितीयभाग का 'ब्राह्मण' नाम है । इस रीति से ये सातो सूत्र ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण हैं ।

प्रमा० —(३५) ब्राह्मणभाग के वेद होने में पूर्व ही उद्धृत 'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' यह सूत्र, विशेषरूप से पृथक् अन्य सूत्र की अपेक्षा किये बिना भी प्रमाण है, क्योंकि 'अनित्यसंयोगात्' इस उक्तसूत्र से, 'बबर:प्रावाहणिः' इत्यादि, अर्थवादों में बबर आदि रूपी वेदार्थ में जो अनित्यता कही हुई है उसी के वारणार्थ यह सूत्र है । और ब्राह्मणभाग यदि वेद नहीं होता तो उस में अन्तर्गत उक्त अर्थवाद भी वेद न होता किन्तु पौरुषेय ही होता, और उसकी पौरुषेयता उचित ही होती तब उसका वारण करना महर्षि का व्यर्थ ही नहीं बरुक विरुद्ध ही हो जाता ।

प्रश्न–" किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु " इस उक्त मन्त्र ही के विषय में इन मध्य के दोनों सूत्रों को "लगा कर जब "अन्त्ययोर्यथोक्तम् " इस सूत्र को सफल कर सकते हैं तब अर्थवाद के विषय में ये सूत्र क्यों लगाये जायं ?

उत्तर (१)–मन्त्र के विषय में ये सूत्र कदापि नहीं लगाये जा सकते क्योंकि ऐसा करने में प्रकरण (इन सूत्रों से पूर्व और उत्तर सूत्र) का विरोध हो जायगा, क्योंकि ये सूत्र अर्थवादाधिकरण ही के मध्य में हैं ।

उत्तर (२)—यदि मन्त्र के विषय में ये दोनों सूत्र लगाये जायं तो अभी कहे हुए अन्तिम दोनों सूत्र व्यर्थ ही हो जायंगे क्योंकि मन्त्र ही के विषय में उन दो सूत्रों से पौरुषेयत्व की शङ्का

नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति नचैवं मन्त्रभागे' इति अथ बेदसञ्ज्ञाविचार इत्युपक्रमे भाष्याभासभूमिकोक्तमिहापि पूर्वमनूदितं निरस्तम् । एतत्सूत्रबिरोधेन ब्राह्मणभागे जन्यपुरुषेतिहासोऽस्तीति कथनस्यैतत्सूत्रार्थाज्ञानैकमूलकत्वात् ।

प्रमा० (३६) एवम्–(मी० द० अ० १ पा० २)

(ऊहः । सू० ५२)

इति सूत्रमपि ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे प्रमाणम् । अस्य ह्ययमाशयः । यद्यपि बेदे क्वचित् 'ऊहः कार्य' इति न श्रूयते तथापि ऊहनिषेधः श्रूयते 'न माता बर्द्धते न पिता' इति । अयं च 'मातामन्यतामनु पिता' इति मन्त्रे मातरः पितर इत्यूहप्राप्तावेव सार्थको भवति । एवञ्चोक्तब्राह्मणभागवाक्येन सूचितस्याप्यूहस्यानुरोधाद 'अग्नये जुष्टं निर्वपामी' ति मन्त्रे श्रूयमाणमप्यग्निपदं निष्कास्य सौर्यचरौ तत्स्थाने सूर्यपदं पठ्यते । अतो मन्त्राणां स्वार्थे तात्पर्यमिति । बिस्तरस्तु बेददुर्गसज्जने मन्त्रोपयोगप्रकरणे द्रष्टव्यः । एवञ्च 'न माते' त्युक्तब्राह्मणभागवाक्यस्य बेदत्वाभावे कथमस्य पौरुषेयवाक्यस्यानुरोधमात्रान्मन्त्रस्थं पदं निष्कास्येत, कथं बा तस्य स्थाने लौकिकं पदान्तरमुच्चार्येत ।

॥ भाषा ॥

और समाधान किया गया है । अब यह भी ध्यान देने की बात है कि इसी 'अन्त्ययोर्यथोक्तम्' सूत्र से जब महार्षि ने पूर्णरूप से यह सिद्ध कर दिया कि 'अर्थवादों में किसी पुरुषविशेष का नामोल्लेख, अथवा इतिहास नहीं है किन्तु लौकिकआख्यायिकाओं के नाईं कल्पित ही नामों से ब्यवहार है' तब पूर्वोक्तभूमिका में स्वामी का 'ब्राह्मणग्रन्थों में नामोल्लेखपूर्बक लौकिकइतिहास हैं' यह कथन सर्बथा मिथ्या ही है और इस कथन से यह स्पष्ट है कि स्वामी ने इस सूत्र को देखा भी नहीं था, और कल्पितनाम तो 'किन्ते कृण्वान्ति कीकटेषु' इत्यादि मन्त्रों में मिलते ही हैं।

प्रमा०—(३६) 'पू० मी० द० अध्या० १ पा० २ 'ऊहः' सू० ५२' यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेदत्व में प्रमाण है क्योंकि मन्त्रों के किसी शब्द को निकाल कर उस के स्थान में दूसरे शब्द के पढ़ने को ऊह कहते हैं और इस सूत्र का यह आशय है कि बेद में यद्यपि 'ऊहः कार्यः' (ऊह करना चाहिये) यह कहीं नहीं कहा है तथापि 'न माता बर्द्धते न पिता' यह बेद में कहा है इस का यह अर्थ है कि 'माता पितामही प्रपितामही' और पिता पितामह प्रपितामह इन तीन २ को कहना हो तो भी 'माता मन्यता मनु पिता' इस मन्त्र में बहुबचन का ऊह (मातरः पितरः) न करै, इस निषेध ही से यह सूचित होता है कि अन्य मन्त्रों में अर्थ और प्रकरण के अनुसार ऊह करना चाहिये क्योंकि यदि ऊह प्राप्त न होता तो यह निषेध ही ब्यर्थ हो जाता और इसी सूचना के अनुसार सौर्य चरु में जब 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि०' यह मन्त्र पढ़ा जाता है तब उस में अग्नि शब्द को निकाल कर उस के स्थान में सूर्यदेवता के योग्य सूर्य शब्द पढ़ा जाता है कि 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' इस से यह सिद्ध है कि 'मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य है' इति । और इस का बिस्तार बेददुर्गसज्जन के मन्त्रोपयोगप्रकरण में पूर्व हीं हो चुका है अब ध्यान देना चाहिये कि 'न माता बर्द्धते न पिता' यह ब्राह्मणभाग का वाक्य यदि बेद नहीं अर्थात् पौरुषेय होता तो केवल इस की सूचनामात्र से मन्त्रों में साक्षात् पठित अग्नि आदि शब्द कैसे निकाले जाते, और कैसे उन के स्थान में लौकिक सूर्य आदि शब्द पढ़े जाते ।

प्रमा० (३७) एवम्--पू० मी० द०—

"उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात्" अ० १ पा० ४ । सू० १ ॥

इतीदं नामधेयाधिकरणपूर्वपक्षसूत्रमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे प्रमाणम् । अस्य ह्ययमर्थः । यस्मात् प्रथमपादे बिधिवाक्यानां बिधायकतया धर्मे प्रामाण्यमुक्तम्, द्वितीयपादे चार्थवादवाक्यानां विधिविहितकर्मस्तुत्यर्थत्वेन, मन्त्राणां तु बिधिविहितानुष्ठेयकर्मस्मारकत्वेन, प्रामाण्यमुक्तम्, इति रीत्या समाम्नायस्य बेदस्य ऐदमर्थ्यम् धर्मे उपयोगः उक्तम् उपपादितम् तस्मात् सर्बस्यैव बेदस्य धर्मोपयोगप्रतिपादनात् सर्वं वैदिकं पदम् 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यादौ उद्भिदादिपदमपीति यावत् तदर्थम् प्रथमद्वितीयपादोक्तविधिस्तुत्यनुष्ठेयार्थस्मरणान्यतमार्थकमेव स्यात् भवति नतूद्भिदादिपदं यागनामधेयमिति । एवं चात्र सूत्रे ब्राह्मणभागस्य द्वावपि बिध्यर्थवादभागौ बेदपर्यायेण समाम्नायशब्देन स्पष्टमेवाचष्टे, सर्वपदेन च बिधिवाक्यघटकान्युद्भिदादीनि पदानि ब्यवहरन् बिधिवाक्यघटितस्य ब्राह्मणभागस्य बेदत्वमभिप्रैति, तत्र भवान् महार्षिरिति किमपरमवशिष्यते वक्तुम् ।

प्रमा० (३८) एवम्-"वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्" ॥३॥ पू०मी०द०अ०३पा०२सू०३। इति सूत्रमप्युक्तार्थे मानम् । तथाहि । महाग्निचयने श्रूयते 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति।

॥ भाषा ॥

प्रमा०—(३७) पू० मी० द० अध्या० १ पा० ४ "उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात्" ॥ १ ॥

यह नामधेयाधिकरण का पूर्वपक्षसूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है । इस का अक्षरार्थ यह है कि पूर्व (प्रथमाध्याय के आदि के दो चरण) में समाम्नाय (बेद) का यज्ञकार्यों में उपयोग और प्रमाण होना युक्तिपूर्वक कहा जा चुका इसी से यह सिद्ध हो चुका कि सबी बैदिकपद उन्हीं पूर्वोक्त अर्थों को कहते हैं इति । और भावार्थ यह है कि प्रथमपाद में "स्वर्गकामो यजेत" आदि बिधिवाक्यों का पुरुषों की प्रवृत्ति कराने से धर्म में उपयोग और प्रामाण्य कहा गया, और द्वितीयपाद में, बिधिवाक्यों से बिहित कर्मों के स्मरण कराने से मन्त्रों का धर्म में उपयोग और प्रामाण्य सिद्ध किया गया है । इस रीति से जब सब बेद का अर्थ और धर्म में उपयोग पूर्णरीति से सिद्ध होचुका तब "उद्भिदा यजेत पशुकामः" (पशुओं की इच्छा करने वाला उद्भिद् नामक याग करै) इत्यादि बिधिवाक्यों के 'उद्भिद्' आदि शब्द भी प्रथम और द्वितीय पाद में कहे हुए प्रवृत्ति (बिधान) स्तुति, और कर्मों का स्मरण, इन्हीं तीन अर्थों में से किसी अर्थ के बोधक हो सकते हैं न कि ये (उद्भिद् आदि शब्द) यागबिशेष के नाम हैं इति । अब ध्यान देना चाहिये कि ब्राह्मणभाग के बिधि और अर्थवाद रूपी दोनों भागों को इस सूत्र में महर्षि ने 'समाम्नाय' शब्द से कण्ठतः कहा है जो कि 'बेद' शब्द का समानार्थक है' तथा ब्राह्मणभाग ही में अन्तर्गत "उद्भिदा यजेत पशुकामः" इत्यादि वाक्यों के 'उद्भिद्' आदि शब्दों को बेद में अन्तर्गत कहा है जिससे यह सिद्ध है कि ब्राह्मणभाग का बेद होना महर्षि को पूर्ण सम्मत है ।

प्रमा०—(३८) पू० मी० द० अध्या० ३ पा० २ वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् सू० ३ । यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है और इस अधिकरण का यह स्वरूप है कि 'बड़े अग्निचयनरूपी कर्म के प्रकरण में ब्राह्मणभाग का यह वाक्य है कि "ऐन्द्रया गार्हपत्य मुपतिष्ठते"

तत्र ऐन्द्यर्चा किमिन्द्रस्योपस्थानमुत गार्हपत्यस्येति संशये इन्द्रोपस्थान एव पूर्वाधिकरणन्यायेन मन्त्रस्य समर्थत्वादिन्द्रस्यैवोपस्थानमिति बहिः पूर्वपक्षे प्रथमसूत्रेण सिद्धान्तमाह। तदर्थश्च, बचनात् गार्हपत्यमित्यैन्द्र्येति च द्वितीयतृतीययोः श्रवणाद् ऐन्द्री इन्द्रदेवताप्रकाशिका ऋक् अयथार्थम् इदं क्रियाबिशेषणम् मुख्यबृत्त्या रूढ्या शक्रप्रकाशकं यथा तथा न स्यात् किन्तु रूढियोगापहारिणीतिन्यायमुक्ताद्वितीयादिवचनबलाद्बाधित्वा इदि परमैश्वर्य इति योगमात्रमूलिकयेन्द्रपदलक्षणया गार्हपत्यपरैव, तद्धितश्रुतेरर्थश्च देवतारूपो गार्हपत्येऽपि न बाधित इति न तद्विरोध इति। ननु ब्राह्मणस्थगार्हपत्यपदस्यैवेन्द्रे गौणीबृत्तिरस्तु मन्त्रानुसारादिति चेन्न। बिहितार्थत्वेनानुवादके मन्त्रएव गौणबृत्तेः कल्पयितुमुचितत्वात्, अज्ञातार्थज्ञापकतया बिधायके प्रधानभूते ब्राह्मणे 'न बिधौ परः शब्दार्थ' इति न्यायेन गौणबृत्तिकल्पनाया अत्यन्तमनुचितत्वाच्चेति तु भावः। एवं चैतत्सूत्रं ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे

॥ भाषा ॥

(इन्द्रदेवतावाली 'निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम्०' इस ऋचा से गार्हपत्य अर्थात् अग्निविशेष को पूजे)। इस वाक्य के अर्थ में यह संशय है कि गार्हपत्यशब्द से यहां इन्द्र का ग्रहण है अथवा अग्निबिशेष का? और इस संशय के अनन्तर यह पूर्वपक्ष है कि गार्हपत्यशब्द से इन्द्र ही का ग्रहण उचित है क्योंकि इन्द्र ही की पूजा में ऐन्द्री (इन्द्र देवता वाली) ऋचा के अर्थ का ठीक२ (सुधे २) समन्वय होता है। और इसी पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ यह सिद्धान्तसूत्र है। इस का यह अर्थ है कि उक्त ब्राह्मणभाग के वाक्य में 'ऐन्द्रया' (ऐन्द्री अर्थात् इन्द्र देवता वाली ऋचा आ अर्थात् से) और "गार्हपत्यम्" (गार्हपत्य, अम् अर्थात् को) इस आ (से) रूपी तृतीया बिभक्ति, और अम् (को) रूपी द्वितीया बिभक्ति से यह सिद्ध होता है कि पूजा में गार्हपत्य ही प्रधान है और ऐन्द्री ऋचा पूजा का अङ्ग ही है, तो ऐसी दशा में गार्हपत्यशब्द का अग्निविशेषरूपी मुख्य अर्थ ज्यों का त्यों रहैगा क्योंकि वह प्रधान है और ऐन्द्री ऋचा का मुख्यार्थ, अग्निविशेषरूपी प्रधान में न लगने के कारण छोड़ दिया जायगा जैसे "यह बालक सिंह है" इस वाक्य में सिंहशब्द का पशुविशेषरूपी मुख्यार्थ छोड़ दिया जाता है और जैसे इस सिंहशब्द का बालक में लगने योग्य शूरत्व आदि गौण अर्थ किया जाता है वैसे ही गार्हपत्यशब्द का भी ऐसा कोई गौण अर्थ स्वीकार करना उचित है कि जो अग्निविशेषरूपी प्रधान में लगने योग्य हो जैसे उक्त ऋचा में 'इन्द्र' शब्द का देवताबिशेषरूपी अर्थ को छोड़ कर परम ऐश्वर्य अर्थ किया जाता है जो कि अग्निविशेष में भी हो सकता है। तस्मात् उक्त ब्राह्मणभाग के वाक्य में गार्हपत्यशब्द से अग्निविशेष ही का ग्रहण है। और यह तो कह नहीं सकते कि ऐन्द्री ऋचा में पठित इन्द्रशब्द के अनुसार, उक्त ब्राह्मणवाक्य के गार्हपत्यपद ही का अग्निविशेषरूपी मुख्य अर्थ को छोड़ कर ऐसा गौण अर्थ क्यों न स्वीकार किया जाय जो कि इन्द्रशब्द के देवताविशेषरूपी मुख्य अर्थ में लगने योग्य हो, क्योंकि ब्राह्मणभाग के विधिवाक्य, इस कारण प्रधान माने जाते हैं कि उन के अर्थ का मन्त्र वा किसी अन्य लौकिकप्रमाण से कदापि बोध नहीं हो सकता इसी से "न बिधौ परः शब्दार्थः" (विधिवाक्यों के मुख्यार्थ नहीं छोड़े जाते और न उन के अर्थ गौण होते हैं) यह सूत्र है और मन्त्रभाग तो ब्राह्मणभाग से बोधित ही अर्थ के बोध कराने के कारण ब्राह्मणभाग ही का अङ्ग अर्थात् अनुवादक है इसी से मन्त्र ही को मुख्यार्थ से उतार देना चाहिये, न कि प्रधान ब्राह्मणवाक्य को, क्योंकि

दुष्कम्पं मानम्। अत्र हि ब्राह्मणवाक्यविरोधे मन्त्रेण स्वलिङ्गसिद्धोऽप्यर्थो न बोधयितुं शक्यत इत्येतावत्पर्यन्तं दौर्बल्यं ब्राह्मणापेक्षया मन्त्रस्येति स्पष्टमेवोक्तम्। नहि ब्राह्मणभागस्य पौरुषेयत्वे ऽपौरुषेयत्वेऽपि वा मन्त्रापेक्षया प्राधान्याभावे, तद्गताभिर्द्वितीयादिविभक्तिभिर्मन्त्रलिङ्गं सिंहतोकमिव फेरुनारीभिर्द्रष्टुमपि शक्यते किमुत बाधितुम्। तस्मात् मीमांसादर्शनस्य गन्धमप्यनाघ्राय मन्त्रभागे वेदत्वमङ्गीकृत्यापि महामोहेन ब्राह्मणभागे तदपह्नुवानस्य भूमिकाभृतो वचनं वृश्चिकमन्त्रानभिज्ञस्य तक्षकाबिवरे करप्रवेशनमेव।

प्रमा० (३९) किञ्च—पू० मी० द०—

"अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः स्यात्" अ० २ पा० १ सू० ३४।

इति सूत्रमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं प्रमापयति। इदं हि सूत्रं 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' ३० "शेषे ब्राह्मणशब्दः" ३१ इत्यव्यवहितपूर्वसूत्राभ्यां वेदं द्विधा विभज्य, ऊहप्रवरनामधेयेषु मन्त्रत्वमस्ति नवेति संशये, तेषामप्युक्तमन्त्रलक्षणाक्रान्तत्वादस्ति मन्त्रत्वमिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तयितुमारभ्यते। अर्थश्चास्य-हि यतः विभागः मन्त्रो ब्राह्मणमितिविभागः आम्नातेषु कण्ठरवेण पठितेष्वेवातः ऊहे सूर्याय जुष्टमिति, प्रवरे काश्यपा वत्सा इति, सुब्रह्मण्यानिगदादिषु कृष्णशर्मा यजत इत्यादिषु नामसु अनाम्नातेषु अमन्त्रत्वम् इति। एवञ्च ब्राह्मणेषु वेदत्वतद्व्याप्यधर्मयोरसत्त्वे प्रकृतसूत्रे विभागपदोक्तिरनुपपन्नैव स्यादिति स्पष्टमेव।

॥ भाषा ॥

राजा और भृत्य के विरोध में, भृत्य ही अपने स्थान से हटा दिया जाता है न कि राजा इति। अब ध्यान देना चाहिये कि ब्राह्मणभाग के साथ विरोध की दशा में मन्त्र के शब्दों का मुख्यार्थ भी छूट जाता है ऐसी दुर्बलता, ब्राह्मणभाग की अपेक्षा मन्त्रभाग की है जिस को कि इस सूत्र ने स्पष्ट कह दिया और ब्राह्मणभाग यदि वेद नहीं अर्थात् पौरुषेय होता अथवा अपौरुषेय हो कर भी मन्त्र की अपेक्षा प्रबल न होता किन्तु समानबल अथवा दुर्बल होता तो जैसे सियारिन, (गीदड़िन) सिंहबालक को, भय से देख भी नहीं सकतीं वैसे ही उक्त ब्राह्मणभाग के वाक्य में रहने वाली 'आ' (से) 'अम्' (को) आदि उक्तविभक्तियां मन्त्र को देख भी नहीं सकतीं और उन को मुख्यार्थ से उतारने की तो चर्चा ही क्या है। निदान मीमांसादर्शन को दूर से भी बिना सूंघे, स्वामी ने जो यह कहा है कि 'मन्त्रभाग तो वेद है और ब्राह्मणभाग नहीं' यह उन का कथन, बीछू के मन्त्र को भी न जान कर कालसर्प के बिल में हाथ डालना ही है।

प्रमा—(३९) पू० मी० द० अध्या० २ पा० १ "अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः स्यात्" सू० ३४॥

यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है। यहां प्रकरणशुद्धि यह है कि इस सूत्र से अव्यवहितपूर्व "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" सू० ३० "शेषे ब्राह्मणशब्दः" सू० ३१ सूत्रों से सम्पूर्ण वेद को मन्त्र और ब्राह्मण इन दो भागों में विभक्त कर यह संशय किया कि ऊह, (वेद में पठित शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का पाठ, जैसे 'अग्नये' के स्थान में सूर्याय') का नवीन शब्द, मन्त्र है वा नहीं। तदनन्तर महर्षि ने यह पूर्वपक्ष किया कि ऊह भी मन्त्र है क्योंकि उस में भी मन्त्र होने का व्यवहार होता है और यह व्यवहार ही मन्त्र का लक्षण है। तथा इसी पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ, यह सिद्धान्तसूत्र है इति। इस सूत्र का यह अर्थ है कि ऊह, मन्त्र नहीं है क्योंकि वह वेद में साक्षात्पठित ही वेदभागों अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण, का विभाग है इति।

प्रमा० (४०) अपिच-पू० मी० द०—

'बेदसंयोगात्' अ० ३ पा० ४ । सू० २२ ।

इति सूत्रमपि प्रकृतार्थे प्रमाणम् । इदं हि सूत्रं "तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं भार्यं सुबर्ण एव भवतीति वाक्येऽनारभ्य श्रूयमाणं सुबर्णधारणं क्रत्वर्थं पुरुषार्थंवेति संशये क्रत्वर्थत्वसाधनायारभ्यते। अर्थश्चास्य-बेदे आध्वर्यवमिति समाख्यायुक्ते यजुर्वेदे संयोगात् 'तस्मात्सुवर्ण' मित्यादिवाक्यस्य पाठात् अध्वर्युं सुबर्णधारणेन संस्कुर्यादिति, तथाचात्र 'तस्मात्सुबर्ण' मित्यादिब्राह्मणवाक्यस्य यजुर्बेदपठितत्वं हेतूकुर्वता महर्षिणा कण्ठत एव वेदत्वं ब्राह्मणभागस्योक्तम्।

प्रमा० (४१) एवं--तत्रैव--

"दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि बैदिके न दोषः स्यात्" ॥ सू० २८॥

इति सूत्रमपि प्रस्तुतेऽर्थे गमकम्। तथाहि। "यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाँश्चतुष्कपालान्निर्वपे" दिति श्रूयते। तत्र च प्रतिग्रहो दानमेवेति तदव्यवहितोत्तराधिकरणे साधितम्। विहिता चेयमिष्टिर्लौकिके दाने उत वैदिके इति विचारे चेदं सूत्रं प्रवर्त्तते। अस्यार्थश्च-इयमिष्टिः लौकिके स्वेच्छानिमित्तकदाने स्यात्। दोपात्। दाने दोषश्रवणात् 'स एवैनं बरुणपाशान्मुञ्चती' ति। बरुणपाशात् जलोदररोगात् हि यतो वैदिके 'वारुणं' यवमयं चरुमश्वो दक्षिणे' ति शास्त्रात्प्राप्ते दाने न दोषः स्यात् दोषप्रसक्तिर्न स्यात् शास्त्रात् शास्त्रप्रतिपादितत्वादिति। अत्र चाश्वरूपदक्षिणाया बैदिकत्वं ब्रुवता महर्षिणा

॥ भाषा ॥

इस सूत्र में महर्षि ने ब्राह्मणभाग को 'आम्नात' शब्द से, साक्षात्पठित बेद कहा है।

प्रमा०—(४०) पू० मी० द० अध्या० ३ पा० ४। "बेदसंयोगात्" सू०२२।

यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है क्योंकि "तस्मात्सुबर्णं हिरण्यं भार्यं सुबर्ण एव भवति" (पूर्वोक्त कारण से चमकीले सुबर्ण को धारण करै क्योंकि जो इस को धारण करता है वह चमकीला होता है) इस ब्राह्मणभाग के वाक्य में बिहित सुबर्णधारण से यज्ञ में उपकार होता है, इस बात को सिद्ध करने के लिये यह सूत्र है। और इस सूत्र का यह अर्थ है कि बेद अर्थात् यजुर्बेद में उक्तवाक्य का संयोग अर्थात् पाठ है इस कारण अध्वर्यु (यजुर्वेदी ऋत्विक्) का सुबर्णधारणरूपी संस्कार, यज्ञ में उपयोगी है इति। यहां महर्षि ने "तस्मात् सुवर्णम्" इस ब्राह्मणभाग के वाक्य को बेद में पठित कहा है, जिस से यह स्पष्ट ही है कि महर्षि ने ब्राह्मणभाग को अपने कण्ठरव से बेद कहा है।

प्रमा०—(४१) अनन्तरोक्त अध्याय और पाद में "दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि बैदिके न दोषः स्यात्" सू०२८।

यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है। "यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो बारुणाँश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्" (जितने घोड़ों का दान करै उतने बारुण चतुष्कपालनामक यज्ञों को करै) इस ब्राह्मणभाग के वाक्य से यह निश्चित होता है कि घोड़ों के दान से दाता को पुण्य तो होता है परन्तु जलोदरनामक रोग भी होता है जिस के बारणार्थ उक्त यज्ञरूपी प्रायश्चित्त किया जाता है क्योंकि उक्त वाक्य ही के अनन्तर "स एवैनं बरुणपाशान्मुञ्चति" (वे ही चतुष्कपालयज्ञ, अश्वदाता को जलोदरब्याधि से बँचाता है) यह वाक्य है। यहां बिचार यह है कि इस प्रायश्चित्तयज्ञ का बिधान, लौकिक (अपनी इच्छा से) अश्वदान ही के

"वारुणं यवमयं चरुमश्वो दाक्षिणे" ति तद्विधायकस्य ब्राह्मणवाक्यस्य वेदत्वं स्पष्टमेवोक्तम्।

प्रमा० (४२) किञ्च-पू० मी० द०—

"होता वा मन्त्रवर्णात्" अ० ३ पा० ५ ॥ सू० ३७ ॥

"वचनाच्च" सू० ॥ ३८ ॥

इत्यनयो "र्वचनाच्चे" ति सूत्रमपि प्रकृतार्थे मानम्। तथाहि। एकस्मिन् पात्रे बहवो भक्षयन्ति तत्र कः क्रम इति संशये होमद्रव्यस्य अध्वर्युसन्निधानादध्वर्युरेव प्रथमं भक्षयतीति पूर्वपक्षे पूर्वसूत्रेणोक्ते सिद्धान्तयितुमिमे सूत्रे समारब्धे। अर्थश्चैनयोः होतैव प्रथमं भक्षयति मन्त्रवर्णात् "होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमासत" इति "होतेव नः प्रथमः पाहि" इति च मन्त्रलिङ्गात् 'वचनाच्च' "वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष" इति ब्राह्मणाच्चेति। अत्र हि पूर्वोक्तरीत्या मन्त्राणामविधायकत्वेन मन्त्रस्य होतृभक्षप्राथम्यसाधकतायामपरितुष्यता विधायकतया मन्त्रेभ्यः प्रबलेन वषट्कर्तुरित्यादिब्राह्मणवाक्येन वषट्कर्तु-र्होतुः प्रथमभक्षः साधितः।

॥ भाषा ॥

विषय में है अथवा "वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणा" (यवमयचरुरूपी वारुणयज्ञ करै और उस में घोड़ा दक्षिणा दे) इस ब्राह्मणभाग के वाक्य से विहित वैदिकअश्वदान के विषय में भी ? और इसी विचार में सिद्धान्त के स्थापनार्थ यह उक्त सूत्र है। इस का यह अर्थ है कि लौकिक ही अश्वदान में जलोदरव्याधिरूपी दोष है और उसी के वारणार्थ प्रायश्चित्तरूपी यज्ञ का विधान भी लौकिक ही अश्वदान के विषय में है न कि वैदिक अश्वदान के विषय में, क्योंकि जब "वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणा" इस वेदवाक्य से अश्वदान का विधान है तब उस में दोष की चर्चा हो नहीं हो सकती इति। अत्र ध्यान देना चाहिये कि जब महर्षि ने 'वारुणं यवमयम्०' इस उक्त ब्राह्मणवाक्य से विहित अश्वदान को वैदिक कहा तब ब्राह्मणभाग के वेद होने में क्या सन्देह है ?

प्रमा०—(४२) पू० मी० द० अध्या० ३ पा० ५ "होता वा मन्त्रवर्णात्" सू० ३८। "वचनाच्च" सू० ३९ ।

इन सूत्रों में द्वितीय (वचनाच्च) सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है क्योंकि यज्ञ में जहां एक पात्र में अनेक ऋत्विक् भोजन करते हैं वहां यह संशय है कि कौन ऋत्विक् प्रथम भोजन करै और अध्वर्यु (यजुर्वेदी ऋत्विक्) ही को प्रथम भोजन करना चाहिये क्योंकि भोज्य (होम का द्रव्य) उसी के समीप में रहता है यह पूर्वपक्ष है। और इसी पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ इन सूत्रों का क्रम से यह अर्थ है कि होता (ऋग्वेद का ऋत्विक्) ही प्रथम में भोजन करता है क्योंकि "होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमासत" "होतेव नः प्रथमः पाहि" इत्यादि मन्त्रों में "प्रथम" शब्द से होता ही कहा हुआ है तथा "वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः" इस ब्राह्मणभाग के वचन में वषट्कर्ता (होता) ही का प्रथमभक्षण कहा है इति। अब ध्यान देना चाहिये कि पूर्व में कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रों में विधान करने की शक्ति नहीं है इसी से "होतेव नः०" आदि उक्त मन्त्र, होता के भोजन में प्रथम होने का विधान नहीं कर सकते इस कारण प्रथमसूत्र से असन्तुष्ट हो कर महर्षि ने द्वितीयसूत्र को कह कर "वषट्कर्तुः०" इस ब्राह्मणवाक्य में होता के प्रथमभक्षण के विधान से यह सिद्ध किया कि होता ही का भक्षण प्रथम होता है। इस से यह स्पष्ट निकल आया कि ब्राह्मणवाक्य, मन्त्रों की अपेक्षा इस कारण प्रबल होते हैं कि ब्राह्मणभाग, विधायक होते हैं। इस रीति के अनुसार "होतेव नः" मन्त्र से होता का प्रथमभक्षण नहीं सिद्ध हो सका, परन्तु

न हीदं ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाभावे संगच्छते नहि मन्त्रेण यन्न साधयितुं शक्यते तदवैदिकेन केनाचिद्वाक्येन साध्यमिति संभावनाऽपि शक्नोत्यभ्युदेतुम् होमद्रव्येष्वध्वर्युसान्निध्येन क्रमाख्यप्रमाणेन प्राप्तस्याध्वर्युभक्षप्राथम्यस्य निरासे होतृभक्षप्राथम्यस्य विधाने च शब्दैकसमधिगम्ये पौरुषेयीणां वाचां क्रमप्रमाणविरोधेन निरस्तानां सामर्थ्यस्य संभावयितुमप्यशक्यत्वादिति ध्येयम् ।

प्रमा० (४३) तथा–पू० मी० द०—

"वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः" ॥ अ० ३ पा० ७ । सू० ५० ॥

अत्र शाबरम् ।

अस्ति औद्गात्रे समाख्यातः श्येनः, आध्वर्यवे वाजपेयः । तत्र सन्देहः किं श्येने उद्गातृभिरेव पदार्थाः कर्तव्याः, वाजपेये अध्वर्युभिः उत उभयत्र नानर्त्विग्भिः ? इति । किं प्राप्तम् ? वेदोपदेशात् (समाख्यानात् इत्यर्थः) पूर्ववत् यथा, आध्वर्यवम् इति समाख्यानात् पदार्थान् अध्वर्युः करोति, एवमेव वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः, यो येन समाख्याते वेदे उपदिष्टः, तस्य पदार्थाः तेनैव कर्तव्याः । साङ्गः स तत्र उपदिश्यते । तस्मात्, श्येने उद्गातृभिर्वाजपेये च अध्वर्युभिः पदार्थाः कर्तव्या इति ।

इदमपि सूत्रमुक्तार्थे प्रमाणम् । आध्वर्यवसमाख्यायुक्ते यजुर्वेदे विधीयमानस्य चमसहोमादेरध्वर्युकर्तृकत्वं यथा पूर्वाधिकरणे सिद्धान्तितं तथैवौद्गात्रसमाख्यया युक्ते सामवेदे

॥ भाषा ॥

"वषट्कर्तुः" इस ब्राह्मणवाक्य से उस को सिद्ध कर दिया । यदि ब्राह्मणभाग वेद नहीं अर्थात् पौरुषेय होता तो यह कदापि नहीं हो सकता कि वह ऐसे विषय को सिद्ध करता कि जिस को मन्त्र भी नहीं सिद्ध कर सकते । तथा यदि ब्राह्मणभाग पौरुषेय होता तो वह 'होता' के प्रथमभक्षण का विधान भी नहीं कर सकता क्योंकि जब भोज्य द्रव्य अध्वर्यु के समीप में है तब क्रमरूपी लौकिकप्रमाण से अध्वर्यु ही का प्रथमभोजन होना चाहिये और ऐसी दशा में इसी क्रमरूपी प्रमाण के विरोध से ' वषट्कर्तुः ' यह ब्राह्मणवाक्य, पौरुषेय होने के कारण अप्रामाणिक ही हो जाता तब कैसे इस के अनुसार होता का प्रथमभक्षण सिद्ध होता । और जब ब्राह्मणभाग वेद है तब तो "वषट्कर्तुः" यह ब्राह्मणवाक्य उक्त क्रमरूपी लौकिकप्रमाण को तिरस्कार कर होता के प्रथमभक्षण (जो मन्त्र से भी नहीं सिद्ध हो सका) का विधान करता है ।

प्रमा०—(४३) पू० मी० द० अध्या० ३ । पा० ७ "वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः" सू० ५० ।

सामवेद के औद्गात्र (उद्गाता अर्थात् सामवेदी ऋत्विक् के कर्तव्यों का विधान जिस में है) नामक काण्ड में 'श्येन' याग का विधान (करने की आज्ञा) है । और यजुर्वेद के आध्वर्यव (अध्वर्यु अर्थात् यजुर्वेदी ऋत्विक् के कर्तव्यों का जिस में विधान है) नामक काण्ड में 'वाजपेय' याग का विधान है । यहां यह संशय है कि क्या श्येनयाग के सब कर्म उद्गाता ऋत्विजों ही के, कर्तव्य हैं और वाजपेय के सब कर्म अध्वर्यु ऋत्विजों ही के, अथवा सब प्रकार के ऋत्विक् इन प्रत्येक यज्ञों में काम करते हैं ? । यहां पूर्वपक्ष इसी सूत्र से किया जाता है और इस सूत्र का यह अर्थ है कि जैसे पूर्व अधिकरण का यह सिद्धान्त है कि वेद अर्थात् यजुर्वेद के उपदेश (आध्वर्यव नाम) के अनुसार यजुर्वेद में विधान किये हुए चमसहोम आदि कर्मों को अध्वर्युगण ही करते हैं

विधीयमानस्य श्येनस्याप्युद्गातृगणकर्तृकत्वं सामवेदे विधीयमानत्वादेव स्यादिति हि सूत्रार्थनिष्कर्षः। मन्त्राणां न विधायकत्वमिति तु निपुणतरं निर्णीतमेव। एवं च यजुर्वेदे सामवेदे च कस्य भागस्य चमसहोमादिविधायकत्वं श्येनविधायकत्वं च महर्षिणोच्यत इति गवेषणायां गत्यन्तरविरहात् ब्राह्मणभागस्यैव तदुभयं स्वीकार्यमापतति। तथाच यजुर्वेदब्राह्मणस्य प्रथमेन, सामवेदब्राह्मणस्य च द्वितीयेन, वेदशब्देनात्र सूत्रे महर्षिणा कण्ठत एव वेदत्वमुच्यत इति स्पष्टमेव।

प्रमा० (४४) किञ्च–पू० मी०द०—

"संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन्" ॥ अ० ३ पा० ८ सू० ३॥

इति सूत्रमप्युक्तार्थे प्रमाणम्। इदं हि सूत्रम्—

शावरे—

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, केशश्मश्रू वपते, दतो धावते, नखानि निकृन्तते, स्नाति इति। तत्र सन्देहः, किम् एवञ्जातीयका अध्वर्युणा कर्तव्याः, उत यजमानेन? इति। किं प्राप्तम्। अध्वर्युणा कर्तव्याः, संस्कारा यथावेदं व्यवतिष्ठेरन् समाख्यानात् पुरुषेण कर्मवत्, यथा अन्ये पदार्थाः यस्मिन् वेदे आम्नाताः तत्सामाख्यातेन पुरुषेण क्रियन्ते, एवम् एतेऽपि इति व्याख्यातम्। अत्र च यस्य केशवपनादिसंस्कारस्य विधायके यस्मिन् वेदे या आध्वर्यवादिसमाख्या, तदनुसारेणैव तद्वेदविहितः स संस्कारः तेष्वेवाध्वर्युप्रभृतिषु नियम्येतेति स्पष्टमेव 'यथावेदं व्यवतिष्ठेरन्' इत्यनेनोक्तम्। एवंच केशश्मश्रू इत्यादेर्ब्राह्मणवाक्यस्य संस्कारविधायकस्य,

॥ भाषा ॥

वैसे ही अन्य वेद अर्थात् सामवेद में विधान किये हुए श्येनयाग में कहे हुए कर्म, उद्गातृगण ही के कर्तव्य हैं, क्योंकि वेद अर्थात् सामवेद का औद्गात्र नाम है इति। और पूर्व में यह सिद्ध हो चुका है कि मन्त्र, विधान नहीं करते। अब यह विचार किया जाता है कि यजुर्वेद में किस भाग को इस सूत्र में महर्षि ने चमसहोम आदि कर्मों का, और सामवेद में किस भाग को श्येनयाग का, विधान करने वाला, कहा है। और ऐसा विचार होने पर अनन्यगति हो कर सब को यही स्वीकार करना पड़ैगा कि यजुर्वेद और सामवेद के ब्राह्मणभागों हीं को महर्षि ने विधान करनेवाला कहा है। तथा यजुर्वेद के ब्राह्मणभाग को इस सूत्र में प्रथम वेद शब्द (वेदोपदेशात्) से और सामवेद के ब्राह्मणभाग को द्वितीय वेद शब्द (वेदान्यत्वे) से साक्षात् ही कहा है।

प्रमा०—(४४) पू० मी० द० अध्या० ३ पा० ८। "संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन्" ॥सू० ३॥

यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है। ब्राह्मणभाग में ज्योतिष्टोमनामक याग के प्रकरण में विधिवाक्य हैं "केशश्मश्रू वपते" (दाढ़ी समेत बालों का मुण्डन करावै) 'दतो धावते' (दातों को साफ करै) 'नखानि निकृन्तते' (नखों को कटावै) 'स्नाति' (स्नान करै)। यहां यह सन्देह है कि उक्त प्रकार के मुण्डनादि संस्कार, अध्वर्यु के कर्तव्य हैं अथवा यजमान के? यहां उक्त सूत्र से पूर्वपक्ष किया जाता है जिसका यह अर्थ है कि जैसे यजुर्वेद में आध्वर्यवनाम के अनुसार, चमसहोम आदि कर्म अध्वर्यु ही के कर्तव्य हैं अर्थात् जिस वेद से जिस कर्म का विधान होता है उस कर्म को उसी वेद का ऋत्विक् करता है वैसे ही उक्त मुण्डनादि संस्कार भी अध्वर्यु ही के कर्तव्य हैं क्योंकि ये वाक्य यजुर्वेद के हैं इति।

बेदशब्देनैव व्यवहारः कृतो महर्षिणा, नहि मन्त्राणां बिधायकत्वमिति तूक्तमेव।

प्रमा० (४५) अपिच—तत्रैव—

"गुणत्वाच्च बेदेन न व्यवस्था स्यात्" ॥ सू० १२ ॥

इति सूत्रमपि प्रस्तुतार्थे प्रमाणम्।

अत्र शाबरं च—

अथ यदुक्तं, समाख्यानात् आर्त्विजं तपः इति गुणत्वान्न समाख्यया गृह्यते यत्र पुरुषस्य गुणभावस्तत्र समाख्या नियामिका। एवं बा, श्येने श्रूयते, लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति इति, तथा बाजपेये श्रूयते, हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति इति। तत्र सन्देहः, किं श्येने उद्गातृभिर्लोहितोष्णीषता कर्तव्या, बाजपेये च अध्वर्युभिर्हिरण्यमालित्वम्। उत उभयमपि सर्वर्त्विजाम्? इति। किं तावत् प्राप्तम्? समाख्यानात् श्येने उद्गातृभिर्बाजपेये अध्वर्युभिरिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः। गुणत्वाच्च बेदेन न व्यवस्था स्यात्, गुणो लोहितोष्णीषता, हिरण्यमालित्वंच, पुरुषः प्रधानम्, अतो लोहितमुष्णीषं हिरण्यमाला च पुरुषबिशेषणत्वेन श्रूयते न कर्तव्यतया, तस्मात् पुरुषप्राधान्यम्। किमतः?। यद्येवं पुरुषाणां प्रधानभावे समाख्या न नियामिका इत्येतदुक्तम्।

आपिच गुणत्वश्रवणात् सर्वपुरुषाणामेतद्विधानम् इति गम्यते। प्रधानसन्निधौ हि गुणः शिष्यमाणः प्रतिप्रधानम् उपदिष्टो भवति, तत्र वचनेन प्राप्तम् कथं समाख्यया बिद्यमानयाऽपि नियन्तुं शक्येत? तस्मात् उभयत्र सर्वर्त्विग्भिः एवञ्जातीयको धर्मः क्रियेतेति।

॥ भाषा ॥

इस सूत्र में 'केशश्मश्रू' आदि ब्राह्मणभाग के वाक्यों को महर्षि ने 'बेद' शब्द (यथाबेदं) से साक्षात् ही कहा है।

प्रमा०—(४५) उक्त अध्याय पाद में "गुणत्वाच्च बेदेन न व्यवस्था स्यात्" ॥सू०१२॥ यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है। सामबेद से बिहित श्येनयाग के प्रकरण में "लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति" (लाल पगड़ी और लाल कपड़ा वाले ऋत्विक् काम करैं) यह वाक्य है तथा यजुर्बेद से बिहित बाजपेययाग के प्रकरण में "हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति"(सुबर्णमाला वाले ऋत्विक् काम करैं) यह वाक्य है। यहां यह सन्देह है कि श्येनयाग में उद्गाता अर्थात् सामबेदी ऋत्विजों हीं को लाल पगड़ी, तथा बाजपेय में अध्वर्यु अर्थात् यजुर्बेद के ऋत्विक् ही को हिरण्यमाला, धारण करना चाहिये अथवा सब ऋत्विजों (उद्गाता और अध्वर्यु) को श्येनयाग में लाल पगड़ी और बाजपेययाग में सुबर्णमाला धारण करना चाहिये? यहां यह पूर्वपक्ष है कि सामबेद, के औद्गात्र, और यजुर्बेद के आध्वर्यव नाम के अनुसार प्रथमपक्ष ही ठीक है, अर्थात् अपने २ बेद के अनुसार ही ऋत्विजों के काम का नियम होना चाहिये। इसी पूर्बपक्ष के खण्डनार्थ यह उक्त सिद्धान्तसूत्र है जिसका यह अर्थ है कि ऋत्विजों के काम का नियम, अपने २ बेद के अनुसार, वहां होता है जहां कि उन कामों (चमसहोम आदि) का प्रधानरूप से बिधान है जैसे अमुक पुरुष अमुक काम को करै इत्यादि। और उक्त दोनों वाक्यों में तो ऋत्विक् ही प्रधान है न कि लाल पगड़ी बा हिरण्यमाला का धारण, क्योंकि इन वाक्यों का यह आकार नहीं है कि ऋत्विक् लोग लाल पगड़ी और सुबर्णमाला का धारण करैं, तो ऐसी अवस्था में अपने २ बेद के अनुसार

अत्र हि सूत्रे वेदानां व्यवस्थापकत्वमारोप्य लोहितोष्णीषत्वादीनां गुणत्वेन तन्निरस्यते, व्यवस्था हि नियमः स च नान्तरेणविधायकताम्। विधायकता च न मन्त्राणामिति लोहितोष्णीषा इत्यादि ब्राह्मणवाक्येष्वेव व्यवस्थापकत्वमारोपितं महर्षिणा, यत्र च व्यवस्थापकत्वमारोपितं तदेव वेदशब्देनोक्तमिति किं तिरोहितम्।

प्रमा० (४६) किंच महाभाष्ये पस्पशाह्निके इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानीत्युपक्रम्य "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्द" इति श्रुतिरुपन्यस्ता। नचासौ क्वचिदपि-मन्त्रसंहितायामतो ब्राह्मणभागस्थैवेति सिद्धं ब्राह्मणभागस्य वेदत्वम्। नचेयं श्रुतिरेव नेति वाच्यम्। तवैप्रत्ययद्वयश्रवणात्। तस्मिन्नेवाह्निके "आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुरिति" इत्यग्रिमभाष्येण तेऽसुरा इत्युक्तवाक्ये वेदत्वापरपर्यायस्य ऋषित्वस्य स्पष्टमेवोक्तेश्च। ऋषिर्वेद इति तत्र कय्यटः।

प्रमा० (४७) अपिच अनन्तरोद्धृतभाष्यभागादूर्ध्वं तत्रैवाह्निके "वेदशब्दा अप्येवं वदन्तीत्युपक्रम्य योऽग्निष्टोमेन यजते, य उ चैनमेवं वेद, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेवं वेद," इति ब्राह्मणवाक्यचतुष्टयमुदाहरन् वेदत्वमेषु कण्ठत एव पठति भगवान् पतञ्जलिः।

॥ भाषा ॥

व्यवस्था (नियम) नहीं हो सकती, इस कारण द्वितीय ही पक्ष ठीक है इति। अब ध्यान देना चाहिये कि जो वेदभाग, विधान नहीं कर सकता, जैसे कि मन्त्र, उसके अनुसार व्यवस्था (नियम) नहीं हो सकती, क्योंकि व्यवस्था, विधान ही के अधीन है। और महर्षि ने इस सूत्र में यह कहा है कि 'जहां कर्म का प्रधानरूप से विधान होता है वहीं वेद से व्यवस्था होती है' यहां व्यवस्था (विधान के द्वारा नियम) करने वाले ब्राह्मणभाग को महर्षि ने 'वेद' शब्द से साक्षात् ही कहा है।

प्रमा०—(४६) व्याकरणमहाभाष्य के पस्पशाह्निक में पतञ्जलिमहर्षि ने व्याकरण के प्रयोजनों के दिखलाने के अवसर पर 'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः तस्माद्ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः' इस वेदवाक्य को उद्धृत किया है जिसका यह अर्थ है कि वे असुर 'हे अरयः' इस शुद्ध शब्द के स्थान में 'हेलयः २' ऐसा अशुद्ध शब्द कहने से नष्ट हो जाते हैं इस से ब्राह्मण को चाहिये कि अशुद्ध शब्द न बोलै इति। यह वाक्य किसी मन्त्रसंहिता में नहीं है इस से निश्चित है कि ब्राह्मण ही का यह वाक्य है। यहां यह तो कह नहीं सकते कि यह वाक्य वेद का नहीं है, क्योंकि इस में 'म्लेच्छितवै' और 'अपभाषितवै' ये दो 'तवै' शब्द हैं जो कि 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (अ० ३ पा० ३ सू० १४) के अनुसार वेद ही में होते हैं लौकिकवाक्य में नहीं होते। दूसरे उसी भाष्य और प्रकरण में आगे चल कर 'ऋषि, (वेद) नियम बतलाता है' ऐसा कह कर पुनः उक्त ही वेदवाक्य उद्धृत है और भाष्य की टीका (प्रदीप) में कय्यट ने 'ऋषि' शब्द का अर्थ वेद कहा है। ब्राह्मणभाग यदि वेद नहीं है तो यह वेदवाक्य कहां से आया क्योंकि मन्त्रसंहिताओं में तो यह वाक्य हई नहीं है।

प्रमा—(४७) अनन्तरोक्त के अनन्तर उसी आह्निक में 'वेद के शब्द भी ऐसा कहते हैं' ऐसा कह पतञ्जलिमहर्षि ने इन चार ४ वाक्यों को उदाहरणरूप से उद्धृत किया है कि '(१) योऽग्निष्टोमेन यजते (२) य उ चैनमेवं वेद (३) योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते (४) य उ चैनमेवं वेद। जब

प्रमा० (४८) किंच अ० ६ पा० १। एकः पूर्वपरयोः। सू० ८४ इत्यत्र महाभाष्ये वेदे खल्वपीत्युपक्रम्य 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेतेति'। इज्यायाः किंचित्प्रयोजनमुक्तम्। किम्। स्वर्गे लोके अप्सरस एनं जायाभूत्वोपशेरते इति। तथा शब्दस्यापि ज्ञाने प्रयोजनमुक्तम्। किम्। एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति। इत्यादिग्रन्थेन क्रियमाणो ब्राह्मणवाक्येषु वेदपदव्यवहारस्तेषां वेदत्वे मानम्।

प्रमा० (४९) एवम् छन्दसि निष्टर्क्येत्यादि (अ० ३ पा० १ सू० १२३) सूत्रे महाभाष्ये 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' इत्युदाहृतम्। इदं च ब्राह्मणवाक्यमेव, मन्त्रेष्वनुपलम्भात् असङ्गतेश्च। सूत्रेऽपि वेदपर्यायश्छन्दःशब्द उपात्तः एवं चोभे इमे सूत्रभाष्ये ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सत्यापयतः।

प्रमा० (५०) अपिच "मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्"।३।२।७१। "अवे यजः" ।३।२।७२। 'विजुपे च्छन्दसि'।३।२।७३। इत्यन्तिमसूत्रे छन्दोग्रहणमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे मानम्। मन्त्रभागमात्रस्य वेदत्वे हि मन्त्रच्छन्दः शब्दयोःपर्यायताऽऽपत्तौ प्रथमसूत्रान्मन्त्रपदानुवृत्त्यैव सिद्धेऽन्तिमसूत्रे च्छन्दोग्रहणवैयर्थ्यं स्पष्टमेव। नहि क्वचिदपि भगवान्

॥ भाषा ॥

कि ये वाक्य मन्त्रसंहिताओं में नहीं हैं और वेद के हैं तो ब्राह्मणभाग का वेद होना सिद्ध ही है।

प्रमा०—(४८) पाणिनीयव्याकरण, अध्या० ६। पा० १। "एकः पूर्वपरयोः" सू० ८४। इस सूत्र के महाभाष्य में पतञ्जलिमहर्षि का वाक्य भी ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण है। क्योंकि उन्हों ने "वेदे खल्वपि" (वेद में भी कहा है) ऐसा कह कर "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत" (वसन्त ऋतु में ब्राह्मण, अग्निष्टोमादि यज्ञों को करै) "स्वर्गे लोके अप्सरस एनं जायाभूत्वोपशेरते" (स्वर्गलोक में अप्सरा इस यज्ञ करने वाले के समीप, विवाहिता स्त्री की नाईं शयन करती हैं) "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति" (व्याकरण के अनुसार साधुत्व समझ कर किया हुआ एक शब्द का प्रयोग भी स्वर्गलोक में अनेक सुख देता है) इन, ब्राह्मणभाग के वाक्यों को उदाहरणरूप से कहा है।

प्रमा०—(४९) पाणि० व्या० "छन्दसि निष्टर्क्य०" अध्या० ३ पा० १ सू० १२३ इस सूत्र के महाभाष्य में पतञ्जलिमहर्षि ने "निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः" [पशुओं को चाहने वाला पुरुष, निष्टर्क्यनामक अग्नि का चयन करै] इस, ब्राह्मणभाग ही के वाक्य को उक्त सूत्र का उदाहरण दिया है और पाणिनिमहर्षि ने भी उक्त सूत्र में इस ब्राह्मणवाक्य को 'छन्दस्' [वेद] शब्द से कहा है इस रीति से यह सूत्र और भाष्य, दोनों ब्राह्मणभाग के वेद होने में प्रमाण हैं।

प्रमा०—(५०) "मन्त्रे श्वेत" ॥३॥२॥७१॥ "अवे०" ॥३॥२॥७२ "विजु" ॥३॥२॥७३॥ इन पाणिनिसूत्रों में अन्तिम अर्थात् "विजुपे छन्दसि" इस सूत्र में 'छन्दस्' शब्द का ग्रहण भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है क्योंकि स्वामी के मत में मन्त्र ही वेद है इस से 'मन्त्र' शब्द और 'वेद' शब्द का एक ही अर्थ है तो "मन्त्रे श्वेत०" सूत्र से 'मन्त्र' शब्द की अनुवृत्ति ही से काम चल जा सकता है इस से "विजुपे च्छन्दसि" सूत्र में 'छन्दस्' शब्द का ग्रहण व्यर्थ ही हो जायगा। और ब्राह्मणभाग यदि वेद है तो 'मन्त्रे' की अनुवृत्ति होने पर भी ब्राह्मणभाग के 'उपयट्' शब्द में 'विच्' प्रत्यय न होगा क्योंकि वह मन्त्र नहीं है उसी के लिये

पाणिनिः पूर्वसूत्रात्पर्यायशब्दानुवृत्तौ सम्भवत्यामुत्तरसूत्रे पर्यायशब्दान्तरमुपादत्ते ।

प्रमा० (५१) किंच 'जुष्टार्पिते च च्छन्दसि' ।६।१।२०९। 'नित्यं मन्त्रे'। ६।१।२१०। इति सूत्रद्वयमपि प्रकृतेऽर्थे प्रमाणम् । नहि मन्त्राणामेव बेदत्वे मन्त्रात्मन्येकस्मिन्नेव बिषये जुष्टार्पितशब्दयोराभ्यां बिधीयमानस्याद्युदात्तत्वस्य नित्यत्ववैकल्पिकत्वे कथमप्युपकल्पेते, बिरोधादितिस्पष्टमेव । ब्राह्मणभागस्याबेदत्वे मन्त्रच्छन्दःपदयोः पर्यायत्वापत्त्या पूर्वसूत्रस्थ च्छन्दसीत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे कथन्तरामव्यवहितोत्तरसूत्रएव लाघवश्लाघी भगवान् पाणिनिरतिबिस्मृतिशील इव मन्त्रइत्यर्थपुनरुक्तिमूरीकुर्वीत ।

प्रमा० (५२) किञ्च ब्राह्मणभागस्य बेदत्वाभावे सम्प्रति प्रचरितमुद्रितानां पञ्चषाणां परिमितग्रन्थानां मन्त्रसंहितानामेव बेदत्वपर्याप्त्यधिकरणताऽङ्गीकारापत्तौ पूर्वं बेददुर्गसज्जने बेदस्य ग्रन्थतो महत्त्वनिरूपणे उद्धृतचरणव्यूहपरिशिष्टवृत्तौ महिदासेनोद्धृतायाः—

"अनन्ता वै बेदाः"

इतिश्रुतेर्बिरोधो दुरुद्धरएव। नच तात्पर्यबिषयीभूतार्थमात्रानन्त्याभिप्रायेणासौ सूपपादेति वाच्यम् । तथा सति बेदा इति शब्दार्थकपदोपादानबिरोधात्। नह्यत्र बेदार्था इत्युच्यते किन्तु बेदा इत्येव । नचात्रानन्त्योक्तिः प्रशंसामात्रपर्यवसायिनी नतु वास्तविकीति वाच्यम् ।

॥ भाषा ॥

यहां 'छन्दस्' शब्द का ग्रहण है जिस में ब्राह्मणभाग के 'उपपद्' शब्द की सिद्धि हो ।

प्रमा०—(५१) "जुष्टार्पिते च च्छन्दसि" ॥६॥१॥२०९॥ "नित्यं मन्त्रे" ॥६॥१॥२१०॥ ये दोनों पाणिनिसूत्र भी प्रमाण हैं क्योंकि यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं है तो एक ही बिषय अर्थात् मन्त्र ही में 'जुष्ट' और 'आर्पित' शब्द के अन्त के उदात्तत्व के नित्य और बिकल्प होने का सम्भव ही नहीं है तथा यदि 'मन्त्र' और 'छन्दस्' शब्द एकार्थक होते (जैसा कि स्वामी का मत है) तो पूर्वसूत्र के 'छन्दस्' शब्द की अनुवृत्ति ही से काम चलने की दशा में भगवान् पाणिनि सा लाघवप्रिय, कैसे उत्तरसूत्र में व्यर्थ 'मन्त्र' शब्द के ग्रहण से गौरव करता ।

प्रमा०—(५२) यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं है अर्थात् इस समय प्रचलित पांच छ मन्त्रसंहितामात्र ही बेद है तो पूर्व हीं बेददुर्गसज्जन के बेदमहत्वप्रकरण में उद्धृतचरणव्यूहपरिशिष्ट की वृत्ति में पं० महिदास की उद्धृत "अनन्ता वै बेदाः" [बेद अनन्त ही हैं] इस ब्राह्मणवाक्य का बिरोध दुर्बार ही है क्योंकि उक्त मन्त्रसंहिताएं सौ दो सौ पत्रों में लिखी हुई हैं ये कैसे अनन्त हो सकती हैं और ब्राह्मणवाक्यों को भी स्वामी ने स्मृति के तुल्य प्रमाण ही कहा है ।

प्रश्न—यद्यपि मन्त्रसंहितारूपी बेद थोड़े ही से हैं तथापि उनके तात्पर्य के अनन्त होने से उक्तवाक्य में बेद अनन्त कहा गया है तब कैसे उसका बिरोध पड़ सकता है ?

उत्तर—उक्त वाक्य का, बेदार्थ का अनन्त होना अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि उस में 'बेदार्थाः' नहीं कहा है किन्तु 'बेदाः' कहा है ।

प्रश्न—मन्त्रसंहितारूपी बेद, यद्यपि थोड़े ही हैं तथापि उनका अनन्त कहना प्रशंसामात्र है जैसे कहा जाता है कि 'यह तड़ाग अथाह है' तब कैसे बिरोध पड़ सकता है ?

उत्तर—उक्त वाक्य, प्रशंसामात्र, कदापि नहीं है क्योंकि उस में "वै" [ही] शब्द है जिस से उसका यह अर्थ होता है कि 'बेद अनन्त ही हैं' अर्थात् परिमित नहीं हैं और इस 'वै'

एवं सति श्रौतेनावधारणार्थाभिधायिना वै शब्देन समर्पितस्य वस्तुस्थितिपर्यवसायिनोऽनन्ता एव नतु परिमिता इति शब्दस्वरससिद्धस्यार्थस्य दुःसमर्थत्वापातात् ।

प्रमा० (५३) एवं ब्राह्मणभागस्य बेदत्वाभावेऽपदान्तरोक्तरीत्यैव—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
बेदैश्च सर्वैरहमेव बेद्यो
बेदान्तकृद्वेदबिदेव चाहम् ॥१५॥ अ० १५ ॥

इति भगवद्गीतावाक्यबिरोधो दुःसमाधान एव । उक्तपरिमितकतिपयमन्त्रसंहितामात्रस्य बेदत्वाभ्युपगमे ह बेदबिदप्यहमेवेति सावधारणस्य जीवापेक्षस्वनिष्ठकर्षनिरूपणपरायणस्यास्य भगवद्वाक्यस्य बाधितार्थत्वं दुर्वारमेव । अधुनातनानां कतिपयानां क्षुल्लकलोकानामपि बेदबित्वात् । नचार्थबेदनाभिप्रायेणैवेयमुक्तिरितिवाच्यम् । सायनादीनां मन्त्रभाष्यकृतामपि बेदार्थबित्त्वेन तथापि तदुपपादनासम्भवात् । इदं हि वाक्यं भूतादीन् कालविशेषान् बिशिष्य निर्दिशत् त्रैकाल्येऽपि न कश्चिद्वेदबिदित्यन्ययोगव्यवच्छेदमुखेन भगवतो बेदबित्त्वं द्रढयति । नच प्रायस्तात्पर्यगाम्भीर्यबराकेषु मन्त्रवाक्येषु बिदितत्व-मधीतत्वं वा परिमेयमहिमसु जीवेष्वपि कञ्चनातिशयबिशेषं प्रकाशयितु मीष्टे किमुत निरतिशयमाहिमानि भगवति ।

प्रमा० (५४) अपिच मन्त्राणां न बिधायकत्वमिति तावत्पूर्वमेव साधितम् । एवं निषेधकत्वमपि तेषां नास्ति, नञ्पदसहितस्य बिधिप्रत्ययस्यैव निषेधकताप्रयोजकताया

॥ भाषा ॥

शब्द से यह स्पष्ट ही है कि वास्तविक बात इस वाक्य से कही गयी है न कि प्रशंसा । और इस वाक्य का तात्पर्य बेददुर्गसज्जन में बहुत बिशदरूप से कहा जा चुका है ।

प्रमा०— (५३) यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं है किन्तु ये पांच छ मन्त्रसंहिता ही बेद हैं तो "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निबिष्टो०" गीता० अध्या० १५ श्लो० १५ से भी अटल बिरोध पड़ैगा क्यौंकि सब जीवों की अपेक्षा अपने (परमेश्वर) में उत्कर्ष दिखाने के लिये इस श्लोक में भगवान् ने "बेदबिदेव चाहम्" कहा है जिसका यह अर्थ है कि बेद का जानने वाला भी मैं ही हूँ न कि अन्य । अब ध्यान देना चाहिये कि इन संहिताओं के जानने वाले अनेक प्राकृत जीव भी थे, हैं और होंगे तब उनकी अपेक्षा भगवान् में बेद जानने से क्या उत्कर्ष हुआ ? । और यह तो कह नहीं सकते कि बेद के अर्थज्ञान के तात्पर्य से भगवान् ने अपने में उत्कर्ष कहा है, क्यौंकि ऐसा अर्थ लगाने पर भी सायनाचार्य आदि मन्त्रभाष्यकारजीवों की अपेक्षा भगवान् में कोई उत्कर्ष नहीं आ सकता । और जब पूर्व में कहे हुए सिद्धान्त से यह सिद्ध है कि मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग का अनुवादकमात्र है तब अनुवादक में कोई ऐसा गम्भीर अर्थ नहीं हो सकता कि किस के ज्ञान से भगवान् में जीवों की अपेक्षा उत्कर्ष हो ।

प्रमा०—(५४) यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं होता तो यज्ञकर्मों के उपयोगी जितने मन्त्रभाग हैं सबी व्यर्थ हो जाते क्यौंकि पूर्व हीं कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध है कि ये मन्त्र, बिधान वा निषेध नहीं कर सकते अर्थात् पुरुषों की प्रवृत्ति वा निवृत्ति नहीं कराते, तो ऐसी दशा

अर्थवादप्रामाण्यनिरूपणावसरे 'वेददुर्गसज्जने' पूर्वमेव प्रपञ्चितत्वात्। उपदेशकं च तदेव वाक्यं भवति यत्प्रवर्तकं निवर्तकं वेति तु सार्वलौकिकमेव। ब्राह्मणभागानां पौरुषेयत्वे च तेषां भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिनैसर्गिकपुरुषदोषदूषितत्वादेव मन्त्रविनियोगे निष्कम्पयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः सामर्थ्यं दुःसमर्थमेव। एवं च विहितकर्मस्मरणकरणतानाक्रमणीयानां कतिपयमन्त्राणां "मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत्" मी० द० अ० ३ पा० ८ सू० ८ ॥ इति याजमानत्वप्रतिपादकपारमर्षपरामर्शानुसारेण सार्थक्येऽपि विहितकर्मसमवेतार्थप्रकाशकानां बहीयसां मन्त्रभागानां ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाभावेऽनुपदेशकत्वप्रयुक्तं वैयर्थ्यं वज्रलेपायितमेव स्यादिति।

प्रमा० (५५) अपि च मन्त्रसंहिताभागमात्रस्य वेदत्वे सृष्ट्यादौ रचितायाः सकलमन्वादिस्मृतिप्रकृतिभूताया लक्षाध्याय्याः पितामहस्मृतेरचना नोपपद्यत इति तद्रचनाऽन्यथानुपपत्तिरपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे मानम्। नच सा स्मृतिरेवनासीदिति केनचिदपि वक्तुं शक्यते, वेददुर्गसज्जनस्यान्ते ग्रन्थतो वेदमहत्त्ववर्णनप्रकरणे तत्सत्तायाः प्रमाणानां प्रपञ्चितत्वात्। स्मृतयो हि वेदे विप्रकीर्णानामर्थानां सङ्क्षेपेण सङ्ग्रहार्थमेव प्रणीयन्ते, अन्यथा वेदेनैव तेषामर्थानां बोधयितुं शक्यत्वात्तासां रचनैव प्रयोजनविहीना स्यादित्यादिकं प्रपञ्चितं स्मृतिप्रामाण्याधिकरणे मीमांसादर्शने। एवं च सम्प्रति प्रचरन्तीनां कतिपयपत्रसङ्गृहीतानां कतिपयपत्रसङ्गृहीतैराधुनिकजननिर्मितैरपि भाष्यैर्विस्तरतो व्याख्यातानामासां मन्त्रसंहितानां सङ्क्षेपतोऽर्थसङ्ग्रहाय लक्षाध्यायी रचितेति कः सचेताः सम्भावयेत्। किञ्च। विधिनिषेधप्रधाना हि स्मृतयो भवन्ति, मन्त्रेषु च विधायकत्वादिकं नास्तीत्यनुपदमेव प्रपञ्चितम्। तथाच मन्त्रसंहिताभिः सह कस्याश्चिदपि स्मृतेरर्थसङ्ग्राहकत्वलक्षणः सम्बन्धो न

॥ भाषा ॥

में ये मन्त्र, उपदेशरूपी नहीं हो सकते क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने वाले ही वाक्य को उपदेश कहते हैं। अब रहा यहां यज्ञों में इन मन्त्रों का उपयोग, सो भी अप्रामाणिक ही है क्योंकि 'अमुक मन्त्र से अमुक कर्म करै' ऐसा विधान करने वाला ब्राह्मणभाग ही है जो कि स्वामी के मत में वेद ही नहीं है किन्तु पौरुषेय है और जब पुरुषों में भ्रम प्रमाद आदि दोष स्वाभाविक हैं तब उन के रचित ब्राह्मणभागों पर कदापि विश्वास ही नहीं हो सकता कि उनका विधान किया हुआ, यज्ञ में मन्त्रों का उपयोग कदापि सत्य होगा।

प्रमा०—(५५) ये चार पांच संहितामात्र ही यदि वेद है तो आदिसृष्टि में ब्रह्मदेव की रचित, लक्षाध्यायी नामक पितामहस्मृति [जो अब प्रायः लुप्त है और जिस के विषय में पूर्व ही वेददुर्गसज्जन के वेदमहत्त्वप्रकरण में बहुत से प्रमाण भी दिखलाये गये हैं] की रचना ही नहीं हो सकती क्योंकि मीमांसादर्शन, अध्या० १ पा० ३ में स्मृतियों की रचना का यही फल कहा गया है कि "वेद बहुत बड़ा है उस में सहस्रों स्थानों पर कहे हुए अर्थों का समझना बहुत कठिन है इस लिये उनका एकत्र थोड़े में संक्षेप ही, स्मृतियों की रचना का फल है अर्थात् स्मृतियाँ वेद की सूचीपत्ररूपी हैं और यदि ऐसा न माना जाय तो वेद ही से सब अर्थ का बोध हो सकता इस से स्मृतियां सब व्यर्थ ही हो जातीं"। अब ध्यान देना चाहिये कि कौन ऐसा निर्बुद्धिपुरुष होगा कि जो यह स्वीकार करैगा कि वह लाख अध्यायों की पितामहस्मृति, सौ दो सौ पत्रों में लिखित इन

घटते किमुत लक्षाध्याय्याः। बेददुर्गसज्जनस्यान्ते बेदस्य यद् ग्रन्थतोऽर्थतश्च महत्त्वं सप्रमाणमस्माभिरुपवर्णितं तदनुरोधेन लक्षाध्यायीरचनेति तु तत्रैव प्रपाञ्चितम्।

प्रमा० (५६) एवम् उक्तरीत्या बिधिनिषेधहीनस्य मन्त्रसंहिताभागस्यार्थसङ्ग्रहो न जातु बिधिनिषेधप्रधानायां कस्याञ्चिदपि स्मृतौ सम्भवतीति मन्वादिस्मृतीनामपि प्रत्येकं रचनाऽन्यथाऽनुपपत्तिः प्रामाण्यान्यथाऽनुपपत्तिश्च ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे प्रत्येकं प्रमाणम्।

प्रमा० (५७) एवम् ब्राह्मणभागस्य पौरुषेयत्वे भूमिकाधारिसम्मतं बेदमूलकत्वेन तस्य प्रामाण्यमपि न स्यात्। उक्तरीत्या बिधिनिषेधहीनस्य मन्त्रभागस्य बिधिनिषेधप्रधानं ब्राह्मणभागं प्रति पशोर्मनुष्यं प्रतीव मूलत्वस्य सम्भावयितुमप्यशक्यत्वात्। ब्राह्मणभागे मन्त्राणां बिनियोगदर्शनमात्रेण मूलमूलिभावाङ्गीकारे तु यवब्रीह्यादिमूलकत्वमपि ब्राह्मणभागस्य प्रसज्येत, यवब्रीह्यादीनामपि तत्र बिनियोगदर्शनात्, नापि ब्राह्मणभागे मन्त्राणां व्याख्यानस्य क्वचित्क्वचिद्दर्शनेन मूलमूलिभावः कल्पयितुं शक्यते, यज्ञेषु बिनियोगसौकर्यार्थमेव

॥ भाषा ॥

चार पांच मन्त्रसंहिताओं का सूचीपत्र है, अथवा समुद्र, लोटे के जल का संक्षेप है। इस रीति से लक्षाध्यायी स्मृति की रचना भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है।

प्रमा०—(५६) बिशेष ध्यान देने के योग्य यह बात है कि स्मृतियों का प्रधान अंश बिधान और निषेध ही है जिस से पुरुषों की प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है और मन्त्रों में तो बिधान और निषेध की शक्ति ही नहीं है जैसा कि पूर्वोक्त सिद्धान्त है। तो ऐसी दशा में छोटी से छोटी, कोई स्मृति ऐसी नहीं हो सकती कि जो इन मन्त्रसंहिताओं की सूचीपत्ररूपी हो, और लक्षाध्यायी की तो चर्चा भी बहुत दूर है। निदान यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं है तो मनु आदि की बनायी हुई कोई स्मृति, प्रमाण नहीं हो सकती क्योंकि वह, बेदार्थ का संक्षेपरूपी न होने से बेदमूलक नहीं है। इस रीति से स्मृतियों का प्रमाण होना भी ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण है।

प्रमा०—(५७) यदि ब्राह्मणभाग बेद नहीं, किन्तु पौरुषेय है तो बेदमूलक हो कर ब्राह्मणभाग की प्रमाणता [जो कि उक्त भूमिका के अन्त में स्वामी की लिखी है] भी कदापि नहीं हो सकती क्योंकि जब उक्त रीति से मन्त्रों में बिधि निषेध की शक्ति ही नहीं है तब वे बिधि और निषेध करने वाले ब्राह्मणभाग के मूल ही नहीं हो सकते क्योंकि मूल वही होता है कि जिस का स्वभाव, मूली [मूल वाले] के तुल्य होता है। और यह तो नहीं कह सकते कि ब्राह्मणभाग से मन्त्रों का कर्म में बिनियोग [प्रेरणा] होता है इस से मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग का मूल है, क्योंकि ब्राह्मणभाग से जव चावल आदि का भी कर्म में बिनियोग होता है तो बिनियोग के अनुसार यदि मूल माना जाय तो जव चावल आदि को भी ब्राह्मणभाग का मूल मानना पड़ैगा जो कि अनुभवबिरुद्ध है। और यह भी नहीं कह सकते कि 'ब्राह्मणभाग में अनेक स्थानों पर मन्त्रों का व्याख्यान है इस से मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग का मूल है' क्योंकि मन्त्रभाग से भी मन्त्र का व्याख्यान होता है जिस का उदाहरण महामोहबिद्रावण में पूर्व हीं दिया जा चुका है। और वास्तविक बात तो यह है कि ब्राह्मणभाग जैसे धान जव आदि द्रव्यों को कर्म में लगाने की आज्ञा दे कर उन को कर्म में योग्य बनाने के लिये "ब्रीहीनवहन्ति" "ब्रीहीन् प्रोक्षति" [धान को भिगोवै—धान को कूटै] इत्यादि वाक्यों से उन द्रव्यों के संस्कार का बिधान करता है वैसे ही मन्त्ररूपी द्रव्य को यज्ञ में लगाने

व्रीह्यादीनामवघातविधानस्येव मन्त्राणां व्याख्यानस्य तत्र दर्शनात् । किं च विधि-निषेधबोधकस्य प्रधानस्य ब्राह्मणभागस्यैव वेदत्वं, तद्विनियोज्यस्य तु मन्त्रभागस्य सत्यपि शब्दद्रव्यत्वे व्रीह्यादिवन्न वेदत्वम्, तदंशानां तत्तदृषिरचितत्वादिति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यात् । मन्त्रभागे वेदत्वस्य प्रसिद्धिर्नतु ब्राह्मणभागे इति तु शपथैकनिर्णेयम् । ब्राह्मण-समाख्या तु वेदसमाख्यात्वादपौरुषेयतां क्रोडीकर्तुं क्षमेति वेददुर्गसज्जनएव प्रपञ्चितम् ।

प्रमा० (५८) ब्राह्मणमिति ब्रह्मेति च सञ्ज्ञे अपि प्रकृतेऽर्थे प्रमाणम् । तथा हि । ब्राह्म-णमिति ब्रह्मेति च ब्राह्मणभागस्य श्रुत्युक्ते सञ्ज्ञे, 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि यद्ब्राह्म-णानीतराणि' इत्युक्तश्रुतेः । 'तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्' (अथर्व कां० १५ अ० १ सू० ६) इति मन्त्रवर्णाच्च । अतएव 'ब्रह्म च्छन्दस्कृतं चैव' (अ० ४ श्लो० १००) इति मनुः । कुल्लूकश्च ब्रह्म ब्राह्मणमिति व्याख्यत् । वायसराक्षसादिवच्च ब्राह्मणमिति स्वार्थेऽण् । टिलोपस्तु न, सञ्ज्ञाभङ्गभयात् । तथा च ब्राह्मणभागस्य प्रामाण्या-न्यथाऽनुपपत्तिरेव तस्य वेदत्वे मानमिति दिक् ।

॥ भाषा ॥

की आज्ञा दे कर उन को यज्ञ में योग्य बनाने के लिये उन के संस्कारार्थ उन का व्याख्यान करता है क्योंकि मन्त्रों का यथार्थ अर्थज्ञानरूपी सँस्कार, ब्राह्मणभाग में कहे हुए व्याख्यान ही से होता है जिस से वे मन्त्र, ब्राह्मणभाग की आज्ञानुसार विधान किये हुए कर्मों का स्मरण करा कर यज्ञों में योग्य होते हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे जव चावल आदि द्रव्य ब्राह्मणभाग के मूल नहीं हैं वैसे ही मन्त्ररूपी द्रव्य भी । और यह भी है कि यदि ऐसा कहा जाय कि विधिनिषेधरूपी आज्ञा का देने वाला ब्राह्मणभाग ही वेद है और उस का आज्ञानुसारी, विधिनिषेध से रहित और जव चावल आदि के समान द्रव्यरूपी मन्त्रभाग ही वेद नहीं है क्योंकि जिस मन्त्र का जो ऋषि है वह मन्त्र उसी ऋषि का रचित है, तो इस का क्या उत्तर है ? । यदि यह कहा जाय कि मन्त्रभाग ही में 'वेद' शब्द का व्यवहार है ब्राह्मणभाग में नहीं, तो यह मिथ्या ही है क्योंकि ब्राह्मणभाग में वेद शब्द का व्यवहार पूर्व हीं अनेक स्थानों पर दिखला दिया गया है । और ब्राह्मणभाग का 'ब्राह्मण' नाम होने से तो वह पुरुषरचित नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि 'ब्रह्मन्' शब्द का वेद अर्थ है और 'ब्राह्मण' शब्द भी उसी का तुल्यार्थक है, यह विषय वेददुर्गसज्जन ही में निश्चित हो चुका है । जिस से स्वामी के विपरीत ही यह निश्चय होता है कि जब वेदवाची 'ब्रह्मन्' और 'ब्राह्मण' शब्द ही ब्राह्मणभाग के नाम हैं तब ब्राह्मणभाग के वेद होने में लेशमात्र भी विघ्न नहीं है । तस्मात् ब्राह्मणभाग का प्रमाण होना ही उस के वेद होने में प्रमाण है ।

प्रमा०—(५८) 'ब्राह्मण' और 'ब्रह्मन्' ये दोनों नाम भी ब्राह्मणभाग के वेदता में प्रमाण हैं क्योंकि ब्राह्मण और ब्रह्मन् ये दोनों शब्द, मन्त्र से अन्य वेदभाग के वेदोक्त नाम हैं जैसा कि 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि यद्ब्राह्मणानीतराणि' [चातुर्मास्ययज्ञ के प्रकरण में] तथा 'तमृचश्च सामानि च यजूंषि ब्रह्म चानुव्यचलन्' [अथर्व० का० १५ सू० ६ मं० ८] इत्यादि वेद-वाक्यों में इन दोनों शब्दों से व्यवहार किया है । और मनु ने भी 'ब्रह्म च्छन्दस्कृतं चैव' [अ० ४ श्लो० १००] 'ब्रह्मन्' शब्द से मन्त्रभिन्न वेदभाग को कहा है । तथा मनुस्मृति के टीकाकार [कुल्लूकभट्ट] ने भी 'ब्रह्मन्' शब्द का ब्राह्मणभाग अर्थ किया है ।

प्रमा० (५९) किं च ब्राह्मणभागस्य पौरुषेयत्वे प्रमाणाभावोऽपि तस्य बेदत्वे स्पष्टमेव प्रमाणम्। नहि पूर्बबृत्तकथानां तत्र सद्भावस्तस्य पौरुषेयत्वे मानम्, तत्र बर्तमानानां लुङादिप्रत्ययानां भूतकालार्थकत्वाभावस्य बेदवाह्यमतपरीक्षावसरे पूर्वमेव सप्रमाणमुपवर्णनेन तत्र पूर्वबृत्तगन्धमात्रस्याप्यभावात्। तत्रत्यानां कथानामाख्यायिकामात्रत्वस्य बेद-दुर्गसज्जने बेदापौरुषेयत्वप्रकरणेऽत्रापिच प्रतिपादितत्वेन तद्गतनाम्नां जातिकालविशेष-बिशिष्टपुरुषबिशेषानुपस्थापकताया लौकिकाख्यायिकास्थनामवदौचित्येन ततोऽपि पौरुषेयत्व-लाभसम्भवाभावाच्च। ऐतरेयतैत्तिरीयताण्ड्यादिसमाख्यानामपि काठकादिवत्प्रवचनमात्र-निमित्तकताया असकृदावेदितत्वान्न ततोऽपि पौरुषेयत्वलाभः सम्भवति। भारतादाविवेदं ब्राह्मणमनेन रचितमिति कर्तृप्रतिपादकवाक्यस्य ब्राह्मणभागे क्वचिदप्यनुपलम्भाच्च न तस्य पौरुषेयत्वम्। एवं च मन्त्रवदपौरुषेयत्वे सिद्धे तद्वदेव बेदत्वमपि ब्राह्मणेषु को बारयितुमीष्टे।

प्रमा० (६०) एवम् भूमिकाविधायिना कृतो ब्राह्मणभागस्य बेदत्वनिषेधे प्रयत्नोऽपि तस्य बेदत्वे मानम्। तथा हि। प्राप्तस्य बेदत्वस्य तेन प्रतिषेधः क्रियते अप्राप्तस्य बा। नान्त्यः। अप्राप्तस्य प्रतिषेधायोगात् कथमन्यथा मन्त्रादिग्रन्थेषु बेदत्वस्य निषेधाय नासौ

॥ भाषा ॥

प्रमा०—(५९) ब्राह्मणभाग के पौरुषेय होने में कोई प्रमाण नहीं है इस से भी ब्राह्मण-भाग का बेद होना सिद्ध है। यह तो कह नहीं सकते कि प्राचीन बृतान्तों की कथा ब्राह्मणभाग में है इस से वह पौरुषेय है, क्योंकि बेदबाह्य मत [डाक्टर मेक्सम्यूलर साहेब का मत] की परीक्षा में पूर्व हीं यह सिद्ध हो चुका है कि बेद में लुङ् आदि प्रत्ययों का भूतकाल अर्थ नहीं होता, तब कैसे बेद की अपेक्षा किसी बृतान्त का पूर्वकाल में होना किसी, बेद के शब्द से सिद्ध हो सकता है। तथा बेददुर्गसज्जन के बेदापौरुषेयत्वप्रकरण में और इस प्रकरण के ३१ वें प्रमाण में भी भली भांति यह सिद्ध हो चुका है कि बेद में कही हुई कथायें, कादम्बरी चन्द्रकान्ता आदि की नाईं उपदेश की सुगमता के लिये आख्यायिकामात्ररूपी हैं अर्थात् किसी वास्तविक बृतान्त का प्रतिपादन नहीं करतीं और उन में कहे हुए नाम भी किसी वास्तविक पुरुषबिशेष के नाम नहीं हैं किन्तु कल्पित ही हैं। और यह भी नहीं कह सकते कि तैत्तिरीय, ऐतरेय, और ताण्ड्य आदि नामों के अनुसार, ब्राह्मणभाग का पौरुषेय होना सिद्ध है, क्योंकि बेददुर्गसज्जन के बेदापौरुषेयत्वप्रकरण में पूर्व हीं यह सिद्ध हो चुका है कि बेदशाखाओं का काठक, कौथुम, आदि नाम केवल इस कारण से प्रसिद्ध हैं कि अनादिकाल से 'कठ' आदि नाम वाले ऋषिवंश ही प्रत्येक सृष्टि में उन शाखाओं को पढ़ाते आते हैं। और जैसे महाभारत आदि में ऐसे वाक्य हैं कि 'व्यास आदि ने उन की रचना की' वैसे ब्राह्मणभाग में बिशेषरूप से रचना का बोधक (अमुक ऋषि ने अमुक ब्राह्मण-भाग की रचना की) कोई वाक्य भी नहीं है। इस रीति से जब ब्राह्मणभाग पौरुषेय नहीं है तब उन के बेद होने का कौन बारण कर सकता है?

प्रमा०—(६०) स्वामी का किया हुआ, ब्राह्मणभाग के बेद होने का निषेध ही ब्राह्मण-भाग के बेद होने में प्रमाण है और उस के प्रमाण होने की रीति यह है कि "ब्राह्मणभाग बेद नहीं है" यह निषेध, क्या किसी रीति से प्राप्त, बेद होने का निषेध है अथवा अप्राप्त ही बेद होने का? इन में दूसरा पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि अप्राप्त पदार्थ का निषेध ही व्यर्थ है। नहीं तो स्वामी ने

प्रायतत । आद्ये तु कुतस्तत्प्राप्तिरिति वक्तव्यम् । ब्राह्मणभागे वेदत्वस्य व्यवहारएव तत्प्रापक इति चेत्, तर्हि स सादिरनादि र्वा । नाद्यः । कदाप्रभृति तद्व्यवहारारम्भ इति विशिष्य निर्देष्टुमशक्यत्वात् । नान्त्यः । यथा हि गवादिपदानां सास्नादिमतीषु व्यक्तिषु वर्त्तमानोऽनादिर्व्यवहारस्तासु गोत्वं प्रमापयन् न कदाऽपि कथमपि केनापि प्रतिहन्तुं शक्यते तथैव वेदपदस्यापि ब्राह्मणभागेऽनादिरसौ व्यवहारस्तत्र वेदत्वं प्रमापयन् कथं प्रतिहन्तुं शक्येत। कथं च सदैव वेदत्वेन व्यवह्रियमाणे ब्राह्मणभागे लोकोत्तरप्रज्ञेन भूमिकाविधायिना वेदत्वं नास्तीति प्रमितम् । भूमिकास्थानां तदुक्तहेतूनां पूर्वोक्तप्रबोधोपन्यस्तैर्दूषणैरेव कवलितत्वेन तेभ्यस्तज्ज्ञानस्य भ्रमत्वेन प्रामाण्याभावात् । तथाच सदातन्या ब्राह्मणभागेषु वेदत्वप्रसिद्धेर्भूमिकाविधायिनो वेदत्वाभावोक्ते र्वा भ्रान्तिमूलकत्वमितिविचारे प्रबोधोक्तदूषणगणग्रस्तभूमिकोक्तहेत्वाभासैकप्रमाणत्वाद्वेदत्वाभावोक्तेरेव भ्रममूलकत्वम् । वेदत्वप्रसिद्ध-

॥ भाषा ॥

मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के वेद होने का निषेध, विशेषरूप से क्यों नहीं किया ? और क्यों ब्राह्मणभाग ही के वेद होने के निषेध में इतना परिश्रम किया ? और यदि दूसरा पक्ष है तो बतलाना पड़ेगा कि ब्राह्मणभाग का वेद होना किस कारण से प्राप्त है ? । अब यदि यह कहा जाय कि ब्राह्मणभाग में वेद होने के व्यवहार ही से उस का वेद होना प्राप्त था, तो यह बतलाना पड़ेगा कि वह व्यवहार नवीन है अथवा अनादि काल से चला आता है ? । यदि नवीन है तो विशेषरूप से यह प्रमाण देना पड़ेगा कि अमुक समय और देश में अमुक ने प्रथम २ ब्राह्मणभाग के विषय में 'वेद' शब्द के व्यवहार का आरम्भ किया । और इस बात को स्वामी कदापि नहीं बतला सकते । यदि यह कहा जाय कि आपस्तम्ब और कात्यायन महर्षि ने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (मन्त्र और ब्राह्मण का वेद नाम है) इस वाक्य से प्रथम २ ब्राह्मणभाग में वेदशब्द के व्यवहार का आरम्भ किया, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उन्हों ने यह नहीं कहा है कि 'वेद नाम हो' अर्थात् आज से वेद नाम रक्खा जाय किन्तु यह कहा है कि 'वेद नाम है' जिस का यह अर्थ है कि वेद नाम अनादि है । और स्वामी को अनन्यगति हो कर इस अर्थ को अवश्य मानना पड़ेगा क्योंकि यदि वह ऐसा न मानैं तो मन्त्रभाग में भी वेदशब्द का व्यवहार नवीन हो जायगा क्योंकि उक्त वाक्य ही से मन्त्र का भी वेद नाम नवीन, इस कारण हो जायगा कि उसी वाक्य में मन्त्र का भी उक्त महर्षियों ने वेद नाम कहा है । और यदि ब्राह्मणभाग के वेद होने का व्यवहार अनादि काल से है तो जैसे सास्ना (गौ के गले का लटकता हुआ अवयव) वाले पशुओं में 'गो' शब्द का व्यवहार अनादि है और उसी व्यवहार से उन पशुओं का गो आदि होना सिद्ध है वैसे ही ब्राह्मणभाग में वेद होने के अनादि व्यवहार से उन का वेद होना भी अटल सिद्ध है जिस का कोई भी वारण नहीं कर सकता स्वामी की तो चर्चा ही क्या है । और अपनी पूर्वोक्त भूमिका में ब्राह्मणभाग के वेद न होने के विषय में जो कुछ प्रमाण उन्हों ने दिखलाया है वह सब उक्त अनादि व्यवहार के विरुद्ध होने से तथा पूर्वोक्त महामोहविद्रावण में कहे हुए दूषणों से दुष्ट और मिथ्या अर्थात् भ्रमरूप हो है क्योंकि यदि पक्षपात से रहित हो कर विचार किया जाय कि ब्राह्मणभाग के वेद होने का अनादि व्यवहार सत्य है अथवा स्वामी का कहा हुआ चार दिनों का उस का निषेध ? तो इस विचार में यही निर्णय उचित होगा कि पूर्वोक्त अनेक दोषों से दूषित

स्त्वनादितयैव निरस्तानिखिलदोषाशङ्काकलङ्कत्वात्प्रमामूलकत्वमिति पक्षपातशून्यो निर्णयः।

अथ यत्र २ ब्राह्मणभागवाक्येषु शब्द, श्रुति, समाम्नायादयो वेदपर्यायाः शब्दा भगवता जैमिनिना पूर्वमीमांसादर्शने प्रयुक्ता स्तानि सूत्राणि शृङ्गग्राहिकया प्रस्तुतेऽर्थे प्रमाणतयोपन्यस्यन्ते। सूत्राणामर्थाश्च विस्तरभयादिहाविव्रियमाणा अपि जिज्ञासुभिः शावरादौ द्रष्टव्याः।

तथाहि—

प्रमा० (६१) स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥ अ० १ पा० २ सू० ॥२७॥

प्रमा० (६२) विधिशब्दाश्च ॥ १ ॥ २ ॥ सू० ५३ ॥

प्रमा० (६३) चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः२।२सू०१६

प्रमा० (६४) फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥ २ ॥ २ ॥ सू० २५ ॥

॥ भाषा ॥

उक्त निषेध ही दुष्ट है और उक्त अनादि व्यवहार तो अनादि होने ही से किसी दोष की शङ्का से कलङ्कित नहीं हो सकता इस लिये वही सत्य है।

अब ब्राह्मणभाग के वेद होने में, पूर्वमीमांसादर्शन के वे सूत्र प्रमाण दिखलाये जाते हैं जिन में कि जैमिनिमहर्षि ने 'वेद' अथवा 'वेद' पद के समानार्थक श्रुति, समाम्नाय आदि पदों से ब्राह्मणभाग के वाक्यों को कहा है। और उन सूत्रों के अर्थ का पूर्ण बिबरण शावरभाष्य आदि ग्रन्थों में स्थित ही है जिस का यहां उपन्यास, विस्तरभय से नहीं किया जाता किन्तु इतना ही दिखलाया जाता है कि अमुक सूत्र में ब्राह्मणभाग के अमुक वाक्य को 'वेद' पद वा उस के समानार्थक अमुक पद से महर्षि ने कहा है।

प्रमा०—(६१) "स्तुतिस्तु शब्द०" इस सूत्र में "शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते" इस ब्राह्मणवाक्य को 'वेद' पद के समानार्थक 'शब्द' पद से महर्षि ने कहा है। और 'शब्द' पद का 'वेद' पद के समानार्थक होना "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" वेदान्तदर्शन, अध्या० २ पाद १ सू० २७॥ "धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्" पू० मी० द० अध्या० १ पाद ३ सू० १। इत्यादि अनेक स्थलों में प्रसिद्ध ही है।

प्रमा०—(६२) 'विधि०' इस सूत्र में "शतꣳहिमा इत्याह शतं त्वा हेमन्तानिन्धिषीयेति वावैतदाह" इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द पद से कहा है।

प्रमा०—(६३) "चोदना वा शब्दार्थस्य०" इस सूत्र में "आघारमाघारयति," "अग्निहोत्रं जुहोति" इन ब्राह्मणवाक्यों को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०—(६४) 'फलश्रुतेस्तु०' इस सूत्र में "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा० (६५) श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था ॥ ३॥६॥ सू० २०॥
प्रमा० (६६) नाश्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ ३ ॥ ६ ॥ सू० २४ ॥
प्रमा० (६७) नियमार्था गुणश्रुतिः ॥ ३ ॥ ६ ॥ सू० ४० ॥
प्रमा० (६८) नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥ ३ ॥ ७ ॥ सू० १६ ॥
प्रमा० (६९) बिरोधे च श्रुतिबिरोधादव्यक्तः शेषः ॥ ३ ॥ ८ ॥ सू० ३२ ॥
प्रमा० (७०) अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः ॥ ४ ॥ १ ॥ सू० ४ ॥
प्रमा० (७१) स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्तस्माद्यथाश्रुति स्युः।४।१।सू०८
प्रमा० (७२) नाशब्दन्तत्प्रमाणत्वात्पूर्ववत् ॥ ४ ॥ १ ॥ सू० १४ ॥
प्रमा० (७३) शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद् दृश्यते तस्य ज्ञानं यथाऽन्येषाम्४।१।सू०१५
प्रमा० (७४) मुख्यशब्दाभिसँस्तवाच्च ॥ ४ ॥ १ ॥ सू० २४ ॥
प्रमा० (७५) स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥ ४ ॥ २ ॥ सू० १ ॥
प्रमा० (७६) शकलश्रुतेः ॥ ४ ॥ २ ॥ सू० ४ ॥

॥ भाषा ॥

प्रमा०-(६५) श्वस्त्वेकेषां० इस सूत्र में 'आग्नेयं पशुमालभते' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(६६) 'ना श्रुति०' इस सूत्र में "मुष्टिनापिधाय वपोद्धरणमासीतावपाहोमात्" इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(६७) 'नियमार्था०' इस सूत्र में "सोमाभावे पूतीकानभिषुणोति" इस ब्राह्म० को 'श्रुति' पद से कहा है।

प्रमा०-(६८) 'नियमस्तु०' इस सूत्र में "अग्नीधे प्रथमं ददाति ततो ब्रह्मणे" इस ब्राह्मण० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(६९) 'बिरोधेच श्रुति०' इस सूत्र में "बर्हिषा बेदिं स्तृणाति" इस ब्राह्मण० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(७०) 'अविशेषात्तु०' इस सूत्र में ब्राह्मणभाग के अर्थवादभाग को श्रुति शब्द से कहा है।

प्रमा०-(७१) 'स्वेन त्वर्थेन' इस सूत्र में "स्प्येनोद्धन्ति" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(७२) 'नाशब्दं०' यहां 'पशुमालभेत' इस ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०-(७३) 'शब्दवत्तूप०' यहां भी उक्त ब्राह्म० ही को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०-(७४) 'मुख्यशब्द०' यहां 'मिथुनं बै दधि च शृतं च यत्संसृष्टं वस्तु स गर्भ एव' इस ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०-(७५) 'स्वरुस्त्व०' यहां 'स्वरुं करोति' इस ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०-(७६) 'शकलं०' यहां "यः प्रथमः शकलः परापतेत स स्वरुः" इस ब्राह्म० को 'श्रुति' पद से कहा है।

प्रमा० (७७) द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ ४ ॥३॥सू० १॥

प्रमा० (७८) चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयते नह्यशब्दं प्रतीयते ॥४॥३॥सू०१०॥

प्रमा० (७९) अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनाऽर्थेन गम्येतार्थानांह्यर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतोऽसमर्थानामानन्तर्येऽप्यसम्बन्धस्तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः ॥ ४ ॥ ३ ॥ सू० १०॥

प्रमा० (८०) प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥ ४ ॥ ४ ॥ सू० १ ॥

प्रमा० (८१) दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ॥ ४ ॥ ४ ॥ सू० ८ ॥

प्रमा० (८२) नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात् ॥ ४ ॥ ४ ॥ सू० ९ ॥

प्रमा० (८३) पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः, श्रुतितो व्यपदेशाच्च, तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं तत्सन्निधावसंयुक्तन्तदङ्गंस्याद्भागित्वात्कारणस्याश्रुतश्चान्यसम्बन्धः॥४॥४॥सू०३४॥

प्रमा० (८४) शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥ ५ ॥ १ ॥ सू० २६ ॥

प्रमा० (८५) न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः ॥५॥२॥सू०९॥

प्रमा० (८६) अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥ ५ ॥ २ ॥ सू० १९ ॥

प्रमा० (८७) पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥ ५ ॥ ४ ॥ सू० ११ ॥

प्रमा० (८८) कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते ॥ ६ ॥ १ ॥ सू० ५ ॥

॥ भाषा ॥

प्रमा०–(७७) 'द्रव्यसँस्का०' यहां 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्यादि ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०–(७८) 'चोदनायां फलाश्रुतेः०' यहां 'विश्वजिता यजेत' इस ब्राह्मण० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०–(७९) 'अपि वा ऽऽम्नान्' यहां उक्त ब्राह्मणवाक्य ही को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०–(८०) 'प्रकरणशब्द०' यहां 'अक्षैर्दीव्यति' इत्यादि ब्राह्मण० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०—(८१) 'दधिग्रहो०' इस सूत्र में 'यां वा अध्वर्युश्च यजमानश्च देवतामन्तरितस्तस्या आवृश्च्येते प्राजापत्यं दधिग्रहं गृह्णीयात्' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' पद से कहा है।

प्रमा०–(८२) 'नित्यश्च०' यहां 'ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणाम्' इस ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०–(८३) 'पृथक्त्वे त्व०' यहां 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०–(८४) 'शब्द वि०' यहां 'पुरोडाशानलंकुरु' इस ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०–(८५) 'न वा शब्दकृत' यहां 'अञ्जनादिपरिमाणान्तं यजमानो यूपं नोत्सृजति' इस ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०–(८६) 'अन्ते तु बाद०' यहां उत्पत्तिवाक्यरूपी ब्राह्म० को 'प्रधानशब्द' पद से कहा है।

प्रमा०–(८७) 'पौर्णमासी वा' यहां 'पौर्णमासं हविरनुनिर्वपेत्' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' पद से कहा है।

प्रमा०–(८८) 'कर्तुर्वा श्रुति०' यहां ब्राह्मणभाग के सब विधिवाक्यों को 'श्रुति' पद से कहा है।

प्रमा० (८९) अशब्दमिति चेत् ॥ ६ ॥ ३ ॥ सू० २९ ॥
प्रमा० (९०) यथाश्रुतीति चेत् ॥ ६ ॥ ४ ॥ सू० २२ ॥
प्रमा० (९१) आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥ ६ ॥ ५ ॥ सू० २७ ॥
प्रमा० (९२) माघी वैकाष्टकाश्रुतेः ॥ ६ ॥ ५ ॥ सू० ३२ ॥
प्रमा० (९३) विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्येन विद्यते ॥ ६ ॥ ५ ॥ सू० ४९ ॥
प्रमा० (९४) विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ॥ ६ ॥ ७ ॥ सू० २९ ॥
प्रमा० (९५) न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ ६ ॥ ८ ॥ सू० १६ ॥
प्रमा० (९६) श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाऽधिकारं भावः स्यात् ॥७॥१॥सू०१॥
प्रमा० (९७) अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ॥ ७ ॥ १ ॥ सू० १२ ॥
प्रमा० (९८) नार्थाभावाच्छ्रुतेरसम्बन्धः ॥ ७ ॥ २ ॥ सू० ८ ॥
प्रमा० (९९) अपि वा सत्रकर्माणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात् ॥ ७ ॥ ३ ॥ सू० ५ ॥
प्रमा०(१००) द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात्पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् ७.३सू०१६

॥ भाषा ॥

प्रमा०—(८९) 'अशब्द०' यहां ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०—(९०) 'यथाश्रु०' यहां 'यस्योभयं हविरार्त्तिमार्च्छेत् पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(९१) 'आदेशा०' यहां 'सोमं विभज्य' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' पद से कहा है।

प्रमा०—(९२) 'माघी०' यहां 'तेषामेकाष्टकायां क्रमः सम्पद्यते' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(९३) 'विभागश्रुतेः' यहां 'यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिन्द्यात् तस्मिन्नेव सर्ववेदसं दद्यात्' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(९४) 'विधौ तु वेद०' यहां 'इति स्माह बहुवार्ष्णिर्मांसान्मे पचतेति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'वेद' शब्द से साक्षात् ही कहा है।

प्रमा०—(९५) 'न श्रुतिवि' यहां 'स्नात्वोद्वहेत' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(९६) 'श्रुतिप्रमा०' यहां 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(९७) 'अर्थस्यशब्द०' यहां ब्राह्मणभाग के, विधिवाक्यों और 'समानमितरच्छ्येनेन' इत्यादि अतिदेशवाक्यों को 'शब्द' पदों से पृथक् २ कहा है।

प्रमा०—(९८) 'नार्थाभावा०' यहां 'कवतीषु रथन्तरं गायति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' पद से कहा है।

प्रमा०—(९९) 'अपि वा सर्व०' यहां 'प्रायणीयं प्रथममहः' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(१००) 'द्रव्यादेशे०' यहां 'तुषैश्च निष्कासेन चावभृथमवयन्ति' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा० (१०१) परिसङ्ख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ॥ ७ ॥ ३ ॥ सू० २२ ॥

प्रमा० (१०२) तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ॥ ८ ॥ १ ॥ सू० ३९ ॥

प्रमा० (१०३) न लौकिकानामाचारग्रहणाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात्॥८॥४॥सू०६॥

प्रमा० (१०४) शब्दसामर्थ्याच्च ॥ ८ ॥ ४ ॥ सू० १९ ॥

प्रमा० (१०५) देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्याच्छ्रुतिनिर्देशात्तस्य च तत्र भावात् ॥९॥२॥सू०२०॥

प्रमा० (१०५) त्र्यृचे स्याच्छ्रुतिनिर्देशात् ॥ ९ ॥ २ ॥ सू० १४ ॥

प्रमा० (१०६) अभ्यासेनेतरा श्रुतिः ॥ ९ ॥ २ ॥ सू० २० ॥

प्रमा० (१०७) नोत्पत्तिशब्दत्वात् ॥ ९ ॥ ३ ॥ सू० १९ ॥

प्रमा० (१०८) कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थभावान्विवर्तेत तादर्थ्यं श्रुतिसंयोगात्। १०।१।सू०९

प्रमा० (१०९) स ह्यर्थः स्यादुभयोः श्रुतिभूतत्वाद्विप्रतिपत्तौ तादर्थ्याद्विकारत्वमुक्तं तस्यार्थवादत्वम् ॥ १० ॥ १ ॥ सू० ३१ ॥

प्रमा० (११०) तच्छ्रुतौ चान्यहविष्ट्वात् ॥ १० ॥ १ ॥ सू० ४० ॥

॥ भाषा ॥

प्रमा०-(१०१) 'परिसङ्ख्यार्थं०' यहां 'तस्मात् द्वाभ्यां यन्ति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रवण' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(१०२) 'तस्मिँश्च०' यहां 'आज्यं श्रपयति' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(१०३) 'न लौकिका०' यहां 'स्रुवेण जुहोति' 'जुह्वानारिष्टान् जुहोति' इन ब्राह्मणवाक्यों को 'श[illegible]' पद से कहा है।

प्रमा०-(१०४) 'शब्दसा०' यहां 'नारिष्टान् जुहोति' 'अग्निहोत्रंजुहोति' इन ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०-(१०५) 'देशबद्ध०' यहां 'त्सरा वा एषा यज्ञस्य तस्माद्यत्किञ्चित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु प्रचरन्ति' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(१०६) 'त्र्यृचेस्या०' यहां 'एकं साम त्र्यृचे क्रियते' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(१०७) 'अभ्यासेने०' यहां 'तिसृषु गायति' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(१०८) 'नोत्पत्ति०' यहां 'रशनया यूपं परिव्ययति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०-(१०९) 'कर्म च द्रव्य०' यहां 'यूपमाच्छेत्स्यता परेणाहवनीयमाज्यं चारणिश्च आदाय यूपस्यान्तिकेऽग्निं मथित्वा उरु विष्णो विक्रमस्वेति यूपाहुतिं जुहोति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०-(११०) 'सह्यर्थः' यहां 'अग्नीषोमीयवपया प्रचर्याग्नीषोमीयं पुरोडाशमनु निर्वपति' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(१११) 'तच्छ्रुतौ चा०' यहां "प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्कामः" इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा० (१११) स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥ १० ॥ २ ॥ सू० ५७ ॥

अत्र हि सर्वस्वाग्क्रतोस्तत्परिसमाप्तेश्च "यः कामयेतानामयः स्वर्गं लोकमियाम् स सर्वस्वारेण यजेत मरणकामो ह्येतेन यजेतार्भवपवमाने औदुम्बरीं दक्षिणेन देशेनाहतेन वाससा परिवेष्ट्य ब्राह्मणाः समापयत मे यज्ञमिति संप्रेष्याग्नौ संविशतीति" अस्य ब्राह्मण वाक्यस्य पौरुषेयत्वे स्मृतितया क्रतुसमाप्त्योः परोक्षशिष्टत्वापत्तेः प्रत्यक्षशिष्टत्वोक्तिरयुक्तैव स्यात्।

प्रमा० (११२) षड्भिर्दीक्षयतीति तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥१०॥३॥सू० २३॥

प्रमा० (११३) शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि श्रूयते ॥ १० ॥ ३ ॥ सू० ३३ ॥

प्रमा० (११४) असंयोगाद्विधिश्रुतावेकजाताधिकारः स्यात्श्रुत्याकोपात्क्रतोः १०।३।सू०४३

प्रमा० (११५) सर्वस्य वा क्रतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य गुणानां कार्यैकत्वादर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात् तस्मात्समवायाद्धि कर्मभिः ॥ १० ॥ ३ ॥ सू० ५७ ॥

प्रमा० (११६) एका तु श्रुतिभूतत्वात्सख्याया गवां लिङ्गविशेषेण ॥१०॥३॥सू० ६२॥

प्रमा० (११७) अपि वा श्रुतिभूतत्वात्सर्वासां तस्यभागो नियम्यते ॥१०॥३॥सू०७५॥

प्रमा० (११८) विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना ॥ १० ॥ ४ ॥ सू० २४ ॥

प्रमा० (११९) शेषाणां वा चोदनैकत्वात्तस्मात्सर्वत्र श्रूयते ॥ १० ॥ ४ ॥ सू० २५ ॥

॥ भाषा ॥

प्रमा०—(११२) 'स्याद्वो०' यहां "यः कामयेतानामयः स्वर्गलोकमियाम् स सर्वस्वारेण यजेत मरणकामो ह्येतेन यजेतार्भवपवमाने औदुम्बरीं दक्षिणेन देशेनाहतेन वाससा परिवेष्ट्य ब्राह्मणाः समापयत मे यज्ञमिति सम्प्रेष्याग्नौ संविशति" इस ब्राह्म० को प्रत्यक्ष [साक्षात्पठित वेद] शब्द से कहा है।

प्रमा०—(११३) 'षड्भिर्दी०' यहां 'षड्भिर्दीक्षयति' इस ब्राह्मणवाक्य को सूत्र ही में कह कर 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(११४) 'शङ्कते च' यहां 'यद्वैक्रतीर्ददाति दक्षिणा उभयीरपि दक्षिणास्तेन प्रत्ता भवन्ति' इस ब्राह्म० को 'श्रूयते' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(११५) 'असंयोगाद्विधि०' यहां 'गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभश्चाजाश्चावयश्च व्रीहयश्च यवाश्च तिलाश्च माषाश्च तस्य द्वादशशतं दक्षिणा' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(११६) 'सर्वस्य वा क्रतु' यहां भी पूर्वोक्त ही ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(११७) एका तु० यहां 'एकां गां दक्षिणां दद्यात्तेभ्य एव' इस ब्राह्मण० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(११८) 'अपि वा श्रुति०' यहां 'सप्तदश रथाः सप्तदश निष्काः सप्तदश दास्यो दक्षिणाः' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०—(११९) 'विधिशब्दस्य०' यहां 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०—(१२०) 'शेषाणां वा०' यहां अनन्तरोक्त ही ब्राह्म० को 'श्रूयते' शब्द से कहा है।

प्रमा० (१२०) प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणे नाभिधानं स्यात् ॥ १० ॥ ४ ॥ सू० २७ ॥

प्रमा० (१२१) आरम्भासमवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वादवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात् ॥ १० ॥ ४ ॥ सू० २९ ॥

प्रमा० (१२२) उभयपानात्पृषदाज्ये दध्नोऽप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात् ॥ १० ॥ ४ ॥ सू० ५१ ॥

प्रमा० (१२३) दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपा निगमाः स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात् ॥ १० ॥ ४ ॥ सू० ५६ ॥

अनयोर्हि सूत्रयोर्निगमशब्दो मन्त्रेषु प्रयुक्तो महर्षिणा। ब्राह्मणभागे तु "इत्यपि निगमो भवतीति ब्राह्मणम्" इति निरुक्ते ब्राह्मणभागेऽपि निगमशब्दः प्रयुक्तः। एवं च वेदपर्यायस्य निगमशब्दस्य मन्त्रब्राह्मणयोरविशेषेण प्रयोगाद्ब्राह्मणभागस्य वेदत्वम्। एतेन यत् सत्यार्थप्रकाशे सप्तमोल्लासे भूमिकाधारिणा प्रलपितम् "मन्त्रसंहितापुस्तकस्यारम्भेऽध्यायसमाप्तौ च वेदशब्दः शश्वल्लिखित उपलभ्यते ब्राह्मणभागपुस्तके तु न क्वचित्। किंच निरुक्ते, इत्यपि निगमोभवतीति ब्राह्मणम् इति ब्राह्मणभागे निगमशब्दएव प्रयुक्तो न तु वेदशब्दः तस्माद्ब्राह्मणभागो न वेद इति" तदप्येतेन निरस्तम्। अनुपदोक्तरीत्या मन्त्रब्राह्मणयोरविशेषेण प्रयुज्यमानस्य निगमशब्दस्य वेदपर्यायतया वेदशब्दस्येव निगमशब्दस्यापि

॥ भाषा ॥

प्रमा०–(१२१) 'प्राकृतस्य०' यहां 'अग्नये पावकायाष्टाकपालम्' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०–(१२२) 'आरम्भासम०' यहां ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को 'श्रुति' शब्द से कहा है।

प्रमा०–(१२३) 'उभयपाना०' यहां 'देवाँ आज्याँ आवह' इस मन्त्र 'निगम' शब्द से कहा है।

प्रमा०–(१२४) 'दध्नस्तुगुण०' यहां भी उक्त मन्त्र ही को 'निगम' शब्द से कहा है।

अब ध्यान देना चाहिये कि इन दोनों सूत्रों में 'देवाँ आज्यां आवह' इस मन्त्र को महर्षि ने दो बार निगम शब्द से कहा है और निरुक्त में यास्कमहर्षि ने 'इत्यपि निगमो भवति, इति ब्राह्मणम्' [नि० अध्या० ५ खं० ३।४] इस वाक्य में ब्राह्मणभाग को निगम शब्द से कहा है। इस रीति से 'वेद' शब्द के समानार्थक 'निगम' शब्द से मन्त्रभाग के नाईं ब्राह्मणभाग भी जब कहा जाता है तब यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रभाग ही के नाईं ब्राह्मणभाग भी वेद है। और स्वामी ने सत्यार्थप्रकाश, उ०, ७ पृ० २१७ में जो यह लिखा है कि 'देखो संहितापुस्तक के आरम्भ और अध्याय की समाप्ति में 'वेद' यह शब्द सनातन से लिखा आता है, और ब्राह्मणपुस्तक के आरम्भ व अध्याय की समाप्ति में 'वेद' शब्द कहीं नहीं लिखा। और निरुक्त में 'इत्यपि निगमो भवति, इति ब्राह्मणम्' यहां ब्राह्मणभाग में 'निगम' शब्द ही का प्रयोग है न कि 'वेद' शब्द का' इति। वह भी परास्त हो गया क्योंकि जब उक्त रीति से मन्त्र और ब्राह्मण के वाचक 'निगम' शब्द का व्यवहार ब्राह्मणभाग में है तब उस के वेद होने में क्या सन्देह है? और ऐसी दशा में यदि 'निगम' शब्द से ब्राह्मणभाग का वेद होना नहीं सिद्ध हो सकता तो मन्त्रभाग का भी वेद होना 'वेद' शब्द से नहीं सिद्ध होगा क्योंकि जब 'वेद' और 'निगम' दोनों शब्दों का

ब्राह्मणभागे वेदत्वसाधकताया दुरपलपत्वात् । अन्यथा तु वेदशब्दस्यापि सा न स्यात्, विनिगमनाविरहात् । किं च मन्त्रसंहितापुस्तके वेदशब्दो लिखित इत्यपि न किंश्चित्, वेदशब्दस्य मन्त्रघटकत्वाभावे लेखककृतस्य तल्लेखमात्रस्य प्रमाणतयाऽनुसरणे "अन्धस्येवान्धलग्नस्ये" त्यादिन्यायविषयत्वापातात् । यथाऽऽहुः "प्रायेण मुह्यन्ति हि ये लिखन्ति" इति । अपि च वेदशब्दो मन्त्रेष्वेव प्रयुज्यते न ब्राह्मणेष्विति भूमिकाभृदाशयोऽप्युन्नीयमानस्तस्याज्ञतामेवोन्नाययति, ब्राह्मणभागे वेदशब्दप्रयोगस्याधस्तादिहैवासकृदावेदितत्वात् । अन्यच्च । निगमशब्दस्य ब्राह्मणेष्वेव प्रयोगो न तु मन्त्रेष्विति तदाशयोऽपि मीमांसादर्शनादर्शनमूलको मिथ्यैव, अनयोरेव सूत्रयोर्महर्षिणा मन्त्रेषु निगमशब्दस्य प्रयुक्तत्वादित्यलं पलायितगवेषणेन ।

प्रमा० (१२५) न वा सँस्कारशब्दत्वात् ॥ १० ॥ ४ ॥ सू० ५३ ॥

प्रमा० (१२६) एकत्रिके त्र्यृचादिषु माध्यन्दिन-श्छन्दसां श्रुतिभूतत्वात् ।१०।५। सू०७।

प्रमा० (१२७) अपि वा परिसङ्ख्या स्यादनवदानीयशब्दत्वात् ॥ १० ॥ ७ ॥ सू० ७ ॥

प्रमा० (१२८) विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात्पुनःश्रुतिरनर्थिका स्यात् ।१०।७। सू० २४।

प्रमा० (१२९) श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत् ॥ १० ॥ ७ ॥ सू० ५६ ॥

प्रमा० (१३०) यावच्छ्रुतीति चेत् ॥ १० ॥ ७ ॥ सू० ६२ ॥

॥ भाषा ॥

अर्थ एक ही है तब इस में कोई कारण नहीं है कि 'वेद' शब्द से, वेद होना सिद्ध हो और 'निगम' शब्द से नहीं । तथा ब्राह्मणभाग के विषय में 'वेद' शब्द का व्यवहार अनेक स्थानों पर जब दिखलाया जा चुका है तब ब्राह्मणभाग के पुस्तक में लेखक ने यदि 'वेद' शब्द को नहीं लिखा तो इतने मात्र से कुछ भी हानि नहीं हो सकती और यह भी है कि जब स्वामी ने मन्त्रों में 'वेद' शब्द नहीं दिखलाया तब पुस्तक में लेखक के वेद शब्द लिखने मात्र से क्या हो सकता है । और स्वामी का यह लिखना कि 'ब्राह्मणभाग को 'वेद' शब्द से, और मन्त्रभाग को 'निगम' शब्द से किसी ने नहीं कहा है' स्पष्ट ही यह प्रकट करता है कि उन्हों ने पूर्वमीमांसादर्शन का दर्शन कदापि नहीं पाया था क्योंकि पूर्व प्रमाणों में अनेक स्थानों पर ब्राह्मणभाग के विषय में 'वेद' शब्द का और इन दो सूत्रों में मन्त्रभाग के विषय में 'निगम' शब्द का व्यवहार दिखला दिया गया है ।

प्रमा०-(१२५) 'नवा सँस्कार०' यहां 'पृषदाज्येन यजति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'शब्द' पद से कहा है ।

प्रमा०-(१२६) 'एकत्रिके०' यहां "त्रिछन्दा वै माध्यन्दिनः पवमानः" इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०-(१२७) 'अपि वा परिसङ्ख्या०' यहां 'सुराग्रहाँश्चानवदानीयाम् वाजसृद्भ्यः' इस ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है ।

प्रमा०-(१२८) 'विकृतौ०' यहां 'आज्यभागौ यजति यज्ञस्यैव चक्षुषी नान्तरेति' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०-(१२९) 'श्रुत्या न' यहां 'यवमयो मध्य;' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०-(१३०) 'यावच्छ्रु०' यहां 'औदुम्बरो यूपो भवति' इस ब्राह्मणवाक्य को

प्रमा० (१३१) न प्रकृतावशब्दत्वात् ॥ १० ॥ ७ ॥ सू० ६३ ॥

प्रमा० (१३२) यथाश्रुतीति चेत् ॥ १० ॥ ७ ॥ सू० ७२ ॥

प्रमा० (१३३) न, तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्दलक्षणम् ॥ १० ॥ ८ ॥ सू० ५ ॥

प्रमा० (१३४) न शब्दपूर्वत्वात् ॥ १० ॥ ८ ॥ सू० ११ ॥

प्रमा० (१३५) अक्रतुयुक्तानां वा धर्मःस्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥१०॥८॥ सू० १३॥

अत्र प्रत्यक्षशिष्टत्वादित्यस्य विवरणं पूर्ववद्बोध्यम् ।

प्रमा० (१३६) तत्संस्कारश्रुतेश्च ॥ १० ॥ ८ ॥ सू० ३० ॥

प्रमा० (१३७) उपांशुयाजमन्तरा यजतीति हविर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्यथाकामी प्रतीयेत ॥ १० ॥ ८ ॥ सू० ४७ ॥

प्रमा० (१३८) ऐकशब्द्यादिति चेत् ॥ ११ ॥ १ ॥ सू० १४ ॥

प्रमा० (१३९) विधेस्त्वेकश्रुतित्वादपर्यायविधानान्नित्यवच्छ्रुतभूताभिसंयोगादर्थेन युगपत्प्राप्ते यथाक्रमं विनीतवत्तस्मात्सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात् ॥ ११ ॥ १ ॥ सू० १६ ॥

प्रमा० (१४०) धर्ममात्रे त्वदर्शनाच्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात् ॥ ११ ॥ १ ॥ सू० २८ ॥

प्रमा० (१४१) तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात्स्याद्विशेषाग्रहणात्॥११॥१॥ सू० ५४॥

॥ भाषा ॥

'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०–(१३१) 'न प्रकृता०' यहां ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०–(१३२) 'यथाश्रु०' यहां 'चतुरवत्ती यजमानः पञ्चावत्तैव वपा कार्या' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०–(१३३) 'न तुल्य०' यहां 'यजतिषु येयजमहं करोति नानुयाजेषु' इस ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है ।

प्रमा०–(१३४) 'न शब्द०' यहां 'रथन्तरमभिगायते गार्हपत्य आधीयमाने' इस ब्राह्म० को "शब्द" पद से कहा है ।

प्रमा०–(१३५) "अक्रतु०" यहां "आत्रेयाय हिरण्यं ददाति" "दाक्षिणानि जुहोति" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों को 'प्रत्यक्ष' (साक्षात् पठित वेद) कहा है ।

प्रमा०–(१३६) "तत्सँस्कार०" यहां "यदुपस्तृणात्यभिघारयत्यमृताहुतिमेवैनां करोति" इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०–(१३७) 'उपांशुयाज०' यहां "पौर्णमास्यामुपांशुयाजमन्तरा यजति" इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०–(१३८) 'ऐकशब्द्या०' यहां 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि ब्राह्म० को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०–(१३९) 'विधेस्त्वेक०' यहां पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्यों हीं को 'श्रुति' पद से कहा है।

प्रमा०–(१४०) 'धर्ममात्रे०' यहां भी पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्यों हीं को 'शब्द' पद से कहा है।

प्रमा०–(१४१) 'तुल्यानान्तु०' यहां "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इस ब्राह्म० को वेदसमानार्थक 'उपदेश' पद से कहा है ।

प्रमा० (१४२) विधेस्त्वितरार्थत्वात्सकृदिज्याश्रुतिव्यतिक्रमः स्यात्॥११॥१॥ सू० ६२॥

प्रमा० (१४३) एकदेशकालकर्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात्॥ ११ ॥ २ ॥ सू० १ ॥

प्रमा० (१४४) आम्नायवचनं तद्वत् ॥ ११ ॥ २ ॥ सू० ४१ ॥

प्रमा० (१४५) पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः श्रुतिसामान्यादारण्यवत् तस्माद्ब्रह्मसाम्यचोदनापृथक्त्वं स्यात् ॥ ११ ॥ २ ॥ सू० ४९ ॥

प्रमा० (१४६ न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ ११ ॥ ३ ॥ सू० ५१ ॥

प्रमा० (१४७) भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात्।११।४। सू० १२।

प्रमा० (१४८) अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात्स्वत्वस्याश्रुतिभूतत्वात्।११।४। सू० ३३।

प्रमा० (१४९) तन्त्रिसमवाये चोदनातःसमानानामैकतन्त्र्यमतुल्येषु तु भेदो विधिक्रमतादर्थ्यात्तादर्थ्ये श्रुतिकालनिर्देशात् ॥ १२ ॥ १ ॥ सू० १॥

प्रमा० (१५०) निर्देशाद्वा वैदिकानां स्यात् ॥ १२ ॥ २ ॥ सू० ३ ॥

प्रमा० (१५१) निशि यज्ञे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः स्यात्प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥१२॥२॥ सू० १४॥

अत्र प्रत्यक्षशिष्टत्वाविवरणं पूर्ववत् ।

प्रमा० (१५२) सङ्ख्यासु तु विकल्पः स्याच्छ्रुतिविप्रतिषेधात् ॥१२॥४॥ सू० ९॥

॥ भाषा ॥

प्रमा०-(१४२) 'विधेस्त्व०' यहां ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०-(१४३) 'एकदेश०' यहां "स मे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" "दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों को 'शब्दोपदेश' पद से कहा है ।

प्रमा०-(१४४) 'आम्नाय०' यहां 'यदेवाध्वर्युः करोति तत्प्रतिप्रस्थाता करोति' इस ब्राह्म० को 'आम्नायवचन' (वेदवाक्य) शब्द से कहा है ।

प्रमा०-(१४५) 'पर्यग्नि' यहां 'पर्यग्निकृतानारण्यानुत्सृजत्यहिंसायै' इस ब्राह्मणवाक्य में 'उत्सृजति' पद को वेद पद के समानार्थक 'शब्द' पद से कहा है ।

प्रमा०-(१४६) 'न श्रुति०' यहां 'उपरिष्टात् सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्ति' इस ब्राह्म० को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०-(१४७) 'भेदस्तु०' यहां ब्राह्मणभाग के मुख्यविधिवाक्यों को 'प्रधानशब्द' पद से कहा है ।

प्रमा०-(१४८) 'अपि वा प्रति०' यहां 'अर्धर्चे वसाहोमं जुहोति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०-(१४९) 'तन्त्रिसम०' यहां 'अग्नीषोमीयं प्रणीयाग्नीषोमीयतन्त्रं प्रक्रमयति' वपयाप्रचर्य पुरोडाशतन्त्रं प्रक्रमयति' इन ब्राह्मणवाक्यों को 'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०-(१५०) 'निर्देशाद्वा०' यहां 'गार्हपत्ये पत्नीः संयाजयन्ति' 'दक्षिणाग्नौ फलीकरणहोमं करोति' 'यदाहवनीये जुहोति' इन ब्राह्मणवाक्यों को 'वेद' शब्द से कहा है ।

प्रमा०(१५१) 'निशियज्ञे०' यहां 'अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् यं रक्षांसि सचेरन्' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य को 'प्रत्यक्ष' (साक्षात्पठित वेद) कहा है ।

प्रमा०-(१५२) 'संख्यासु तु०' यहां 'एका देया षड् देया द्वादश देया' इस ब्राह्म० को

प्रमा० (१५३) आम्नायवचनाच्च ॥ १२ ॥ ४ ॥ सू० ३० ॥ इति ।

प्रमा० (१५४) किं च पूर्वमीमांसादर्शने 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यारभ्य 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इत्यन्ते जैमिनीये द्वादशस्वध्यायेषु षष्टिः पादाः त्रयोदशाधिकानि नवशतान्यधिकरणानि । तानि च प्रायो ब्राह्मणवाक्यविषयकाण्येव, अल्पीयांसि च मन्त्रवाक्यविषयकाणि न हि विहितकर्मानुवादकानां मन्त्रवाक्यानामर्थेषु सन्देहस्य प्राय उत्थानावसरो येन तन्निराकरणाय तेष्वपि विचारावसरः प्रायिकः स्यात् मन्त्रानुस्मरणीयार्थविधायकब्राह्मणवाक्यार्थविचारजन्यनिर्णयेनैव मन्त्रार्थेषु सन्देहस्य प्रायोऽनुत्थानात् । मीमांसा च वेदवाक्यार्थविचारएव । एवं च ब्राह्मणभागस्य वेदत्वाभावे तद्वाक्येषु कस्यापि पूर्वमीमांसाधिकरणस्य विषयत्वं न स्यात् न हि पौरुषेयमन्वादिस्मृतिवाक्यार्थोऽपि मीमांसादर्शने विचारितो, न वा तद्विचारायैतद्दर्शनमिति प्रायः शतशोऽधिकरणानि पूर्वोत्तरमीमांसयो-

॥ भाषा ॥

'श्रुति' शब्द से कहा है ।

प्रमा०–(१५३) 'आम्नायव०' यहां 'सत्रे भूयसां यजमानानां यो गृहपतिः स भूयिष्ठामृद्धिमृध्नोति' इस ब्राह्मणवाक्य को 'आम्नायवचन' (वेदवाक्य) कहा है ।

प्रमा०–(१५४) पूर्वमीमांसादर्शन, 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस से आरम्भ हो कर 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इस सूत्र पर्यन्त बारह १२ अध्याओं में समाप्त है जिस में तीसरे, छठें, और बारहें अध्याय में ८ आठ २ और अन्य अध्यायों में ४ चार २ पाद होने से सब मिला कर साठ ६० पाद हैं, और इस दर्शन में नव सौ तेरह ९१३ अधिकरण (प्रधान निर्णय) हैं और अनेक अधिकरणों में अनेक वर्णक (अवान्तरनिर्णय) भी हैं जिन की सङ्ख्या मिलाने से निर्णयों की सङ्ख्या बहुत ही अधिक है, तथा इन निर्णयों और वर्णकों में प्रायः ब्राह्मणभाग ही के वाक्यार्थ का विचार है और बहुत थोड़े अधिकरण वा वर्णक ऐसे हैं जिन में मन्त्रवाक्य का विचार है। और इस में कारण भी दो हैं, एक यह कि पूर्व में कही हुई रीति के अनुसार कर्मोपयोगी मन्त्रवाक्य, किसी नये अर्थ का विधान नहीं करते किन्तु ब्राह्मणभाग के विधिवाक्यों से विधान किये हुए कर्मों का स्मरणमात्र अर्थात् अनुवाद मात्र करते हैं तो ऐसी दशा में मन्त्रवाक्यों के अर्थ में प्रायः विचार का अवसर ही नहीं आता यह विषय लोक में भी प्रसिद्ध ही है कि अनुवादक (संदेश आदि ले आने वाले) के वाक्यों में प्रायः विचार नहीं किया जाता किन्तु उस मूलवाक्य ही में विचार किया जाता है जिस का कि वह अनुवाद है । और दूसरा कारण यह है कि जब मूलभूत ब्राह्मणभाग के उन विधिवाक्यों का अर्थ, विचार से निश्चित हो चुका तब शाखारूपी और अनुवादक मात्र, मन्त्रवाक्यों के अर्थ में प्रायः सन्देह ही नहीं होता कि उस के वारण के लिये निर्णय की आवश्यकता हो और यह भी दार्शनिकों में प्रसिद्ध ही है कि 'मीमांसावेदवाक्यविचारः' (वेदवाक्यों ही के अर्थ के विचार का नाम मीमांसा है) क्योंकि मीमांसादर्शन में पौरुषेय, अर्थात् मन्वादिस्मृति, इतिहास, पुराण, आदि के वाक्यों का अर्थविचार नहीं किया गया है । अब ध्यान देना चाहिये कि यदि ब्राह्मणभाग वेद नहीं अर्थात् पौरुषेय होता तो उसी के वाक्यों का अर्थविचार, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) इन दोनों वैदिकदर्शनों के अधिकरणों में प्रायः (सैकड़ों स्थानों पर) क्यों किया जाता ? इस रीति से यहां पूर्व में कहे हुए, और आगे कहे

ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे प्रमाणेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यश्चान्यानि प्रमाणानि । विस्तरभयादेव तु नेह तेषां प्रातिस्विकोल्लेखः क्रियते । नच मीमांसादर्शनसूत्राणां प्रामाण्ये भूमिकाधारी विप्रतिपत्तुं शक्नोति, भाष्याभासभूमिकायाम् 'बेदविषयविचारविषय' इत्युपक्रमे मीमांसादर्शनसूत्रयोः 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् (अ० ४ पा० ३ सू० १) द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् (अ० ४ पा० ३ सू० ८) इत्यनयोः स्वयमेव प्रमाणतया तेनोपन्यस्तत्वात् । एवमनेकत्र भाष्याभासभूमिकायामेव तेन पूर्बमीमांसादर्शनसूत्राणि प्रमाणतयोपन्यस्तानीति कृतन्तदुपन्यासविस्तरेण । एवमुत्तरमीमांसादर्शनेऽपि बोध्यम् । उक्तयोश्च मीमांसयोर्ब्राह्मणवाक्यावलम्बिनां सर्वेषामधिकरणानां वर्णकानां च प्रत्येकमिहोद्धरणे च कियदूनं दर्शनद्वयमेवोद्धृतं स्यादिति ग्रन्थमहागौरवं स्यादिति सम्भवतः सार्द्धान्यष्टौ शतानि तान्यधिकरणानि ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे प्रमाणानीत्युक्त्वैव विरम्यते ।

तदेवम् प्रबोधोक्तान्यष्टादश । अत्रपरिगणितानि चतुःपञ्चाशं शतम्-प्रमाणस्थेषु त्रिषु वाक्येषु चरमे द्वे--अन्तिमाङ्कसूचितानि सार्धान्यष्टौशतानि इति ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे चतुर्बिंशं सहस्रं प्रमाणानि ।

ब्राह्मणभागस्य बेदत्वे सिद्धे 'सर्वेषां मन्त्राणां साक्षादेवेश्वरस्तुतिपरत्वम्' । 'भागवतादि

॥ भाषा ॥

जाने बाले सब परिगणित प्रमाणों से अतिरिक्त अर्थात् उक्त दर्शनों में सैकड़ों अधिकरण क्या ? प्रायः सब ही अधिकरण, ब्राह्मणभाग के बेद होने में अटलप्रमाण हैं । और स्वामी को यह भी कहने का अवसर नहीं है कि मैं उक्त दर्शनों को प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि अपने बेदभाष्यभूमिका नामक ग्रन्थ पृष्ठ ४७ में 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु०' अ० ४ पा० ३ ॥ सू० १ ॥ 'द्रव्याणां तु क्रियार्थानाम्०' अध्या० ४ पा० ३ ॥ सू० ८ ॥ इन मीमांसासूत्रों को उन्हों ने स्वयं प्रमाण दिया है और ऐसे ही अनेक स्थानों पर मीमांसादर्शन के अन्यान्य सूत्रों को भी प्रमाण दिया है । ऐसे ही उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) में भी प्रायः ब्राह्मणवाक्यों ही पर अधिकरण और बर्णक हैं । और दोनों मीमांसादर्शनों के ब्राह्मणवाक्यावलम्बी उन सब अधिकरणों और बर्णकों को यहां उद्धृत करने में ग्रन्थ का बहुत ही बिस्तार हो जायगा । परन्तु वे सब अधिकरण ब्राह्मणभाग के बेद होने में प्रमाण हैं इस लिये उनकी न्यून से न्यून सङ्ख्या यहां दिखलायी जाती है कि वे आठ सौ पचास ८५० प्रमाण, ब्राह्मणभाग के बेद होने में हैं ।

अब ध्यान देना चाहिये कि ब्राह्मणभाग के बेद होने में एक सहस्र चौबीस १०२४ प्रमाण हैं कि पूर्व ही उद्धृत प्रबोध में कहे १८, बिशेषरूप से गिने १५४, प्रमाणस्थ तीन वाक्यों में प्रमाण दो २, अन्तिम अङ्क से सूचित ८५०, कुल जुमला १०२४ । और इन प्रमाणों के बल से ब्राह्मणभाग का बेद होना पूर्णरूप से सिद्ध हो गया और इस (ब्राह्मणभाग के बेदत्व सिद्ध होने) से यह भी सिद्ध हुआ कि अलस पुरुषों को प्रसन्न और प्रवृत्त करने के लिये कर्म में सुगमता दिखला कर स्वामी ने अपने स्वतन्त्रबिहार के योग्य जिन इन नये २ मनमाने कल्पितबिषयों को अपने ग्रन्थों में गढ़ रक्खा है कि "सब मन्त्रों का साक्षात् ही परब्रह्म की स्तुति में तात्पर्य है "१ "जब ब्राह्मणभाग बेद ही नहीं है तब तन्मूलक भागवतादिपुराण प्रमाण नहीं हैं" २ "यज्ञ सब होमबिशेषरूप ही हैं अर्थात् उन का वह स्वरूप

पुराणानां च न प्रामाण्यम्' । 'यज्ञाश्च होमविशेषरूपा एव नतु ब्राह्मणभागोक्तप्रकाराः' 'धर्मोऽपि सत्यादिसामान्यधर्मभिन्नो वर्णाश्रमादिविशेषानुबन्धी प्रायो न प्रामाणिकः' इत्यादीनि क्रियालाघवप्रदर्शनमूलकपरमालसलोकप्ररोचनामात्रैकफलानि सर्वानर्थसार्थसमर्थीनि भूमिकाविधायिनः स्वैरविहारस्थानानि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसदाचारैः पञ्चाग्निभिः प्रमाणतर्कगर्भतात्पर्यज्वालाजालजटिलैः प्रज्वलय्य भस्मभूयमनुभावितानि विभावनीयानि। ग्रन्थतो वेदानामियत्ता च भूमिकाविधायिमतेन सप्ताष्टमन्त्रसंहितामात्रविश्रान्ता वेददुर्गसज्जनस्यान्ते वेदस्य ग्रन्थतो महत्त्वोपपादनेन भस्मसाद्भूतेति तु तत्रैवावलोकनीयम् ।

तस्मात्—

सप्तुन्नमन्मानसहस्रमेया करस्फुरत्कङ्कणकान्तिकल्पा ।
मिथ्या कथं ब्राह्मणवेदतेयं स्यात्स्वामिदुष्कल्पनजल्पनाभ्याम् ॥१॥

यदपि भूमिकायाम् —

वेदविषयविचारविषय इत्युपक्रमे—

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः स सर्वः क्रियामयोऽस्ति नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः । कुतः । बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात् । सचानेकविधोऽस्ति। परन्तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः । एकः परमपुरुषार्थसिध्यर्थोऽर्थाद्य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनो-

॥ भाषा ॥

नहीं है जो कि ब्राह्मणभाग में विहित है" ३ "सत्य आदि सामान्यधर्म ही धर्म हैं जिन में कि सब मनुष्यों का अधिकार है अर्थात् शास्त्र में कहे हुए वर्ण और आश्रम के धर्मों में भी मनुष्यों का अधिकार है इस कारण वे भी सामान्यधर्म ही हैं निदान, वर्ण और आश्रम के विशेषधर्म प्रायः प्रामाणिक नहीं हैं" ४ "इत्यादि, वे विषय भी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, सदाचार, रूपी पञ्चाग्नि की, प्रमाणतर्कगर्भिततात्पर्यरूपी ज्वालामाला से भस्मीभूत हो कर इतस्ततः उड़ गये। और "ये चार पांच मन्त्रसंहिता ही वेद हैं अर्थात् वेद का इतना ही परिमाण है इस से अधिक नहीं" यह स्वामी का कथन तो वेददुर्गसज्जन के वेदमहत्त्वप्रकरण में, और इस प्रकरण में भी पुनः २ शतशः चूर्णित ही हो गया, इस से अब यही कहना अवशिष्ट है जो कि कहा जाता है कि—

"सप्तुन्नमन्मान०" अ० पूर्वोक्त के अनुसार एक सहस्र बीस १०२४ प्रमाणों से सिद्ध हो कर करकङ्कण की शोभा के तुल्य प्रत्यक्षरूप से विराजती हुई यह ब्राह्मणभाग की वेदता, स्वामी के, पूर्वोक्त और दूषित कतिपय अनुमानों से कैसे मिथ्या हो सकती है ? ॥१॥

ऐसे ही स्वामी ने अपनी भूमिका के "वेदविषयविचारविषय" प्रकरण पृष्ठ ४६ में जो यह लिखा है कि "उन में से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है जिस के बिना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है । वह अनेक प्रकार का है परन्तु उस के दो भेद मुख्य हैं एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार अर्थात् पहिले से परमार्थ, दूसरे से लोक व्यवहार की सिद्धि करनी होती है । प्रथम जो परमपुरुषार्थरूप से कहा उस में परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उस के सब शक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्त्तन उपदेश और श्रवण करना (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न हो कर उस की सत्यभाषणादि

पासनाऽऽज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तेत अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते। स यदा परमेश्वरप्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदा श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसञ्ज्ञां लभते। अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्। यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सोऽपरः सकाम एव भवति। अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात् स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधादिपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् सँस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते। स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्य्येव भवति। यत्र भोजनाच्छादनपानकलाकौशलयन्त्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति। अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्। द्रव्यसँस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्॥ अ० ४ पा० ३ सू० १॥ द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां सँस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्॥ अ० ४ पा० ३ सू० ८॥ अनयोरर्थः। द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत्त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्तव्यम्। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसङ्ख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसम्पादनार्थं सँस्कारः कर्तव्यः। यथा सूपादीनां सँस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे सँस्थाप्याग्नौ प्रतप्य

॥ भाषा ॥

आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जलयोगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये, तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है न्यायाचरण उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ कर सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना है। इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है। और दूसरा यह है कि जिस से पूर्वोक्त अर्थ काम और उन की सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूट कर केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना, यही निष्काम मार्ग कहाता है क्योंकि इस में संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती इसी कारण से इस का फल अक्षय है और जिस में संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं उस को सकाम कहते हैं इस हेतु से इस का फल नाशवान् होता है क्योंकि सब कर्मों कर के इन्द्रियभोगों को प्राप्त हो कर जन्ममरण से नहीं छूट सकता सो अग्निहोत्र से ले कर अश्वमेधपर्यन्त जो कर्मकाण्ड है उस में चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक सुगन्धगुणयुक्त जो कस्तूरी केसरादि हैं, दूसरा मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं, तीसरा पुष्टिकारकगुणयुक्त जो घृत दुग्ध और अन्न आदि है, और चौथा रोगनाशकगुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि आदि हैं। इन चारों का परस्पर शोधनसंस्कार और यथायोग्य मिला कर अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करने वाला होता है इस से सब जगत् को सुख होता है और जिस को भोजन छाजन बिमानादियान कलाकुशलता यन्त्र और सामाजिकनियम होने के लिये करते हैं वह अधिकांश से कर्ता को ही सुख देनेवाला होता है।

इस में पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है (द्रव्य०) एक तो द्रव्य दूसरा संस्कार और तीसरा उन का यथावत् उपयोग करना ये तीनों बात यज्ञ के कर्ता को अवश्य करनी चाहिये सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्ध द्रव्य और

सधूमे जाते सति तत्सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बध्वा प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमस्ताष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन्सर्वं सूपं सुगन्धमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति। तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति। अतश्चोक्तम्। यज्ञोऽपि तस्य जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति॥ ऐ० ब्रा० पं० १ अ० २॥ जनानां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् सँस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति। कुतः। तस्य परार्थत्वात्। यज्ञः परोपकारायैव भवति। अतएव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति। तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः सँस्कारो भवति स एव क्रतुधर्मो बोध्यः। एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति। इत्युक्तम्।

तदेतत् शास्त्रानध्ययनफलम्।

(१) द्रव्यं सँस्कारः कर्म च यज्ञकर्त्रा कर्तव्यमित्यर्थे "यज्ञसँस्कारकर्मसु" इति सौत्रसप्तम्यर्थलोपप्रसङ्गात्। अनुवादिका विभक्ति र्ह्येषा न प्रथमेव विधेयतां प्रयोक्तुमलम्। एवं च कर्तव्यपदाध्याहारोऽपि तद्विरुद्ध एव।

(२) एवं परार्थत्वादित्यस्यार्थोपि तदुक्तो न युक्तः। न हि यत्स्वार्थमुद्दिश्य क्रियते

॥ भाषा ॥

घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा कर उस में छौंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं क्योंकि उस सुगन्धद्रव्य और घी के अणु उन को सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ानेवाले कर देते हैं वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुख करता है इस से वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है। इस में ऐतरेयब्राह्मण का भी प्रमाण है कि (यज्ञोपित०) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार के लिये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है वह भी आनन्द को प्राप्त होता है। क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करैगा उस को उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा इस लिये यज्ञ का 'अर्थवाद' यह है कि अनर्थदोषों को हटा कर जगत् में आनन्द को बढ़ाता है परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठविद्या अवश्य होनी चाहिये सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सब को उत्तम फल प्राप्त होता है विशेष करके यज्ञकर्ता को, अन्यथा नहीं"।

यह कथन भी शास्त्रों के न पढ़ने का फल है क्योंकि—

खं०—(१) यदि उक्त सूत्र (द्रव्य०) का "द्रव्य, संस्कार और कर्म ये तीनों यज्ञकर्ता को करना चाहिये" यह अर्थ हो तो 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु' यह आकार, सूत्र के शब्द का न होगा क्योंकि 'सु' इस सप्तमीविभक्ति का अर्थ है 'में' जिस के अनुसार यह अर्थ होना चाहिये कि 'कर्म में' और स्वामी का उक्त अर्थ मानने में तो 'कर्माणि' यह रूप हो जायगा। तथा 'करना चाहिये' यह अर्थ भी नहीं हो सकैगा क्योंकि सूत्र में इस का बोध कराने वाला कोई शब्द ही नहीं है।

खं०—(२) 'परार्थ' शब्द का जो जगत् का अत्यन्त उपकार अर्थ किया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वार्थ ही के लिये जो काम किया जाता है उस से यदि पराया उपकार हो

तदनुषङ्गात्परोपकारमात्रेण परार्थमुच्यते न हि गृहद्वारद्योतनार्थं स्थापितो दीपो रथ्याद्योतन-मात्रात्परार्थ उच्यते । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात् । होमोऽपि चात्मार्थं क्रियते । होमानां यज्ञाङ्गतया, यज्ञानां च स्वर्गकामादिश्रुतिभिर्यजमानार्थतयैव विधानात् । ऐतरेय-वाक्यं त्वानुषङ्गिकज्ञानफलानुवादमात्रम् ।

(३) अपि च । एवं विदित्युक्त्या होतृसमवेतस्य ज्ञानस्य जनतोपकारः फलमिति लभ्यते तच्च होत्रा यज्ञानुष्ठानावृत्तिद्वारेण सर्वेषामेव यजमानानामुपकार इत्यभिप्रायेणोप-पद्यत एवेति नेदं वाक्यं भूमिकोक्तार्थलाभे मानम् ।

(४) किञ्च । भोजनादावपि कथञ्चित्परार्थत्वस्य सत्त्वादेवमर्थापने परार्थपदोपा-दानस्यैव व्यवच्छेद्यविरहेण नैरर्थक्यं स्यात् ।

(५) अन्यच्च । उक्तसूत्रस्यैतदर्थाङ्गीकारे "उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वा" दिति तदुत्तर-सूत्रानुत्थानप्रसङ्गो दुर्वार एव, सङ्गतिविरहात् ।

॥ भाषा ॥

भी जाय तो इतने मात्र से वह काम परार्थ नहीं कहा जाता, जैसे अपने गृहद्वार मात्र की शोभा और प्रकाश के लिये दीप का जलाना, इतने मात्र से परार्थ नहीं कहा जाता कि उस दीप के प्रकाश से गली में चलने वालों का उपकार भी होता है । ऐसे ही होम को भी यज्ञकर्ता अपने ही लिये करता है क्योंकि होम, यज्ञ का अङ्ग है और यज्ञ, 'स्वर्गकामो यजेत' आदि वैदिक विधिवाक्यों के अनुसार यजमान ही के लिये किये जाते हैं । और 'तथैव यज्ञात्' यह ऐतरेय ब्राह्मणवाक्य (जिस को स्वामी ने लिखा है) भी किसी कर्म का विधान नहीं करता किन्तु यज्ञ के उस फल का अनुवाद मात्र करता है जो कि उस यज्ञ से प्रसङ्गतः हो जाता है ।

खं०—(३) पूर्वोक्त ब्राह्मणवाक्य में 'होता' नामक ऋत्विक् का 'एवं वित्' (ऐसा जानने वाला) कहा है इस से यही तात्पर्य निकल सकता है कि 'होता' के ज्ञान से सब लोगों का उपकार होता है अर्थात् जो ही उस से यज्ञ कराता है उसी को उस यज्ञ का ठीक फल होता है निदान उक्तवाक्य के अनुसार स्वामी ने जिस प्रकार के लोकोपकार को यज्ञों का फल बतलाया है वह भी ठीक नहीं है ।

खं०—(४) स्वामी के कथनानुसार यदि यज्ञों को परार्थ माना जाय तो उसी प्रकार से भोजन आदि सभी काम परार्थ हो जायंगे क्योंकि भोजन आदि यद्यपि अपने ही तृप्ति आदि फलों के लिये किये जाते हैं तथापि पुरुष उन (भोजन आदि) के द्वारा बलवान् हो कर पराया उपकार करता ही है तो ऐसी दशा में स्वार्थ क्रियाओं की अपेक्षा यज्ञों में विशेष ही क्या है जिस से वे परार्थ कहे जायँ, इस रीति से सूत्र में 'परार्थ' शब्द व्यर्थ ही हो जायगा ।

खं०—५) 'द्रव्यसँस्कार०' इस सूत्र के स्वाम्युक्त अर्थ में यह भी दोष है कि उस के अनन्तरोक्त 'उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात्' ॥२॥ इस सूत्र का उत्थान ही नहीं होगा क्योंकि इस का यह अक्षरार्थ है कि उत्पत्तिवाक्य में पुरुष प्रधान नहीं है इस से फलश्रुति अर्थवाद है । यहां यह बात स्पष्ट है कि इस अर्थ के साथ स्वामी के कहे हुए पूर्वसूत्रार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है इस से यह सूत्र ही असङ्गत हो जायगा ।

(६) किञ्च । चतुर्थे लक्षणं हि प्रयोगलक्षणम् तत्राप्ययं फलचिन्ताचरणो यस्येदमादिमं सूत्रम् । अत्र चरणे चोनचत्वारिंशत्सूत्राणि, अष्टादशचाधिकरणानि । तत्र चैकस्यास्य सूत्रस्यैवं स्वेच्छयोच्छृङ्खलार्थकरणे स्पष्टमेव प्रसजन्त्या अपरेषां सूत्राणामसङ्गतेरपाकरणाय तेषां सूत्राणामर्थाः सङ्गतयः प्रयोजनानि चान्यान्यानि भूमिकाविधायिनोऽवश्यवाच्यान्यापद्यन्ते । अन्यथा तेषामानर्थक्यमसङ्गतत्वमप्रयोजनकत्वं च स्यात् । तानि च भूमिकाभृता नोक्तानीति प्रतितत्तत्सूत्रमुक्तदोषत्रयावृत्तिः । तथाच यथा परेषां सूत्राणां शावराद्युक्ता एवार्थास्तथैकस्यास्य सूत्रस्यापीति भूमिकोक्तोयमर्थो गगनकुसुमायते ।

(७) अपि च । एवमर्थकरणे सर्वेषामेव वैदिककर्मणां गुणकर्मताऽऽपत्तौ गुणप्रधानकर्मविभागानुपपत्त्या तद्विभागबोधकसूत्रैः सह विरोधो दुरुपरोधएवस्यात् । भूमिकोक्तरीत्या यज्ञमात्रस्य गुणकर्मतया प्रधानकर्मसम्भवस्यैवाभावात् तथाच—

मीमांसादर्शने अ० २ पा० १ ॥ सूत्राणि—

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥ ६ ॥

॥ भाषा ॥

खं०—(६) पूर्वमीमांसादर्शन के समस्त चतुर्थ अध्याय में प्रयोग (कौन कर्म यज्ञों का और कौन पुरुषों का साक्षात् उपकारी है) का विचार है और उस के तृतीय पाद में फल के वाक्यों का विचार है और उसी पाद का यह (द्रव्यसंस्कार०) प्रथम सूत्र है और उस पाद में १८ अधिकरण (निर्णय) हैं जो कि ३९ सूत्रों से किये गये हैं । अब ध्यान देना चाहिये कि जब स्वामी ने इस एक सूत्र का अर्थ अपना मनमाना किया तब अवशिष्ट ३८ सूत्रों की सङ्गति टूट गयी क्योंकि इस प्रथम सूत्र के जिस अर्थ के साथ उन सूत्रों के अर्थ का सम्बन्ध है उस अर्थ को स्वामी ने छोड़ दिया तो ऐसी दशा में उन ३८ सूत्रों का भी अर्थ पृथक् २ कहना अत्यावश्यक था जिस से कि वे ३८ सूत्र असङ्गत और व्यर्थ न होते परन्तु स्वामी ने ऐसा न किया जिस से वे प्रत्येक सूत्र अर्थशून्य, निष्फल और असङ्गत भी हो गये जिस से कि स्वामी का व्याख्यान बालकों की क्रीडा (खड़ी ईंटों की पङ्क्ति में पहिली ईंट के गिराने मात्र से पङ्क्ति की कुल ईंटों का पड़पड़ा कर गिरना) ही है।

और इसी कारण से अनन्यगति हो कर उन सूत्रों का वही अर्थ यथार्थ स्वीकार करना पड़ेगा जो कि शावरभाष्य आदि प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थों में कहा हुआ है जिस में कि अर्थशून्यता आदि कोई दोष नहीं हैं । और उस के अनुसार 'द्रव्यसँस्कार०' इस सूत्र का भी वही अर्थ सत्य है जो कि शावरभाष्य आदि में किया हुआ है न कि स्वामी का कहा हुआ यह कौतुकमय अर्थ, जो कि पूर्वोक्त अनेक दोषों से दुष्ट है ।

खं०—(७) "द्रव्यसँस्कार०" सूत्र का स्वाम्युक्त अर्थ यदि माना जाय तो गुणकर्म और प्रधानकर्म ये दो बिभाग कर्मों के जो जैमिनिमहर्षि के किये हुए हैं वे कदापि नहीं हो सकते क्योंकि सभी यज्ञकर्म जब जलवायु आदि की शुद्धि ही के लिये हैं तब द्रव्य के प्रधान होने से कोई यज्ञकर्म, प्रधान नहीं हुआ किन्तु सभी यज्ञ गुणकर्म ही हो गये इस रीति से स्वामी के अर्थ में कर्मविभाग के उन सूत्रों का विरोध दुर्वार है जो कि ये हैं कि—

पू० मी० द० अध्या० २ पा० १—

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥ सू० ६ ॥

बृ० व्रीहीनवहन्तीत्यादौ सर्वत्र आख्यातान्तादेवापूर्वं भावाख्याताधिकरणन्यायादिति बहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । तानीति । तानि आख्यातानि द्वैधं द्विप्रकाराणि क्वचिद् द्रव्यं प्रति गुणभूतानि क्वचिद् द्रव्यं प्रति प्रधानानि च ॥ ६ ॥

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ ७ ॥

बृ० द्वैविध्यं व्युत्पादयति । यैरिति । यैः आख्यातान्तैः द्रव्यं संस्कार्यत्वेन न चिकीर्ष्यते तानि आख्यातान्तवाच्यानि कर्माणि यागदानादीनि द्रव्यं प्रति प्रधानानि । यथा स्वर्गकामो यजेत, हिरण्यं ददातीति । तत्र द्रव्यस्य गुणभूतत्वाल्लोकतः गुणत्वेन क्लृप्तत्वात् ॥ ७ ॥

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयते तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ॥ ८ ॥

बृ० यैः कर्मभिः द्रव्यं संस्कार्यत्वेन चिकीर्ष्यते तत्र धात्वर्थः गुणः प्रतीयते तस्य धात्वर्थस्य द्रव्यप्रधानत्वात् द्रव्यं प्रधानं यस्य तत्त्वात् । यथा व्रीहीनवहन्ति तण्डुलान्पिनष्टी त्यादौ वितुषीभावरूपदृष्टफलसम्भवान्नादृष्टकल्पनेति भावः ॥ ८ ॥ बृ० ।

(८) एवं प्रत्यक्षसिद्धानां सलिलशुद्ध्यादीनामेव यज्ञफलत्वं नतु स्वर्गादीना मित्यभ्युपगच्छन् भूमिकाधारी प्रच्छन्नचार्वाक एव । कार्यकारणभावादौ कस्मिँश्चिदंशे शब्द-

॥ भाषा ॥

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ सू० ७ ॥
यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयते तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ॥ सू० ८ ॥

अर्थ—वैदिककर्म दो प्रकार के होते हैं गुणकर्म, (द्रव्यों के अधीन कर्म) और प्रधानकर्म, (द्रव्य जिन के अधीन होते हैं) । प्रधानकर्म वे हैं जो कि द्रव्यों के सँस्कार (शुद्धि) के लिये नहीं किये जाते किन्तु स्वर्गादिरूपी फल ही के लिये । जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' में याग, और 'हिरण्यं ददाति' (सोना दे) इस में दान, इत्यादि, क्योंकि ऐसे स्थानों पर द्रव्य, कर्म ही के अधीन होते हैं ॥ ७ ॥ जो कर्म द्रव्यों के सँस्कार (शुद्धि) के लिये किये जाते हैं वे गुणकर्म हैं जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' (धान कूटे) 'तण्डुलान् पिनष्टि' (चावल पीसे) इत्यादि में व्रीहि तण्डुल आदि के सँस्कारार्थ कूटना, पीसना, इत्यादि । क्योंकि यहां कूटना आदि क्रिया का फल द्रव्यशुद्धि ही है न कि स्वर्गादि, इसी से क्रिया, द्रव्य के अधीन है और व्रीहि आदि द्रव्य ही प्रधान हैं ८ ।

खं०—(८) 'जल वायु आदि की शुद्धिरूप प्रत्यक्ष ही फल यज्ञों के हैं न कि स्वर्गादिरूपी अप्रत्यक्ष फल' इस, स्वामी के सिद्धान्त से यह निःसन्देह सिद्ध है कि स्वामी, प्रच्छन्नरूप से चार्वाक ही हैं जिन को लौकायतिक भी कहते हैं क्योंकि उन का भी यही सिद्धान्त है कि प्रत्यक्ष से अन्य और कोई अर्थात् अनुमान, शब्द आदि प्रमाण नहीं है । और पूर्वमीमांसादर्शन, तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शन इन दोनों वैदिकदर्शनों के आचार्यों (जैमिनिमहर्षि, तथा उन के गुरू भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास) का तो एक मुख से यही कथन है कि वेद का मुख्य तात्पर्यार्थ वही है कि जो वेद तथा उस के अनुसारी प्रमाण से अन्य किसी प्रमाण से कदापि नहीं ज्ञात हो सकता और ऐसे अर्थ में वेद ही प्रमाण है । जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवाक्य ही स्वर्ग में स्वतन्त्रप्रमाण है और याग यद्यपि प्रत्यक्षसिद्ध है तथापि स्वर्ग आदि फल के प्रति याग की कारणता (कारण होना) उक्त वेदवाक्यों ही से ज्ञात होती है अर्थात् उक्त कारणता में भी उक्त

तदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणागम्ये एव प्रधान्येन प्रतिपिपादयिषिते वेदप्रामाण्यस्य वैदिकदर्शनाचार्यैर्बादरायणप्रभृतिभिर्महर्षिभिर्निर्णीतत्वात् । तथा च मीमांसादर्शनस्य-

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ अ० १ पा० १ । सू० ५

इति सूत्रे 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्य' इत्युक्तम् । अस्य सूत्रस्यार्थस्तु पूर्वमेव वेददुर्गसज्जने विवृतस्तत्रैवावलोकनीयः ।

अतएव ॥ मी० द० अ० १ पा० ३ ॥

विरोधेत्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥ ३ ॥

इति सूत्रे वार्तिके—

भट्टपादाः—

लौकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत्कर्म विद्यते ।
यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद्दृष्टार्थं हि कुर्वते ॥ १ ॥
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः ।
अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

विधिवाक्य ही स्वतन्त्रप्रमाण है और इसी कारणता का नाम धर्मत्व है जिस से याग, धर्म है। ऐसे ही 'चित्रया यजेत पशुकामः' (पशुओं को चाहने वाला चित्रा याग करे) इत्यादि वाक्यों में यद्यपि पशु और याग दोनों प्रत्यक्ष हैं तथापि पशुलाभ के प्रति, चित्रा याग की कारणता उक्त वाक्य ही से ज्ञात होती है अर्थात् उस कारणता में उक्त वाक्य ही स्वतन्त्रप्रमाण है । इस रीति से उक्त स्वर्गादि फल, तथा उक्त प्रकार की कारणता ही वेद का मुख्य तात्पर्यार्थ है । इसी से "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" (पू० मी० द० अध्या० १ पा० १ सू० ५) में जैमिनिमहर्षि ने "अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्य" (लौकिक प्रमाणों से जिस अर्थ, अर्थात् स्वर्गादिरूपी फल और उस के प्रति कारणता आदि का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता उस अर्थ में वैदिक विधिवाक्य स्वतन्त्र-प्रमाण हैं । यह मत बादरायण अर्थात् भगवान् कृष्णद्वैपायन का है) कह कर अपना मत पृथक् नहीं प्रकाश किया जिस से यह स्पष्ट है कि जैमिनिमहर्षि का भी यही मत है । और इस सूत्र के तात्पर्य का पूर्ण वर्णन वेददुर्गसज्जन में पूर्व हीं हो चुका है । और यह कभी नहीं ध्यान करना चाहिये कि स्वामी का पूर्वोक्त कथन अतिनवीन है क्योंकि लौकायतिक (चार्वाक) का मत पहिले (भगवत्पाद अर्थात् स्वामी शङ्कराचार्य से प्रथम पूज्यपाद भट्टपाद कुमारिलस्वामी के समय में) भी था जैसा कि पू० मी० द० अध्या० १ पा० ३ "विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥३॥" इस सूत्र के भट्टवार्तिक में छ श्लोकों (जो कि संस्कृतभाग में ऊपर लिखे हैं) से यह कहा है कि-

'लौकायतिक०' यह प्रसिद्ध बात है कि लौकायतिक मूर्खों का दूसरा काम ही नहीं है किन्तु यही काम है कि पारलौकिक फल के देने वाले जितने कर्म हैं उन सब को वे (लौकायतिक) लौकिक ही फल के लिये करते हैं ॥ १ ॥

'वैदिकान्यपि०' वे यह समझते हैं कि वैदिककर्मों का भी जलवायुशुद्धि आदि

तेभ्यश्चेत्प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित् ।
नच कश्चन मुञ्चेयुर्धर्ममार्गं हि ते तदा ॥ ३ ॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत्क्वचन मर्कटाः ।
नाभिद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे ॥ ४ ॥
क्वचिद्दत्तेऽवकाशे हि स्वोत्प्रेक्षालब्धधामभिः ।
जीवितुं लभते कस्तै स्तन्मार्गपतितः स्वयम् ॥ ५ ॥
तस्माल्लोकायतस्थानां धर्मनाशनशालिनाम् ।
एवं मीमांसकैः कार्यं न मनोरथपूरणम् ॥ ६ ॥ इति

(९) किञ्च । क्रतुधर्मो बोध्य इत्यर्थो पि हेय एव, क्रतुधर्मत्वादित्यनुवादकहेतुपञ्चमीविरोधात् ।

(१०) अपि च । क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायत इति विवरणमपि निर्मूलमसम्भवग्रस्तं च, जायत इत्यस्य बोध्य इत्यनेन विरुद्धत्वात् । धर्मत्वादितिपञ्चमीविरोधाच्च ।

॥ भाषा ॥

लौकिक ही फल हैं न कि स्वर्गादि, (जैसा कि स्वामी का मत है) । और थोड़े से अवसर पाने पर भी वेद में विरोध लगा देते हैं जैसे किसी से यज्ञ ठीक करते न बन पड़ा इस कारण उस को वेदोक्त फल न हुआ तो यह कहने लगते हैं कि वेदोक्त सब मिथ्या ही हैं इत्यादि ॥ २ ॥

'तेभ्यश्च०' यदि कहीं मीमांसकों ने उन को अवसर दे दिया तो वे किसी धर्ममार्ग को नाश किये विना नहीं छोड़ सकते क्योंकि– ॥ ३ ॥

'प्रसरं०' वानर वा पिशाच जब तक कहीं अवसर नहीं पाते तभी तक मनुष्य पर नहीं दौड़ते ॥ ४ ॥

'क्वचिद्दत्ते०' और यदि कोई अपने ही प्रमाद से उन को अवसर दे कर उन के मार्ग में जा पड़ा तो कौन ऐसा है कि जो उन के मारे अपना जीवनलाभ कर सकता है ॥ ५ ॥

'तस्मात्०' इस लिये धर्म के नाश करने वाले लौकायतिकों के मनोरथ को किसी छोटे से छोटे अंश में भी पूर्ण करना मीमांसकों को कदापि नहीं उचित है ॥ ६ ॥

तस्मात् चार्वाकों की अपेक्षा स्वामी में इतना ही विशेष है कि यह अपनी, आस्तिकों में गणना मात्र कराने के लिये बर्त्तमानसमय में प्रचलित चार पांच मन्त्रसंहिता मात्र को वेद मान कर प्रमाण मानते हैं किन्तु उन को भी अपने मनमाने ही अर्थों में प्रमाण कहते हैं । परन्तु यह विशेष और भी अधिक अनर्थकारी है क्योंकि आस्तिक बन कर चार्वाक के सिद्धान्त का प्रचार कर, भोले भाले आस्तिकों की प्रतारणा करते हैं ।

खं०—(९) द्वितीय सूत्र में 'क्रतुधर्म' का जो यह अर्थ किया है कि 'पुरुष और द्रव्य के संस्कार अर्थात् होमरूपी यज्ञ ही के द्वारा धर्म अर्थात् फल होता है' वह भी नहीं हो सकता क्योंकि उक्त सूत्र में 'क्रतुधर्मः' नहीं कहा है किन्तु 'क्रतुधर्मत्वात्' कहा है जिस में 'आत्' इस पञ्चमी विभक्ति का 'क्योंकि' अर्थ है जो कि वैसा अर्थ करने में छूटता और असङ्गत हो जाता है ।

खं० —(१०) अनन्तरोक्त अर्थ में कोई मूल भी नहीं है और उस अर्थ होने का संभव भी नहीं है तथा 'होता है' इस अर्थ का वाचक शब्द भी उक्त सूत्र में नहीं है ।

(११) एवम् । किन्तु पुरुषाणां चेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव, 'तु' शब्दविरुद्धश्च ।

(१२) किञ्च । एवमर्थकरणे "पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठेते" त्युत्तरसूत्रानुत्थानापत्तिर्दुर्वारैव ।

(१३) अपि च । भूमिकोक्तयोः सूत्रार्थयोरुभयोरेतदध्यायविरोधव्याधिराचिकित्स्य एव । क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वयोरेव प्रयोगलक्षणे तत्र प्रकृतत्वात् तथाच क्रमेणाधिकरणद्वयम् यत्र भूमिकोपन्यस्तं सूत्रद्वयम् ।

द्रव्यसंस्कारकर्म्मणां क्रत्वर्थत्वम् अधि० १ ॥

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ १ ॥

वृ० यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीति, यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते इति, यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियतइति । किमेते फलमुद्दिश्य विधीयन्ते उतार्थवादा इति संशये सिद्धान्तमाह । द्रव्येति । द्रव्यसंस्कारप्रधानकर्मविधिषु

॥ भाषा ॥

खं०—(११) जब उक्त पूर्वसूत्र 'द्रव्याणां तु' में 'तु' (तो) शब्द है जिस से 'द्रव्यों का तो' यही अर्थ हो सकता है न कि 'द्रव्यों का भी' जिस से पुरुषों का भी बोध हो। और इस सूत्र में 'च' अथवा 'अपि' (भी) शब्द नहीं है जिस से कि 'भी' अर्थ हो कर 'द्रव्यों का भी' यह अर्थ हो, जिस से कि पुरुषों का भी बोध हो कर पुरुषों के संस्कार का लाभ हो तब ऐसी दशा में इस सूत्र के अक्षरों से पुरुषों का संस्कार निकालना सर्वथा अज्ञान ही है।

खं०—(१२) द्वितीय सूत्र का स्वाम्युक्त अर्थ यदि माना जाय तो 'पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठेत' पू० मी० द० अध्या० ४ पा० ३ सू० ८ ॥ (ब्राह्मण के ज्योतिष्टोम का प्रकार क्षत्रिय आदि के ज्योतिष्टोम से अन्य ही है इसी से दुग्धपान का व्रत ब्राह्मण ही के ज्योतिष्टोम में होता है) इस अनन्तर सूत्र का उत्थान ही नहीं होगा क्योंकि इस के अर्थ के साथ पूर्वसूत्र के स्वाम्युक्त अर्थ का कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

खं०— (१३) स्वामी के कहे हुए दोनों सूत्रों के अर्थ स्वीकार करने में उक्त दोनों सूत्र असङ्गत हो कर चतुर्थ अध्याय ही से निकल जायँगे क्योंकि इस अध्याय में इसी का विचार है कि कौन कर्म यज्ञार्थ और कौन पुरुषार्थ है। और इस दोष के स्पष्ट करने के लिये उन दो अधिकरणों का उपन्यास इस अवसर में अत्यावश्यक है जिन में कि पूर्वोक्त दोनों सूत्र हैं इस लिये वे दोनों अधिकरण संक्षेप से दिखलाये जाते हैं।

अधिकरण—(१) 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' (जिस की जुहू 'जिस से होम होता है' ढाक की होती है वह कदापि अपनी दुष्कीर्ति नहीं सुनता) 'यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते' (जो आंखों में अञ्जन देता है वह मानों शत्रु की आंखें निकालता है) 'यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते, वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते' (जो प्रयाज नामक अङ्गभूत यज्ञ किये जाते हैं वह, मानों प्रधान यज्ञ को वर्म अर्थात् कवच धारण कराया जाता है जिस से कि विघ्नरूपी बाणों का प्रवेश उस में न हो)। इन वेदवाक्यों में यह सन्देह है कि क्या ये वाक्य, दुष्कीर्तिनिवारण आदि फलों के लिये ढाख की जुहू आदि का नवीन विधान करते हैं ? अथवा अर्थवाद हैं, अर्थात् फल दिखला कर उन की प्रशंसा मात्र करते हैं ? और इसी संशय में निर्णयार्थ पूर्वोक्त प्रथम सूत्र यह है कि-

क्रमेण उदाहृतवाक्येषु श्रुतिः फलश्रुतिः अर्थवादः परार्थत्वात् पर्णमयीत्वादीनां प्रकरणेन क्रत्वर्थत्वात् ॥ १ बृ० ।

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥ २ ॥

बृ० ननु पुरुषमुद्दिश्य फलं न स पापं श्लोकं शृणोतीति, विधीयेत कथमर्थवाद इत्यत आह । उत्पत्तेरिति । उत्पत्तेः उत्पत्तिवाक्यस्य अतत्प्रधानत्वात् पुरुषप्रधानत्वाभावात् । अयं भावः । यस्य पर्णमयी जुहूः तस्यापापश्लोकश्रवणमिति । अत्र जुह्वा अपि पुरुषमुद्दिश्य श्रवणं तुल्यं यस्येति पुरुषग्रहणादिति, जुह्वा एव फलत्वं किं नस्यादिति । अनुमानादिना तत्फलत्वस्य निरासो भाष्यादितो ज्ञेयः विस्तरभयान्नोपन्यस्यते ॥ २ ॥

पयोव्रतादीनां क्रतुधर्मत्वम् । अधि० ४ ।

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात् ॥ ८ ॥

बृ० ज्योतिष्टोमे श्रूयते, पयोव्रतं ब्राह्मणस्येति । इदं व्रतं, पुरुषार्थं क्रत्वर्थं वेति

॥ भाषा ॥

"द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" ॥ १ ॥ इस का यह अर्थ है कि इन, जुहू आदि द्रव्यों के संस्कारकर्म कहनेवाले वाक्यों में जो दुष्कीर्तिनिवारण आदि फलों के बोधक श्रुति 'वेद' वाक्य अर्थात् 'न स पापं श्लोकं शृणोति' आदि वाक्य हैं वे अर्थवाद ही हैं क्योंकि ढाख की होना आदि जो जुहू आदि द्रव्यों के संस्कार हैं वे प्रकरण के अनुसार यज्ञ ही के उपकारी हैं अर्थात् यज्ञ ही के प्रकरण में वे कहे हुए हैं इसी से उक्त फलों के लिये इन का विधान नहीं है किन्तु यज्ञ ही के लिये, और उक्त फलश्रुतिवाक्य, उक्त विधानों ही की प्रशंसा करते हैं इति ।

इस सिद्धान्त पर ये प्रश्न हैं कि—

जब पुरुष के उद्देश से इन वाक्यों में फल की श्रुति है तब क्यों ये वाक्य फल के लिये विधान न करें ?

और क्यों वे विधान, पुरुषों के भी उपकारी न हों ?

तथा क्यों फल की श्रुतियां अर्थवाद हों ?

इन हीं प्रश्नों के उत्तर में, उक्त सूत्र के अनन्तर यह सूत्र है कि—

"उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात्" ॥ २ ॥

इस का अर्थ यह है कि उक्त फलश्रुतियां अर्थवाद ही हैं क्योंकि इन उत्पत्ति (श्रुति) यों में विशेषरूप से यह नहीं कहा है कि 'इन फलों के लिये इन कर्मों को करै' किन्तु वर्तमान ही रूप से कहा है अर्थात् इन वाक्यों में 'लिङ्' आदि, विधान के शब्द नहीं हैं इति । इस पर अधिक विचार देखना हो तो शाबरभाष्य आदि में देखना चाहिये ।

अधि०—(४) ज्योतिष्टोमयज्ञ के प्रकरण में 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य' (दुग्धपानव्रत ब्राह्मण का है) यह वाक्य है, इस में यह सन्देह है कि यह व्रत पुरुष का धर्म (उपकारी) है अथवा यज्ञ का ? यहां पूर्वपक्ष यह है कि यह व्रत पुरुष ही का धर्म है, क्योंकि प्रकरण यद्यपि यज्ञ का है तथापि उक्त वाक्य में पुरुष (ब्राह्मण) ही कहा गया है और प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रबल होता है । इस पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ—

"द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात्" ॥ ८ ॥

संशये षष्ठ्या पुरुषस्य प्रधानत्वात् पुरुषार्थमिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह । द्रव्याणामिति । क्रियार्थानां ज्योतिष्टोमादिष्वधिकृतानां द्रव्याणां संस्कारः । क्रतुधर्मत्वात् । क्रतुविधौ पाठेन प्रयोगविधिपरिगृहीतत्वात् ॥ ७ ॥

पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठेत ॥ ९ ॥

बृ० ननु ब्राह्मणस्येति किमर्थमत आह । पृथक्त्वादिति । ब्राह्मणक्षत्रियादिप्रयोगाणां पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठते ब्राह्मणकर्तृके पयएवेति ॥ ९ ॥

(१४) किञ्च । वायुशुद्ध्यादेरेव यज्ञप्रयोजनत्वे "स्वर्गकामो यजेते" त्यादिविधिवाक्यसहस्रपीडनप्रसङ्गस्योद्भटत्वात् तदभिधायिनि भूमिकाविधायिनि सुलभैव नामास्तिकनामधारणा ।

एतेन भूमिकायाम् ४८ । ४९ पृष्ठयोः "अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा

॥ भाषा ॥

यह पूर्वोक्त सिद्धान्तसूत्र है । इस का यह अर्थ है कि यज्ञकर्ता पुरुष के शरीरधारण और बल के लिये उक्त व्रतरूपी संस्कार है वह यज्ञ ही का धर्म है क्योंकि यज्ञ के प्रकरण में कहा हुआ है और यदि वाक्य के अनुसार यह व्रत, पुरुष का धर्म माना जाय तो इस के फल की कल्पना ऊपर से करनी पड़ैगी क्योंकि इस वाक्य में इस का फल नहीं कहा है, इस से गौरव होगा और इस को यज्ञधर्म स्वीकार करने में प्रकरण वाले ज्योतिष्टोमयज्ञ ही का फल, इस का भी फल है क्योंकि यह व्रत यज्ञ ही का अङ्ग है इस रीति से फल की कल्पना न करने के कारण इस पक्ष में लाघव है और गौरवरूपी दोष ही से ऐसे अवसर पर वाक्य ही दुर्बल होता है इसी से प्रकरण के अनुसार यही निर्णय है कि यह व्रत, ज्योतिष्टोमरूपी क्रतु (यज्ञ) ही का धर्म है न कि पुरुषरूपी द्रव्य का । इति ।

इस सिद्धान्त पर यह प्रश्न है कि यदि उक्त व्रत, पुरुष का धर्म नहीं है तो उक्त वाक्य में 'ब्राह्मणस्य' (ब्राह्मण का' क्यों कहा गया ? इस प्रश्न के उत्तर में—

"पृथक्त्वाद् व्यवतिष्ठेत" ॥ ९ ॥

यह अग्रिमसूत्र है, इस का यह अर्थ है कि व्यवस्था (नियम) के लिये 'ब्राह्मणस्य' कहा जाता है, वह व्यवस्था यह है कि दुग्धव्रत ज्योतिष्टोमयज्ञ का अङ्ग है परन्तु उसी ज्योतिष्टोम का, जो कि ब्राह्मण ही का किया हुआ हो न कि क्षत्रिय आदि का इति ।

अब यह स्पष्ट हो गया कि यदि पूर्वोक्त सूत्रों का स्वामिकृत अर्थ स्वीकार किया जाय तो अपने २ उत्तर सूत्रों के साथ उन का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और ऐसी दशा में ये दोनों अधिकरण ही टूट जायँगे और इसी से पूर्वोक्त दोनों सूत्र इस अध्याय ही से बहिष्कृत हो जायँगे।

खं० —(१४) यदि स्वामी के मतानुसार जल वायु आदि द्रव्यों की शुद्धि ही यज्ञों का फल माना जाय तो 'स्वर्गकामो यजेत' आदि सैकड़ों वैदिक विधिवाक्यों से विरोध पड़ जायगा क्योंकि उन में स्वर्ग आदि ही, यज्ञों के फल साक्षात् कहे हुए हैं और ऐसे वेदविरुद्ध कथन से यही कहना पड़ैगा कि स्वामी महाशय नाम मात्र के आस्तिक हैं । और इसी से वह भी परास्त हो गया जो कि स्वामी ने अपनी उक्त भूमिका पृष्ठ ४८ । ४९ में कहा है कि—

"इस में शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि [अग्ने०] जो होम करने के द्रव्य अग्नि

एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति (श० का० ५ अ० ३)। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" । तै० उ० आनन्दबल्ली १ अनु ० इति वाक्ययोरुक्तार्थे प्रमाणतयोपन्यासोऽपि निरस्तः । उक्तवाक्ययोरनुवादकतया यज्ञानां तन्मन्त्रार्थकताया विधिवाक्यविरोधेनैव ताभ्यां दुर्लभत्वात् ।

यत्तु तत्रैवोपक्रमे—

"यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्तव्यं नानृतमिति यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्तते स पापीयान् भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्तव्य इतीयमप्यज्ञासेनैव दत्ताऽस्ति तामपि य उल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान् सन् क्लेशवाँश्च भवति इति" ।

तत्तु हास्यास्पदमेव ।

तन्मते मन्त्रभागस्यैव वेदतया तत्र च तादृशाज्ञाबोधकपदाभावात् । ब्राह्मणभागस्य

॥ भाषा ॥

में डाले जाते हैं उन से धूआं और भाफ उत्पन्न होते हैं क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उन को भिन्न २ कर देता है फिर वे हलके हो के वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं उन में जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है इन दोनों के योग का नाम धूम है । जब वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिल कर बादल हो उन से वृष्टि, वृष्टि से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर, शरीर से कर्म बनता है । और इस विषय में तैतिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि [तस्माद्वा०] परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं और उन में ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि, उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं, यहां ब्रह्म का नाम अन्न, और अन्न का नाम ब्रह्म भी है क्योंकि जिस का जो कार्य है वह उसी में मिलता है वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्थाएं होती हैं और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है इस से अन्न को ब्रह्म कहते हैं जब होम से वायु, जल और औषधि आदि शुद्ध होते हैं तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सब को दुःख होता है इस से इन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिये" ।

क्योंकि शतपथ और तैत्तिरीय के दोनों वाक्यों में कोई लिङादिरूपी शब्द, विधान करने वाला जब नहीं है तब वे लोकसिद्ध अर्थ के अनुवादक ही हैं इसी से वे वैदिक विधिवाक्यों की अपेक्षा दुर्बल हैं तो ऐसी दशा में उन का यह अर्थ नहीं हो सकता कि जल वायु आदि की शुद्धि ही यज्ञों का फल है, क्योंकि इस अर्थ में स्वर्गादिरूपी फलों के प्रतिपादक 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों से विरोध दुर्वार ही हो जायगा । ऐसे ही अपनी उक्त भूमिका के पृष्ठ ५० में, "जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादिधर्म के व्यवहार करने की आज्ञा दी है मिथ्याभाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है वह अत्यन्त पापी होता है और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उस को क्लेश भी होता है वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है इस को जो नहीं करता वह भी पापी हो कर दुःख का भागी होता है" । जो यह लिखा है, वह भी अज्ञान ही का

वेदत्वे सिद्धान्तपक्षेऽपि तत्प्रकरणे पूर्वोक्तस्तेऽत्रैव मन्त्राणामनभिधायकमात्रताया निर्णीतत्वात्।

यदपि तत्र—

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमात्रेणैव सिद्ध्यति पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थः क्रियते । अत्र ब्रूमः । एतस्यान्यदेव फलमस्ति । किम् । यथा हस्तेन होमो नेत्रेण दर्शनं त्वचा स्पर्शनं च क्रियते तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते । तत्पाठेनेश्वर-स्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते । होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च । अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्येत्युपदेशः । यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम् । कश्चिदत्राह । वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तत्र क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति । अत्रोच्यते । नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत्प्रयोजनं सिध्यति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात्, निरतिशयसत्याविरहाच्च । यद्यद्धि यत्र क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम् । यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद्बहिरिति च । अत्रार्थे मनुराह—त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।

॥ भाषा ॥

परिणाम है क्योंकि ब्राह्मणभाग के वेद होने में पूर्वोक्त प्रमाण के अनुसार जब मन्त्रभाग, विधान ही नहीं करता और स्वामी के मत में मन्त्रभाग मात्र ही वेद है तब वेद में ईश्वर की आज्ञा कहां से आयी ।

स्वामी ने अपनी उक्त भूमिका के पृष्ठ ५७ में यह कहा है "प्र० होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है? उ०—उन के पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है । प्र०—वह क्या है ? । उ०—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते, और त्वचा से स्पर्श करते हैं वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं क्योंकि उन के पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है तथा होम से जो २ फल होते हैं उन का स्मरण भी होता है वेदमन्त्रों के बार २ पाठ करने से कण्ठस्थ रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाय, क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उस की प्रार्थना सर्वत्र होती है इस लिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों ही से करना उचित है" तथा पृष्ठ ५८ "प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़ दूसरे का पाठ करे तो क्या दोष है ? उ०—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ईश्वर के बचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रान्तिरहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि आप्तपुरुषों के ग्रन्थों का बोध और उन की शिक्षा से वेदों को यथावत् जान के कहता है उस का भी वचन सत्य ही होता है और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक २ नहीं हो सकता इस से यह निश्चय है कि जहां २ सत्य दीखता और सुनने में आता है वहां २ वेदों में से ही फैला है और जो २ मिथ्या है सो २ वेद से नहीं किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता। इस विषय में मनु का प्रमाण है कि [त्वमे०] मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयम्भू जो

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो॥१॥अ०१ श्लो०३॥ चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥२॥ बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्। तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥३॥ अ०१२ श्लो०९७,९९॥ इति।

तदपि हेयमेव।

(१) मन्त्राणामविधायकतायाः पूर्वमुक्ततया तेषां होमफलबोधकत्वायोगात्।

(२) किञ्च—कश्चिदत्राहेत्यादिनाऽऽपादितो दोषोऽपि दुरुद्धर एव। तथाहि। मन्त्रेष्वीश्वरोक्तत्वप्रयुक्तो लौकिकवाक्यव्यावृत्तः को नाम विशेषः। दृष्टोऽदृष्टो वा। दृष्टश्चेत् सोऽपि सत्यार्थप्रतिपादकत्वरूपो, माधुर्यादिगुणरूपो वा। यद्याद्यस्तर्हि तत्समानार्थकलौकिकवाक्यापेक्षया तत्र न कोऽपि विशेष इति स दोषस्तदवस्थ एव। यदि द्वितीयस्तदा तु न वैयर्थ्यमात्रं कर्मसु मन्त्रपाठस्य, अपि त्वकार्यत्वमापद्येत। मन्त्रवाक्यान्यपेक्ष्याभिनवरचितेषु तत्समानार्थकेषु काव्यभूतेषु—

"रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा
देयं किमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतमनसो मनसोऽस्ति दैन्यम्
दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण" ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

सनातन वेद हैं जिन में असत्य कुछ भी नहीं और जिन में सब सत्य विद्याओं का विधान है उन के अर्थ को जानने वाले केवल आप ही हैं ॥ १ ॥ [चातु०] अर्थात् चार वर्ण, चार आश्रम, भूत भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥२॥ क्योंकि [बिभर्त्ति०] यह जो सनातन वेद शास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त करता है इस कारण से हम लोग उस को सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है"।

वह भी ठीक नहीं है क्योंकि—

खं०—(१) जब कि ब्राह्मणभाग के वेद होने में पूर्वोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि मन्त्र, विधान नहीं करते, तब मन्त्रों से फल का बोध ही नहीं हो सकता।

खं०—(२) पृष्ठ ५८ के प्रश्न का उत्तर भी ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वरोक्त होने के कारण मन्त्रों में क्या विशेष है ? अर्थात् क्या कोई अनुभवसिद्ध विशेष है" अथवा कोई ऐसा विशेष है जो कि अलौकिक है ? यदि अनुभवसिद्ध विशेष है तो क्या वह सत्य अर्थ का प्रतिपादन करना ही है ? अथवा मधुरता आदि गुणरूपी ? यदि सत्य अर्थ का प्रतिपादन करना ही विशेष है तो मन्त्र के समानार्थक लौकिक वाक्यों में भी वह विशेष वर्तमान ही है इस कारण उन लौकिक वाक्यों की अपेक्षा मन्त्रों में कुछ भी विशेष नहीं है इस से प्रश्नोक्त दोष ठीक ही है। और यदि वह विशेष माधुर्यादिरूपी ही है तो इतना ही नहीं है कि मन्त्र व्यर्थ हो जायँगे किन्तु यह भी है कि लौकिक वाक्यों के पाठ से अधिक फल होने के कारण यज्ञों में मन्त्रों का पाठ ही नहीं होना चाहिये क्योंकि मन्त्रवाक्यों की अपेक्षा रस, गुण, रीति, अलंकार आदि अनेक चमत्कारी विशेष, काव्यरूपी लौकिक वाक्यों में अधिक होते हैं इस से मन्त्रों के उच्चारण की अपेक्षा उन काव्यवाक्यों ही के उच्चारण में अधिक फल है। जैसे मानसी पूजा में दक्षिणादान का

इत्यादिवाक्येषु गुणरामणीयकातिशयस्य स्फुटतया तदुपेक्षाया अन्याय्यत्वात्। अदृष्टश्चेत्तदा त्वन्ते रण्डेति न्यायेन सर्वास्तिकसम्मतयज्ञादृष्टाभ्युपगम एव युक्तः। अदृष्ट-स्वीकारात्स्वमतविरोधश्च।

(३) एवम् निरतिशयसत्यविरहाच्चेति हेतुरप्यसिद्धः अर्थबाधाभावे सत्यत्वानपायात्। निरतिशयत्वस्य च दृष्टमुपकारं प्रत्यप्रयोजकत्वात्। अदृष्टोपकारस्य च स्वयमेवानभ्युपगमात्।

(४) अपि च "त्वमेक" इत्यादिमानवपद्यत्रयोपन्यसनमपि 'श्रुतं हरति पापानी' ति न्यायेन पारायणमात्रम्, एतत्प्रकरणसंस्पर्शविरहात्। को हि नामास्तिको वेदा असत्या इत्याद्याचष्टे यं प्रत्ययमुपन्यासः किन्तु यदि मन्त्रपाठेन न किञ्चिददृष्टं साध्यते तदा

॥ भाषा ॥

"रत्नाकरोऽस्ति०" यह लौकिक वाक्य है जो कि ऊपर संस्कृतभाग में लिखा है इस का यह अर्थ है कि हे भगवन्! आप के क्षीरसमुद्ररूपी गृह में, ऐसे कोई रत्न नहीं हैं जो न हों और लक्ष्मी देवी (जिन को ब्रह्मदेव पर्यन्त सभी लोग चाहते हैं) आप की गृहिणी ही हैं और यह भी नहीं है कि वेश्यों के नाईं आप, केवल धनी मात्र हैं किन्तु आप में जगत् के सृष्टि स्थिति संहार की शक्ति भी है और लोक की मर्यादा भी यही है कि जो पदार्थ जिस के वश्य नहीं रहता वही उस को देना चाहिये अन्यथा देने का फल ही क्या है? ऐसी दशा में मैं (आप का अकिञ्चन भक्त) जब यह विचार करता हूं कि आप के लिये क्या दूं? तो यही निर्णय कर पाता हूं कि "राधा देवी ने आप के मन को हरण कर लिया इस कारण आप मन से रहित हैं और मेरे समीप मन इन्द्रिय है इस लिये अपना मन आप को दूं अर्थात् सदा के लिये अपना मन आप में लगा दूं" तस्मात् हे भगवन् मैंने आप के लिये इस अपने मनरूपी दक्षिणा को समर्पण कर दिया आप इसे ले कर सदा ही अपने में लगाये रहिये इति।

अब ध्यान देना चाहिये कि स्वामी, दक्षिणादान के लिये किसी ऐसे वैदिक मन्त्र को कदापि नहीं दिखला सकते जिस में कि ऐसा अभिप्राय वा गुण हो तो ऐसी दशा में उन के मतानुसार दक्षिणादान के सभी मन्त्र व्यर्थ हो जायँगे। और यदि वैदिकमन्त्रों में लौकिक-वाक्यों की अपेक्षा अलौकिकशक्तिरूपी विशेष माना जाय तब तो यज्ञों का भी अलौकिक फल (जो कि सब वैदिकों के सम्मत है) ही स्वीकार के योग्य है क्योंकि इस में कोई विशेष नहीं दिखलाया जा सकता है कि जिस के अनुसार मन्त्रों की अलौकिकशक्ति मानी जाय और यज्ञों के अलौकिक फल न माने जायँ। तथा उक्त अलौकिकशक्ति के स्वीकार से स्वामी की प्रतिज्ञा का भङ्ग हो जायगा।

खं०—(३) जब मन्त्र के समानार्थक लौकिकवाक्य के अर्थ सत्य ही हैं तब उस वाक्य के सत्य होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता और इस लौकिकवाक्य का अर्थ, जैसे प्रत्यक्षादिरूपी लौकिकप्रमाण से निश्चित होता है वैसे ही मन्त्र से भी, क्योंकि स्वामी के मत में मन्त्रों से भी लौकिक ही अर्थ का बोध माना जाता है।

खं०—(४) इस अवसर में स्वामी का, मनुस्मृति के 'त्वमेक०' आदि इन तीन श्लोकों का पढ़ना भी धर्ममात्र के लिये है अर्थात् इस प्रकरण में उस की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि कौन आस्तिक यह कहेगा कि वेद असत्य है, कि जिस के ऊपर इन श्लोकों का पढ़ना

प्रत्यग्रनिर्मितेन रसरीतिगुणालङ्कारसम्पन्नेन मितमृदुलाक्षरेणान्तर्भावितमन्त्रार्थेन च काव्येनैव मन्त्रप्रयोजनान्यथासिद्ध्या मन्त्राणामानर्थक्यापत्तिरित्येवाक्षिपति, तत्र चाकिञ्चित्कर एवैष श्लोकत्रयोपन्यासः । इत्यलम्—

स किं स्वर्गतरुः कोपि यस्य पुष्पं निशाकरः
मातस्ते कीदृशा वृक्षा येषां मुक्ताफलं फलम् ॥१॥

इत्याद्यर्भकोक्तिप्रतिरूपिकासु भूमिकाऽऽभासोक्तिषु मानतर्कसंधुक्षितातिरूक्षप्रतीप-कटाक्षनिःक्षेपणंति दिक् ।

इति वेदप्रामाण्ये क्षुद्रोपद्रवविद्रावणम् ।

अथ परिखापरिष्कारः ।

तदेवम्—सुसज्जितस्य बहुदूरविद्रावितनिखिलवाह्यक्षुद्रोपद्रवकदम्बकस्य च वेददुर्गस्य जलधरा इव सप्त परिखा जाग्रति तत्र सुरपितृभूसुरप्रभृतिभिर्महाशयहंसैरुपसेविताभिरर्थकाम-लक्षणैरानुषङ्गिकैः पद्मवृन्दैर्यत्रतत्रालङ्कृताभिरगाधाभिश्च धर्मप्राधान्यरूपाभिरद्भिः पूर्णा-स्तिस्रोऽन्तःपरिखाः स्मृतिः, सदाचार, आत्मतुष्टिश्चेति । एवं सकललोकोपलालिताभि-र्यत्र तत्र धर्मकमलशण्डमण्डिताभिरतलस्पर्शाभिरर्थकामप्राधान्यलक्षणाभिर्वार्भिः पूरिता-

॥ भाषा ॥

सफल होगा। और प्रकृत में तो यही आक्षेप किया जाता है कि 'मन्त्रपाठ से यदि कोई अलौकिक फल नहीं होता तो मन्त्र के समानार्थक, रस रीति गुण अलंकार से संयुक्त और नये तुले कोमल अक्षर वाले नवीन काव्यवाक्य ही से मन्त्रों की अपेक्षा अधिक फल सिद्ध होने से मन्त्र, व्यर्थ ही हो जायँगे' और इस आक्षेप का समाधान स्वामी के मतानुसार इन श्लोकों से कुछ भी नहीं हो सकता ।

और जब स्वामी की नाममात्रधारी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सम्पूर्ण ही बालकोक्ति की नाईं निर्मूल और निःसार ही है तब उस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता कुछ नहीं है जितना विचार यहां तक किया गया उस भूमिका के लिये यही अधिक है ।

यहां तक 'क्षुद्रोपद्रवविद्रावण' प्रकरण समाप्त हो गया ।

❀ अब परिखापरिष्कार नामक प्रकरण का आरम्भ किया जाता है । ❀

धर्मराजसज्जन नामक प्रथम प्रकरण में वर्णित धर्ममहाराज का वेदरूपी दुर्ग, (किला) वेददुर्गसज्जन नामक द्वितीय प्रकरण में सुसज्जित हुआ और उस से दूरवर्ती क्षुद्र २ (छोटे २) उपद्रव भी भगा दिये गये अब उक्त वेददुर्ग की परिखा (खाई) ओं का परिष्कार (बीच की मट्टी निकालना आदि) इस तीसरे प्रकरण में किया जाता है । उक्त वेददुर्ग की सात समुद्रों के समान अगाध और अक्षय सात परिखाएं हैं जिन में तीन परिखाएं वेददुर्ग के अभ्यन्तर (भीतर) हैं जिन का यथाक्रम स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि ये तीन नाम हैं और इन में देवता, पितर, ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि अनेक जाति के हंसों की मण्डलियां (झुण्ड) सदा विहार करती रहती हैं और रंग बिरंग के, अर्थ, कामरूपी विचित्र कमलों के कमनीय कानन जहां तहां उन के बीच अपनी २ मनोहर शोभाओं से उन को सुशोभित करते रहते हैं और ये परिखाएं धर्म के प्रधान्यरूपी अतिमधुर, सर्वोपकारी अथाह जल से सदा परिपूर्ण ही रहती है । ऐसे ही वेददुर्ग की बाह्य

श्चतस्रो बहिःपरिखाः आयुर्वेदो, धनुर्वेदो, गान्धर्ववेदो, ऽर्थवेदश्चेति यानुपवेदानाचक्षते। तत्र स्मृतिः वेदातिरिक्तदशविद्यारूपा चतुर्दशविद्या हि प्रोक्ता —

आचाराध्याये याज्ञवल्क्येन—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥३॥ इति।

अस्यार्थः पुराणं, ब्राह्मादि वक्ष्यमाणम्। न्यायः, गौतमीयं काणादं कापिलं पातञ्जलमिति चतुर्विधम् प्रमाणादिनिरूपणशास्त्रम् गौतमादिप्रणीतम्। मीमांसा, जैमिनिप्रणीता कर्ममीमांसा, शाण्डिल्यप्रणीता भक्तिमीमांसा, बादरायणप्रणीता ब्रह्ममीमांसा च। धर्मशास्त्रं ब्रह्ममन्वादिप्रणीतम् इमान्येव चत्वार्युपाङ्गान्याचक्षते। अङ्गानि, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति। एतैरुपेताश्चत्वारो वेदाः। एतानि चतुर्दश, विद्यानां स्वर्गापवर्गसाधनकर्मब्रह्मज्ञानानां स्थानानि निमित्तानि धर्मस्य च निमित्तानि एतत्प्रमित एव धर्म इति एतासामेव धर्मस्थानत्वमित्युक्तम् इति। अत्र च न्यायमीमांसयोरेव षड्दर्शनान्तर्भाव इत्युक्तप्रायम्।

अङ्गिरसाऽपि—

स्वाभिप्रायकृतं कर्म यत्किञ्चित् ज्ञानवर्जितम्।
क्रीडाकर्मेव बालानां तत्सर्वं निष्प्रयोजनम् ॥ इति।

अत्र च ज्ञानवर्जितम् शास्त्रीयज्ञानवर्जितमिति कल्पतरुः।

एवमर्थकामयोर्विषयेऽप्यायुर्वेदादीनां चतसृणामपि विद्यानामावश्यकत्वम्।

॥ भाषा ॥

परिखाएं चार ४ हैं जिन के नाम आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद हैं तथा इन को उपवेद भी कहते हैं और इन के बीच सब प्राणी बिहार करते हैं तथा इन में जहां तहां धर्मरूपी कमलों की मालाएं भी अपनी २ सुहावनी छायाओं से अच्छी २ छटा दिखलाती रहती हैं और ये परिखाएं अर्थ, काम, के प्राधान्यरूपी मधुर अगाध जल से सदा भरी रहती हैं। इन में प्रथम परिखा स्मृति है जो कि वेद से अतिरिक्त दशविद्यारूपी है क्योंकि याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय में 'पुराणन्याय०' श्लोक से चौदह विद्याएं कही हैं जिस का अर्थ यह है कि पुराण १ (ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण आदि) न्याय २ (गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, इन महर्षियों का कृत, प्रमाणादि का निरूपणरूपी चार ४ दर्शनशास्त्र) मीमांसा ३ (जैमिनिमहर्षि की कर्ममीमांसा, (दर्शन) शाण्डिल्यमहर्षि की भक्तिमीमांसा और भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास की ब्रह्ममीमांसा, जिस को बेदान्तदर्शन भी कहते हैं) धर्मशास्त्र ४ (ब्रह्मदेव और मनुआदि का प्रणीत) (ये चार विद्याएं उपाङ्ग कहलाती हैं) शिक्षा ५ कल्प ६ व्याकरण ७ निरुक्त ८ छन्द ९ ज्यौतिष १० (इन शिक्षा आदि ६ विद्याओं को अङ्ग भी कहते हैं) इन दश विद्याओं से सहित चार ४ बेद (ऋग्वेद १ यजुर्वेद २ सामवेद ३ अथर्ववेद ४) ये चौदह १४, बिद्या (अपने हित अहित का यथार्थज्ञान और ब्रह्मज्ञान)ओं तथा धर्म के स्थान 'प्रमाण' हैं इति। तथा अङ्गिरामहर्षि ने भी 'स्वाभिप्रायकृत०' इस श्लोक से यह कहा है कि शास्त्रीय ज्ञान के बिना जो कुछ कर्म अपने बिचारमात्र से किया जाता है वह सब बालकों के क्रीडाकर्म के नाईं निष्फल ही है इति। ऐसे ही अर्थ और काम के

तदुक्तम्—

यस्त्वविज्ञातशास्त्रेण कदाचित्साधितं भवेत् ।
नैव तद्बहुमन्तव्यं घुणोत्कीर्णमिवाक्षरम् ॥ इति ।

स्मृतिशब्दस्योक्तदशविद्यावाचकत्वे प्रमाणं तु—

आचाराध्याये—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ ७ ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनमेव (अस्यार्थस्तु बेददुर्गसज्जनस्यारम्भे पूर्वमुक्तः) । अत्र स्मृतिपदस्य ब्रह्ममन्वादिप्रणीतधर्मशास्त्रमात्रपरत्वे पुराणन्यायेत्यादिना पूर्वोक्तवाक्येन सह विरोधो दुष्परिहर एव स्यात् । तत्र चतुर्दशानामपि विद्यानां धर्मस्थानत्वस्यात्र च श्रुतिः स्मृतिरिति पञ्चानामेव विद्यानां धर्ममूलत्वस्य प्रतिपादनात् एतादृशविरोधपरिहाराय चात्र स्मृतिपदेन दशानामपि विद्यानां ग्रहणस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । अतएव व्याकरणस्मृतिरित्यादिको ग्रन्थकाराणां व्यवहारोऽपि सङ्गच्छते सङ्गच्छते च स्मृतिप्रामाण्यनिरूपणप्रकरणे व्याकरणप्रामाण्यनिरूपणं जैमिनीयम् । एवं स्मृतिपदस्य विशेषतो ब्रह्ममन्वादिप्रणीतधर्मशास्त्रवाचकत्वमपि ।

॥ भाषा ॥

विषय में भी आयुर्वेद आदि पूर्वोक्त चार विद्याओं की अति आवश्यकता है इसी से 'यस्त्वविज्ञात०' इस श्लोक में यह कहा है कि जो काम, शास्त्र के बिना जाने किये जाते हैं वे यदि दैवयोग से सिद्ध भी हो जायँ तो उन का आदर नहीं करना चाहिये क्योंकि वे घुण (क्रमिविशेष, जिस को घुन कहते हैं) से लिख गये हुए अक्षर के तुल्य हैं अर्थात् जैसे काठ (शहतीर आदि) में घुन के चालने से कदाचित् ककार आदि अक्षरों के स्वरूप की रेखा खिंच जाने पर भी घुन, लेखक नहीं कहला सकता वैसे शास्त्रीयज्ञान के बिना किये हुए कर्म कदाचित् सिद्ध होने से उस कर्म का करने वाला मनुष्य आदरयोग्य नहीं होता । इसी को घुणाक्षरन्याय कहते हैं ।

प्रश्न—इस में क्या प्रमाण है कि पूर्वोक्त पुराण आदि दश विद्याओं का 'स्मृति' नाम है ? बरुक यह इस के विरुद्ध प्रसिद्ध ही है कि धर्मशास्त्र ही का 'स्मृति' नाम है ।

उ०—आचाराध्याय का 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्' ॥ ७ ॥ यह याज्ञवल्क्यमहर्षि का वचन ही (जिस का अर्थ बेददुर्गसज्जन में पूर्व ही कहा जा चुका है) उक्त विषय में प्रमाण है क्योंकि इस वाक्य में 'स्मृति' शब्द से यदि केवल धर्मशास्त्रमात्र का ग्रहण किया जाय तो 'पुराणन्याय०' ३ इस पूर्वोक्त उन्हीं के वाक्य से विरोध इस कारण पड़ जायगा कि वहां उक्त महर्षि ने पुराणादि चतुर्दश विद्याओं को धर्म में प्रमाण कहा है और यहां ५ (चारो बेद और धर्मशास्त्र) ही को । और इस विरोध के परिहार का एकमात्र यही उपाय है कि यहां 'स्मृति' शब्द से पुराणादि दश विद्याओं का ग्रहण किया जाय और 'श्रुति' शब्द से चारो बेदों का ग्रहण कर यहां भी चौदह विद्याओं को धर्म में प्रमाण कहा जाय । इसी से 'स्मृति' शब्द से व्याकरण आदि अङ्गों का ग्रन्थकारों ने अनेक स्थानों पर व्यवहार किया है तथा जैमिनिमहर्षि ने भी पूर्वमीमांसादर्शन के स्मृतिप्रकरण में व्याकरण आदि अङ्गों के प्रामाण्य का निरूपण किया है । और 'स्मृति' पद ब्रह्मदेव आदि के

तथाच अध्याये २ मनुः—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥ इति

नचैकस्य शब्दस्य सामान्यविशेषोभयवाचकत्वमदृष्टचरम् पञ्चपञ्चब्राह्मणवाचिनोरपि गौडद्राविडपदयोर्ब्राह्मणविशेषवाचकत्वदर्शनात् । ननु यदि चतुर्दशैव विद्यास्तर्हि कथम्-

विष्णुपुराणे—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥

इत्यष्टादशविद्या उक्ताः । कथं चायुर्वेदादीनां चतसृणां विद्यानामपि न स्मृतित्वम् न हि ताः श्रुतय इति चेन्न विद्यानामष्टादशत्वेऽपि स्वर्गापवर्गसाधनकर्मब्रह्मज्ञानैकस्थानभूतानां धर्मप्रधानानामेव विद्यानां याज्ञवल्क्येन महर्षिणा चतुर्दशतया परिगणनम् विष्णुपुराणे तु दृष्टार्थप्रधानाश्चतस्र आयुर्वेदादिविद्या अपि संकलय्याष्टादशतया परिगणनमित्यविरोधात्। चतुर्दश हि विद्या अनुषङ्गेण यत्र तत्रार्थकामौ प्रतिपादयन्त्योऽपि प्राधान्येन धर्ममेव प्रतिपादयन्ति आयुर्वेदाद्यास्तु चतस्रोऽनुषङ्गतो धर्मं प्रतिपादयन्त्योऽपि प्राधान्यादर्थकामावेव

॥ भाषा ॥

प्रणीत धर्मशास्त्रमात्र का भी वाचक है इसी से मनु० अध्या० २ में "श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः" १० (वेद को श्रुति समझना चाहिये, और धर्मशास्त्र को स्मृति) यह कहा है।

प्रश्न—यह कहां देखा गया है कि जो शब्द, सामान्य का वाचक है वही विशेष का भी विशेषरूप से वाचक है ?

उत्तर—ऐसा देखा जाता है जैसे सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड, मैथिल और उत्कल इन पांच प्रकार के ब्राह्मणों का वाचक गौड शब्द, गौड ब्राह्मणों का भी विशेषरूप से वाचक है तथा गुर्जर, द्राविड, महाराष्ट्र, तैलङ्ग और कर्णाट इन पांच प्रकार के ब्राह्मणों का वाचक द्राविड शब्द, द्राविड ब्राह्मणों का भी विशेषरूप से वाचक है वैसे ही पुराण १ न्याय २ मीमांसा ३ धर्मशास्त्र ४ शिक्षा ५ कल्प ६ व्याकरण ७ निरुक्त ८ छन्द ९ और ज्यौतिष १० का वाचक स्मृति शब्द, केवल धर्मशास्त्र का भी वाचक है।

प्रश्न—यदि विद्या चौदह ही हैं तो "अङ्गानि वेदाः०" "आयुर्वेदो०" इन विष्णुपुराण के वाक्यों में पूर्वोक्त चौदह विद्याओं की गणना कर, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र की गणना के अनुसार अठारह १८ विद्याएं क्यों कही गईं ? और ये आयुर्वेद आदि चार विद्याएं (जिन को उपवेद कहते हैं) भी स्मृति क्यों नहीं हैं ? क्योंकि क्या ये श्रुति हैं ?

उत्त०—यद्यपि विद्याएं अठारह हैं तथापि उन में से उन्हीं चौदह विद्याओं का याज्ञवल्क्यमहर्षि ने गणना किया है कि जिन में प्रधानरूप से धर्म ही का उपदेश है और विष्णुपुराण में आयुर्वेद आदि ऐसी चार विद्याओं की भी गणना है जिन में कि प्रधानरूप से लौकिक अर्थ और काम का निरूपण है इसी से विष्णुपुराण के प्रथम वाक्य में याज्ञवल्क्यमहर्षि की कही हुई

प्रतिपादयन्तीति परस्परव्यावृत्तं स्वभावद्वयं सर्वबुधजनप्रसिद्धम् । अतएवोक्ते विष्णुपुराणे- "विद्या ह्येताश्चतुर्दश" "विद्या ह्यष्टादशैव ताः" इति द्वैराश्येन परिगणनद्वयं विरुद्धसंख्याऽवरुद्धमपि स्वीकृतम् अन्यथा तत्रैव मिथोविरोधस्य दुर्वारत्वात् । उक्ता विरोधपरिहार-सरणिर्यथा विष्णुपुराणपद्ययोर्मिथोविरोधमुद्धरति तथैव पुराणन्यायेत्यादियाज्ञवल्क्यवाक्य विरोधमपि । एतत्सूचनायैव च याज्ञवल्क्यवाक्येन धर्मस्य च स्थानानीत्युक्तम् तस्य हि प्राधान्येन धर्मप्रतिपादकानीत्येवार्थः स्मृतिपदेन क्वचिद्व्यवहृतत्वाच्चार्थकामप्रधानानां चरमाणां चतसृणां न स्मृतित्वम् न हि श्रुतिभिन्नत्वमात्रं स्मृतित्वे प्रयोजकम्, काव्यादीनामपि स्मृतित्वप्रसङ्गात् । अतो धर्मप्रधानेऽस्मिन्निबन्धे पूर्वोक्तदशविद्यात्मकस्मृतिप्रामाण्यमवसर-समर्पितमिदानीं निरूप्यते । तथा हि-

अथ स्मृतिप्रामाण्यम् ।

मी० अ० १ पा० ३ अधि० १ ॥

पूर्वपक्षे—

धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्ष्यं स्यात् ॥ सू० १ ॥ इति

अत्र वृत्तिः

उक्तदिशा विध्यर्थवादमन्त्राणां धर्मे प्रामाण्यं व्यवस्थाप्येदानीं स्मृतिशिष्टाचाराणां धर्मे प्रामाण्यं व्यवस्थापयन् पूर्वपक्षमाह । धर्मस्येति । धर्मस्य उक्तलक्षणलक्षितस्य शब्दः

॥ भाषा ॥

विद्याओं को गिना कर "विद्या ह्येताश्चतुर्दश" (ये चौदह विद्याएं हैं) कहा है और उसी के अनन्तर उक्त द्वितीय वाक्य में आयुर्वेद आदि चार विद्याओं को गिना कर यह कहा है कि 'विद्या ह्यष्टादशैव ताः' (ये अठारह विद्याएं प्रसिद्ध ही हैं)। तात्पर्य यह है कि विद्याओं में दो भाग हैं एक भाग में पुराण आदि वे विद्याएं हैं जिन में प्रधानरूप से धर्म ही का निरूपण है और उन्हीं को चतुर्दश विद्या कहते हैं तथा द्वितीय भाग में आयुर्वेद आदि वे चार विद्याएं हैं जिन में अर्थ और काम ही का प्रधानरूप से निरूपण है और दोनों भागों के मिलाने पर विद्याओं की संख्या अठारह होती है अर्थात् विद्या तो अठारह अवश्य हैं परन्तु धर्मविद्या चौदह ही हैं । और इसी से याज्ञवल्क्यमहर्षि ने भी 'पुराणन्याय' इस पूर्वोक्त वाक्य में उक्त चतुर्दश विद्याओं को धर्म में प्रमाण कहा है । और यदि कहीं आयुर्वेद आदि उक्त चार विद्याओं का भी किसी ने 'स्मृति' शब्द से व्यवहार किया हो तो उस को ठीक नहीं समझना चाहिये क्योंकि उन के 'स्मृति' होने में कोई प्रमाण नहीं है तथा स्मृति न होने मात्र से वे श्रुति भी नहीं हो सकतीं क्योंकि यदि ऐसा हो तो काव्य आदि भी श्रुति हो जायँगे क्योंकि वे भी स्मृति नहीं हैं । और यह (सनातनधर्मोद्धार) ग्रन्थ धर्मप्रधान ही है और श्रुति का प्रामाण्य पूर्व प्रकरणों में सिद्ध ही हो चुका है। इस लिये अवसर नामक सङ्गति के अनुसार यहां अब (श्रुति के अनन्तर) पूर्वोक्त दस प्रकार की स्मृतियों के प्रामाण्य का निरूपण आरम्भ किया जाता है विचार यह है कि 'मनु आदि की निर्मित स्मृति और अनादि शिष्टाचार धर्म में प्रमाण नहीं हैं' अथवा हैं । तदनन्तर—

पूर्वपक्ष—

यह है । "धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्" ॥ १ ॥ (पू० मी० द० अध्या० १ पा० ३) इस सूत्र का अक्षरार्थ यह है कि उक्त स्मृतियों से विहित कर्म, और शिष्टाचार धर्म नहीं

वेदः मूलं यस्य तत्त्वात् । अष्टकाः कर्त्तव्या इति केवलपौरुषेयवाक्यप्रतिपाद्यम्–शब्दम-वेदमूलं अनपेक्ष्यम् अनादरणीयं स्यात् इति ।

शाव०भा० एवन्तावत्कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाण्यमुक्तम्, अथ इदानीं यत्र न वैदिकं शब्दमुपलभेमहि, अथ च स्मरन्ति, एवमयमर्थोऽनुष्ठातव्यः, एतस्मै च प्रयोजनाय इति ।

त० वा० एवं तावद्विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मकस्य वेदस्य धर्मं प्रत्युपयोगः साधितः॥ इदानीं पौरुषेयीषु स्मर्यमाणार्थावधिषु मन्वादिप्रणीतनिबन्धनासु स्मृतिष्वनिबद्धेषु चाचारेषु चिन्ता । तत्र किञ्चिदुदाहृत्य विचारः कर्तव्य इत्यष्टकादिस्मरणानि मन्वादिस्थानि तद्ग्रन्थ-समर्पितानि प्रमाणाप्रमाणविचारविषयत्वेनोदाह्रियन्ते । सन्देहहेतुश्चाभिधीयते ॥

पारतन्त्र्यात्स्वतो नैषां प्रमाणत्वावधारणा ।
अप्रामाण्यविकल्पस्तु द्रढिम्नैव विहन्यते ॥

मन्वादिवचनं स्मृत्यपेक्षं स्मृतिश्च मूलप्रमाणापेक्षिणीति न कस्यापि वेदवन्निरपेक्ष-प्रामाण्यनिश्चयः । यतस्तु वेदवादिनामेवाविगानेनाविच्छिन्नपारम्पर्यपरिग्रहदार्ढ्यमतो नाप्रामाण्याध्यवसानामिति युक्तः सन्देहः तत्र पूर्वपक्षवादी वदति नैषां प्रामाण्यमेवापेक्षि-तव्यमिति कुतः ।

पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृति रुच्यते ।

सर्वस्मरणानि हि प्रत्यक्षाद्यवगतेऽर्थे तदानुरूप्येणोपजायमानान्यर्थं समर्थयन्ति। तदिहाष्टकादीनां स्वर्गादिसाध्यसाधनभावं प्रत्यक्षादीनि तावन्न गृह्णन्तीति साधितम् । शब्दोऽपि यथाऽग्निहोत्रादिषु प्रत्यक्षेणोपलभ्यते नैवमत्र ।

प्रत्यक्षानुपलब्धे च शब्दे सद्भावकल्पना ।
धर्मास्तित्वप्रमाणाद्धि विप्रकृष्टतरा भवेत् ॥

॥ भाषा ॥

हैं, क्योंकि धर्म वही कहलाता है जो वेद से विहित हो इस कारण उक्त स्मृति और शिष्टाचार धर्म में प्रमाण नहीं हैं और शावरभाष्य, तन्त्रवार्तिक, (जो कि ऊपर संस्कृतभाग में है) में हैं उन में इस सूत्र का जो तात्पर्य स्पष्ट कहा, अथवा सूचित किया गया है वह यह है कि उक्त सन्देह उन स्मृतियों के विषय में है कि जिन का मूलभूत वेदवाक्य प्रत्यक्षपठित नहीं मिलता जैसे "अष्टकाः कर्तव्याः" (पितरों के लिये अष्टका नामक श्राद्धविशेष करे) तथा ऐसे शिष्टाचारों के विषय में उक्त सन्देह है जिन का कि धर्मशास्त्रों में विशेषरूप से विधान नहीं है । और सूत्रोक्त पूर्वपक्ष का विवरण यह है कि स्मृति (स्मरण अर्थात् याद करना) उसी विषय की होती है कि जिस का अनुभव, (प्रथमज्ञान) प्रत्यक्ष आदि प्रसिद्ध प्रमाणों के द्वारा हुआ रहता है और यह बात पूर्व हीं सिद्ध हो चुका है कि अष्टका आदि यागों की स्वर्ग आदि फलों के प्रति कारणता (कारण होना) को प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, कदापि विषय नहीं कर सकते । तथा वेदरूपी शब्द भी अग्निहोत्र आदि ही के विषय में प्रत्यक्षरूप से मिलता है न कि अष्टका आदि के विषय में । निदान अष्टका आदि के विषय में स्मृति (स्मरण) हो ही नहीं सकती क्योंकि वह विषय किसी प्रमाण से ज्ञात ही नहीं हो सकता।

समाधान–यद्यपि इन स्मृतियों का मूलभूत प्रत्यक्षपठित वेद नहीं मिलता तथापि उक्त स्मृति के बल से ऐसे बेदवाक्य की कल्पना होती है कि जिस के अनुसार यह स्मृति है और इसी रीति से वही वेद उस स्मृति का मूल है ।

त० वा० शब्दस्य तावदेकमेव प्रत्यक्षं प्रमाणम् । सचेत्तेनानवगम्यमानोऽप्यस्तीत्युच्यते ततो वरं धर्मास्तित्वमेव निष्प्रमाणकमभ्युपगतमिति ।

नचानुमानमप्यास्मिन्नष्टकाश्रुतिकल्पने ।
न हि स्मृतिस्तया व्याप्ता दृष्टाऽन्यद्वाऽनुमापकम् ॥

यथैव धर्मे सम्बन्धादर्शनान्न किञ्चिल्लिङ्गं क्रमते तथाऽष्टकादिश्रुतावपि ।

नचागमेन तद्बोधो नित्येन कृतकेन वा ।
विस्रम्भः कृतके नास्ति नित्यो नैवोपपद्यते ॥

यद्यप्यैन्द्रियकत्वादष्टकादिश्रुतीनां पौरुषेयागमगम्यत्वं सम्भवति तथापि विप्रलम्भभूयिष्ठत्वादश्रद्धेयवचनेषु पुरुषेष्वनध्यवसानम् । दृश्यन्ते ह्यनागमिकानप्यर्थानागमिकत्वाध्यारोपेण केचिदद्यत्वेऽप्यभिदधानाः । तेन मन्वादिभिरपि किमष्टकाश्रुतीरुपलभ्य वेदमूलत्वं स्वनिबन्धनानां प्रतिज्ञातमुतानुपलभ्यैव श्रद्धेयवाक्यत्वार्थमिति दुष्टपरुषाकुलितचेतसां

॥ भाषा ॥

खं०—बेद, शब्दरूपी है और शब्द में श्रोत्रेन्द्रिय मात्र प्रमाण है तो ऐसी दशा में यदि ऐसे बेद की भी कल्पना की जाय जो कि श्रोत्रेन्द्रिय से ज्ञात नहीं हो सकता तो उस का यही अर्थ है कि अप्रामाणिक वस्तु की भी कल्पना होती है और यदि ऐसा ही स्वीकार करना है तो विना बेद के धर्म ही की कल्पना क्यों न कर ली जाय ? बरुक यही कल्पना उचित होगी और उक्त बेद की कल्पना का कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

समा०—जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होता है वैसे ही उक्त स्मृतियों से बेदवाक्य का अनुमान हो सकता है ।

खं०—अग्नि का सम्बन्ध धूम में जब प्रथम से ज्ञात रहता है तब ही धूम से अग्नि का अनुमान होता है अर्थात् पाकगृह में धूम, अग्नि और धूम में अग्नि का सम्बन्ध ये तीनों पूर्व हीं ज्ञात रहते हैं इसी से पर्वत में धूम से अग्नि का अनुमान होता है और उक्त स्मृतियों में बेद का तो सम्बन्ध प्रथम से नहीं ज्ञात है तो कैसे उक्त स्मृतियों से बेदवाक्य का अनुमान हो सकता है ।

समा०—"अष्टका आदि की स्मृतियों का बेद मूल है" इस, प्रामाणिक पुरुषों के वाक्य से अथवा मनु आदि ने अपनी स्मृतियों में यह कहा है कि "मेरी यह स्मृति बेदमूलक है" इसी से उक्त बेदवाक्य की सिद्धि (निश्चय) होती है ।

खं०—यद्यपि उक्त वाक्यों से उक्त बेद की प्रवृत्ति (पता) चल सकती है तथापि भ्रम, प्रमाद, प्रतारणा (ठगी) आदि दोषों के कारण उक्त वाक्यों पर बिश्वास ही नहीं हो सकता क्योंकि बर्तमान समय में भी अबैदिक पदार्थों को बैदिक बनाने वाले बहुतेरे पुरुष देखे जाते हैं और इस के अनुसार यह सन्देह अवश्य होता है कि क्या मनु आदि ने अष्टका आदि के बिषय की श्रुतियों को सुन और पढ़ कर अपने स्मृतिग्रन्थों के श्रुतिमूलक होने की प्रतिज्ञा की है ? अथवा उक्त श्रुतियों को बिना पढ़े और सुने केवल पाठकों के बिश्वासार्थ ही उक्त प्रतिज्ञा की है ? और जब मनु आदि का उक्त वाक्य इस सन्देह से दूषित हो गया तब उस पर बिश्वास की आशा कैसे की जा सकती है ! और नित्य (बैदिक) वाक्य तो कोई ऐसा है नहीं कि जो यह प्रतिपादन करे कि अष्टकादि स्मृतियों का कोई बेदवाक्य मूल है ।

शा०किमसौ तथैव स्यान्न वा? इति।यथा अष्टकाःकर्तव्याः,गुरुरनुगन्तव्यः,तडागःखनितव्यः,प्रपा प्रवर्त्तयितव्या,शिखाकर्म कर्तव्यमित्येवमादयः।तदुच्यते,धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दं त०भवति सन्देहः। तावता च प्रामाण्यविघातः। नित्यस्य वचनस्यादिमत्स्मरणमूलप्रतिपादने व्यापार एव नास्ति। नच मन्त्रालिङ्गानि स्वयं मूलत्वं प्रतिपद्यन्ते, विधिशून्यत्वात्। नच मूलान्तरं न्यायागतं सूचयन्ति, अन्यपरत्वात्। नच सर्वेषां स्मृतिप्रणायिनामविगानं येन पौरुषेयागमबलादुपलब्धपूर्वश्रुतिमूलत्वं स्यात्।

नच विज्ञायते वाक्यं कीदृशं तैर्न्निरूपितम्।
अर्थवादादिरूपाद्धि पश्यामो भ्राम्यतो बहून्॥

॥ भाषा ॥

समा०—"धन्वन्निव प्रपा असि" (तुम धन्व अर्थात् निर्जलदेश की प्रपा अर्थात् पनसला से हो) इत्यादि मन्त्रों में पनसला आदि की चर्चा के अनुसार यह कह सकते हैं कि पनसला आदि को विधान करने वाली स्मृतियों के मूल ये मन्त्र हैं और इसी से मनु आदि की उक्त प्रतिज्ञा (मेरी स्मृति बेदमूलक है) पर अवश्य विश्वास हो सकता है और उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार अष्टका आदि स्मृतियों का मूलभूत उक्त बेद भी सिद्ध होता है।

खं०—जब उक्त मन्त्रों में विधानरूप से यह नहीं कहा है कि "पनसला चलावै" किन्तु उपमा के लिये पनसला का अनुवादमात्र है और स्मृतियों में तो पनसला चलाने का विधान है तो ऐसी दशा में वह मन्त्र इस स्मृति का मूल ही नहीं हो सकता।

समा०—यद्यपि उक्त मन्त्र में पनसला का बिधान नहीं है तथापि विधान की सूचना तो है इसी से वह मन्त्र पनसला की स्मृति का मूल हो सकता है।

खं०—सूचना, तात्पर्य ही का नाम है और मन्त्राधिकरण में यह सिद्ध हो चुका है कि 'मन्त्रों का किसी के बिधान में तात्पर्य नहीं होता है' तो कैसे बिधान की सूचना मन्त्रों से हो सकती है?

समा०—उक्त मन्त्र से प्रपा की प्रशंसा बोधित होती है उसी से इस बिधि की कल्पना होगी कि 'प्रपा को चलावै'।

(खं० १) उक्त मन्त्र का देवता ही की प्रशंसा में तात्पर्य है न कि प्रपा की प्रशंसा में, और प्रपा के स्वरूपमात्र का अनुबाद इस मन्त्र में है इसी से उक्त मन्त्र के अनुसार उक्त बिधि की कल्पना नहीं हो सकती हां यदि उक्त मन्त्र में प्रपा की कर्तव्यता का अनुवाद (प्रपा को चलाता है) होता तो उक्त बिधि की कल्पना हो भी सकती, परन्तु वह भी उक्त मन्त्र में नहीं है। इसी से कोई मन्त्र, अष्टकादि स्मृति का मूल श्रुति को नहीं सिद्ध कर सकता।

(खं० २) यदि कोई प्रत्यक्षपठित बेद, अष्टकादि स्मृतियों का मूल होता तो उस के तुल्यरूप होने से उक्त स्मृतियां भी तुल्यरूप ही होतीं परन्तु ऐसा नहीं है किन्तु स्मृतियां परस्पर में बिरुद्ध भी होती हैं जैसे—यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रादारोपसङ्ग्रहः। न तन्मम मतं यस्मात् तत्रात्मा जायते स्वयम्' ॥ (स्मृतियों में त्रैवर्णिकों के साथ शूद्रकन्या का भी बिवाह जो कहा है वह मेरा मत नहीं है क्योंकि अपनी बिवाहिता स्त्री में पुरुष, पुत्ररूप से स्वयं उत्पन्न होता है अर्थात् शूद्रा के गर्भ से त्रैवर्णिक का पुत्ररूप से उत्पन्न होना अतिघृणित है) इस याज्ञवल्क्यस्मृति में अन्य स्मृतियों की, उक्त विषय में निन्दा की हुई है। इस से यह निश्चित होता है कि बेद उक्त स्मृतियों का मूल नहीं है।

शा०मनपेक्ष्यं स्यात् इति। शब्दलक्षणो धर्मः इत्युक्तं चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति, अतो नि-
त०यदि ह्येतदेकान्तेन गम्येत यथाविधिवाक्यान्येव मन्वादिभिरुपलब्धानीति। ततः
काऽपि कल्पना स्यादद्यत्वेऽप्यन्यपरार्थवादादिवचनेभ्योऽपि भ्राम्यन्तः पुरुषा दृश्यन्ते।
तेन तेष्वप्याशङ्का भवति। मृतसाक्षिकव्यवहारवच्च प्रलीनशाखामूलत्वकल्पनायां यस्मै
यद्रोचते स तत्प्रमाणीकुर्यात् तस्मान्नागमेनापि मूलोपलब्धिः।

उपमानंत्वदृष्टेऽर्थे सदृशे चानिरूपिते।
नैवेष्टमिति तेनापि न मूलश्रुतिसाधनम्॥
अर्थापत्त्याऽपि यत्किंचिन्मूलमित्यवगम्यते।
तच्चाप्रमाणपक्षेऽपि भ्रान्त्यादि न विरुद्ध्यते॥

यदि हि श्रुतिकल्पनेन बिना स्मृतिर्नोपपद्यते ततः सम्यङ्मूला स्यात्। सम्भवति तु

॥ भाषा ॥

स०–जैसे स्मृतियां परस्परविरुद्ध होती हैं वैसे ही मूलभूत वेद भी परस्पर में विरुद्ध ही होगा।

खं०—स्मृतियों में कर्मों का विधान है इसी से वही वेदवाक्य उन का मूल हो सकता है जो कि विधिरूपी ही है न कि अर्थवाद (प्रशंसा) रूपी इसी से यह निश्चय करना भी बहुत ही आवश्यक है कि विधिरूपी ही वेदवाक्यों को प्रत्यक्ष से निश्चित कर मनु आदि ने उस के अनुसार अष्टका आदि स्मृतियों को बनाया' और इस निश्चय का होना बहुत ही दुर्घट है क्योंकि स यदि ह वा अपि मृषा वदति सत्यं हैवाऽस्योदितं भवति य एवमेतत्सत्यस्य सत्यत्वं वेद' (जो पुरुष पूर्वोक्त सत्य की सत्यता को जानता है वह यदि मिथ्या भी बोलता है तो वह भी उस का सत्य ही होता है) इत्यादि अर्थवादों के देखने से आज भी बहुतों को यह भ्रम होता है कि 'यह वाक्य मिथ्या बोलने में अपनी सम्मति देता है' तात्पर्य यह है कि विधि और अर्थवाद का विवेक (जो कि वेददुर्गसज्जन के अर्थवादप्रकरण में पूर्व हीं पूर्णरूप से दिखला दिया गया है) करना बड़ी बुद्धिमानी और सावधानी का काम है इस से सब स्मृतियों में शङ्का हो सकती है कि 'कदाचित् यह स्मृति अर्थवाद को देख कर उसी के अनुसार बनी हो' और ऐसी दशा में जो स्मृतियां परस्पर में विरुद्ध नहीं हैं उन के विषय में भी विधिवाक्यरूपी वैदिकमूल की कल्पना जब नहीं हो सकती तब परस्पर में विरुद्ध स्मृतियों के विषय में उक्त मूल की कल्पना का तो सम्भव भी नहीं हो सकता। इस रीति से प्रत्यक्षपठित वेद, उक्त अष्टका आदि की स्मृतियों का मूल नहीं हो सकता।

स०–यदि प्रत्यक्षपठित वेद, उक्तस्मृतियों का मूल नहीं है तो जो वेदशाखाएं लुप्त हो चुकी हैं उन्हीं में उक्तस्मृतियों का मूल रहा होगा जिस के अनुसार मनु आदि ने उक्तस्मृतियों को बनाया।

खं०–यदि ऐसा है तो जिस को जो ही काम रोचक (पसंद) होगा वह उस काम के लिये स्मृतिवाक्य की रचना कर लेगा और उस को लुप्त वैदिकशाखारूपी मूल से प्रमाणित कर देगा।

स०–'नह्यमूला प्रसिद्धिः' (मूल के बिना कोई प्रसिद्धि नहीं होती) और अष्टका आदि की स्मृतियां प्रसिद्ध ही हैं तब उन के वेदरूपी मूल की कल्पना अवश्य ही हो सकती है।

खं०–प्रसिद्धि से यही कल्पना हो सकती है कि 'इस का कोई मूल अवश्य है' परन्तु 'अमुक ही पदार्थ इस का मूल है' यह निश्चय, प्रमाण के बिना नहीं हो सकता और उक्तस्मृतियों

शा०मूलत्वान्नापेक्षितव्यमिति। ननु ये विदुः इत्थमसौ पदार्थः कर्तव्य इति, कथमिव ते वदिष्यन्ति, अकर्तव्य एवायमिति ?। स्मरणानुपपत्त्या, न हि अननुभूतोऽश्रुतो वाऽर्थः स्मर्यते। नच, अस्यावैदिकस्यालौकिकस्य च स्मरणमुपपद्यते। पूर्वविज्ञानकारणाभावादिति, या हि बन्ध्या स्मरेत्, इदं मे दौहित्रकृतमिति न मे दुहिताऽस्ति इति मत्वा, न जातुचिदसौ प्रतीयात्,

त०स्वप्नमूलत्वेन तेनानैकान्त्यादर्थापत्तेः सामान्यतो दृष्टस्य वा नावकाशः। तस्मादनुपलब्धिगोचरापन्नायां श्रुतौ सत्स्वपि मूलान्तरेष्वभिप्रेतमूलाभावान्निर्मूलत्वाभिधानम्। ननु ये विदुरेवमितिकर्तव्यताक एवंफलकश्चासौ पदार्थः कर्तव्य इति । अथवा ये कर्तव्योऽसावितीत्थं विदुस्ते तथा विजानन्तस्तादृशाः कथमिवास्मान्विप्रलब्धुं न कर्त्तव्योऽसाविति वदेयुः। नन्वन्ये एवं वदन्ति कर्तव्य इत्यन्ये नवा कर्तव्य इत्याहुः। कथमन्यत्वं यदा तेषामप्येवमयं स्मर्यत इति कथितं भवत्येवं प्रतिपत्तिः । अथवा ये मन्वादयो विदुरकर्तव्योऽयं पदार्थ इति। कथमिव ते विनाऽपराधेन लोकं वञ्चयितुं वदिष्यन्ति कर्तव्य एवायमिति। स्मरणानुपपत्त्येति। ये तावन्मन्वादिभ्योऽर्वाञ्चः पुरुषा स्तेषां यज्ज्ञानं तत्तावदनवगतपूर्वार्थत्वान्न स्मृतिः। मन्वादीनामपि यदि प्रथमं किञ्चित्प्रमाणं सम्भाव्यते ततः स्मरणं भवेन्नान्यथा। कस्मात्पुनः पुत्रं दुहितरं वाऽतिक्रम्य बन्ध्यादौहित्रोदाहरणं कृतम् ? स्थानतुल्यत्वात्। पुत्रादिस्थानीयं हि मन्वादेः पूर्वविज्ञानं दौहित्रस्थानीयं स्मरणमतश्च यथा

॥ भाषा ॥

के विषय में जब कोई मूलविशेष, प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं तो प्रसिद्धि के अनुसार यही सिद्ध हो सकता है कि स्वप्न ही इस का मूल है अर्थात मनु आदि ने स्वप्न में जिन कामों को देखा उन के स्मृतिवाक्यों को गढ़ मारा तो क्या इस से उक्त स्मृतियां प्रमाण हो सकती हैं ?

स०—जो लोग (मनु आदि) यह जानते हैं कि 'अमुक काम अमुक रीति से करने योग्य है और उस का यह फल है' वे क्यों जान बूझ कर हम को प्रतारने के लिये ऐसा कहेंगे ? कि यह काम करने के योग्य नहीं है। अथवा जिस काम को वे समझते हैं कि 'अमुक काम नहीं करना चाहिये' उस काम के विषय में यह कहेंगे कि 'यह काम कर्तव्य है'।

खं०—यह सब तब ही ठीक हो सकता है कि जब स्मृतियों में विधान किये हुए अर्थों को मनु आदि स्मरण कर सकते हों, क्योंकि स्मरण वा स्मृति उस ज्ञान को कहते हैं कि जिस का विषय पूर्व हीं अनुभव में आ चुका है अर्थात् पूर्वज्ञान ही स्मरण का कारण है तो जब उक्तस्मृतियों में कहे हुए अर्थ, उक्तस्मृति बनाने से पूर्व मनु आदि के अनुभव में आ चुके हों तब ही उन का स्मरण मनु आदि का हो सकता है और जब पूर्वोक्त रीति से कोई वेदवाक्य उक्तस्मृतियों का मूल नहीं है तब किस के बल से मनु आदि को अष्टका आदि अर्थों का अनुभव हुआ ? जिस के अनुसार उन अर्थों को स्मरण कर उन्हों ने उक्तस्मृतियों को बनाया। इसी अवसर पर भाष्यकार शबरस्वामी ने बन्ध्या (बांझ स्त्री) दौहित्र (बेटी का बेटा) का दृष्टान्त दिया है जिस का यह आशय है कि जैसे बन्ध्या को यह स्मरण हो कि 'यह गृह, मेरे दौहित्र का बनाया है' तदनन्तर बन्ध्या यह विचारे कि 'बेटी तो मेरे उत्पन्न हीं नहीं हुई तो दौहित्र कहां से आया' और इस विचार के अनन्तर उस को यही निश्चित हो कि उक्त स्मरण, झूठा ही है, वैसे ही जब उक्त रीति से मनु आदि को, मूल वेदवाक्य के न होने से यह अनुभव ही नहीं हो सकता कि 'अष्टका आदि कर्म, स्वर्गादिरूपी फल के प्रति कारण हैं' तो इस अनुभव (जो कि बेटी के तुल्य है) के बिना

शा० सम्यगेतत् ज्ञानमिति । एवमपि यथैव पारम्पर्येणाविच्छेदात् अयं बेदः इति प्रमाणमेषा स्मृतिः एवम्—

पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते ॥

इयमपि प्रमाणं भविष्यति इति । नैतदेवं, प्रत्यक्षेणोपलब्धत्वात् ग्रन्थस्य, नानुपपन्नं पूर्वविज्ञानम्, अष्टकादिषु त्वदृष्टार्थेषु पूर्वविज्ञानकारणाभावात् व्यामोहस्मृतिरेव गम्यते ।

त० दुहितुरभावं परामृश्य दौहित्रस्मृतिं भ्रान्तिं मन्यते तथा मन्वादिभिः प्रत्यक्षाद्यसम्भव-परामर्शादष्टकादिस्मरणं मिथ्येति मन्तव्यम् यथैव पारम्पर्येणाविच्छेदादयं बेद इति वाक्या-नुमानाभिप्रायेणोक्तम् । इतरस्त्वर्थस्यैवाविच्छेदस्मरणमयमाहेति मत्वा पुनर्निर्मूलत्वमाह बेदः पुनः सविशेषः प्रत्यक्षगम्यस्तत्र घटादिवदेव पुरुषान्तरस्थमुपलभ्य स्मरन्ति तैरपि स्मृतमुपलभ्यान्येऽपि स्मरन्तोऽन्येभ्यस्तथैव समर्पयन्तीत्यनादिता । सर्वस्य चात्मीयस्मरणा-त्पूर्वमुपलब्धिः सम्भवतीति न निर्मूलता । शब्दसम्बन्धव्युत्पत्तिमात्रमेव चेह बृद्धव्यवहा-राधीनम् । प्रागपि हि बेदशब्दादन्यवस्तुविलक्षणं बेदान्तरविलक्षणं वाऽध्येतृस्थमृग्बेदादि-रूपं मन्त्रब्राह्मणादिरूपाणि चान्यविलक्षणान्युपलभ्यन्ते । सर्वेषां चानादयः संज्ञा इति तद्द्वारेणोत्तरकालमपि गम्यमानानां प्रत्यक्षत्वं साधितम् । नन्वष्टकादिषु पुरुषान्तरस्थेष्वपि

॥ भाषा ॥

अष्टका आदि के स्वर्गादि के प्रति कारण होने का स्मरण, (जो कि दौहित्र के तुल्य है) उन को कैसे हो सकता है । और स्वर्गादि के प्रति अष्टका आदि की कारणता (कारण होना) प्रत्यक्ष-आदि लौकिकप्रमाणों से ज्ञात ही नहीं हो सकता इस से यह भी नहीं कह सकते कि प्रत्यक्ष आदि लौकिकप्रमाणों के द्वारा मनु आदि को उक्त कारणता का अनुभव हुआ । किन्तु उक्त कारणता के अनुभव कराने की शक्ति, केवल बेदवाक्य ही में हो सकती है और बेदवाक्य तो पूर्वोक्त युक्तियों से उक्त कारणता के बिषय में हो ही नहीं सकता ।

स०—अष्टका आदि के स्मृतियों की परम्परा, अनादिकाल से चली आती है अर्थात् एक स्मरण का मूल दूसरा स्मरण और दूसरे का तीसरा इस क्रम से उत्तर २ स्मरण में पूर्व २ स्मरण कारण है निदान एक ऋषि ने दूसरे और दूसरे ने तीसरे ऋषि की बनायी स्मृति के अनुसार अपनी २ स्मृति की रचना किया । इस से यद्यपि सब से प्रथम अनुभव का ठीक पता नहीं चलता तथापि ये स्मृतियां निर्मूल नहीं हैं और प्रमाण भी हैं । जैसे मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय में अनादिकाल से बेद होने की स्मरणपरम्परा चली आती है इसी से बेदत्व का स्मरण निर्मूल नहीं है और प्रमाण भी है ।

सं०—मन्त्र और ब्राह्मण का समुदाय श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष ही है केवल 'बेद' इस नाम के साथ उस के सम्बन्धमात्र का ज्ञान, बृद्धव्यवहार के अधीन है और ज्ञान भी अनुभव ही है न कि स्मरण, इस से बेद के दृष्टान्त से प्रकृत में कुछ उपयोग नहीं है और प्रकृत में अष्टका आदि कर्मों की स्वर्गादि फलों के प्रति कारणता (जो कि अष्टका आदि की स्मृतियों का अर्थ है) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात नहीं हो सकती और बेदवाक्य भी कोई ऐसा नहीं है कि जो उस कारणता का अनुभव कराता हो तो ऐसी दशा में स्मरणों की परम्परा, अनुभवरूपी मूल के न होने से अन्धपरम्परा ही है क्योंकि उक्त कारणता का अनुभव किसी ने नहीं किया तथापि पूर्व २ स्मरण ही के अनुसार स्मरण करते आये । जैसे किसी जन्मान्ध ने कहा कि मैं अमुक पदार्थ के शुक्लरूप

शा० तत् यथा, कश्चित् जात्यन्धो वदेत्, स्मराम्यहमस्य रूपविशेषस्य इति, कुतस्ते पूर्वं विज्ञानम् ? इति च पर्यनुयुक्तो जात्यन्धमेवापरं विनिर्दिशेत् । तस्य कुतः ? जात्यन्धान्तरात्,

त० कुम्भकारक्रियास्विव किञ्चिद्विज्ञानमूलमस्ति यदि हि कर्मस्वरूपमात्रं स्मर्येत ततः पाकादि तदिन्द्रियैरन्यानन्नुतिष्ठतो दृष्ट्वा परे स्मरेयुः। यतस्त्विह स्वर्गादिसाध्यसाधनसम्बन्धः स्मर्यते नासौ पुरुषान्तरेषूत्पद्यमानः कैश्चिद्दृश्यत इत्यन्धपरम्परान्यायेनाप्रमाणता । सर्वस्यानादिव्यवहारोपन्यासेन बेदवत्प्रसिद्ध्यभिमानो भवत्यतोऽन्धपरम्परानिदर्शनम्। बेदे हि प्रामाण्यस्यानादित्वमिहाप्रामाण्यस्य । कथम्

यो यो ग्रहीता जात्यन्धः स स्वयं नोपलब्धवान् ।
स्वातन्त्र्येणागृहीते च प्रामाण्यं नावतिष्ठते ॥

तादृशं चाष्टकादिस्मरणम् । नच चोदना मूलभूतोपलभ्यते नचाननुभूतसम्बन्धाऽनुमातुं शक्यते । यदि च बेदादुपलभ्य स्मृतयः प्रवर्तिताः स्युः ततोऽर्थस्मरणवदित उपलभ्यायं मन्वादिभिःप्रणीत इत्यपि पारम्पर्येण स्मर्येत । स्यादेतत् । अर्थस्मरणेन कृतार्थानां निष्प्रयोजनं मूलस्मरणमनादराद्भ्रष्टमिति । तदयुक्तम् । न हि यत्कृतं प्रामाण्यं तदेव बिस्मर्तुं युज्यते । अर्थस्मृतेः स्वतःप्रामाण्याभावात् । सर्वे पुरुषास्तावदेतज्जानन्ति

॥ भाषा ॥

का स्मरण करता हूं और अन्य पुरुष ने उस जन्मान्ध से पूछा कि आप को उस के शुक्लरूप का ज्ञान प्रथम कैसे हुआ ? ज० अमुक जन्मान्ध के वाक्य से । तदनन्तर उस अन्यपुरुष ने उस द्वितीय जन्मान्ध से भी उक्त प्रश्न किया और उन्हों ने तीसरे जन्मान्ध के वाक्य का प्रमाण दिया ऐसे ही जन्मान्धों के शुक्लस्मरण की परम्परा यद्यपि अनादि है तथापि वह बहुत ही अप्रामाणिक है क्योंकि शुक्लरूप का प्रत्यक्ष अनुभव, किसी जन्मान्ध को नहीं हो सकता ऐसे ही जब अष्टका आदि कर्मों की स्वर्गादि के प्रति कारणता का अनुभव, उक्त रीति से मनु आदि को नहीं हो सकता तो मनु आदि के प्रति, वह कारणता, अन्धों के प्रति शुक्लरूप ही के तुल्य है और उस कारणता के विषय में मनु आदि भी जन्मान्ध के समान हैं इसी से मनु आदि की स्मरणपरम्परा, अनादि होने पर भी अप्रमाण ही है ।

स०—यह क्यों नहीं हो सकता ? कि मनु आदि ने प्रत्यक्ष से बेदवाक्यों को अनुभव कर उन के अनुसार स्मृतियों को बनाया क्योंकि उन्हों ने सहस्रों बेदशाखाओं को पढ़ा और देखा था तो ऐसी दशा में हम अल्पज्ञों को यदि वे बेदवाक्य प्रत्यक्ष नहीं हैं तो इतने मात्र से उन वाक्यों का अभाव नहीं हो सकता ।

खं०—यदि ऐसा होता तो जैसे अष्टका आदि की स्मरणपरम्परा आज तक चली आती है ऐसे ही 'अमुक २ बेदवाक्य को देख कर अमुक २ स्मृतिवाक्य को मनु आदि ने बनाया' ऐसे स्मरणों की परम्परा भी आज तक चली आती, जो कि नहीं है और उसी के न होने से उक्त स्मृतियों के प्रमाण होने में इस समय बिचार हो रहा है ।

स०—उक्त स्मृतियों के मूलभूत बेदवाक्यों का अनन्तरोक्त स्मरण, जो भ्रष्ट हो गया उस का यह कारण है कि मनु आदि के स्मृतिवाक्यों हीं से सब कामों के निर्वाह हो जाने से उन बैदिक मूलवाक्यों का आदर नहीं हुआ ।

शा०एवं जात्यन्धपरम्परायामपि सत्यां नैव जातुचित्सम्प्रतीयुर्विद्वांसः सम्यग्दर्शनमेतदिति । अतो न आदर्तव्यमेवंजातीयकमनपेक्ष्यं स्यादिति ।

त०यथा बेदमूलज्ञानाद्विना प्रामाण्यं न निश्चीयत इति ते कथमिव तत्रानादरं कुर्युः।अपि च॥

येन यत्नेन मन्वाद्यैरात्मवाक्यं प्रपाठितम् ।
कस्मात्तेनैव तन्मूला चोदना न समर्पिता ॥

यदि हि तैरप्यर्थमात्रमेवान्येभ्योऽधिगतं न बेदो दृष्ट इति ततस्तत्पूर्वकेष्वप्ययमेव पर्यनुयोग इति निर्मूलसम्प्रदायत्वप्रसङ्गान्निर्मूलत्वान्न मुच्यते । यदि तु प्रलीनशाखामूलता कल्प्येत ततः सर्वासां बुद्धादिस्मृतीनामपि तद्द्वारं प्रामाण्यं प्रसज्यते । यस्यैव च यदाभिप्रेतं स एव तत्प्रलीनशाखामस्तके निक्षिप्य प्रमाणीकुर्यात् । अथ बिद्यमानशाखागता एवैतेऽर्थास्तथापि मन्वादय इव सर्वे पुरुषास्तत एवोपलप्स्यन्ते युक्ततरा च स्वाध्यायाध्ययनबिधेः साक्षाद्वेदादेव प्रतीतिरिति स्मृतिप्रणयनवैयर्थ्यं स्यात् । नचैतद्विज्ञायते । कीदृशाद्वाक्यादिदं

॥ भाषा ॥

खं०-(१) जब उन मूल बेदवाक्यों के बिना, उक्तस्मृतियां प्रमाण ही नहीं हो सकतीं तो ऐसे आवश्यक उन बेदवाक्यों के अनादर का सम्भव ही नहीं हो सकता ।

खं०-(२) यदि उक्त बेदवाक्य मनु आदि को प्रत्यक्ष होता तो कोई कारण नहीं था कि अपने रचित उक्त स्मृतिवाक्यों में उन के मूलवाक्यों का बिशेषरूप से उल्लेख वे लोग न करते । और यह तो कह नहीं सकते कि मनु आदि को वे वाक्य यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं थे तथापि अपने २ पूर्बजों से उन वाक्यों के अर्थ ही मात्र को सुन २ कर मनु आदि, अपनी २ स्मृतियों को बनाते चले आये, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने में यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मनु आदि के नाईं उन के पूर्बजों को भी वे मूलवाक्य प्रत्यक्ष नहीं थे इसी से उन्हों ने मनु आदि को उन वाक्यों का उपदेश नहीं किया किन्तु उन का अर्थ मात्र पढ़ाया, तो ऐसी दशा में अन्धपरम्परा के दृष्टान्त से गला न छूटैगा । तथा यह भी नहीं कह सकते कि जो बेद की शाखाएं लुप्त हैं उन्हीं में उक्तस्मृतियों के मूलवाक्य स्थित हैं, क्योंकि तब यह भी कहा जा सकता है कि बुद्ध आदि की स्मृतियों के मूलवाक्य भी उन्हीं लुप्तशाखाओं में स्थित हैं । और इतना ही नहीं किन्तु जिसी को जो काम (उचित बा अनुचित) इष्ट होगा वही उस के लिये स्मृतिवाक्य की कल्पना कर यह कह सकता है कि इस का मूल बेद की लुप्त शाखाओं में है । और यदि बेद की बर्तमानशाखाओं में उक्त स्मृतियों के मूलवाक्य स्थित हैं तब तो उक्त स्मृतियों की रचना ही व्यर्थ है क्योंकि उन्हीं मूलवाक्यों से सब पुरुषों को उपदेश हो सकता है । बरुक ऐसी दशा में स्मृतिवाक्यों से उपदेश नहीं होना चाहिये क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (बेद को पढ़े) इस उक्त शतपथवाक्य के अनुसार उन मूलवाक्यों ही से उपदेश होना चाहिये ।

स०-'यः कश्चित् कस्य चिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः । स सर्वोऽभिहितो बेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' मनु० अध्या० २ श्लो० ७ (मनु ने अपने धर्मशास्त्र में किसी बर्ण बा आश्रम का जो कुछ धर्म कहा है वह सब, बेद में कहा है क्योंकि बेद सब के ज्ञानों से भरा है) इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि स्मृतियां बेदमूलक हैं तब क्यों नहीं प्रमाण हो सकती हैं ?

खं०-(१) जब उक्त रीति से यह निश्चय नहीं हो सकता कि 'बिधिरूपी बेदवाक्यों हीं

त० मन्वादिभिः प्रतिपन्नं किं विधिपरादुतार्थवादरूपादिति ।

पश्य ॥

महताऽपि प्रयत्नेन तमिस्रायां परामृशन् ।
कृष्णशुक्लविवेकं हि न कश्चिदधिगच्छति ॥

नच मन्वादिवचनाद्वेदमूलत्वं निश्चिनुमः । ते हि विर्मूलमपि विप्रलम्भादिहेतोरुक्त्वा लोकं वञ्चयितुमेवं वदेयुः । तस्मादप्रमाणम् ।

अत्र सिद्धान्तः ।

अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् अ० १ । पा० ३ सू० ॥ २ ॥

अत्र वृत्तिः ।

सिद्धान्तमाह । अपि वेति । दृढवैदिकप्रणयनान्यथाऽनुपपत्तिरूपमनुमानं स्मृतिमूलभूतश्रुतिसत्त्वे स्यात् । तदित्थम् । स्मृतिः, स्वमूलभूतवेददर्शनवत्प्रणीता, वेदातिरिक्तगम्यो धर्मो न भवतीतिनिश्चयवता परेषां धर्मज्ञानार्थं प्रणीतत्वात्, कल्पसूत्रादिवत् । नन्विदं प्रतारकवाक्यमित्येव किं नोच्यत इत्यत आह । कर्तृसामान्यात् वैदिकानुष्ठानस्मृत्योरेककर्तृकत्वात् । न हि वैदिकं कर्म, धर्मबुद्ध्या अनुतिष्ठन् प्रतारको भवेदिति भावः इति ।

शा०भा० अपि वा इति पक्षो व्यावर्त्यते । प्रमाणं स्मृतिः, विज्ञानं हि तत्, किमिति

त० वा० सर्वथा तावन्मन्वादिप्रणीताः सन्निबन्धनाः स्मृतयः शेषाणि च विद्या·

॥ भाषा ॥

के अनुसार मनु आदि ने स्मृतियों की रचना की न कि अर्थवादवाक्यों में विधि होने के भ्रम से अर्थवादों के अनुसार' तब उक्त मनुस्मृति के वाक्य से क्या हो सकता है ? क्योंकि वह साधारण ही रूप से बतलाता है कि स्मृतियाँ वेदमूलक हैं ।

खं०-(२) उक्त, मनुस्मृति के वाक्य पर भी क्या विश्वास है ? क्योंकि यह भी हो सकता है कि मनु आदि ने अपनी स्मृतियों में निर्मूल अर्थों को भी कह कर लोकवञ्चना के लिये उन को वेदमूलक भी कह दिया हो ।

तस्मात् यह सिद्ध हो गया कि अष्टका आदि स्मृतियां धर्म के विषय में कदाऽपि प्रमाण नहीं हो सकतीं ।

सिद्धान्त ।

यह है कि 'अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्' ॥ सू० २ ॥ उक्त स्मृतियां उन के मूलभूत वेदवाक्यों के प्रत्यक्ष अनुभव वाले पुरुषों की रचित हैं क्योंकि वे जिन की रचित हैं उन (मनु आदि) को यह निश्चय था कि 'धर्म, बेद ही से ज्ञात हो सकता है' और धर्म ही के उपदेशार्थ उन्हों ने इन स्मृतियों की रचना की है । और ये स्मृतियां वञ्चकवाक्य नहीं हैं क्योंकि वैदिक कर्मों के जो कर्ता हैं वे ही इन स्मृतियों के कर्ता हैं अर्थात् जो केवल धर्मबुद्धि से कर्म करता है वह वञ्चक नहीं होता । इस सूत्र का जो तात्पर्य शावरभाष्य और तन्त्रवार्तिक में वर्णित है वह यह है कि मनु आदि की रचित स्मृतियों में जैनस्मृतियों की नाई अपभ्रंश शब्द कोई नहीं है किन्तु सब ही शब्द संस्कृत और शुद्ध हैं तथा वाक्यों की सङ्गति भी उन में उचित ही है और रचना भी उन की ऐसी प्रौढ (गँठी) है कि जैसी अस्मदादि की रचनाएं नहीं हो सकतीं और

शा० अन्यथा भविष्यति ?। पूर्वविज्ञानस्य नास्ति,कारणाभावादिति चेत्। अस्या एव स्मृतेर्द्रढिम्नः कारणमनुमास्यामहे। तत्तु न अनुभवनम् अनुपपत्त्या, न हि मनुष्या इहैव जन्मनि एवं- त० स्थानानि स्वार्थं प्रतिपादयन्त्युपलभ्यन्ते। मन्वादीनां चाप्रत्यक्षत्वात्तद्विज्ञानमूलप्रदृष्टं किञ्चिदवश्यं कल्पनीयम्। तत्र च—

भ्रान्तेरनुभवाद्वाऽपि पुंवाक्याद्विप्रलम्भनात्॥
दृष्टानुगुण्यसाध्यत्वाच्चोदनैव लघीयसी॥

सर्वत्रैव चादृष्टकल्पनायां तादृशं कल्पयितव्यं यद् दृष्टं न विरुणद्धि न वाऽदृष्टान्तरमासञ्जयति। तत्र भ्रान्तौ तावत्। सम्यङ्निबद्धशास्त्रदर्शनविरोधापत्तिः सर्वलोकाभ्युप-

॥ भाषा ॥

थोड़े २ शब्दों में इतने विषय स्पष्टरूप से उन में कहे हैं जैसा कि आधुनिक पण्डितों की रचना में दुर्लभ है और यह स्वभाव केवल धर्मशास्त्रों ही का नहीं है किन्तु पूर्वोक्त पुराणादि सब विद्याओं का है तथा शब्दों का यह स्वाभाविक शक्ति है कि वे श्रोताओं में अपने अर्थ के बोध को उत्पन्न करते हैं वही स्वभाव उक्त स्मृतियों का भी है क्योंकि ये भी शब्द ही हैं। अब ध्यान देना चाहिये कि मनु आदि इस समय यदि हम को प्रत्यक्ष होते तब हम उन के हृदयस्थित, उक्त स्मृतियों के मूलभूत वेदवाक्यों को प्रत्यक्ष निश्चित कर सकते परन्तु मनु आदि तो हम को प्रत्यक्ष ही नहीं हैं इस से उन की स्मृतियों का मूल जो मनु आदि का अनुभव है उस के मूल कारणरूपी अदृष्ट (प्रत्यक्ष नहीं) पदार्थ की कल्पना हम को अनन्यगति हो कर अवश्य करना पड़ेगा और ऐसी दशा में इन अदृष्ट पांच पदार्थों की कल्पना हो सकती है १ भ्रम २ अलौकिक अनुभव ३ पुरुषवाक्य ४ वञ्चना ५ चोदना (वैदिक विधिवाक्य)। और अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) की कल्पना की यह रीति है कि जहां तक हो सकै ऐसे ही अदृष्ट की कल्पना करनी चाहिये कि जिस में दृष्ट (प्रत्यक्ष) का विरोध न पड़ै तथा जिस अदृष्ट के कल्पना के कारण अन्य अदृष्ट की कल्पना न करनी पड़े। अब ध्यान देना चाहिये कि प्रकृत में यदि उक्त प्रथम कारण की कल्पना की जाय अर्थात् यह कहा जाय कि मनु आदि को प्रथम २ यह भ्रम हुआ कि 'अष्टका आदि कर्म, स्वर्ग आदि फलों के प्रति कारण हैं' और उसी भ्रम के अनुसार उन को स्मरण भी वैसा ही हुआ जिस के अनुसार उन्हों ने उक्त स्मृतियों की रचना की, तो इस कल्पना में दृष्ट का विरोध पड़ता है क्योंकि अनन्तरोक्त रीति से उन के निर्मित स्मृतिशास्त्र अत्यन्त महानुभाव और निर्दोष देखे जाते हैं तो वे कैसे भ्रममूलक हो सकते हैं तथा असङ्ख्य महाशयगण इन स्मृतिशास्त्रों की रचनासमय से ले कर आज तक इन्हीं के अनुसार कायक्लेश और द्रव्यों के व्यय से अतिविश्वासपूर्वक कर्मों को करते आते हैं जिस से कि इन स्मृतिशास्त्रों का प्रमाण होना अत्यन्त दृढ देखा जाता है इस का भी विरोध पड़ैगा क्योंकि भ्रममूलक शास्त्र में ऐसा दृढ प्रामाण्य नहीं देखा जाता अर्थात् थोड़े ही दिनों में भ्रममूलक शास्त्रों का भ्रमरूपी पोल खुल ही जाती है और उक्त कल्पना में अनेक अदृष्टों

शा०जातीयकमर्थमनुभवितुं शक्नुवन्ति।जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते। ग्रन्थस्तु अनुमीयेत, त०गतदृढप्रामाण्यबाधश्च। तदानीन्तनैश्च पुरुषैरपि भ्रान्तिर्मन्वादीनामनुवर्त्तिता। तत्परिहारोपन्यासश्च मन्वादीनामित्यनेकादृष्टकल्पना। अनुभवेऽपि स एव तावदनुभवः कल्पयितव्यः पुनश्चेदानीन्तनसर्वपुरुषजातिविपरीतसामर्थ्यकल्पना मन्वादेः तच्चैतत् सर्वज्ञवादे निराकृतम्। पुरुषवाक्यपरम्पराऽपि अन्धपरम्परया निराकृता। न हि निष्प्रतिष्ठप्रमाणात्मलाभो दृश्यते। तथा विप्रलम्भेऽपि तत्कल्पना विप्रलिप्साप्रयोजनं लोकस्य च तत्र भ्रान्तिः तस्याश्चेयन्तं कालमनुवृत्तिरित्याद्याश्रयणीयम्। उत्पन्नस्य च दृढस्य प्रत्ययस्य प्रामाण्यनिराकरणाद् दृष्टविरोधः। तस्मात् सर्वेभ्यश्चोदनाकल्पनैव ज्यायसी। तत्र हि तन्मात्रादृष्टाभ्युपगमः। शेषास्तु महाजनपरिग्रहादयः सर्वेऽनुविधीयन्ते। संभाव्यते च मन्वादीनां चोदना,

॥ भाषा ॥

की कल्पना भी करनी पड़ेगी अर्थात् यह भी कल्पना करनी पड़ेगी कि मनु आदि के समकालिक महाशयों ने भी उन के उक्त भ्रम को नहीं समझा बरुक उसी भ्रम को यथार्थ समझ कर उसी के अनुसार स्वयं भी कर्मों को किया और यदि किसी को यह भी शङ्का हुई कि मनु आदि का उक्त ज्ञान क्या भ्रम है ? तो मनु आदि ने उस शङ्का का निवारण भी उपायों से किया, इस रीति से अनेक अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ेगी। और यदि द्वितीय अदृष्ट की कल्पना की जाय अर्थात् यह कहा जाय कि मनु आदि का उक्त मूलज्ञान यथार्थ अलौकिक अनुभवरूपी था उस के अनुसार उन का स्मरण भी यथार्थ ही था जिस के अनुसार उन्हों ने उक्त स्मृतियों की रचना की, तो भी एक तो उक्त यथार्थ अनुभवरूपी अदृष्ट की कल्पना की गयी दूसरे यह भी कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी कि मनु आदि को ऐसी अलौकिक अनुभवशक्ति थी कि जैसी किसी आधुनिक महाशय में नहीं देखी जाती क्योंकि इस समय का कोई महाशय, उक्त स्मृतिवाक्यों के बिना, केवल अपने अनुभव से यह नहीं जान सकता कि अष्टका आदि कर्म, स्वर्गादि फल के कारण हैं। इस रीति से अनेक अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ेगी। और पुरुषवाक्यरूपी तीसरे अदृष्ट की कल्पना तो अन्धपरम्परान्याय से पूर्वपक्ष ही में खण्डित हो चुकी है। तथा बञ्चनारूपी चतुर्थ अदृष्ट की कल्पना में भी बञ्चना का प्रयोजन, (इस अर्थ के लिये बञ्चना किया) तथा उस बञ्चना को तब से आज तक असङ्ख्य महाशयों में से किसी ने नहीं समझा, बरुक अपने भ्रम से उसी बञ्चना को यथार्थ समझते आये और किसी को यदि बञ्चना की शङ्का हुई तो महाशय लोग उचित उपायों से उस का बारण भी करते आये, इन अनेक अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ेगी। तथा उक्त स्मृतियों के अनन्तरोक्त दृढ प्रामाण्यरूपी दृष्ट (प्रत्यक्ष) का बिरोध भी इस कल्पना में पड़ेगा। इस रीति से आदि के चारो अदृष्टों की कल्पनाएं नहीं हो सकतीं इस लिये बैदिक विधिवाक्यरूपी पांचवें अदृष्ट ही की कल्पना उचित है अर्थात् मनु आदि को बैदिक विधिवाक्यों ही से यह अनुभव प्रथम हुआ कि ' अष्टका आदि कर्म, स्वर्गादि फल के कारण हैं ' और इसी अनुभव के अनुसार स्मरण भी ऐसा ही हुआ जिस के अनुसार उक्त स्मृतियों को मनु आदि ने बनाया। यह कल्पना इस कारण से ठीक है कि बैदिक विधिवाक्यों से अनुभव का होना प्रत्यक्ष ही है उस में किसी अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी पड़ती और किसी दृष्ट का बिरोध भी इस कल्पना में नहीं पड़ता तथा मनु आदि त्रैवर्णिक थे इस से यह बहुत ही सम्भव है कि उन के

शा०कर्तृसामान्यात्स्मृतिवैदिकपदार्थयोः। तेन उपपन्नो वेदसंयोगस्त्रैवर्णिकानाम्। ननु नोपप-त०पूर्वविज्ञानकारणत्वेन। तदर्थमेवाह 'तेनोपपन्नो वेदसंयोगस्त्रैवर्णिकानामि' ति। यानि पुनरनुपपन्नवेदसम्भावनानां म्लेच्छादीनामतीन्द्रियार्थस्मरणानि तेषां मूलकल्पनावेलायामेव चोदना, सम्भावनापदं नारूढेति मिथ्यात्वहेतुमूलचतुष्टयपारिशेष्यादप्रमाणत्वम्। सम्भावितायां पुनश्चोदनायां कारणान्तरनिषेधे कृते निर्मूलत्वासम्भवात्परिशेषसिद्धं चोदनामूलत्वम्। यत्तु किमर्थं चोदना नोपलभ्यन्त इति। तत्र केचिदाहुः। नित्यानुमेयास्ता न कदाचिदुच्चार्यन्ते। यथा लिङ्गादिकल्पिताः। कथमनुच्चारितानां मूलत्वोपपत्तिरिति चेत्। नैष दोषः। पाठाविच्छेदवत्पारम्पर्येण स्मरणात्तत्सिद्धेः यथैव हि ग्रन्थः सम्प्रदायादविच्छिन्नो-

॥ भाषा ॥

प्रथम उक्त अनुभव का मूल, वैदिक विधिवाक्य ही हैं क्योंकि त्रैवर्णिकों ही को वेदाध्ययन में अधिकार है और वेदविरोधी बुद्धदेव अथवा म्लेच्छ आदि की रचित स्मृतियों के विषय में तो वैदिक विधिवाक्यरूपी मूल की सम्भावना ही नहीं हो सकती तथा प्रत्यक्षादिरूपी लौकिकप्रमाण भी उन के मूल नहीं हो सकते क्योंकि धर्मरूपी विषय ऐसा ही है कि उस का प्रथम अनुभव, केवल लौकिक प्रमाणों से हो ही नहीं सकता जैसा कि पूर्व में भली भाँति कहा जा चुका है इस रीति से अनन्यगति हो कर सब को यही स्वीकार करना पड़ता है, कि भ्रम प्रमाद और वञ्चना आदि रूपी अदृष्ट पदार्थ ही उन स्मृतियों के मूल हैं इसी लिये बुद्ध, जिन और म्लेच्छ आदि की निर्मित सब स्मृतियाँ अप्रामाणिक ही हैं। इस रीति से जब अष्टकादि स्मृतियों के विषय में वैदिक विधिवाक्यरूपी मूल का सम्भव दृढतर है और भ्रम आदि अन्य मूलों का पूर्वोक्तयुक्तियों से पूर्ण खण्डन हो जाता है तथा पूर्वोक्तरीति के अनुसार यह भी सिद्ध हो चुका है कि अष्टकादि स्मृतियाँ सर्वथा निर्मूल नहीं हैं तो इस में अब कुछ सन्देह नहीं रहा कि इन स्मृतियों के मूल, वैदिक विधिवाक्य ही हैं और वेदमूलक ही होने से अष्टकादि स्मृतियाँ धर्म के विषय में अटल प्रमाण हैं।

प्र०—उक्त अष्टकादि स्मृतियों के मूलभूत वेदवाक्य क्यों प्रत्यक्ष नहीं हैं?

स०—इस समय उक्त वैदिक विधिवाक्य नहीं प्रत्यक्ष हैं तो क्या? क्योंकि अष्टकादि स्मृतियों ही के अनुसार उन विधिवाक्यों का अनन्तरोक्त रीति से अनुमान होता है।

प्र०—उक्त विधिवाक्य, क्या कदाचित् प्रत्यक्ष भी थे? अथवा सदा उन का अनुमान ही होता है?

स०—उन का सदा अनुमान ही हो तो भी क्या दोष है? क्या अनुमान प्रमाण ही नहीं है जिस से कि उक्त विधिवाक्यों का निश्चय ही न हो सके? बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो कि अनुमान ही से सिद्ध होते हैं जैसे न्यायमत में पृथिवी आदि के परमाणु, साङ्ख्य के मत में मूलप्रकृति, योगमत में स्फोट, इत्यादि

प्र०—उक्त मूलवेदवाक्य, यदि कदाऽपि प्रत्यक्ष न थे तो उन का उच्चारण भी कभी नहीं हुआ क्योंकि यदि उच्चारण हुआ होता तब तो अन्य पुरुष वा उच्चारण करने वाले को वे प्रत्यक्ष ही होते, और जब कदाऽपि उच्चारित नहीं हैं तो वे किसी के मूल नहीं हो सकते।

स०—जैसे वे उक्त वैदिकवाक्य हम को प्रत्यक्ष नहीं हैं परन्तु मनु आदि की स्मृति के अनुसार हम उन को जानते हैं ऐसे ही मनु आदि को भी वे प्रत्यक्ष न थे किन्तु अपने पूर्वजों की

त०ऽस्तित्वं भजते तथैव प्रतिज्ञया नित्यानुमेयश्रुतिसंप्रदायाविच्छेदासिद्धिः। तत्त्वयुक्तम्। अन्धपरम्परान्यायादेव। या हि चोदना न कदाचिदुच्चार्य्यते तस्याः सर्वपुरुषप्रत्यक्षादिप्रसराभावाद् दुर्लभतरमस्तित्वम्। तथाच स्मृतेरपि सैव बन्ध्यादौहित्रतुल्यता। लिङ्गादीनां तु नित्यत्वान्नित्यमनुच्चरितश्रुत्यनुमानकारणत्वमविरुद्धम्। तेन वरं मलीनश्रुत्यनुमानमत्र। नच प्रलयो न सम्भाव्यते। दृश्यते हि प्रमादालस्यादिभिः पुरुषक्षयाच्चाल्पविषयत्वम्।

॥ भाषा ॥

स्मृति के अनुसार वे उन वाक्यों को जानते थे और उन के पूर्वज भी अपने पूर्वज की स्मृति के अनुसार, इस रीति से अनादिपरम्परा जब चली आती है तब क्यों वे वाक्य, उक्तस्मृतियों के मूल नहीं हो सकते ?।

खं०—उक्त बेदवाक्य, जब शब्दरूपी हैं तब उन का निश्चय, प्रत्यक्ष के बिना नहीं हो सकता क्योंकि शब्द की सिद्धि श्रवण इन्द्रिय ही से होता है तो जब वे प्रत्यक्ष ही नहीं हैं और पूर्वोक्त युक्ति से उन का अनुमान भी नहीं हो सकता तब यही कहना उचित है कि वे बेदवाक्य हुई नहीं हैं और उक्त स्मृतियाँ स्वप्नादिमूलक ही हैं तथा इस रीति से यह भी कह सकते हैं कि पूर्वोक्त अन्धपरम्परा के दृष्टान्त से ये स्मृतियाँ अप्रामाणिक ही हैं।

स०—जैसे 'प्रति ह वा तिष्ठन्ति य एता रात्री रुपयन्ति' (रात्रिसत्र नामक यज्ञ को जो करते हैं वे प्रतिष्ठित होते हैं) इस अर्थवाद के अनुसार 'प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमासीरन्' (प्रतिष्ठा के चाहने वाले, रात्रिसत्र को करें) इस बिधिवाक्य का सदा अनुमान ही होता है अर्थात् यह बिधिवाक्य बेद में कदाऽपि प्रत्यक्षपठित नहीं है परन्तु प्रमाण है और इसी के अनुसार रात्रिसत्र किया जाता है वैसे ही उक्त स्मृतियों के अनुसार मूलबेदवाक्यों का सदा अनुमान ही होता है और उन के अनुसार अष्टका आदि कर्म किये जाते हैं तो इस में क्या हानि है ?

खं०—उक्त अर्थवाद, अनादि निर्दोष बेदवाक्य है इसी से सदा ही उस के अनुसार उक्त बिधिवाक्य का अनुमान होना ठीक ही है और अष्टकादि स्मृतियाँ तो पुरुषबुद्धि से रचित तथा भ्रम आदि अनेक दोष रूपी मूलों की शङ्काओं से कलङ्कित हैं इस कारण इन स्मृतियों के अनुसार उक्त बेदवाक्यों का अनुमान कदाऽपि नहीं हो सकता निदान उक्त अर्थवाद के दृष्टान्त से प्रकृत में कोई लाभ नहीं है।

स०—अष्टकादि स्मृतियों के बैदिकवाक्यरूपी मूल, उन बेदशाखाओं में हैं कि जो अब लुप्त हो गयीं और अष्टकादि स्मृतियों के अनुसार उन्हीं मूलों की कल्पना वा अनुमान उक्त रीति से होता है।

प्र०—उक्त बेदशाखाओं का लोप कैसे हो गया ?

स०—पुरुषों के प्रमाद, आलस्य, अशक्ति और नाश आदि कारणों से उक्त शाखाओं का लोप होना कुछ आश्चर्य नहीं है।

प्र०—यदि ऐसा है तो लुप्तशाखाओं में बुद्ध आदि की स्मृतियों के मूल का अनुमान क्यों नहीं होता ?

स०—बुद्ध आदि जब वर्त्तमानशाखाओं के बिरोधी हैं और म्लेच्छगण बेदाध्ययन के अधिकारी ही नहीं हैं तब बैदिक बिधिवाक्यों के अनुसार उन की स्मृतिरचना का सम्भव ही नहीं

शा०लभन्ते एवं जातीयकं ग्रन्थम् । अनुपलभमाना अप्यनुमिमीरन् । विस्मरणमप्युपपद्यते इति,

त०नचैवं सति यत्किञ्चित्प्रमाणमापत्स्यते । शिष्टत्रैवर्णिकदृढस्मरणानुपपत्तिलभ्यत्वाच्छ्रुत्यनुमानस्य । यद्वा । विद्यमानशाखागतश्रुतिमूलत्वमेवास्तु । कथमनुपलब्धिरिति चेत् । उच्यते ।

शाखानां विप्रकीर्णत्वात्पुरुषाणां प्रमादतः ।
नानाप्रकरणस्थत्वात् स्मृतेर्मूलं न दृश्यते ॥

यत्तु किमर्थं वेदवाक्यान्येव नोपसंगृहीतानीति । सम्प्रदायविनाशभीतेः । विशिष्टानुपूर्व्या व्यवस्थितो हि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः श्रूयते । स्मार्त्ताश्चाचाराः केचित् क्वचित् कस्याश्चिच्छाखायाम् । तत्रापि तु केचित् पुरुषमेवाधिकृत्याम्नायन्ते ये न क्रतुप्रकरणाम्नाताः

॥ भाषा ॥

है इसी से उन स्मृतियों में मूलवेद का अनुमान नहीं हो सकता ।

प्र०—तब भी कोई त्रैवर्णिक अपनी मनमानी स्मृति बना कर लुप्तशाखाओं में उस का मूल बतला उस को क्यों नहीं प्रमाण कर सकता ?

स०—यदि कोई असभ्य पुरुष ऐसा करै भी तो यह विश्वास ही नहीं हो सकता कि 'उस ने लुप्तशाखाओं में अपनी स्मृति का मूल अवश्य देखा है' तथा उस के स्वार्थ की पोल भी बे खुले न रहैगी ।

प्र०—जिन स्मृतिवाक्यों के मूल विधिवाक्य, इस समय के वर्त्तमान वेदशाखाओं में मिल सकते हैं उन स्मृतियों के बनाने का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि उन मूलवाक्यों ही से सब काम चल सकता है ।

स०—वर्त्तमानशाखाएं भी सब एकत्रित नहीं मिलतीं अर्थात् जहां तहां अनेक देशों में कहीं किसी और कहीं किसी शाखा का प्रचार है और पुरुषों के प्रमाद से उन शाखाओं का एकत्रित होना बहुत कठिन है और यदि कथञ्चित् ये शाखाएं एकत्रित भी की जायँ तो उन में उन मूलभूत विधिवाक्यों का, अर्थवादों के परिहारपूर्वक विवेक करना बहुत ही कठिन है इस लिये उन स्मृतियों की रचना बहुत ही सप्रयोजन है ।

प्र०—यदि ऐसा है तो मनु आदि ने उन मूल वैदिकविधिवाक्यों ही को एकत्रित कर ग्रन्थरूप से क्यों नहीं बना दिया ? क्यों नवीन स्मृतियों की रचना की ?

स०—यदि ऐसा करते तो वेदसम्प्रदाय ही का मूलोच्छेद हो जाता इसी से ऐसा नहीं किया ।

प्र०—कैसे मूलोच्छेद होता ?

स०—ऐसे—वेद में वर्ण, पद, वाक्य और वाक्यसमूह रूपी महावाक्य जिस विशेष क्रम के अनुसार अनादिकाल से व्यवस्थित चले आते हैं उसी क्रम से उन के पढ़ने का विधान 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस उक्त शतपथ श्रुति से किया जाता है और स्मार्त्त (स्मृतियों में कहे हुए) आचार कोई २ किसी २ शाखा में कहीं २ हैं उन में भी कोई आचार ऐसे हैं कि जो यद्यपि यज्ञों के प्रकरण में पठित हैं तथापि यज्ञों के उपयोगी नहीं हैं किन्तु पुरुषों के साक्षात् उपयोगी हैं इस लिये मीमांसादर्शन के विचारानुसार, उन आचारों को यज्ञ के प्रकरण से निकाल कर उन का पुरुषोपयोगी होना सिद्ध है जैसे 'यस्य व्रत्येऽहन् पत्न्यनालम्भुका स्यात्तामवरुध्य यजेत' (यज्ञ

त०केनचिन्निमित्तेनोत्कृष्यमाणाः पुरुषधर्मतां भजन्ते। यथा 'मलवद्वाससा सह न संवदेत्' 'तस्मान्न ब्राह्मणायावगुरेदि' त्येवमादयः । तत्र यदि तावत्तान्येव वाक्यान्युद्धृत्या-ध्यापयेयुस्ततः क्रमान्यत्वात्स्वाध्यायविधिविरोधः स्यात् । अनेन च निर्देशेन अन्येऽप्यर्थवा-दोद्धारेण विधिमात्रमधीयीरन् कर्मौपयिकमात्रं वा । तत्र वेदप्रलयः प्रसज्येत । नचावश्यं मन्वादयः सर्वशाखाऽध्यायिनः । ते हि प्रयत्नेन शाखान्तराध्यायिभ्यः श्रुत्वाऽर्थमात्रं स्ववाक्यैरविस्मरणार्थं निबध्नीयुः । नच वाक्यविशेषो न ज्ञायते । यथैव हि स्मृतेर्दृढत्वा-द्भ्रान्तिमूलत्वं नास्त्येवमर्थवादमूलत्वमपि । शक्नुवन्ति हि ते विध्यर्थवादौ विवेक्तुम् । तत्र स्मृतेर्विध्यात्मकत्वात्प्रकृतितादात्म्यानुमानलब्धास्पदेऽर्थवादपूर्वकत्वं निष्प्रमाणकम् । अपि च । 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं' 'स सर्वोऽभिहितो वेद' इति च स्वयमेव स्मर्तृभिरात्मा बद्धा-

॥ भाषा ॥

के दिन यदि यजमान की पत्नी रजस्वला हो जाय तो उस को अन्य गृह में स्थापित कर यज्ञ करै) इस वेदवाक्य से जब पत्नी यजमान के गृह से निकाल दी गयी तब उस के साथ उस समय बात करने का कोई सम्भव नहीं है और दर्शपूर्णमास यज्ञ के प्रकरण में 'न मलवद्वाससा सह संवदेत्' (रजस्वला स्त्री के साथ बात न करै) यह निषेध पठित है तो जब पूर्व विधि के अनुसार रजस्वला के साथ वात न करने का सम्भव ही नहीं है तो दर्शपूर्णमास यज्ञ में यह निषेध व्यर्थ ही है इस लिये इस निषेध को दर्शपूर्णमास के प्रकरण से निकाल कर केवल पुरुषोपयोगी माना जाता है अर्थात् उक्त निषेध का यही तात्पर्य है कि पुरुष, यज्ञ से अन्य समय में भी रजस्वला के साथ बात न करै और यह निर्णय मीमांसादर्शन में है इसी से मनु ने भी सामान्यरूप से 'नोदक्ययाऽभि भाषेत' (रजस्वला से सम्मुख भाषण न करै) यह निषेध कहा है । ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं । अब ध्यान देना चाहिये कि यदि वेद से मूलभूत उन विधिवाक्यों हीं को उद्धृत कर ग्रन्थ बनाते और उसी के अध्ययन का प्रचार करते तो अनन्तरोक्त अध्ययनविधि का विरोध अवश्य पड़ता क्योंकि वैदिक क्रम टूट जाता और उसी ग्रन्थ के दृष्टान्त से अर्थवादों को छोड़ कर केवल विधिवाक्यों ही को लोग पढ़ने पढ़ाने लगते यहां तक कि जिस को जिस कर्म के करने की इच्छा होती वह उसी कर्म के विधिवाक्य मात्र को पढ़ कर कृतार्थ हो जाता इस रीति से वेद के अध्ययन अध्यापन के सम्प्रदाय का प्रलय ही हो जाता।

प्र०—मनु आदि ने जब यह समझा था कि धर्म के विषय में वेद के बिना कोई वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता तो अपने प्रत्येक स्मृतिवाक्य में उस २ के मूलभूत वैदिक विधिवाक्यों का निर्देश क्यों नहीं किया ? और विशेषरूप से अष्टकादि स्मृतिवाक्यों (जिन का मूल प्रत्यक्षपठित नहीं मिलता) के मूल वैदिकविधिवाक्यों का निर्देश उन में क्यों नहीं किया ?

स०—(१) मनु आदि भी वेद के सब शाखाओं को अवश्य पढ़े थे यह निश्चय नहीं हो सकता और यह हो सकता है कि अपनी अपठित शाखाओं के पढ़नेवालों से अर्थमात्र सुन कर विस्मरण न हो जाने के लिये अपने वाक्यों में उन अर्थों को बांध दिया हो । तो ऐसी दशा में अष्टकादि स्मृतियों में मनु आदि, उन के मूलवाक्यों का निर्देश कैसे कर सकते थे।

स०—(२) यद्यपि प्रत्येक स्मृतिवाक्य में विशेषरूप से मूलवाक्य का निर्देश नहीं है तथापि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (समस्त वेद, धर्म का मूल है) 'स सर्वोऽभिहितो वेदे' (अपनी

शा०तदुपपन्नत्वात्पूर्वविज्ञानस्य त्रैवर्णिकानां स्मरताम्, विस्मरणस्य च उपपन्नत्वात् ग्रन्थानुमानमुपपद्यते इति प्रमाणं स्मृतिः। अष्टकालिङ्गाश्च मन्त्रा वेदे दृश्यन्ते, 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति' इत्येवमादयः। तथा प्रत्युपस्थितनियमानामाचाराणां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यं गुरोरनुगमात् प्रीतो गुरुः अध्यापयिष्यति, ग्रन्थग्रन्थिभेदिनश्च न्यायान् परितुष्टो वक्ष्यति इति।

त०समर्पितस्त्वचैतन्नियोगतस्तत्कालैः कर्तृभिर्बुद्धिकारित्वादुपलब्धमतःसिद्धं वेदद्वारं प्रामाण्यम्। यस्तु कर्तृसामान्यात् स्वतन्त्रमेव प्रामाण्यं वेदमूलत्वं वाऽनुमानेन साधयति तस्यार्थकामानुसारिभिर्दृष्टार्थैराचारैरनेकान्तः। श्रूयमाणश्रुत्यर्थानप्रामाण्यापत्तेश्च विरुद्धता। तस्मादर्थापत्तिरेवात्राव्यभिचारादुपचारात्पश्चान्मानादनुमानत्वेनोक्ता अस्या एव स्मृतेर्दृढिम्न इति। दृढत्वात्कारणानुमानमथवा दृढत्वस्य। न हि मनुष्या इहैवेति निःशेषसंस्कारच्छिदा मरणेनान्तरितत्वात्कर्मफलसम्बन्धानुसन्धानासम्भवेनोच्यते। स्मृतिवैदिकपदार्थयोः कर्तृसामान्यादुपपन्नो वेदसंयोगस्त्रैवर्णिकानामिति चोदनामूलसम्भावनापदलाभार्थं विस्मरणमप्युपपद्यते इति। दृश्यते ह्यद्यत्वेऽप्यर्थस्मरणं ग्रन्थनाशश्च। यदा तु शाखान्तरेषु विद्यन्त एव ताः श्रुतयस्तदापि कस्यां शाखायां काः पठ्यन्त इति अस्यांशस्य विस्मरणम्। वैदिकत्वमात्रं तु प्रामाण्यसिद्धये परिपालयन्ति। तद्विशेषज्ञानं पुनरनौपयिकत्वादनादर्त्तव्यमेव। तथा प्रत्युपस्थितनियमानामित्यागतमागतं निमित्तं प्रति ये नियम्यन्ते वृद्धवयःप्रत्युत्थानादयस्तेषां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यमिति। एतदयुक्तम्। कुतः॥

धर्मं प्रति यतोऽत्रेदं प्रामाण्यं प्रस्तुतं स्मृतेः।
तस्माद्दृष्ट्यादिवत्तेषामुपन्यासो न युज्यते॥

न हि यावत्किञ्चिदाचरणं तस्य सर्वस्य मूलमिह प्रमाणीक्रियते। धर्मजिज्ञासाऽधिकारात्। यदि च गुर्वनुगमनादीनां केवलं दृष्टार्थत्वमेव स्यात्तत कृष्यादिवद्धर्मप्रत्यप्रामाण्यमेवेति नोपन्यसितव्याः। स्यादेतदप्रमाणत्वेनैषामुपन्यास इति। न। तथा सति हेतुदर्शनाचेत्यत्रोदाहर्त्तव्या भवेयुः। तस्माच्छ्रेयांसमिति च दर्शनं निष्फलम्। न च नियोगतः शास्त्रादृते प्राप्तिः। शक्यते ह्युपायान्तरेणापि सामदानादिना गुरुरध्यापनादीनि कारयितुम्। तत्रास्ति नियमादिविधेरवकाशः। सर्वत्र च यथा कथञ्चिल्लोकपङ्क्तिसहायोपादानात्मरक्षणप्रीत्युत्पादादिका दृष्टार्थता भाष्यकारोक्ता शक्या वक्तुम्। नचावघातादीनां वृष्टिकामयाजादीनां च दृष्टार्थानामवैदिकत्वम्। तस्मात् सत्यपि दृष्टार्थत्वे सम्भाव्यते वेदमूलत्वम् नियमाददृष्टसिद्धेरनन्यप्रमाणकत्वादतश्च गुर्वनुगमनादेर्नैमित्तिकत्वादक्रियायां प्रत्यवायः करणे च न भवति। दृष्टं च प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यतीत्येवमादि निष्पद्यते। नियमाच्चाविघ्नसमाप्त्यर्थोऽपूर्वसिद्धिः। एवंचाचाराद् गृह्यमाणेषु तथा स्यादित्यत्र सकृदसकृद्वा-

॥ भाषा ॥

स्मृति में मनु ने जो कुछ धर्म कहा है वह सब वेद में कहा हुआ है) इत्यादि वाक्यों से मनु आदि ने अपनी स्मृतियों के मूलभूत वेद का सामान्यरूप से निर्देश किया ही है और उक्त अपने वाक्यों से स्वयं अपने को बांध कर वेद के हाथ में समर्पण कर दिया है।

प्र०—मनु आदि को वेद के विधि और अर्थवाद का विवेक कैसे हुआ होगा ?

स०—जब मीमांसादर्शन के अनुसार हम लोगों को भी विधि और अर्थवाद का विवेक

शा०तथाच दर्शयति, तस्मात् श्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति इति। प्रपास्तडागाश्च परोपकाराय, न धर्माय, इत्येवावगम्यते तथा च दर्शनं 'धन्वन्निव प्रपा असि' इति, तथा स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति इति च। गोत्रचिह्नं शिखाकर्म, दर्शनञ्च, यत्र बाणाः सम्पतन्ति इति। तेन ये दृष्टार्थाः, ते तत एव प्रमाणं, येत्वदृष्टार्थाः, तेषु वैदिकशब्दानुमानमिति।

त०ऽनुष्ठानमिति विचारो युक्तः। इतरथा तु दृष्टार्थत्ववशेनैवोदकपानादिवदवधारणं स्यात्। यत्तु भाष्यकारेण दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यमित्युक्तं तत्पूर्वपक्षवाद्यतिशयार्थम् एतदुक्तं भवति। यास्तावददृष्टार्थाः स्मृतयस्ताः कथञ्चिदप्रमाणी।कुर्याद्भवान् इमाःपुनर्गुर्वनुगमनादिविषयाः कथमिवाप्रमाणंभविष्यन्तीति। सभाप्रपादीनां यद्यपि ।विशेषश्रुतिर्नैव कल्प्यते तथापि परोपकारश्रुत्यैव समस्तानामुपादानात्प्रामाण्यम्। तस्माच्छ्रेयांसमित्यश्वे गर्दभेनानुगन्तव्ये सिद्धवच्छ्रेयसामूनैरनुगमनं दर्शयति। यथा धन्वनि निरुदके कृताः प्रपाः परेषामुपकुर्वन्त्येवं त्वमिति देवतापरे स्तुतिवाक्ये सिद्धवत्प्रपासद्भावः तस्याश्च पारार्थ्यं दृश्यते। गोत्रचिह्नं शिखाकर्मेति। तत्राप्याचारनियमस्यादृष्टार्थत्वान्नतावन्मात्रमेव प्रयोजनम्। शक्यं ह्युपायान्तरेणापि गोत्रं स्मर्तुम् तेनायमेवाभिप्रायः। कर्माङ्गभूतं तावच्चतुरवत्तपञ्चावत्तादि विभागासिध्यर्थमवश्यं स्मर्त्तव्यं गोत्रम्। अतश्च तच्चिह्नार्थमपि तावच्छिखाकल्पस्मृतेः प्रामाण्यमस्तु। तन्नियमादृष्टस्यत्वेकान्तेनैवानन्यगतिकत्वात् पुरुषार्थता सेत्स्यतीति। तेन सर्व-

॥ भाषा ॥

हो सकता है तब मनु आदि ऐसे महानुभावों के विषय में उक्त प्रश्न ही अनुचित है। तथा विधान करने वाले स्मृतिवाक्यों के मूल भी वे ही बेदवाक्य हो सकते हैं जो कि विधान करने वाले हैं क्योंकि लोक में मूल और मूली (मूलवाला) प्रायः तुल्य ही देखे जाते हैं।

प्र०–'प्रपा कर्तव्या' (पनसला खोले) इत्यादि स्मृतियों का तो लोकोपकाररूप दृष्ट (प्रत्यक्ष) ही प्रयोजन से उपपत्ति हो सकती है तो ऐसी स्मृतियों के विषय में मूलवेद के अनुमान से क्या प्रयोजन है ?

स०–(१) ऐसी स्मृतियों के विषय में यदि मूलवेद का अनुमान न भी हो तो कुछ हानि नहीं है क्योंकि ऐसी स्मृतियों लोकानुभव ही के अनुसार प्रमाण हैं।

स०–(२) इन स्मृतियों का भी परोपकार का विधान करने वाला बेद, मूल हो ही सकता है क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि जिस कर्म से दृष्ट प्रयोजन न सिद्ध हो वही कर्म, बेदमूलक होता है, क्योंकि अवघात (कूटना) आदि बैदिक कर्मों का धान्य का भुस छुटजाना आदि दृष्ट भी प्रयोजन हैं तो क्या अवघात आदि कर्म बैदिक नहीं हैं ? किन्तु यही नियम है कि जिस कर्म का कुछ अदृष्ट प्रयोजन अवश्य हो (दृष्ट प्रयोजन हो वा न हो) वही कर्म, बेदमूलक है जैसे यज्ञोपकाररूप अदृष्ट प्रयोजन वाले अवघात आदि कर्म, हैं बेदमूलक हैं इसी रीति से 'प्रपा कर्तव्या' आदि स्मृतियाँ भी बेदमूलक हैं क्योंकि प्रपा आदि का यद्यपि लोकोपकाररूपी दृष्ट प्रयोजन है तथापि उन के कर्ताओं का स्वर्गादिरूपी अदृष्ट प्रयोजन भी है।

तस्मात् जैसे परीक्षा करने से जिस पुरुष के ९९ वाक्य सत्य होते हैं उस के दो एक वाक्य (जिन में कि उस पुरुष का स्वार्थ न हो) बिना परीक्षा के भी सत्य ही माने जाते और वास्तविक में सत्य ही होते भी हैं वैसे ही जब मनु आदि के सहस्रों स्मृतिवाक्यों के मूलवाक्य प्रत्यक्षपठित बेदों में मिलते हैं तो अष्टका आदि के विषय में उन्हीं मनु आदि के रचित कतिपय स्मृतिवाक्यों को, बिना परीक्षा के भी बेदमूलक और प्रमाण मान लेना ही उचित है। और यहां तो जब उक्त रीति से पूर्ण परीक्षा के अनुसार उन का बेदमूलक होना भलीभांति सिद्ध हो चुका तब उन के बेदमूलक और प्रमाण होने में सन्देह ही क्या है ? इस रीति से मन्वादि स्मृतियों का

तत्स्मृतीनां प्रयोजनवती प्रामाण्यसिद्धिः। तत्र तु यावद्धर्ममोक्षसम्बन्धि तद्वेदप्रभवम्। यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारपूर्वकमिति विवेक्तव्यम्। एषैवेतिहासपुराणयोरप्युपदेशवाक्यानां गतिः। उपाख्यानानि त्वर्थवादेषु व्याख्यातानि। यत्तु पृथिवीविभागकथनं तद्धर्माधर्मसाधनफलोपभोगप्रदेशविवेकाय किञ्चिद्दर्शनपूर्वकं किञ्चिद्वेदमूलम्। वंशानुक्रमणमपि ब्राह्मणक्षत्रियजातिगोत्रज्ञानार्थं दर्शनस्मरणमूलम्। देशकालपरिमाणमपि लोकज्योतिःशास्त्रव्यवहारसिद्ध्यर्थं दर्शनगणितसम्प्रदायानुमानपूर्वकम्। भाविकथनमपि त्वनादि-

॥ भाषा ॥

प्रामाण्य सिद्ध हो गया। परन्तु इस विषय में इतना ही विवेक है कि जो स्मृतिवाक्य, धर्म और मोक्ष के सम्बन्ध में हैं वे वेदमूलक हैं और जो स्मृतिवाक्य, केवल अर्थ और सुख के विषय में हैं वे लोकव्यवहारमूलक हैं। और जो प्रामाण्य सिद्ध करने की रीति, धर्मशास्त्र के विषय में यहां तक कही गई है यही रीति, इतिहास और पुराण के उपदेशवाक्यों में भी प्रामाण्यसिद्धि के लिये है।

प्र०—इतिहास और पुराण के उपाख्यान भागों का प्रामाण्य, कैसे सिद्ध होगा? और वे उपाख्यान, वेदमूलक कैसे हो सकते हैं? क्योंकि उन के बनाने वालों की सत्यवादिता पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं है तथा उन उपाख्यानों में कही हुई घटनाएं प्रायः लोकानुभव से विरुद्ध हैं।

स०—पूर्व हीं अर्थवादाधिकरण में इस प्रश्न का समाधान हो चुका है अर्थात् जैसे वेद के अर्थवाद भाग का प्रयोजन और प्रामाण्य सिद्ध होता है वैसे ही उक्त उपाख्यानों का भी।

प्र०—इतिहास और पुराण में जो पृथिवी के द्वीपों का और भारतादिवर्षों का विभाग कहा हुआ है उस में क्या मूल और उस का क्या प्रयोजन है?

स०—वर्णाश्रमधर्म, जम्बूद्वीप के भारतवर्ष ही में यदि किया जाय तो उस से फललाभ होता है न कि अन्य देश में। और भारतवर्ष से अतिरिक्त जितने देश अर्थात् द्वीपान्तर आदि पृथिवीदेश तथा स्वर्गादिलोक और नरकादिस्थान हैं सब, धर्म और अधर्म के फलभोग ही के लिये हैं निदान भारतवर्ष ही विशेष और धर्म अधर्म की भूमि है और सब, फलभूमि हैं यह निश्चय ही, उक्त विभाग के कथन का प्रयोजन है और मन्वादिस्मृतियों के नाईं इस कथन का भी वेद ही मूल है।

प्र०—पुराणादि में देवता, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के वंशवर्णन का क्या प्रयोजन और मूल है?

स०—जाति और गोत्र का विवेक ही वंशवर्णन का प्रयोजन है और मूल भी प्रत्यक्ष अनुभव और स्मरण है।

प्र०—पुराण आदि में अंगुल, बिलस्त, हाथ, लट्ठा, क्रोश, आदि देशपरिमाणों (नाप) तथा निमेष, काष्ठा, क्षण, पला,, दण्ड, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, आदि कालपरिमाणों के वर्णन का क्या प्रयोजन और मूल है?।

स०—देशपरिमाण, लोकव्यवहार के लिये और कालपरिमाण, ज्यौतिषशास्त्रीय व्यवहार के लिये है तथा खगोल (चन्द्र सूर्य आदि ग्रहों का अन्तराल) का वर्णन भी ज्यौतिषशास्त्रीय व्यवहार के लिये है। और इन वर्णनों का मूल भी गणितविद्यामूलक दृढतर अनुमान ही है।

प्र०—पुराणादि में भविष्यत् बाणी (कलियुग में अधर्म की वृद्धि होगी और थोड़े धर्म से भी अधिक सुख होगा इत्यादि) का क्या प्रयोजन और मूल है?

त०कालप्रवृत्तयुगस्वभावधर्माधर्मानुष्ठानफलविपाकवैचित्र्यज्ञानद्वारेण वेदमूलमेव। अङ्गविधानामपि क्रत्वर्थपुरुषार्थप्रतिपादनं लोकवेदपूर्वकत्वेन विवेक्तव्यम्। तत्र शिक्षायां तावद्वर्णकरणस्वरकालादिप्रविभागकथनं तत्प्रत्यक्षपूर्वकम्। यत्तु तथाविज्ञानात्प्रयोगे फलविशेषस्मरणम् मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वेति च प्रत्यवायस्मृतिस्तद्वेदमूलम्। एवं कल्पसूत्रेष्वर्थवादादिमिश्रशाखान्तरविप्रकीर्णन्यायलभ्यविध्युपसंहारफलमर्थनिरूपणं तत्तत्प्रमाणमङ्गीकृतम्। लोकव्यवहारपूर्वकाश्च केचिद् ऋत्विगादिव्यवहाराः सुखार्थहेतुत्वेनाश्रिताः। व्याकरणेऽपि शब्दापशब्दविभागज्ञानं साक्षाद्वृक्षादिविभागवत्प्रत्यक्षनिमित्तम्। साधुशब्दप्रयोगात्फलसिद्धिः, अपशब्देन तु फलवैगुण्यं भवतीति वैदिकम्। छन्दोविचित्यामपि गायत्र्यादिविवेको लोकवेदयोः पूर्ववदेव प्रत्यक्षः। तज्ज्ञानपूर्वकप्रयोगात्तु फलमिति श्रौतम्।

॥ भाषा ॥

स०—युगों के स्वभावानुसार धर्म और अधर्म तथा सुख और दुःख की विचित्रता का ज्ञान ही उक्त भविष्यत् वाणी का प्रयोजन है तथा 'आघाता गच्छान् उत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि'। ऋ० मं० १० अध्या० १ सू० १० मं० १० (जिन समयविशेषों में भगिनियाँ भाइयों से अन्य पति करेंगी वे समयविशेष आगे आवेंगे) भाव यह है कि यम अपनी भगिनी यमी से यह कहते हैं कि इस समय यद्यपि कलिकाल का अन्तिम भाग है जिस में कि भगिनी भाई के और पिता, पुत्री के तथा पुत्र, माता के साथ गमन कर रहे हैं तथापि वे सत्य आदि युग आने वाले हैं जिन में कि भगिनी आदि भाई आदि से अन्य ही को पति करेंगी इति। इत्यादि वेदवाक्य, उस के मूल हैं।

शिक्षा कल्प आदि पूर्वोक्त अङ्गविद्याओं में भी किसी का यज्ञोपकार और किसी का पुरुषोपकार फल है तथा यथासम्भव किसी का वेद और किसी का लोकानुभव मूल है। जैसे शिक्षा में अकारादि वर्ण, सम्वृत आदि प्रयत्न, (जिस व्यापार से वर्ण उत्पन्न होते हैं) उदात्त आदि स्वर, ह्रस्व दीर्घ आदि काल और कण्ठतालु आदि स्थानों का कथन, प्रत्यक्षमूलक है तथा उक्त वर्णादि के ज्ञानपूर्वक, शब्दों के प्रयोग का यज्ञोपकार और पुरुषोपकाररूपी फल का कथन और मन्त्रों के वर्णहीन और स्वरहीन होने से पाप होने का वर्णन, वेदमूलक है।

ऐसे ही कल्पसूत्रों में वेदार्थ के निरूपण का, अनेकशाखा के अनेक स्थानों पर अर्थवादों से मिले जुले विधिवाक्यों का एकत्रित होना और अर्थवादों से पृथक् उन का विवेक तथा न्यायपूर्वक उन के तात्पर्यों का निर्णय, ये फल हैं और यथासम्भव न्याय, (युक्ति) लोकानुभव और वेदवाक्य उस के मूल हैं तथा ऋत्विक् आदि के 'को यज्ञः' (यज्ञ कौन है) इत्यादि प्रश्नोत्तर का, यज्ञक्रिया की सुगमता फल है और दक्षिणा के प्रश्नोत्तरों का अर्थ, (धन) फल है। और इन दोनों प्रकार के प्रश्नोत्तरों का, लोकव्यवहार, मूल है।

व्याकरण का भी साधु और असाधु शब्द का विवेकज्ञान प्रयोजन है और उस का मूल प्रत्यक्ष है। तथा यह अंश कि यज्ञों में साधुशब्द के प्रयोग से फलसिद्धि और असाधुशब्द के प्रयोग से उलटा फल होना, वेदमूलक है। ऐसे ही निरुक्त का, वैदिकपदों के अर्थ का ज्ञान, फल है और प्रत्यक्षअनुभव उस का मूल है।

छन्दःशास्त्र का भी लौकिक और वैदिक मन्त्ररूपी वाक्यों में गायत्री आदि छन्दों का

त०तथाचाऽनिष्टं श्रूयते। यो ह वाऽविदितार्षेयछन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति याजयति वेत्यादि। ज्योतिःशास्त्रेऽपि युगपरिवर्त्तपरिमाणद्वारेण चन्द्रादित्यादिगतिविभागेन तिथिनक्षत्रज्ञानमविच्छिन्नसम्प्रदायगणितानुमानमूलं ग्रहसौस्थ्यदौस्थ्यनिमित्तपूर्वकृतशुभाशुभकर्मफलविपाकसूचनं तद्गतशान्त्यादिविधानद्वारेण वेदमूलम्। एतेन सामुद्रवास्तुविद्यादि व्याख्यातम्। ईदृशा वा विषयः सर्वत्रानुमातव्याः। ईदृशे हि गृहशरीरादिसन्निवेशे सत्येतदेतच्च प्रतिपत्तव्यमिति। मीमांसा तु लोकादेव प्रत्यक्षानुमानादिभिरविच्छिन्नसम्प्रदाय-

॥ भाषा ॥

विवेक फल है और मूल भी उस का लोकानुभव तथा वेद यथासम्भव है और इस अंश का कि 'गायत्री आदि छन्दों के विवेकपूर्वक ही मन्त्रपाठ से फलसिद्धि होती है' वेद मूल है क्योंकि गायत्री आदि के विवेक बिना, यज्ञ करने कराने से पाप होना 'यो ह वाऽविदितार्षेयछन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति याजयति वा स स्थाणुं वर्छति प्रवा मीयते स पापीयान्भवति' (जो पुरुष मन्त्रों के ऋषि, छन्द, देवता, और ब्राह्मणभाग के वाक्य को, बिना जाने, मन्त्रों से यज्ञ करता वा कराता है वह पापी होता है) इत्यादि वेद में कहा है।

ज्यौतिषशास्त्र में भी तिथि आदि के कथन का लोकानुभवसिद्ध गणितमूलक अनुमान ही मूल है क्योंकि कल्प (ब्रह्मा का दिन) के आदि में सूर्य आदि ग्रह एक ही नक्षत्र पर स्थित रहते हैं, तदनन्तर अपनी २ शीघ्र और मन्द गतियों के अनुसार अन्यान्य नक्षत्रों पर भ्रमण करते हैं और उक्त गतिविशेष के अनुसार उन ग्रहों में अनन्त प्रकारों की विलक्षणता होती है तथा उन गतिविशेषों से संयुक्त और उन्हीं के अनुसार कल्पित, कालभागों को 'तिथि' 'नक्षत्र' आदि शब्दों से कहते हैं इस रीति से ग्रहों के गतिविभाग ही के अनुसार तिथि नक्षत्र आदि का विवेक होता है। और 'एक युग में सूर्य चन्द्रमा के गतिविशेषों की इतनी वार आवृतियां होती हैं' इस ज्ञान के अनुसार मास वर्ष आदि विभाग का विवेक होता है। और इन सब विवेकों का मूल भी अनादि गणितसम्प्रदाय ही है तथा जीवों के प्रारब्धकर्मों के अनुसार उन के सुख दुःख और शरीर आदि सब विषयों का परिवर्तन भी काल ही के द्वारा होता है और काल, निरवयव अनादि अनन्त पदार्थ है जिस का सम्बन्ध सब पदार्थों (ग्रहों की गति और शरीर आदि विषय) के साथ है तथा काल में असङ्ख्य प्रकार की अनन्त शक्तियां हैं जिन के अनन्त प्रकार के फल सब विषयों पर लोक में प्रत्यक्ष ही हैं और उन शक्तियों का विवेक, बिना काल में अवयवकल्पना के नहीं हो सकती इस लिये ज्यौतिषशास्त्र में ग्रह आदि की गति आदिरूपी क्रियाओं के अनुसार विषघटी से ले कर महाकल्प (ब्रह्मा का जीवनकाल) पर्यन्त छोटे से छोटे और बड़े से बड़े असङ्ख्य अवयवों की कल्पनामात्र कर उस के अनुसार कालशक्तियों के विवेकद्वारा जीवों के सुख दुःख और शरीरादिविषयों के अवस्थाविशेषरूपी फलों के ज्ञान कराने के उपाय कहे हुए हैं परन्तु अमुक ग्रह के अमुक गतिविशेष से अमुक फल होता है तथा अमुक ग्रह की शान्ति से अमुक फल होता है इत्यादि अंशों में ज्यौतिषशास्त्र का, वेद ही मूल है।

ज्यौतिषशास्त्र के मूल और फल के वर्णन ही से सामुद्रक (शरीररेखा आदि का वर्णन) तथा वास्तुविद्या (ग्रहादिरचना का प्रकार) आदि (जो कि अर्थशास्त्र में अन्तर्गत हैं) विद्याओं का भी मूल और फल वर्णितप्राय है।

मीमांसा का तो धर्मविवेकरूपी फल प्रथमसूत्र ही पर कहा गया है और प्रत्यक्ष, अनुमान

त०पण्डितव्यवहारैः प्रवृत्ता। न हि कश्चिदपि प्रथममेतावन्तं युक्तिकलापमुपसंहर्तुं क्षमः। एतेन न्यायबिस्तरं व्याचक्षीत ॥

विषयो बेदवाक्यानां पदार्थैः प्रतिपाद्यते।
ते च जात्यादिभेदेन सङ्कीर्णा लोकवर्त्मनि ॥
स्वलक्षणबिविक्तैस्तैः प्रत्यक्षादिभिरञ्जसा।
परीक्षकार्पितैः शक्याः प्रबिवेक्तुं नतु स्वतः ॥
बेदोऽपि बिप्रकीर्णात्मा प्रत्यक्षाद्यवधारितः।
स्वार्थं साधयतीत्येवं ज्ञेयास्ते न्यायबिस्तरात् ॥

तथाच मानवेऽप्यभिहितम्।

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च बिबिधागमम्।
त्रयं सुबिदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ इति

तथा—

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं बेद नेतरः ॥

इत्यादिभिस्तर्कबिशुद्धिराश्रिता। प्रायेण च मनुष्याणामधर्मभूयिष्ठत्वात्तज्ज्ञानप्रतिबद्धाः प्रतिभास्तेषु तेषु कुमार्गेषु प्रवर्त्तन्ते। तत्र लोकार्थवादोपनिषत्प्रसूतैस्तर्कशास्त्रैः सर्व-

॥ भाषा ॥

आदि प्रमाणों के अनुसार अनादिकाल से निरन्तर चलता हुआ आया है बड़े २ पण्डितों का लोकव्यवहार ही इस का मूल है क्योंकि किसी का यह सामर्थ्य नहीं हो सकता कि एकाएकी इतनी युक्तियों का सङ्ग्रह कर ले।

मीमांसा का जो मूल और फल है वही न्यायशास्त्र का भी मूल और फल है।

प्र०—न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों का निरूपण ही है तब ऐसे शास्त्र का धर्मज्ञान कैसे प्रयोजन हो सकता है ?

स०—प्रमाणों के निर्णय बिना, पदार्थों का ठीक निर्णय नहीं हो सकता और उस के बिना बैदिकपदों के अर्थ का निश्चय नहीं होता तथा तर्कशास्त्र से शून्य मनुष्यों का यह काम नहीं है कि वे प्रमाणों का और पदार्थों का ठीक बिबेकपूर्बक निर्णय कर लें। और बेद भी ऐसा नहीं है कि एकाएकी प्रमाणों के बिना कोई उस के स्वरूप का निर्णय ठीक कर ले। इसी से मनु अध्या० १२ 'प्रत्यक्षमनुमानञ्च०' ॥ १०५ ॥ 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते' वाक्यों में यह स्पष्ट ही कहा है कि धर्मतत्त्व के निश्चयार्थ, प्रत्यक्ष, अनुमान और सब बिद्याओं के सहित बेद को भली भांति जानना चाहिये। तथा बेद और बेदमूलक स्मृत्यादि ग्रन्थों के तात्पर्यों को जो पुरुष बेद और शास्त्र के अबिरोधी तर्क से अनुसन्धान करता है वही धर्म को जानता है न कि दूसरा इति।

प्र०—यदि तर्कशास्त्र भी धर्मोपयोगी है तो बौद्धादि के रचित तर्कशास्त्र भी क्यों नहीं धर्मोपयोगी हैं ?

स०—वे भी इस रीति से धर्मोपयोगी हैं कि प्रायः मनुष्यों के अन्तःकरण के, अधर्मवासना से वासित होने के कारण उन की प्रतिभाशक्ति, कुमार्गों हीं के ओर प्रवृत्त होती है और उन के निर्मित तर्कशास्त्र भी लोक और अर्थवाद के अनुसार धर्मबिरुद्धपक्षों को उठा कर उन की

त०विप्रतिपत्तिमुखप्रदर्शनम्।तदुपपत्तयस्तद्बलाबलपूर्वकं च निश्चयद्वारं कथ्यते।अन्यथा पुनः।

प्रतिभान्त्यः स्वयं पुंसामपूर्वा ह्युपपत्तयः ।
भ्रान्तिं बहुमताः सत्यः कुर्युरज्ञानबोधनात् ॥

सर्वासु तु प्रदर्शितासु स्वातन्त्र्येण विशोधयन्तः काश्चिदुत्सृज्यान्याः प्रमाणीकरिष्यन्ति । यदपि च नित्यानित्यपृथक्त्वैकत्वसामान्यविशेषव्यतिरेकाद्येकान्तप्रतिपादनं तदपि पक्षपातादृते अन्यतरांशनिरूपणाशक्तेः । अवश्यं च सर्वात्मकवस्तुयुगपद्ग्रहणासम्भवात् तद्भागोपनिपातिपदविषयविवेकार्थमेकैकनिरूपणमादरेण कर्त्तव्यम् । अन्यथा येऽनवाप्तसामान्यविशेषाद्युपपत्तयः पुरुषास्ते पदप्रतिपाद्यं निष्कृष्टं वस्तुभागं लोकमात्रालोचनेन नैवाध्यवस्येयुः । मन्त्रार्थवादोपात्ताश्च स्तुतिनिन्दास्तत्तन्नित्यानित्यैकपृथक्त्वैकान्तमाश्रित्य तत्र तत्र विधिप्रतिषेधाङ्गत्वेन प्रवर्त्तमानाः पक्षपातप्रतिपादितवस्तुधर्मवैचित्र्यादृते निरालम्बनाः स्युः । याश्चैताः प्रधानपुरुषेश्वरपरमाणुकारणादिप्रक्रियाः सृष्टिप्रलयादिरूपेण प्रतीतास्ताः

॥ भाषा ॥

उपपत्ति करते हैं जिस से कि अनेकपक्षों के बिचार का अवसर मिलता है कि जिस के अनुसार बिचार करने से सिद्धान्तरूपी पक्ष का निर्णय होता है । यदि उन के तर्कशास्त्र न हों तो बिचार करने का प्रयोजन न होने से सिद्धान्तपक्ष का केवल स्वरूप ही कहा जायगा और उपपत्ति न कहने से सिद्धान्तपक्षों पर लोगों की श्रद्धा कम हो जायगी जिस से कि स्वतन्त्र हो कर अपने मनमानी युक्तियों से लोग अनेक प्रकार के पक्षों को प्रमाणित करने लगैंगे । तात्पर्य यह है कि बौद्ध आदि के तर्कशास्त्र भी पूर्वपक्ष उठाने के द्वारा धर्मबिचार के उपयोगी होते हैं और लोकानुभव तथा अर्थवाद आदि कुछ न कुछ मूल भी उन शास्त्रों का होता ही है । परन्तु तर्कशास्त्र के अनुसार बौद्धादितर्कों की दुर्बलता का निर्णय होता है ।

प्र०—न्याय, बैशेषिक, साङ्ख्य, आदि दर्शन सबी न्यायशास्त्र ही हैं क्योंकि प्रमाणनिरूपण सब में किया है तो ऐसी दशा में उन में कहे हुए जितने तर्क, धर्म के प्रमाण से सम्बन्ध रखते हैं वे धर्म में उपयोगी हों परन्तु साङ्ख्य में जो सब जगत् के नित्यत्व का और बौद्धशास्त्र में सब जगत् के अनित्यत्व का तथा बेदान्तदर्शन (अद्वैतवाद) में सब के एकत्व का और बैशेषिकमत में जगत् के अनेकत्व का एकान्तरूप से प्रतिपादन है वह कैसे धर्मज्ञान का उपयोगी है ?

स०—उक्त प्रदिपादन भी पक्षपात के कारण से नहीं है किन्तु सब वस्तुओं के तात्विकस्वरूप का ज्ञान एक ही बार किसी को नहीं होता किन्तु दशाबिशेष में अपने २ बिचारानुसार सब महाशय किसी २ तत्त्व का निर्णय किया करते हैं और पदार्थनिर्णय के द्वारा वे सब निर्णय, बेदार्थनिर्णय में उपयोगी होते हैं । और यदि उक्त प्रतिपादन, उक्त शास्त्रों में न किये जायँ तो सामान्यपुरुष, बिचारशक्ति की न्यूनता से लोकानुभवमात्र के अनुसार पदार्थभाग के तत्त्व का ठीक निर्णय नहीं कर सकते और मन्त्र तथा अर्थवाद में कही हुई अत्यन्तगूढ स्तुतियाँ और निन्दाएं भी ठीक निश्चित नहीं हो सकतीं यदि पुरुष में बिचारशक्ति न्यून हो, इस लिये बिचारशक्ति की वृद्धि के द्वारा उक्त बिषयों का प्रदिपादन भी अवश्य धर्मोपयोगी है ।

प्र०—साङ्ख्यमत में मूलप्रकृति से, बेदान्तदर्शन में ब्रह्म से, योगदर्शन में ईश्वर से, वैशेषिकदर्शन में परमाणुओं से, जगत्सृष्टि की प्रक्रियाएं कही हैं इन प्रक्रियाओं का क्या मूल है ?

त०सर्वा मन्त्रार्थवादज्ञानादेव दृश्यमानसूक्ष्मस्थूलद्रव्यप्रकृतिविकारभावदर्शनेन च द्रष्टव्याः। प्रयोजनं च स्वर्गयागाद्युत्पाद्योत्पादकविभागज्ञानम्। सर्गप्रलयोपवर्णनमपि दैवपुरुषकारप्रभावप्रविभागदर्शनार्थम्। सर्वत्र हि तद्बलेन प्रवर्त्तते तदुपरमे चोपरमतीति विज्ञानमात्रक्षणभङ्गनैरात्म्यादिवादानामप्युपनिषत्प्रभवत्वं विषयेष्वात्यन्तिकं रागं निवर्त्तयितुमित्युपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम्। सर्वत्र च यत्र कालान्तरफलत्वादिदानीमनुभवासम्भवस्तत्र श्रुतिमूलता। सान्दृष्टिकफले तु वृश्चिकविद्यादौ पुरुषान्तरे व्यवहारदर्शनादेव प्रामाण्यमिति विवेकसिद्धिः॥ इति। इतिस्मृतिप्रामाण्यम्।

श्रुतिविरोधे दृष्टलोभादिमूलकत्वे वा स्मृतेरप्रामाण्यमेव। तथा च सूत्रे—

विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥ ३ ॥ हेतुदर्शनाच्च ॥ ४ ॥ इति (मी० द० अध्या० १ पा० ३)

त०वा० यान्येतानि त्रयीविद्भि र्न परिगृहीतानि किञ्चित्तन्मिश्रधर्मकञ्चुकच्छायापतितानि लोकोपसङ्ग्रहलाभपूजाख्यातिप्रयोजनपराणि त्रयीविपरीतासम्बद्धदृष्टशोभादिप्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्तिप्राययुक्तिमूलोपनिबद्धानि साङ्ख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपत-

॥ भाषा ॥

स०—मन्त्र और अर्थवाद ही इन सब प्रक्रियाओं के मूल हैं और तात्पर्य भी इन प्रक्रियाओं का जगत् के उपादान और निमित्त कारण के निश्चय में है और प्रयोजन भी इन का यह निश्चय ही है कि अदृष्ट से भी दृष्ट उत्पन्न होता है जैसे धर्म की अपूर्वशक्ति से स्वर्गादि फल।

प्र०—जगत् की सृष्टि और संहार का बर्णन जो कि शास्त्र और पुराण आदि में है उस का क्या फल और क्या मूल है ?

स०—प्रलय के पूर्वसमय में जगत् की स्थिति और उन्नति के लिये देवता और मनुष्य आदि महानुभाव लोग उद्योग ही करते रहते हैं तथापि दैव (पूर्वकृतकर्म) के बल से जगत् का प्रलय हो ही जाता है तथा सृष्टि के पूर्वसमय से जीवगण जगत् के लिये उद्योग करने के योग्य भी नहीं रहते तथापि जगत् की सृष्टि हो ही जाती है इस लिये यह निश्चय है कि उद्योग की अपेक्षा दैव, बहुत ही प्रबल है यही निश्चय सृष्टि और प्रलय के बर्णन का फल है और मन्त्र ही अर्थवाद इस बर्णन के मूल हैं। ऐसे ही नास्तिकदर्शनों के बिज्ञानवाद, (क्षणिकज्ञान के अतिरिक्त सब मिथ्या है) क्षणभङ्गवाद (सब जगत् क्षणिक है) और नैरात्म्यवाद (आत्मा भी मिथ्या है अर्थात् शून्य ही तत्त्व है) का भी असद्वा इदमग्रआसीत् इत्यादि उपनिषद् ही मूल है और जगत् की तुच्छता के द्वारा बैराग्य ही, इन वादों का फल है इस रीति से बेद से अतिरिक्त, स्मृतिनामक पूर्वोक्त दश विद्याओं तथा अन्यान्यविद्याओं का मूल, फल और प्रामाण्य सिद्ध हो चुका और सब विद्याओं के विषय में यही बिबेक है कि वृश्चिकविद्या, आयुर्वेद आदि उपवेद, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र, सूपशास्त्र, आदि विद्याओं में भी जिस अंश का फल लौकिक है उस अंश का मूल लोकानुभव और जिस अंश का फल अलौकिक है उस अंश का मूल, बेद ही है। इति

बेद से विरुद्ध अथवा लोभादिमूलक स्मृति, प्रमाण नहीं होती क्योंकि बेदविरोध अथवा लोभ आदि दृष्टमूल मिलने से उस स्मृति के विषय में बैदिकविधिवाक्यरूपी मूल की कल्पना ही नहीं हो सकती जैसा कि 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसतिह्यनुमानम्' ॥सू० ३॥ 'हेतुदर्शनाच्च०' ॥सू० ४॥ (पू० मी० द० अध्या० १ पा० ३) इन सूत्रों से जैमिनिमहर्षि ने स्पष्ट ही कहा है। इन सूत्रों का तात्पर्य, बार्तिककार ने यह कहा है कि साङ्ख्य, योग, पाञ्चरात्र, शाक्य, (जैन) निर्ग्रन्थ आदि के असाधारण धर्माधर्म के प्रतिपादक तथा मिश्रकभोजन (एक काल और एक पात्र में अनेक मनुष्यों

त०शाक्यनिर्ग्रन्थपरिगृहीतधर्माधर्मनिबन्धनानि विषचिकित्सावशीकरणोच्चाटनोन्मादनादिसमर्थकतिमपयन्त्रौषधिकादाचित्कासिद्धिनिदर्शनाहिंसासत्यवचनदमदानदयाऽऽदिश्रुति-

॥ भाषा ॥

का भोजन) आदि म्लेच्छाचारों के प्रतिपादक तथा वेद से अत्यन्तवाह्य जो स्मृतिवाक्य हैं उन्हीं की अप्रमाणता का, वेदविरोध और हेतु (लोभादि कारण) देखने के अनुसार इन दो सूत्रों से खण्डन किया जाता है।

प्र०—यदि स्मृतिवाक्य भी अप्रमाण होने लगे तो मनु आदि की स्मृतियाँ कैसे प्रमाण होंगी?

स०—वैदिक त्रैवर्णिक लोग बहुत काल से मनु आदि की स्मृतियों का आदर और उन के अनुसार धर्म का अनुष्ठान तथा अधर्म का वर्जन करते आते हैं इसी से वे स्मृतियाँ प्रमाण हैं और ऐसा न होने से उक्त शाक्यादिस्मृतियाँ अप्रमाण हैं।

प्र०—जब इन स्मृतियों में सत्य, दया, आदि ऐसे धर्मों का उपदेश है जो कि वेद में भी प्रत्यक्षरूप से कहे हुए हैं और उस के अनुसार सत्य आदि के विषय में शाक्य आदि के वाक्य वेदमूलक हैं तो उसी दृष्टान्त से उन के अन्यान्यवाक्यों में भी वेदमूलक होने का अनुमान होता है तो ऐसी दशा में वैदिकत्रैवर्णिकों के स्वीकार न करने मात्र से कैसे शाक्यादिस्मृतियाँ अप्रमाण हो सकती हैं?

स०—जैसे कोई पुरुष वास्तविक अपने अङ्गविकार को वस्त्रादि से अच्छादित रखता है वैसे ही 'चैत्यं वन्देत' (जैनदेवालय को नमस्कार करे) इत्यादि वेदविरुद्धवाक्यों के मिथ्यात्व को आच्छादन करने के लिये लोकवञ्चनार्थ ही कहीं २ सत्य आदि वैदिकधर्मों का शाक्यादिस्मृतियों में उपदेश है तो इतने मात्र से वैदिकविधिवाक्यरूपी मूल का अनुमान उन के विषय में नहीं हो सकता।

प्र०—लोकवञ्चना से शाक्यादि को क्या प्रयोजन था?

स०—लोकसङ्ग्रह, अर्थलाभ, पूजालाभ और कीर्ति ही प्रयोजन थे।

प्र०—तब भी सत्य आदि के स्मृतिवाक्यों को दृष्टान्त बना कर वैदिकविधिवाक्यरूपी मूल का अनुमान, उन में क्यों नहीं होता?

स०—प्रत्यक्षादि लौकिकप्रमाणों ही के द्वारा उन स्मृतियों में धर्मोपदेश है और प्रत्यक्ष-सूत्र (सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् पू० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) पर पूर्व में यह सिद्ध कर दिया गया है कि धर्म, प्रत्यक्षादिप्रमाणों से गम्य नहीं है तथा इन स्मृतियों में बहुत काम ऐसे कहे हुए हैं जो कि वेद से अत्यन्त विरुद्ध हैं और बहुत से ऐसे हैं जो शोभा आदि दृष्टफल ही के लिये हैं तथा वैदिकलोग एकमुख हो कर इन स्मृतियों का अनादर करते हैं इन्हीं कारणों से वैदिकविधिवाक्यरूपी मूल का अनुमान, इन के विषय में कदाऽपि नहीं हो सकता।

प्र०—उक्त रीति से जब शाक्यादिस्मृतियों के प्रमाण होने का सम्भव ही नहीं है तो उस का खण्डन क्यों किया जाता है?

स०—शाक्यादिस्मृतियों में स्थान २ पर विषचिकित्सा, वशीकरण, उच्चाटन, मारण, आदि के उपयोगी कतिपयमन्त्र और औषध भी लोकरञ्जनार्थ लिखे हैं जिन का फल भी कदाचित् प्रत्यक्ष होता है तथा लोकविश्वासार्थ, श्रुतिस्मृति में कहे हुए अहिंसा, सत्य, दम, दान, दया आदि

स्मृतिसंवादिस्तोकार्थगन्धवासितजीविकाप्रायार्थान्तरोपदेशीनि यानि च वाह्यतराणि म्लेच्छाचारमिश्रकभोजनाचरणानिबन्धनानि तेषामेवैतच्छ्रुतिविरोधहेतुदर्शनाभ्यामनपेक्षणीयत्वं प्रतिपाद्यते। नचैतत्कचिदधिकरणान्तरे निरूपितम्। नचावक्तव्यमेव गान्यादिशब्दवाचकत्वबुद्धिवदतिप्रसिद्धत्वात् ।

यदि ह्यनादरेणैषां न कल्प्येताप्रमाणता ।
अशक्यैवेति मत्वाऽन्ये भवेयुः समदृष्टयः ॥
शोभासौकर्य्यहेतूक्तिकलिकालवशेन वा ।
यज्ञोक्तपशुहिंसादित्यागभ्रान्तिमवाप्नुयुः ॥

ब्राह्मणक्षत्रियप्रणीतत्वाविशेषेण वा मानवादिवदेव श्रुतिमूलत्वमाश्रित्य सचेतसोऽपि श्रुतिविहितैः सह विकल्पमेव प्रतिपद्येरन् ॥

॥ भाषा ॥

भी इन में कहीं २ कहे हैं और लोकसङ्ग्रह ही के लिये जीविका के उपयोगी अन्यान्य कर्म भी इन में कहे हैं इन कारणों से साधारण मनुष्यों को यह सम्भावना हो सकती है कि शाक्यादिस्मृतियाँ धर्म में प्रमाण हैं और यही सम्भावना, पूर्वपक्ष का बीज है इसी से इन स्मृतियों के प्रामाण्य का खण्डन किया जाता है ।

प्र०—जब पूर्व हीं प्रत्यक्षसूत्र ही पर प्रत्यक्षादिप्रमाणों की धर्ममूलता का खण्डन हो चुका है और उसी खण्डन से शाक्यादिस्मृतियों के प्रामाण्य का भी खण्डन कृतप्राय है क्योंकि प्रत्यक्षादिप्रमाण हीं इन स्मृतियों के मूल हैं तो इन स्मृतियों के प्रामाण्य का खण्डन पुनः क्यों किया जाता है ?

स०—शाक्यादि की स्मृतियों के वेदमूलक होने का साक्षात् खण्डन पूर्व हीं नहीं हुआ था इसी से वह अब किया जाता है ।

प्र०—जब शाक्यादि, अपनी स्मृतियों का वेदमूलक होना स्वयं नहीं स्वीकार करते और इसी से उन का वेदमूलक न होना प्रसिद्ध ही है तब उन के प्रामाण्य का खण्डन किस प्रयोजन से है ?

स०—उक्त खण्डन के अनेक प्रयोजन हैं । जैसे

(प्रयो १) यदि शाक्यादिस्मृतियों को तुच्छ समझ कर उन का खण्डन न किया जाय तो लौकिक लोग यह समझ कर कि 'उन का खण्डन होई नहीं सकता', मन्वादिस्मृतियों और शाक्यादिस्मृतियों के विषय में समदृष्टि हो जायँगे ।

प्रयो०—(२) अथवा कलिकाल के अनुसार अधर्म के प्रबल होने वा शोभा और आनन्द आदि के लोभ से वेदवाह्य शाक्यादिस्मृतियों ही पर श्रद्धा कर श्रौत (वेद में कहा हुआ) और स्मार्त (मन्वादिस्मृतियों में कहा हुआ) कर्मों को छोड़ बैठेंगे ।

प्रयो०—(३) लौकिकों को कौन कहे परीक्षक (सुशिक्षित वा अन्यशास्त्रज्ञ) लोग भी शाक्यादिस्मृतियों को त्रैवर्णिकरचित होने के कारण वेदमूलक समझ कर इन स्मृतियों पर भी मनु आदि की स्मृतियों के तुल्य श्रद्धा कर बैठेंगे और कदाचित् यह भी हो जायगा कि इन स्मृतियों के अनुसार ऐसे कर्मों को भी करने लगेंगे कि जिन कर्मों का मनु आदि की स्मृतियों में निषेध

तेन यद्यपि लभ्येत स्मृतिः काचिद्विरोधिनी ।
मन्वाद्युक्ता तथाप्यस्मिन्नेतदेवोपयुज्यते ॥
त्रयीमार्गस्य सिद्धस्य ये ह्यत्यन्तविरोधिनः ।
अनिराकृत्य तान् सर्वान् धर्मशुद्धिर्न लभ्यते ॥
महाजनगृहीतत्वं पित्राद्यनुगमादि च ।
तेऽपि द्वीपान्तरापेक्षं वदन्त्येव स्वदर्शने ॥

तत्र श्रद्धामात्रमेवैकं व्यवस्थानिमित्तम् सर्वेषां स्वपितृपितामहादिचारितानुयायित्वात् । यैश्च मानवादिस्मृतीनामप्युत्सन्नवेदशाखामूलत्वमभ्युपगतं तान्प्रति सुतरां शाक्यादिभिरपि शक्यं तन्मूलत्वमेव वक्तुम् । को हि शक्नुयादुत्सन्नानां वाक्यविषयेयत्तानियमं कर्तुम् । ततश्च यावत्किञ्चित्कियन्तमपि कालं कैश्चिदाद्रियमाणं प्रसिद्धिं गतं तत्प्रत्यक्षशाखाविसंवादेऽप्युत्सन्नशाखामूलत्वावस्थानमनुभवतुल्यकक्षतया प्रतिभायात् अत आह 'विरोधे त्वनपेक्षं स्या' दिति । पारतन्त्र्यं तावदेषां स्मर्यमाणपुरुषविशेषप्रणीतत्वात्तैरेव प्रतिपन्नम् शब्दकृतकत्वादिप्रतिपादनादराच्च पार्श्वस्थैरपि विज्ञायते । वेदमूलत्वं पुनस्ते तुल्यकक्षत्वाक्षमयैव लज्जया च मातापितृद्वेषिदुष्टपुत्रवन्नाभ्युपगच्छन्ति । अन्यच्च स्मृतिवाक्यमेकमेकेन श्रुतिवचनेन

॥ भाषा ॥

किया हुआ है । इस रीति से, वैदिकमार्ग के अत्यन्त विरोधी जितने मत हैं उन को, विना खण्डन किये धर्मतत्त्व की शुद्धि कदापि नहीं हो सकती इस लिये उक्तखण्डन बहुत ही आवश्यक है ।

प्र०—जब बहुत से लोग, शाक्यादि के कहे हुए वाक्यों के अनुसार कर्म करते हैं और उन के स्मृतियों में भी सत्य आदि धर्म कहे हैं तब आग्रह से यह कहना कि वे स्मृतियां वेदमूलक नहीं हैं, कैसे उचित है ? और मान लिया गया कि उन स्मृतियों में मनु आदि स्मृति से विरुद्ध भी बहुत सी बातें हैं, तथापि उन के अनुसार उन के मूल वेद की कल्पना क्यों नहीं हो सकती ? क्योंकि जैसे 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रयज्ञ में षोडशी नामक पात्र का ग्रहण करे) 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रयज्ञ में षोडशी नामक पात्र का ग्रहण न करे) ये दोनों वेदवाक्य यद्यपि परस्पर में विरुद्ध हैं तथापि यह व्यवस्था की जाती है कि अतिरात्रयज्ञ में षोडशी पात्र के ग्रहण का विकल्प है अर्थात् यजमान अपनी इच्छा से ग्रहण करे वा न करे । ऐसे ही मनु आदि और शाक्य आदि की स्मृतियों के अन्योन्य में विरोध होने पर भी उन में विहित कर्मों का, कर्ता की श्रद्धानुसार विकल्प हो सकता है । और जब मनु आदि की भी अष्टकादिस्मृतियों का मूलवाक्य, वेद की लुप्तशाखाओं में स्थित माना जाता है तब शाक्य आदि की स्मृतियों का मूल भी यदि लुप्तशाखाओं में माना जाय तो क्या अनुचित है ?

स०—शाक्यादिस्मृतियों का पौरुषेय होना सब के सम्मत ही है और ऐसी दशा में यदि वे वेदमूलक हों तब ही धर्म में मनु आदि की स्मृतियों के तुल्य प्रमाण हो सकती हैं । परन्तु जैसे माता पिता का परमद्वेषी पुत्र अपने को यह नहीं कहता कि मैं अमुक और अमुकी का पुत्र हूं वैसे ही द्वेष और लज्जा वश, शाक्य आदि स्वयं यह नहीं कह सकते कि उन की स्मृति वेदमूलक है इस से वे स्मृतियां अप्रमाण ही हैं ।

प्र०—यदि शाक्य आदि का मतानुयायी कोई पुरुष शाक्यादिस्मृतियों को वेदमूलक

विरुध्येत । शाक्यादिवचनानि तु कतिपयदमदानादिवचनवर्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि । त्रयी वाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन सम्भाव्यन्ते । स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वपरिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्ममविप्लुतमुपदेक्ष्यतीति कः समाश्वासः ।

उक्तंच ।

परलोकविरुद्धानि कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् ।
आत्मानं योऽतिसन्धत्ते सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हित इति ॥

बुद्धादेःपुनरयमेवव्यतिक्रमोऽलङ्कारबुद्धौ स्थितः येनैवमाह ।

कलिकलुषकृतानि यानि लोके
मयि निपतन्तु विमुच्यतां तु लोके इति ।

स किल लोकहितार्थं क्षत्रियधर्ममतिक्रम्य ब्राह्मणवृत्तं प्रवक्तृत्वं प्रतिपद्य प्रतिषेधा-

॥ भाषा ॥

मान ले तो उस में क्या बाधक है ?

स०—इसी प्रश्न के समाधान के लिये 'विरोधे त्वनपेक्षं' इस पूर्वोक्त प्रथमसूत्र से शाक्य आदि स्मृतियों के वेदमूलक होने में बाधक दिखलाये जाते हैं ।

बाध०-(१) मनु आदि की स्मृतियों में कहीं किसी एक वाक्य पर वेदविरुद्ध होने की शङ्का यदि हो सकती है तो भी उस का वारण तुरित ही हो जाता है और शाक्य आदि की स्मृतियों में तो सत्य, दया, आदि कतिपय विषयों को छोड़, एक ओर से सब ही वाक्य, पूर्वोक्त वेद आदि चौदहो धर्मविद्याओं से विरुद्ध ही हैं तब कैसे वे स्मृतियां वेदमूलक हो सकती हैं ?

बा०—(२) वेदविरुद्ध आचार के करने वाले शाक्य आदि पुरुष ही जब उन के कर्ता हैं तब वे कैसे वेद० ?

बा०-(३) जब शाक्य आदि ने बना कर उन स्मृतियों को वेदवाह्य शूद्र आदि के लिये समर्पण किया तब वे कैसे वेद० ?

बा०-(४) जब वेदवाह्य शूद्रादि और वर्णाश्रम के आचार से रहित ही पुरुष, शाक्य आदि की स्मृतियों के पढ़ने और धारण करने वाले हैं तब कैसे वे स्मृतियां वेद० ?

बा०-(५) जब बुद्ध आदि ने क्षत्रिय हो कर अपने वैदिकधर्म के विरुद्ध, उपदेश करने और दान लेने का काम स्वयं उठा लिया, अर्थात् परलोकविरुद्ध काम अपने हीं करने लगे, तब उन के धर्मोपदेश पर क्या विश्वास हो सकता है ? और इसी से पूर्वाचार्यों (भट्टपाद से भी पूर्व के आचार्यों) ने भी कहा है कि 'परलो०' परलोक के विरुद्ध कर्म करनेवाले को दूर ही से त्यागना चाहिये क्योंकि जो अपना ही शत्रु हो रहा है वह दूसरे का क्या हित होगा ? और बुद्ध आदि का परलोक से विरुद्ध काम करना 'अलङ्कारबुद्धि' नामक उन्हीं के ग्रन्थ में स्थित है उस में उन्हों ने कहा है कि 'कलिकलुषकृतानि०' (वैदिकनिषेधों के उल्लङ्घन से कलिकाल के अनुसारी पाप को मैंने अपने मस्तक पर लिया तुम लोग, लोक के अनुसार को छोड़ो), तथा उन के मतानुयायी लोग उन के गुणों को यों कहते हैं कि 'वे ऐसे लोकहितैषी और दयालु थे कि लोकहित

तिक्रमासमर्थैर्ब्राह्मणैरननुशिष्टं धर्मं वाह्यजनाननुशासद्धर्मपीडामप्यात्मनोऽङ्गीकृत्य परानुग्रहं कृतवानिति, एवंविधैरेव गुणैः स्तूयते तदनुशिष्टानुसारिणश्च सर्वएव श्रुतिस्मृतिविहितधर्मातिक्रमेण व्यवहरन्तो विरुद्धाचारत्वेन ज्ञायन्ते ॥

तेन प्रत्यक्षया श्रुत्या विरोधे ग्रन्थकारिणाम् ।
ग्रहीत्राचरितॄणां च ग्रन्थप्रामाण्यबाधनम् ॥

नह्येषां पूर्वोक्तेन न्यायेन श्रुतिप्रतिबद्धानां स्वमूलश्रुत्यनुमानसामर्थ्यमस्ति ॥

नच शाखान्तरोच्छेदः कदाचिदपि विद्यते ।
प्रागुक्ताद्वेदनित्यत्वान्नचैषां दृष्टमूलता ॥

नहि यथोपनयनादिस्मृतीनां शाखान्तरदृष्टश्रुतिसंवादः । एवं चैत्यकरणतद्वन्दनशूद्रसम्प्रदानकदानादीनां संवादः सम्भवति मूलान्तरकल्पनं च प्रागेव प्रत्याख्यातम् ॥

लोभादि कारणं चात्र बह्वेवान्यत्प्रतीयते ।
यस्मिन् सन्निहिते दृष्टे नास्ति मूलान्तरानुमा ॥
शाक्यादयश्च सर्वत्र कुर्वाणा धर्मदेशनाम् ।
हेतुजालविनिर्मुक्तां न कदाचन कुर्वते ॥
नच तैर्वेदमूलत्व-मुच्यते गौतमादिवत् ।
हेतवश्चाभिधीयन्ते ये धर्माद् दूरतः स्थिताः ॥

॥ भाषा ॥

के लिये अपने क्षत्रियधर्म को त्याग कर अपने पर पाप और परलोकबाधा को भी स्वीकार कर उपदेशरूपी ब्राह्मणधर्म (जो कि उन के लिये बेद से निषिद्ध और पाप है) के द्वारा लोक पर अनुग्रह किया' इत्यादि, तो ऐसों की रचित स्मृतियां कैसे बेद० ? मनु यद्यपि क्षत्रिय हैं तथा 'मनुर्वै यदवदत् तद्भेषजम्' (मनु जो कहता है वह हित है) इस बेदवाक्य से उन को उपदेश करने का अधिकार है ।

वा०—(६) जिन के माननेवाले लोग प्रायः बेदविरुद्ध ही कामों को करते हैं वे स्मृतियां कैसे बेद०

प्र०—शाक्य आदि स्मृतियों का यद्यपि बेद, मूल नहीं हो सकता तथापि अन्यान्य प्रमाण, क्यों नहीं इन स्मृतियों के मूल हैं ?

स०—इस प्रश्न का समाधान, 'हेतुद०' इस पूर्वोक्त द्वितीयसूत्र से किया गया है उस का तात्पर्य यह है कि जब लोभादिरूपी लौकिक ही मूल, उन स्मृतियों का देखा जाता है तब उन के विषय में किसी सत्य प्रमाण के मूल होने का सम्भव नहीं है और शाक्य आदि का कोई उपदेश ऐसा नहीं होता कि जिस में युक्तिजाल कारण न हो तथा उन की युक्तियां (हेतु) ऐसी होती हैं जो कि धर्म से बहुत ही दूर रहती हैं क्योंकि प्रत्यक्षसूत्र पर यह सिद्ध हो चुका है कि धर्म, केवल लौकिक प्रमाण और युक्ति का बिषय नहीं है । और यह भी है कि जैसे गौतम आदि महर्षि अपनी स्मृतियों को बेदमूलक कहते हैं वैसे शाक्य आदि यह नहीं कहते कि हमारी स्मृति बेदमूलक है ।

और इस द्वितीयसूत्र का यह भी अभिप्राय है कि 'पाखण्डिनो बिकर्मस्थान् बैडाल-

एतएव च ते येषां वाङ्मात्रेणापि नार्चनम् ।
पाखण्डिनो बिकर्मस्था हैतुकाश्चैत एव हि ॥
एतदीया ग्रन्थाएव च मन्वादिभिः परिहार्यत्वेनोक्ताः ।
या बेदवाह्याः स्मृतयो याश्च काश्चित्कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥
(म० अ० १२ श्लो० ९५) इति ।

तस्माद्धर्मंप्रति त्रयीवाह्यमेवंजातीयकं प्रामाण्येनानपेक्ष्यं स्यादिति सिद्धम् ।

एवम् बेदवाह्यबुद्धादिस्मृतिस्थानां श्रुतिस्मृत्यविरुद्धानामहिंसादिवाक्यानामपि न धर्मे प्रामाण्यम् तथाच—

वार्तिककृत्संमतम् अधिकरणम् (मी० द० अध्या० १ पा० ३)
शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् । सू० ५
न शास्त्रपरिमाणत्वात् । सू० ६

वा० यत्तर्हि बेदबिहितं न बाधते शिष्टान्बा बेदाविदो न कोपयति बिहारारामपण्डल-करणबैराग्यध्यानाभ्यासाहिंसासत्यवचनदमदानदयादि तद्बुद्धादिभाषितं प्रमाणेनाविरुद्ध-

॥ भाषा ॥

अतिकाङ्क्षठान् । हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' मनु अ० ४ श्लो० ३० (बेदवाह्य व्रत और चिह्न के धारण करने वाले बौद्धभिक्षु आदि, बेदनिषिद्ध जीविका वाले बिलरंभगत अर्थात् हिंसक छली धर्मध्वजी, बेद के विषय में श्रद्धारहित, बेदबिरोधी तर्कों का बकने वाला और बकुलंभगत अर्थात् जो अपने विनय दिखाने मात्र के लिये नीची दृष्टि रक्खै तथा अपने अर्थ में तत्पर और निर्दय हो, ऐसे लोग यदि अतिथि हो कर भी उपस्थित हों तो वचनमात्र से भी इन की पूजा न करै) इस वाक्य में पाखण्डी, बिकर्मस्थ और हैतुक (बेदविरुद्ध तर्कों के बकने वाले) जो कहे हैं वे शाक्य आदि ही हैं । तथा उक्त द्वितीयसूत्र का यह भी भाव है कि 'या बेदवाह्याः०' जो स्मृतियां बेदमूलक नहीं हैं वा जिन में बेदबिरुद्ध युक्तियाँ कही हुई हैं वे सब परलोक में निष्फल ही हैं क्योंकि मनु आदि ने ऐसी २ स्मृतियों को परलोक में नरकभोग कराने वाली स्मरण किया है) इस वाक्य में मनु ने शाक्य आदि की स्मृतियों की निन्दा की है । तस्मात् बौद्ध, जैन, म्लेच्छ आदि की स्मृतियाँ धर्म के विषय में प्रमाण नहीं हैं ।

ऐसे ही बेदबाह्य बुद्धादि की स्मृतियों में सत्य, अहिंसा, आदि के जो वाक्य हैं वे यद्यपि श्रुति और स्मृति से बिरुद्ध नहीं हैं तथापि धर्म के बिषय में प्रमाण नहीं हो सकते इस बात को प्रश्न और समाधान के रूप से, मी० द० अध्याय १ पा० ६ शिष्टाकोपे बिरुद्धमिति चेत् ॥सू०५॥ न शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥सू०६॥ इन सूत्रों से जैमिनिमहर्षि ने कहा है जिन का क्रम से यह तात्पर्य है (जो कि बार्तिक में कहे हैं) कि—

प्र०—सत्य, अहिंसा, आदि धर्म बेद में कहे हैं तथा उसी के अनुसार मनु आदि की स्मृतियों में भी, और बेदवाह्य बुद्धादि की स्मृतियों में भी अहिंसा सत्य आदि के वाक्य हैं तथा बैदिक जनों में और बेदवाह्य जनों में भी अहिंसा आदि धर्म का साधारणरूप से प्रचार होना प्रसिद्ध ही है इसी से उन को सामान्यधर्म कहते हैं । इस रीति से जैसे अहिंसा आदि धर्म के

मिति चेन्न । शास्त्रपरिमाणत्वात् । परिमितान्येव हि चतुर्दशाष्टादश वा विद्यास्थानानि धर्मप्रमाणत्वेन शिष्टैः परिगृहीतानि वेदोपवेदाङ्गोपाङ्गाष्टादशधर्मसंहितापुराणशास्त्रशिक्षादण्डनीतिसञ्ज्ञकानि । नच तेषां मध्ये बौद्धार्हतादिग्रन्थाः स्मृता गृहीता वा ।

प्रतिकञ्चुकरूपेण पूर्वशास्त्रार्थगोचरम् ।
यदन्यत्क्रियते तस्य धर्मे प्रत्यप्रमाणता ॥

तथाच प्रायश्चित्तादिदानकाले यो वाक्यमात्मीयमन्यकविकृतं वा श्लोकं सूत्रं वोच्चार्य

॥ भाषा ॥

विषय में मनु आदि के स्मृतिवाक्य प्रमाण हैं वैसे ही बुद्धादि के स्मृतिवाक्य क्यों नहीं प्रमाण हैं ? क्योंकि उक्त विषय में बुद्धादि के स्मृतिवाक्यों की अपेक्षा मनु आदि के स्मृतिवाक्यों में कोई ऐसा विशेष नहीं कहा जा सकता कि जिस के अनुसार मनु आदि के वाक्य उक्तविषय में प्रमाण हों और बुद्धादि के नहीं ।

उ०—धर्म में प्रमाण होने के योग्य अठारह १८ विद्यायें (जो कि पूर्व में दिखला दी गई हैं) गिनी हुई हैं जिन को कि अनादिकाल से सब वैदिक शिष्टजन बड़े आदर से ग्रहण कर उन के अनुसार धर्म का अनुष्ठान करते चले आते हैं । उन के मध्य में बुद्ध जैन आदि वेदवाह्यों के ग्रन्थों की गणना कदापि न थी और न अब है इस से उक्त बुद्धादिवाक्य धर्म में प्रमाण नहीं हैं ।

प्र—उक्त विद्याओं में बुद्धादि के ग्रन्थों की गणना न हो तथापि जो बुद्धादिवाक्य, श्रुति और स्मृति में कहे हुए अहिंसा आदि धर्म का प्रतिपादन करते हैं उन के प्रमाण होने में बाधक क्या है ?

उ०—यही बाधक है कि पूर्व में यह कहा जा चुका है कि धर्म किसी लौकिकप्रमाण का विषय नहीं है किन्तु किसी कर्म का धर्मरूपी होना केवल वेद ही से ज्ञात हो सकता है 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (वेद अवश्य पढ़े) इस वाक्य (जिस के अर्थ का पूर्ण विस्तार, वेददुर्गसज्जन के अर्थवादप्रकरण में कहा जा चुका है) से जैसे यह सिद्ध है कि व्याकरण, निरुक्त आदि में व्युत्पन्न हो कर आप से आप वेदपुस्तकों से अर्थ समझ कर उस के अनुसार किये वा कराये हुए यज्ञादिकर्म, धर्म नहीं हैं अर्थात् ऐसे कर्मों से स्वर्गादिफल का लाभ नहीं हो सकता किन्तु ब्रह्मचर्य आदि नियमों के साथ गुरुमुख से पढ़े हुए और मीमांसादर्शन से निर्णय किये हुए वेदार्थ के ज्ञानानुसार ही किये वा कराये हुए यज्ञादिकर्म ही धर्म हैं वैसे ही इसी वेदवाक्य से यह विषय आप ही आप सिद्ध है कि बुद्धादिवाक्यों से अर्थ समझ कर उस के अनुसार किये हुए सत्य बोलना आदि कर्म भी धर्म नहीं हैं अर्थात् निष्फल ही हैं । और प्रसिद्ध ही है कि अपने रचित वा अन्यकविरचित गद्य वा पद्य रूपी वाक्य को पढ़ कर यदि कोई पुरुष उन्हीं प्रायश्चित्तों को (जो कि मनुस्मृति आदि में कहे हुए हैं) उपदेश करे तो उस पर कोई पुरुष विश्वास नहीं करता अर्थात् उस वाक्य को धर्म में प्रमाण न मान कर उस का अनादर कर देता है और ऐसा ही एक दृष्टान्त यह भी है कि जारज (व्यभिचार से उत्पन्न) मनुष्य का यद्यपि आकार सत्पुत्र ही के ऐसा होता है और लौकिक कार्य भी उस से वैसे ही होते हैं जैसा कि सत्पुत्र से, तथापि वैदिकविधि से जो अलौकिकविशेष, पुत्रों में उत्पन्न होते हैं वे जारज में नहीं होते हैं इसी से जारज के किये हुए वैदिककर्म, धर्म नहीं अर्थात् फलदाता नहीं होते, ऐसे ही बुद्धादिवाक्यों का स्वरूप मनु

मानवादिप्रायश्चित्तं दद्यान्नकश्चिदपि धर्मार्थं प्रतिपद्येत ।

बेदेनैवाभ्यनुज्ञाता येषामेव प्रवक्तृता ।
नित्यानामभिधेयानां मन्वन्तरयुगादिषु ॥
तेषां बिपरिबर्त्तेषु कुर्वतां धर्मसंहिताः ।
वचनानि प्रमाणानि नान्येषामिति निश्चयः ॥

तथा च 'मनोर्ऋचःसामिधेन्यो भवन्ती' त्यस्य विधेर्वाक्यशेषे श्रूयते । 'मनुर्वै यत्किञ्चिदवदत्तद्भेषजं भेषजताया' इति प्रायश्चित्ताद्युपदेशवचनं पापव्याधेर्भेषजम् ॥

नवैतच्छ्रुतिसामान्यमात्रं नित्येऽपि संभवात् ।
यज्ञेऽध्वर्युरिव ह्यस्ति मनुर्मन्वन्तरे सदा ॥

॥ भाषा ॥

आदि के वाक्यों के ऐसा होता है और अर्थबोधरूपी लौकिककार्य भी उन का वैसा ही होता है जैसा कि मनु आदि के वाक्यों का तथापि उन के अनुसार किये हुए कर्म, धर्म नहीं होते अर्थात् उन से स्वर्गादिफल का लाभ नहीं होता क्योंकि वे वाक्य, गिनी हुई अष्टादश विद्याओं से बहिर्भूत हैं।

प्र०–इस में क्या प्रमाण है कि इन्हीं अष्टादशविद्याओं के वाक्य धर्म में प्रमाण हैं न कि अन्यवाक्य ?

उ०–उक्त अष्टादशविद्याओं में चार विद्याएं अर्थात् ऋग्बेद आदि चार बेद अपौरुषेय और सदा निर्दोष होने के कारण धर्म में आप से आप प्रमाण हैं जैसा कि बेददुर्गसज्जन में दृढ़तर-युक्तियों से पूर्व हीं सिद्ध हो चुका है और अन्य चतुर्दशविद्याओं का धर्म में प्रमाण होना भी बेद ही से सिद्ध है । तात्पर्य यह है कि जिन महाशयों का उपाधि (मनु आदि) वा नाम धर्मो-पदेशकों में बेद ने कहा है अथवा जिन का धर्मोपदेशक होना बेद से निकलता है उन्हीं के वाक्य धर्म में प्रमाण हैं और उक्त चतुर्दशविद्याओं के आचार्यों हीं के उपाधि और नाम बेद में कहे हुए हैं तथा उन्हीं का धर्मोपदेशक होना बेद से निकलता भी है इसी से केवल उक्त अष्टादशविद्याएं धर्म में प्रमाण हैं न कि उस से बहिर्भूत बुद्धादिवाक्य भी ।

प्रमा०–(१) जैसे "मनोर्ऋचः सामिधेन्यो भवन्ति" (मनु की ऋचाओं से अग्नि में समिध् (काष्ठ डालै) इस बिधि के वाक्यशेष (अर्थ करने वाला वाक्य) "मनुर्वै यत्किञ्चिदवद-त्तद्भेषजं भेषजतायाः" (मनु जो कुछ अर्थात् प्रायश्चित्तादि का उपदेश करता है वह, पापरूपी व्याधि का औषध है) इस बेदवाक्य से यह सिद्ध है कि "मनु" उपाधि वाला महाशय अपने २ समय पर धर्मोपदेशक होता है ।

प्र०—मनु एक अनित्य पुरुषबिशेष है और जब उस की चर्चा बेद में है तब बेद अनित्य क्यों न हो ?

उ०—जैसे प्रत्येकयज्ञ में अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विज् (कर्मकारी) होते हैं और उन के अध्वर्यु आदि नाम तथा काम बेद में कहे हुए हैं परन्तु इतने मात्र से बेद अनित्य नहीं हो सकता क्योंकि 'अध्वर्यु' आदि शब्द, किसी एक पुरुष का नाम नहीं है किन्तु उन २ काम के करने वालों की उपाधि है जैसे 'प्राड्विवाक' (जज) आदि, ऐसे ही 'मनु' शब्द भी किसी पुरुषबिशेष का नाम नहीं है किन्तु अन्तर (७१ चतुर्युग) तक धर्म के प्रचार और प्रजापालन

प्रतिमन्वन्तरं चैवं श्रुतिरन्या विधीयते ।
स्थिताश्च मनवो नित्यं कल्पे कल्पे चतुर्दश ॥
तेन तद्वाक्यचेष्टानां सर्वदैवास्ति सम्भवः ।
तदुक्तिज्ञापनाद्वेदो नानित्योऽतो भविष्यति ॥
प्रतियज्ञं भवन्त्यन्ये सर्वदा षोडशर्त्विजः ।
आदिमत्त्वं च वेदस्य न तच्चारितबन्धनात् ॥

उक्तं च—

यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भाति युगादिषु ॥ इति ॥
इतिहासः पुराणं च कृत्रिमत्वेन निश्चिते ।
तथाप्यकृत्रिमे वेदे तद्विधात्वेन सम्मतम् ॥

एवं ह्युपनिषत्सूक्तम् । 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्ववेदं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चममि' ति तेन प्रतिकल्पमन्वन्तरयुगानियतानित्यऋषिनामाभिधेयकृत्रिमविद्यास्थानकारा ये वेदेऽपि मन्त्रार्थवादेषु श्रूयन्ते तत्प्रणीतान्येव विद्यास्थानानि धर्मज्ञानाङ्गत्वेन

॥ भाषा ॥

आदि कर्मों के अधिकारी पुरुष का उपाधि है और प्रतिकल्प अर्थात् ब्रह्मदेव के दिन में चौदह २ अन्तर होते हैं तथा प्रति अन्तर में एक २ मनु होता है ।

प्रमा०—(२) "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्ववेदं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्" छा० उ० प्रपा० ७ (हे भगवन् मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद चतुर्थ और इतिहास, पुराण पांचवां पढ़ चुका हूं) इस वाक्य से इतिहास और पुराण के कर्त्ता (व्यास) का धर्मोपदेश होना सिद्ध है । और 'मनु' उपाधि की नाईं "व्यास" भी वेद के बिभागकर्ता की उपाधि है अर्थात् किसी समयविशेष में कोई व्यास होता है जैसे इस समय कृष्णद्वैपायनमहर्षि व्यास हैं निदान "व्यास" भी किसी एक पुरुषबिशेष का नाम नहीं है । और इतिहास, पुराण भी उसी के रचित होते हैं जो कि व्यास होता है । तात्पर्य यह है कि इतिहास और पुराण के ग्रन्थ प्रत्येक व्यास के अन्यान्य ही होते हैं परन्तु इतिहास और पुराण की परम्परा, मनुओं तथा अध्वर्यु आदि ऋत्विजों और व्यासों की परम्परा के समान अनादि ही है । और उक्त वेदवाक्यों का तात्पर्य यही है कि मनु और व्यास जो कुछ धर्मोपदेश करते हैं वह वेदवाक्यों ही के अनुसार करते हैं इस से यदि किसी समय में कतिपय बेदशाखाएं लुप्त हो जावें और मनु तथा व्यास के वाक्यों का मूल, वर्त्तमान वेदशाखाओं में न मिले तब भी यही निश्चय करना चाहिये कि उन का मूल, वेद की लुप्तशाखाओं में अवश्य है और इसी निश्चय से 'मनु' और 'व्यास' के उपदेशवाक्यों के अनुसार कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये और ऐसे अनुष्ठितकर्मों से स्वर्गादिफल का लाभ अवश्य होता है । ऐसे ही वैदिकअर्थवादों और उपनिषदों में ब्रह्मा, अङ्गिरा, नारद, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य आदि नाम और ऋषिवंशों की परम्परा सैकड़ों स्थानों पर वेद में कही हुई हैं वे भी सामान्य से भूत, भविष्यत, बर्तमान अनेक ऋषियों के एक २ नाम हैं न कि किसी एक ही व्यक्ति के, अर्थात् एक नाम के अनेकऋषि भिन्न २ काल में उत्पन्न हुआ करते हैं और एक प्रकार के नाम के अनेक वंश भी भिन्न २ काल में उत्पन्न हुआ करते हैं और उन नाम और वंशों के

सम्मतानि । तथाच, ऋग्वेदादिविहितयज्ञाङ्गभ्रेषप्रायश्चित्तविशेषानभिधाय 'यद्यविज्ञात' इति प्रायश्चित्तान्तरं विदधत् त्रैविद्यवृद्धस्मृतिविहिताविनष्टोद्देशेनैव विदधातीति गम्यते। अन्यथा हि प्रत्यक्षवेदविहितं सर्वं विज्ञातमूलविशेषत्वादविज्ञातमूलत्वेनानभिधेयमेव स्यात्। यदि च स्मर्यमाणवेदमूलग्रन्थनिबन्धनानामविज्ञातवेदविशेषपूर्वकत्वेनापि स्थितानां प्रामाण्यं नाश्रीयेत तथासति नैवाविज्ञातमूलं किञ्चिद्यज्ञे क्रियत इति तद्विनष्टप्रायश्चित्तविधिर्नैवोपपद्येत।

तस्माद्यान्येव शास्त्राणि वेदमूलानतिक्रमात् ।
अवस्थितानि तैरेव ज्ञातो धर्मः फलप्रदः ॥
यथैवान्यायविज्ञाताद्वेदाल्लेख्यादिपूर्वकात् ।
शूद्रेणाधिगताद्वाऽपि धर्मज्ञानं न सम्मतम् ॥
तथाऽतिक्रान्तवेदोक्तमर्यादाव्यवहारिणाम् ।
संवादिष्वपि वाक्येषु नेष्यते धर्महेतुता ॥

॥ भाषा ॥

ऋषि, अपने २ समय में धर्मोपदेश किया करते हैं इस से उन की रचित स्मृतियां धर्म में प्रमाण होती हैं परन्तु वेदवाह्यबुद्ध आदि के नाम का उल्लेख वेद में कहीं नहीं पाया जाता इसी से इन के कोई वाक्य धर्म में प्रमाण नहीं हैं ।

प्रमा० —(३) वैदिकयज्ञों के अङ्गवस्तुओं के बिगड़ जाने पर उस का प्रायश्चित्तरूपी अनेक प्रकार कर्मों के विधान के अनन्तर एक दूसरे प्रायश्चित्त का विधान वेद में है उस का यह वाक्य है "यद्यविज्ञाते" (यज्ञ के जिस अङ्ग का वेद में पठित अर्थात् प्रत्यक्ष विधान करने वाले वाक्य न मिलें वे अङ्ग यदि बिगड़ जायँ) इत्यादि । अब ध्यान देने की बात है कि प्रत्यक्ष-पठित वेदवाक्य से जिन वस्तुओं का यज्ञ में विधान है उन के बिगड़ने के निमित्त से तो पूर्व में प्रायश्चित्त सब कहे जा चुके हैं और इस वाक्य में "अविज्ञात" शब्द कहा हुआ है जिस का वह वस्तु, अर्थ है कि जो विशेषरूप से (प्रत्यक्षपठित वेदवाक्य के द्वारा) विज्ञात नहीं है तो ऐसा वस्तु किस प्रमाण के अनुसार यज्ञों में ग्रहण किया जाता है ? कि जिस के बिगड़ने के निमित्त से इस प्रायश्चित्त का विधान वेद में है अर्थात् यदि ऐसे स्मृतिवाक्य (जिन का मूल प्रत्यक्ष वेद-शाखाओं में नहीं मिलते किन्तु वेद की लुप्तशाखाओं में उन के मूल का अनुमान होता है) धर्म में प्रमाण न माने जायँ तो यज्ञ में कोई वस्तु ऐसा अङ्ग नहीं हो सकता जो कि अविज्ञात कहा जा सके, क्योंकि घृत, तण्डुल, आदि तथा सत्य, दया, दान, आदि यज्ञाङ्ग तो वेद में प्रत्यक्ष ही विहित होने से विज्ञात ही हैं और उन के बिगड़ने के निमित्त से प्रायश्चित्त भी पूर्व में कहे ही गये हैं इस से उक्त प्रायश्चित्तविधान व्यर्थ ही हो जायगा । और जब उक्त प्रकार के स्मृतिवाक्य धर्म में प्रमाण हैं तब उन के अनुसार जो वस्तु यज्ञों में लगाये जाते हैं वे ही उक्त वेदवाक्य के 'अविज्ञात' शब्द से लिये जायँगे क्योंकि वे ही विशेषरूप अर्थात् प्रत्यक्षपाठित वेदवाक्य से ज्ञात नहीं हैं किन्तु उक्त स्मृतिवाक्यों से अनुमान किये हुए उन वेदवाक्यों से ज्ञात हैं जो कि वेद की लुप्तशाखाओं में हैं । और उन्हीं वस्तुओं के बिगड़ने के निमित्त से इस प्रायश्चित्त का विधान सफल है । इस रीति से यह अविज्ञात के बिगड़ने के निमित्त से प्रायश्चित्त का विधान करने वाला वेद-वाक्य, स्पष्टरूप से इस विषय को सिद्ध करता है कि मनु आदि के स्मृतिवाक्य धर्म में प्रमाण हैं तथा जब बुद्ध आदि के बहुत से व्यवहार, पूर्वोक्तरीति से वेदविरुद्ध हैं तब उन के वाक्य, किसी

स्मर्य्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः ।
कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति ॥
यथा कृतककर्पूरसुवर्णादिषु दीयते ।
तद्बीजं तदपि व्यक्तमग्राह्यत्वात्प्रलीयते ॥

तेन कर्मातिसारूप्यसामान्यतोदृष्टार्थापत्तिबलात्तदभिप्रायकल्पितधर्माभासमध्यपतितं सन्मूलमप्यहिंसादि श्वदृतिनिःक्षिप्तक्षीरवदनुपयोग्यविस्रम्भणीयं च तन्मात्रोपलब्धं भवतीत्यवश्यं यावत्परिगणितधर्मशास्त्रेभ्यो नोपलभ्यते तावदग्राह्यं भवति ।

यदा शास्त्रान्तरेणैव सोऽर्थः स्पृष्टोऽवधार्य्यते ।
तदा तेनैव सिद्धत्वादितरत्स्यादनर्थकम् ॥

तस्माद्यावत् परिगणितवेदादिशास्त्रव्यतिरिक्तनिबन्धनं तद्धर्मप्रमाणत्वेन नापेक्षितव्यमिति ।

ननु शाक्याद्यागमानां वेदमूलकत्वाभावात्स्मृतितयाप्रामाण्याभावेऽपि वेदत्वेन स्वतन्त्रप्रामाण्यं कुतो न स्यात् वेदे कठादीनामिव तत्तदागमेष्वपि शाक्यादीनामपि प्रवक्तृताया एवोपेयत्वात् इति चेन्न । अस्याक्षेपस्य भगवता जैमिनिनैव परिहृतत्वात् । तथाच—

मीमांसादर्शनस्य १ अध्याये ३ पादे ७ अधिकरणस्य ।

सूत्रे

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥ ११ ॥
नासन्नियमात् ॥ १२ ॥ इति ।

॥ भाषा ॥

धर्म में कैसे प्रमाण हो सकते हैं ? और पुराणों में बुद्ध आदि, कलिकाल में धर्मलोपक लिखे हुए हैं तो धर्म के विषय में उन के वाक्य कैसे सुनने योग्य हैं ? और यह भी है कि जब अनादि वेदवाक्यों से अहिंसा आदि धर्म का निश्चय पूर्व में हो ही चुका है तो वेदवाह्य बुद्ध आदि के वाक्यों से उस का निश्चय करना व्यर्थ और अनुचित ही है तथा वेदवाह्य लोग, जिन अनुमानों के अनुसार धर्म और अधर्म की व्यवस्था करते हैं उन अनुमानों का पूर्णरूप से खण्डन, 'औत्पत्तिक' सूत्र ही पर हो चुका है (जो कि इस ग्रन्थ के वेददुर्गसज्जनप्रकरण में भी कहा जा चुका है) इस लिये अब यह सिद्ध हो चुका कि उक्त १८ विद्याओं से बहिर्भूत कोई वाक्य धर्म में प्रमाण नहीं है ।

प्र०—यह मान लिया गया कि बुद्धादि के वाक्य, वेदमूलक न होने से स्मृतिरूपी हो कर धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते तथापि वेदरूपी हो कर वे धर्म में स्वतन्त्रप्रमाण क्यों नहीं होते ? तात्पर्य यह है कि जिन वाक्यों को सामान्य लोग बुद्ध आदि के रचित बतलाते हैं वे वाक्य किसी के रचित नहीं हैं किन्तु अनादि और अपौरुषेय अर्थात् वेद ही हैं और जैसे वेद की शाखाएं कठ आदि ऋषियों की रचित नहीं हैं किन्तु कठ आदि के पढ़ाने के कारण उन का काठक आदि नाम कहा जाता है वैसे ही बुद्ध आदि उन के पाठक हैं इसी से बुद्धवाक्य, जैनवाक्य, म्लेच्छवाक्य, इत्यादि व्यवहार उन के विषय में लोगों के होते हैं ।

उ०—इस प्रश्न का समाधान पू० मी० द० अध्या० १, पा० ३, अधि० ७, "प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ११, नासन्नियमात् १२" इन प्रश्नोत्तररूपी सूत्रों से जैमिनिमहर्षि ने किया है और इन सूत्रों के, क्रम से वार्तिकोक्त ये अर्थ हैं जो लिखे जाते हैं कि—

अत्र वार्तिकम्

शाक्यादिनिर्मिते धर्मशास्त्राभासे निराकृते ।
धर्मप्रयोगशास्त्रत्वं तस्य वेदमिहोच्यते ॥
येनैवाकृतकत्वं हि वेदस्य प्रतिपाद्यते ।
न्यायेन तेन शाक्यादिग्रन्थस्यापि भविष्यति ॥
बोधकत्वात् प्रमाणत्वं स्वतस्तस्यापि लभ्यते ।
नच सन्दिह्यते बुद्धि र्न विपर्यर्यते क्वचित् ॥
अकर्तृकतया नापि कर्तृदोषेण दुष्यति ।
वेदवद्बुद्धवाक्यादि कर्तृस्मरणवर्जनात् ॥
बुद्धवाक्यसमाख्याऽपि प्रवक्तृत्वनिबन्धना ।
तद्दृष्टत्वनिमित्ता वा काठकाङ्गिरसादिवत् ॥
यावदेवोदितं किञ्चिद्वेदप्रामाण्यसिद्धये ।
तत्सर्वं बुद्धवाक्यानामतिदेशेन गम्यते ॥
तेन प्रयोगशास्त्रत्वं यथा वेदस्य सम्मतम् ।
तथैव बुद्धशास्त्रादेर्वक्तुं मीमांसकोऽर्हति ॥ इति ॥ ११ ॥
एवं प्राप्ते वदामोऽत्र तन्नासन्नियमादिति ।
असन्निबन्धनं ह्येतत्पूर्वोक्तं सर्वमीक्ष्यते ॥
इहैका परमार्थेन बुद्धिरर्थेषु जायते ।
अन्या भ्रान्तिरजाताऽपि स्वन्या जाताऽपि दुष्यति ॥
परेण सह केषाञ्चिद्वाकोवाक्यानि जल्पताम् ।
उक्तयः प्रातिभासिक्यो जायन्ते परवाक्यतः ॥

॥ भाषा ॥

प्र०—जिन २ युक्तियों से वेद की अपौरुषेयता पूर्व में सिद्ध की गई है उन्हीं युक्तियों से बुद्धादि के ग्रन्थों में भी अपौरुषेयता सिद्ध हो सकती है और पूर्वोक्तरीति से जब सब ही ज्ञान आप से आप प्रमाण होते हैं तब बुद्ध आदि के ग्रन्थों से जो ज्ञान होता है वह भी आप से आप प्रमाण हैं इस से वे ग्रन्थ भी स्वतःप्रमाण हैं और उन ग्रन्थों का भी कोई कर्ता नहीं है इसी से कर्ता के दोषानुसार उन ग्रन्थों को कोई अप्रमाण नहीं कह सकता तथा उन ग्रन्थों के विषय में बुद्धवाक्य आदि व्यवहार बुद्ध आदि के पढ़ाने से है न कि रचना करने से । इस लिये बुद्ध आदि के ग्रन्थ भी वेद के तुल्य प्रयोगशास्त्र (धर्म के स्वतन्त्रउपदेश) क्यों नहीं हैं । यही तात्पर्य उक्त प्रथमसूत्र का है ।

उ०—(१) उक्त द्वितीयसूत्र के चार तात्पर्य हैं इस से ३ उत्तर निकलते हैं जैसे कि बुद्ध आदि के ग्रन्थों में वेद की जो २ तुल्यता दिखलायी गई है उस में कोई प्रमाण वा तर्करूपी नियम नहीं है इस लिये वह निर्मूल ही है क्योंकि प्रमाणों के ओर से आंखें मीच कर उक्त रीति से जो जिस-ग्रन्थ को चाहै वेद कह सकता है क्योंकि वेद का स्वरूप सिद्ध ही है उस में वेदत्व और अपौरुषेयता की बुद्धि होती है तथा बाधक न होने से वह बुद्धि यथार्थ ही है तथा वेद से

स्वसंवेद्यं च सिद्धान्त मात्मीयमपि जानताम् ।
छायां तथापि रक्षन्तो जल्पन्ति प्रतिशब्दकैः ॥
यथा मीमांसकत्रस्ताः शाक्यवैशेषिकादयः ।
नित्यमेवागमोऽस्माक मित्याहुः शून्यचेतनम् ॥
प्रद्वेषाद्वेदपूर्वत्वमनिच्छन्तः कथंचन ।
तन्मात्रेऽपि च भूयिष्ठामिच्छन्तः सत्यवादिताम् ॥
भूयसां वेदवाह्यत्वाद् बुद्धादिवचसाममी ।
अहिंसाद्यप्यतत्पूर्वमित्याहुस्तर्कमानिनः ॥
ततश्च पौरुषेयत्वादप्रामाण्यमतीन्द्रिये ।
प्रयुक्तेर्वेदनित्यत्व-वागाभासैर्विमोह्यते ॥

याद्दशताद्दशमीमांसकैरप्यतीन्द्रियविषयपुरुषवचनप्रामाण्यनिराकरणादपौरुषेयत्वाध्यवसायनिराकृतकारणदोषाशङ्कनिरपवादप्रामाण्यसिद्धिं प्रतिहन्तुमशक्यां मन्यमाना निरुत्तरीभूता वालानुकरणवाक्यसद्दशैः स्ववाक्यैर्व्यवलिरूयमानहृदयाः सन्तोऽपि प्रक्षीणकुहेतुवचनजालाः कन्यावरणार्थागतमूर्खवरगोत्रप्रश्नोत्तरवत् ।

यदेव भवतां गोत्रं तदस्माकमपीतिवत् ।
आहुः स्वागमनित्यत्वं परवाक्यानुकारिणः ॥
अस्मदीयमिदं वाक्यं भवतामिति चोदिताः ।
जल्पन्त्यस्माकमेवैतच्छ्रुत्वामीमांसकैर्हृतम् ॥
त्यक्तलज्जं ब्रुवाणो हि वाचोयुक्तिमनर्थिकाम् ।
कुर्वन् परातिसन्धानमश्रान्तः कोऽवसीदति ॥
तत्र शाक्यैः प्रसिद्धाऽपि सर्वक्षणिकवादिता ।
त्यज्यते वेदसिद्धान्ताज्जल्पद्भिर्नित्यमागमम् ।

॥ भाषा ॥

अन्य चतुर्दश विद्याओं में वेदत्व और अपौरुषेयता की बुद्धि यदि किसी को होती हो तो वह यथार्थ नहीं है क्योंकि मनु आदि कर्ताओं की द्दढ प्रसिद्धि और "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यादि महर्षिवाक्यों का विरोध, उस बुद्धि का बाधक है और बौद्धादि के ग्रन्थों में तो वेदत्व और अपौरुषेयता की बुद्धि यदि किसी को हो भी तो बौद्धादि के सिद्धान्त ही उस बुद्धि के बाधक हैं क्योंकि वे स्वयं अपने ग्रन्थ को वेद नहीं कहते और यह भी कहते हैं कि यह ग्रन्थ बुद्धादि के रचित हैं। वास्तविक बात यह है कि जब वेद की अपौरुषेयता और स्वतःप्रमाणता का खण्डन बौद्ध आदि कर नहीं सके तो उन्हीं मीमांसा की युक्तियों को (जो कि वेद की अपौरुषेयता और स्वतः-प्रमाणता के विषय में कही हुई हैं) अपने ग्रन्थों के विषय में लगा कर और अपने सिद्धान्तों को जान बूझ कर भी भूला सा बना कर उक्त प्रश्न कर सकते हैं और यद्यपि अपने ग्रन्थ को वेदमूलक कह कर भी वे प्रमाण बना सकते हैं तथापि द्वेष और लज्जा के कारण वैसा नहीं करते और जब धर्म को लौकिकप्रमाण से अगम्य सिद्ध कर बुद्धादिवाक्यों के प्रमाण होने का खण्डन मीमांसक ने किया और बौद्ध आदि उस का समाधान न कर सके तभी अपने सिद्धान्तों को भूल कर मीमांसक ही

धर्मस्तेनोपदिष्टोयमनित्यंसर्वसंस्कृतम् ।
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया ॥
बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृते क्षणिकं च तत् ।

तथा शब्देऽपि बुद्धेर्नियमान्नाभिव्यक्तिर्द्वेधाऽपिदोषादित्येवमादिभिः सर्वदा पदार्थसम्बन्धानित्यत्वप्रतिपादनात्तद्विपरीतमागमनित्यत्वमभ्युपगम्यमानं लोकोपहासास्पदमात्रमेव भवेत् ॥ तथा हि—

यस्तन्तूननुपादाय तुरीमात्रपरिग्रहात् ।
पटं कर्तुं समीहेत स हन्याद् व्योम मुष्टिभिः ॥
यावदागमनित्यत्व-वेश्मदारूपकल्पिते ।
हेत्वाभासाग्निनिर्दग्धे तस्मिँस्तद्वेश्म दुष्करम् ॥

व्यवहारनित्यताशब्दश्च क्रियानित्यत्वपर्यायः तद्यस्य शब्दार्थसम्बन्धानामनित्यत्वं तस्य तदाश्रयव्यवहारनित्यत्वं किमाधारं भविष्यतीत्यतिदुःसम्पादम् ।

नच शब्दार्थसम्बन्ध-कूटस्थत्वमनिच्छताम् ।
नित्यता व्यवहारस्य निराधाराऽवकल्पते ॥
शब्दादिषु विनश्यत्सु व्यवहारः क्व वर्तताम् ।
स्थितैषा धर्मतेत्येतदर्थशून्यमतो वचः ॥
एषेत्यपि न निर्देष्टुं शक्या क्षणविनाशिनी ।
किमुत स्थितया साक-मेषेत्यस्यैकवाक्यता ॥

तेनानित्यशब्दवादिनामागमनित्यत्वानुपपत्तेः अनित्यस्य च वाक्यस्य प्रयोगशास्त्रत्वाभावात् नासन्नियमादित्युच्यते ॥

असाधुशब्दभूयिष्ठाः शाक्यजैनागमादयः ।
असन्निबन्धनत्वाच्च शास्त्रत्वन्न प्रतीयते ॥

मागधदाक्षिणात्यतदपभ्रंशप्रायासाधुशब्दनिबन्धना हि ते । ममवि ही भिक्खवे कम्मवच्च इसीसवे । तथा उक्खित्ते लोडम्मि उव्वे अत्थि कारणं पडणे णत्थि कारणम् । अणुभवे

॥ भाषा ॥

के सिद्धान्त को अपना सिद्धान्त बना कर वे ऐसा प्रश्न कर सकते हैं क्योंकि जब बुद्ध, सब पदार्थ को क्षणिक मानते हैं तो अपने ग्रन्थ को नित्य कैसे मानेंगे और हारने पर भी प्रतिवादी के सिद्धान्त को अपना बना कर यदि कोई यह कहे कि मेरे ही सिद्धान्त को तुम चुरा कर ले गये हो तो क्या कोई इतने से विजय पा सकता है ? और जब घटादि शब्द और घड़ा आदि अर्थ और उन के परस्पर में सम्बन्ध को बौद्धादि, अनित्य कहते हैं तब अपने ग्रन्थ को वे नित्य कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि उन के ग्रन्थ भी तो शब्दरूपी ही हैं। यह द्वितीय सू० का प्रथम तात्पर्य है।

उ०—(२) बुद्ध जैन आदि के ग्रन्थों में जितने शब्द हैं वे प्रायः व्याकरण के नियम से शून्य हैं अर्थात् असाधु और अशुद्ध हैं जैसे "ममवि ही भिक्खवे कम्मवच्चसीसवे" (हे भिक्षुगण मेरे भी शरीरधारण करने तक कर्म होते ही हैं) इस की छाया संस्कृत "ममापि हि भिक्षवः कर्म वर्तत एव आ शरीरपातात्"

कारणं इमे सङ्खडा धर्माः सम्भवन्ति सकारणा अकारणा विणसन्ति॥ अणुप्पत्तिकारणमित्येवमादयः।

ततश्चासत्यशब्देषु कुतस्तेष्वर्थसत्यता।
दृष्टापभ्रष्टरूपेषु कथं वा स्यादनादिता॥

बेदे हि तावदेव पदवाक्यसङ्घातात्मकत्वादिहेत्वाभासैः कृतकत्वभ्रान्तिर्भवति।

यावद्बहिरवस्थानाद्वेदरूपं न दृश्यते।
ऋक्सामादिस्वरूपे तु दृष्टे भ्रान्तिर्निवर्त्तते॥
आदिमात्रमपि श्रुत्वा बेदानां पौरुषेयता।
न शक्या ऽध्यवसातुं हि मनागपि सचेतनैः॥
दृष्टार्थव्यवहारेषु वाक्यैर्लोकानुसारिभिः।
पदैश्च तद्विधैरेव नराः काव्यानि कुर्वते॥
प्रपाठकचतुःषष्टि-नियतस्वरकैः पदैः।
लोकेष्वप्यश्रुतप्रायैर्ऋग्वेदं कः करिष्यति॥
अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातममित्येतन्नृवचः कथम्॥

॥ भाषा ॥

"उक्खित्ते लोडम्मि उब्बे अत्थि कारणं पडणे णत्थि कारणम् अणुभवे कारणं इमे सङ्खडा धर्माः सम्भवन्ति सकारणा अकारणा बिणसन्ति अणुप्पत्ति कारणं" (लोष्ट अर्थात् ऊपर फेंके हुए ढेले के, ऊपर जाने में कारण है गिरने में कारण नहीं है और लोष्ट के उत्पत्ति में भी कारण है ये सब काम कारण से हो सकते हैं। वस्तु के नाश में कोई कारण नहीं है किन्तु उत्पत्ति में कारण की अपेक्षा है) छाया सं० "उत्क्षिप्ते लोष्टे उत्क्षेपे अस्ति कारणम् पतने नास्ति कारणम् अस्ति उद्भवे च कारणम् इमे च संस्कृता धर्माः सम्भवन्ति सकारणा अकारणा बिनश्यन्ति। उत्पत्तिम् अनु कारणम् अपेक्षन्ते"। इत्यादि बुद्धादि के ग्रन्थों में मागधी और दाक्षिणात्य भाषा के शब्द प्रायः रहते हैं जो कि अपभ्रंश (अशुद्ध) हैं और उन में भी बहुत से शब्द ऐसे हैं जो कि उक्त भाषाओं के नियम से भी बिरुद्ध हैं अर्थात् वे शब्द अपभ्रंश के भी अपभ्रंश (अति अशुद्ध) हैं। इस रीति से जो शब्द, स्वयं अतिभ्रष्ट हैं उन के किये हुए उपदेश में सत्यता की आशा कैसे हो सकती है? और ऐसे शब्दों से ग्रथित वाक्यों के अपौरुषेय और अनादि होने का सम्भव भी कैसे हो सकता है? बेद में तो तब तक ही यह भ्रम रहता है कि "बेद जब वाक्यरूपी है तब लौकिकवाक्य के नाईं पौरुषेय है" जब तक बेद का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं होता। तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद आदि के प्रथम हीं वाक्यों के सुनने से उन के पौरुषेय होने का भ्रम दूर भागता है समस्त बेदों की तो बात ही न्यारी है। और बेद का तो यह स्वरूप है कि ऋग्वेद की एक मन्त्रसंहिता में ६४ प्रपाठक हैं जिन में एक २ पद उदात्त आदि स्वरों से नियमित हैं और यह नियम अनादिकाल से एकरस चला आता है तो ऐसे ऋग्वेद की रचना कौन कर सकता है? तथा उक्तसंहिता के आरम्भ ही में 'अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्' (मैं अर्थात् होतानामक ऋत्विक्, अग्निनामक देवता की स्तुति करता हूं जो कि यज्ञ के पूर्वभाग में

किमालोच्यं क वा दृष्ट्वा वाक्प्रतिच्छन्दमीदृशम् ।
रचयेत्पुरुषो वाक्यं किं चोद्दिश्य प्रयोजनम् ॥
अग्नेः पुरोहितत्वं च क दृष्टं येन कीर्त्यते ।
ईलेशब्दप्रयोगश्च क दृष्टः स्तोत्रगोचरः ॥
देवत्वं चास्य यज्ञस्य विहितं क्वोपलक्षितम् ।
विधिनैव हि देवत्वं प्रतिकर्मावधार्यते ॥
न जात्या देवतात्वं हि क्वचिदस्ति व्यवस्थितम् ।
होतृत्वमपि यत्तस्य–देवताह्वानहेतुकम् ॥
रत्नधायितमत्वं च तन्नरैर्ज्ञायते कथम् ।
अविज्ञातगुणानां च कल्पते स्तवनं न तु ॥
स्वतन्त्रो वेदएवैतत्केवलो वक्तुमर्हति ।
इषेत्त्वेत्ययमप्यर्थः पुरुषेणोच्यतां कथम् ॥
शाखाच्छेदोपयोगश्च पुम्भिरुत्प्रेक्ष्यतां कुतः ।
एवमूर्जेत्ययं मन्त्रः केन शाखाऽनुमार्जने ॥
वक्तुं शक्यो नियोक्तुं वा बुद्धिपूर्वककारिणा ।

॥ भाषा ॥

आहवनीयरूप से स्थित और दान आदि गुण से युक्त है तथा देवताओं के किये हुए यज्ञों में होतानामक ऋत्विक् है और यज्ञ के फलरूपी रत्नों का धारण करने वाला है) यह मन्त्र कैसे मनुष्यरचित हो सकता है क्योंकि क्या समझ कर और कहां देख कर तथा किस प्रयोजन के लिये मनुष्य ऐसे वाक्य को बनावैगा ? अग्नि का पुरोहित होना लोक में कहां देखा गया है ? कि उस को इस मन्त्र में पुरुष, कहैगा । लोक में "ईले" इस शब्द का प्रयोग स्तुति अर्थ में कहां होता है ? कि जिस के अनुसार यहां पुरुष, वैसा प्रयोग करैगा । तथा देवतारूपी अर्थ, केवल वेदों हीं से ज्ञात हो कर लोक में प्रचलित है तो ऐसी दशा में वेद से प्रथम, 'देव' शब्द का अर्थ कोई मनुष्य कैसे जान सकता है कि जिस से इस मन्त्र में अग्नि को 'देव' शब्द से वह कहैगा और यह भी मनुष्य नहीं समझ सकता कि अग्नि, अन्य देवताओं के होता और उत्तरत्नों के धारण करने वाले हैं । और जब अग्नि के ये गुण, पुरुष को ज्ञात ही नहीं हो सकते तब पुरुष, कैसे इन गुणों से अग्नि की स्तुति कर सकता है ? वेद तो स्वतन्त्र और अनादि है इसी से ऐसे गुणों से स्तुति करना केवल वेद ही का काम है ।

शुक्ल यजुर्वेद की एक मन्त्रसंहिता के आरम्भ में "इषेत्वा" (हे पलाश की शाखा ! वृष्टि के लिये तुझे काटता हूं) इस वाक्य को भी पुरुष कैसे बना सकता है ? क्योंकि पुरुष को इस वाक्य से प्रथम, यह कैसे ज्ञात हो सकता है कि यह मन्त्र, शाखा के छेदन में उपयोगी है । ऐसे ही "ऊर्जेत्वा" (जलगत मधुरस के लिये तुझे सूधी करता हूं) इस मन्त्र को भी कौन पुरुष रचना कर सकता है ? क्योंकि इस से प्रथम, पुरुष को यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि उक्त शाखा को सूधी करने से रसलाभ होता है तथा यह भी ज्ञात नहीं हो सकता कि इस मन्त्र से शाखा को सूधी करना चाहिये । "वायवःस्थ" (हे बछरा ! तुम वायु हो जावो अर्थात् वायु के

वायवःस्थेत्ययं मन्त्रो वत्सायाकरणं प्रति ॥
एकशो विनियोक्तव्य इति कः कथयिष्यति ।

वायुशब्देन बहुवचनान्तेन मातुर्वियोज्यमान एकैको वत्सोऽभिधीयत इति नैतद्बुद्धिपूर्वकारिणा चिन्तितुं शक्यम् ।

सामवेदे यदोग्नाईप्रभृतीनां प्रयुज्यते ।
रूपं तत्रापि पौरुषत्वे नाभिप्रायोऽस्ति कश्चन ॥

को नाम बुद्धिपूर्वकारी पुरुषोऽर्थाभिधानपराणामृगक्षराणां लोकव्याकरणादिष्वनवगतपूर्वमग्नइत्यस्य पदस्याकारमोकारेण प्लुतेन विकुर्यात् ॥

तथा वीतयइत्यस्मिन्नीकारस्यापि विक्रियाम् ।
तशब्दस्य च तोशब्दं एशब्दस्यानिरूपताम् ॥
को मूढो बुद्धिपूर्वो वा नियमात्कल्पयिष्यति ।
तेन वेदस्वतन्त्रत्वं रूपादेवावगम्यते ॥
किञ्चिदेव तु तद्वाक्यं सदृशं लौकिकेन यत् ।
तत्रापि छान्दसी मुद्रा दृश्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

एवं च यदाऽध्येतारोऽध्यापयितारः पार्श्वस्था वा वेदपदवाक्यतदर्थरूपाण्यालोचयन्ति तदा स्वसंवेद्यमेवापौरुषेयत्वमध्यवस्यन्ति ॥ तावता तु वाद्यतार्किकाणां प्रतीति-

॥ भाषा ॥

समान अपने माता के समीप से चले जावो) इस वाक्य का भी रचना मनुष्य कैसे कर सकता है ? क्योंकि मनुष्य को यह नहीं ज्ञात हो सकता कि गौओं से बछरों को अलग करने में इस मन्त्र का उपयोग है और यह भी नहीं ज्ञात हो सकता कि "वायु" शब्द से बछरे कहे जाते हैं। किन्तु उक्त तीन वाक्यों का अर्थ, क्रम से, ब्राह्मणभाग के इन तीन वाक्यों ने बतलाया है "वृष्ट्यैतदाह यदाहेषेत्वेति" (१, ७, १, २) (इषेत्वा यह मन्त्र वृष्टि के लिये कहा जाता है) "यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाहेति" (१, ७, १, २,) (वृष्टि के जल में जो मधुर रस है उस के लाभार्थ "ऊर्जेत्वा" (यह मन्त्र पढ़ा जाता है)

"वायवःस्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोऽन्तरिक्षदेवत्याः खलु पशवो वायव एवैतान् परिददातीति" ॥ तै० ब्रा० ॥ (आकाश का स्वामी अर्थात् उस में सदा चलने वाला वायु है और आकाश, पशुओं का देवता है इस लिये वायु ही के अर्थ इन को देता है) इन तीन ब्राह्मणवाक्यों में भी जो बातें कही गई हैं वे इन वाक्यों से प्रथम, पुरुष की चिन्ता में कदापि नहीं आ सकतीं कि जिस के अनुसार इन वाक्यों को पुरुषरचित कहा जाय। ऐसे ही सामसन्त्र की संहिता के गानभाग में प्रथम ही "अग्न आयाहि वीतये" इस ऋचा में "अग्ने" के स्थान में "ओग्नाई" कहा है पुरुष, इस की रचना कदापि नहीं कर सकता क्योंकि लोक और व्याकरण के अनुसार अग्नि के सम्बोधन में, अग्नि शब्द का "अग्ने" यही स्वरूप होता है। इस में आदि अकार के स्थान में प्लुत "ओ३" तथा 'ए' के स्थान में 'आई' को पढ़ कर कैसे कोई पुरुष, उक्त स्वरूप को बिगाड़ सकता है ? क्योंकि स्वरूप के बिगड़ने से ज्ञापित अर्थ का बोध ही नहीं हो सकता। और ऐसे २ सहस्रों दृष्टान्त प्रायः वेद में अतिसुलभ हैं कि जिन के देखने से वेद का अपौरुषेय होना प्रत्यक्ष देख पड़ता है। निदान वेद में ऐसे वाक्य

भावना नोत्पद्यत इति तत्तत्प्रतिपादनक्षमवेदोत्थापितन्यायोपनिबन्धनान्मीमांसकैः केवलं यश एव पीनम् ॥ शाक्यादिग्रन्थेषु पुनर्यदपि किञ्चित्साधुशब्दाभिप्रायेणाविनष्टबुद्ध्या प्रयुक्तं तत्रापि प्रज्ञाप्तिपश्यतातिष्ठताऽदिप्रायप्रयोगात्किञ्चिदेवाविप्लुतं लभ्यते ॥ किमुत यानि प्रसिद्धापभ्रष्टदेशभाषाभ्योऽपि अपभ्रष्टतराणि भिक्खवे इत्येवमादीनि, द्वितीयाबहुवचनस्थाने ह्येकारान्तं प्राकृतं पदं दृष्टं न प्रथमाबहुवचने। सम्बोधनेऽपि संस्कृतशब्दस्थाने च ककारद्वयसंयोगोऽनुस्वारलोपः। ऋवर्णाकारापत्तिमात्रमेव प्रकृतापभ्रंशेषु दृष्टं न डकारापत्तिरपि। सोऽयं संस्कृता धर्मा इत्यस्य सर्वकालं स्वयमेव प्रतिषिद्धोऽपि विनाशः कृत इति असाधुशब्दनिबन्धनत्वादित्यन्तेन हेतुना वेदत्वाकृतकशास्त्रान्तरत्वशङ्कानिवृत्तिः। यावाँश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिस्तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणं तदुपलक्षितरूपाणि च ॥

वेदे यथोपलभ्यन्ते नैवं शाक्यादिभाषिते।
प्रयोगो नियमाभावादतोऽप्यस्य न शास्त्रता ॥

असन्नियमादिति च व्याकरणोक्तनियमाभावादित्यर्थः॥क्षणिकत्वनिराकृतानित्यत्वसिद्धानित्यत्वात्यन्ताविद्यमानग्रन्थनियमाभ्युपगमाभिप्रायेण वा ऽसान्नियमादित्युक्तम्।

असतां वा क्षणभङ्गशून्यवादानात्मकत्वादीनामसद्धेतुभिर्वा प्रतिपादननियमात्तदेककर्तृकधर्मवचनानामप्यप्रामाण्यम्।

कर्तृस्मरणदार्ढ्याच्च नैषामकृतता मता।
तेनाकृतकगम्येऽर्थे स्वातन्त्र्यान्न प्रमाणता ॥

॥ भाषा ॥

बहुत थोड़े हैं कि जिन के शब्द और अर्थ लौकिकवाक्यों के शब्द और अर्थ से सदृश हैं तथापि सूक्ष्मदर्शी विचारक पुरुषों को उन में भी छान्दसी मुद्रा (वेद की मुहर अथवा अलौकिकविशेष) देख पड़ती है और बुद्ध आदि के ग्रन्थों में तो जो शब्द शुद्ध समझ कर भी रक्खे गये हैं वे भी अशुद्ध ही हैं जैसे "प्रज्ञप्ति" "पश्यता" "तिष्ठता" आदि जिन के शुद्ध शब्द प्रज्ञापना, दृष्टता, स्थात्वता, इत्यादि हैं। और जो पूर्वोक्त, "भिक्खवे," आदि हैं वे तो देशभाषा की अपेक्षा भी अतिभ्रष्ट हैं जैसे अनेक के सम्बोधन में बहुवचन को एकार आदेश भाषा में नहीं होता "लोडम्मि" में डकार भी अपभ्रंशभाषा में नहीं होता। इस रीति से यह सिद्ध हो गया कि बुद्धादि के ग्रन्थ कदापि अपौरुषेय नहीं हो सकते क्योंकि उन के स्वरूप ही देखने से उन का पौरुषेय तथा अशुद्ध होना प्रत्यक्ष ही देख पड़ता है। उक्त द्वितीयसूत्र का यह द्वितीय तात्पर्य है।

उ०—(३) क्षणभङ्ग (जगत् क्षणिक है) शून्यवाद (सब मिथ्या है कुछ भी सत्य नहीं) अनात्मकत्व (आत्मा कोई वस्तु नहीं) इत्यादि अनेक अनुचित और निर्मूल विषयों को (जो कि पहिले नहीं थे अर्थात् आधुनिक हैं) जो लोग अपना सिद्धान्त मान बैठे ऐसे बुद्ध आदि के रचित ग्रन्थ, धर्म के विषय में प्रमाण नहीं हो सकते तथा उन के अपौरुषेय होने की चर्चा भी कैसे हो सकती है ?। उक्त द्वितीयसूत्र का यह तृतीय तात्पर्य है।

जब बुद्ध आदि ने ग्रन्थों की रचना की तभी से आज तक उन के ग्रन्थकर्ता होने की स्मरणपरम्परा, दृढ और अविच्छिन्न चली आती है तो ऐसी दशा में उन की अपौरुषेयता कैसे कही जा सकती है ? और इसी स्मरणपरम्परा को प्रसिद्धि भी कहते हैं तथा इसी प्रसिद्धि के

एवं समस्तवेदाङ्गधर्मशास्त्रेष्वपीदृशात् ।
कर्तृस्मृतिदृढिम्नः स्यान्न स्वातन्त्र्येण शास्त्रता ॥
अनेन कल्पसूत्राणां प्रत्याख्याता स्वतन्त्रता ।
कर्तृस्मृत्या दृढं ज्ञाता तेषामप्यसतां क्रिया ॥
येन न्यायेन वेदानां साधिताऽनादिता पुरा ।
दृढकर्तृस्मृतेस्तस्य कल्पसूत्रेषु बाधनम् ॥

यथैव हि कल्पसूत्रग्रन्थानितराङ्गस्मृतिनिबन्धनानि चाध्येताध्यापयितारः स्मरन्ति तथा अश्वलायनबौधायनापस्तम्बकात्यायनप्रभृतीन् ग्रन्थकारत्वेन ॥

ततश्च प्रागवस्थायामसतामेव बन्धनात् ।
कुतः प्रयोगशास्त्रत्वं वेदवद्वेदतैव वा ॥

नचैषां समाख्यामात्रबलादेव कर्तृत्वमुच्यते येना 'ख्याप्रवचनादि' त्युत्तरमुच्यते । पुरुषपरम्परयैव हि स्मृतेषु कर्तृषु समाख्याऽभ्युच्चयहेतुत्वेन ज्ञायते यथा च कठादिचरणैरनादिभिः प्रोच्यमानानामनादिवेदशाखानामनादिसमाख्यासम्भवो नैवं नित्यावस्थितमाशकादिगोत्रचरणप्रवचननिमित्तसमाख्योपपत्तिः । माशकबौधायनापस्तम्बादिशब्दाश्चादिमदेकद्रव्योपदेशिन इति न तेभ्यः प्रकृतिभूतेभ्योऽनादिग्रन्थविषयसमाख्याव्युत्पादनसम्भवः । अतश्च माशकादिसमाख्याऽप्यविद्यमानग्रन्थनियमनादेव प्रवृत्तेत्यपि हेत्वर्थयोजना ॥ इति १२

स्मृतीनां भेदः कर्त्रादयश्च–

बीरमित्रोदये परिभाषाप्रकरणे ।

अथ पुराणानि ।

तत्र पुराणलक्षणम् ।

मात्स्ये,

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च बंशो मन्वन्तराणि च ।
बंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

प्रतिसर्गः संहारः । तद्विभागश्च–

॥ भाषा ॥

अनुसार, बेद से अन्य कोई विद्या, अपौरुषेय नहीं है और न धर्म में स्वतन्त्रप्रमाण हो सकती है तथा इसी से यह भी निश्चय हो गया कि बुद्ध आदि के ग्रन्थ, बुद्ध आदि के पढ़ाने के कारण बुद्धवाक्य आदि नहीं कहलाते किन्तु बुद्ध आदि ने उन ग्रन्थों की रचना की इसी से वे ग्रन्थ, बुद्ध आदि के वाक्य कहलाते हैं इस लिये बुद्ध आदि के ग्रन्थ, न बेद हो सकते हैं और न बेद के तुल्य । यहां तक स्मृतियों का प्रामाण्य सिद्ध हो चुका ।

अब स्मृतियों के भेद और उन के कर्ता आचार्यों के नाम आदि कहे जाते हैं ।

॥ बीरमित्रोदय परिभाषाप्रकरण ॥

मत्स्यपुराण में पुराण का लक्षण यों कहा है कि "सर्गश्च०" (जगत् की सृष्टि प्रलय महानुभावों का बंश, मनुओं के अधिकारसमय और उक्त बंशवालों के चरित्र, इन पांच बिषयों का बर्णन जिस ग्रन्थ में हो उस को पुराण कहते हैं) बिष्णुपुराण में "अष्टादश पुराणानि"०

बिष्णुपुराणे-

अष्टादशपुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते ।
ब्राह्मं पाद्मं बैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ॥
तथाऽन्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम् ।
आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यं नवमं स्मृतम् ।
दशमं ब्रह्मबैवर्त्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम् ।
बाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम् ॥
चतुर्दशं बामनं च कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम् ।
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम् ॥

पुराणपरिमाणं भागवते—

ब्राह्मं दशसहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च ।
श्रीबैष्णवं ततो बिंशच्चतुर्बिंशति शैवकम् ॥
दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चबिंशतिः ।
मार्कण्डं नव बाह्नं च दश पञ्चचतुः शतम् ॥
चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च ।
दशाष्टौ ब्रह्मबैवर्तं लैङ्गमेकादशैव तु ॥
चतुर्बिंशति बाराह मेकाशीतिसहस्रकम् ।
स्कान्दं शतं तथा चैकं बामनं दश कीर्त्तितम् ॥
कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तच्च चतुर्दश ।
एकोनबिंशं सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु ॥
एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः ।

मत्स्यपुराणे तु भागवतीयगणनातः षट्शत्याऽग्निपुराणं द्विशत्या च ब्रह्माण्डपुराणमधिकमुक्त्वाऽन्ते चतुर्लक्षमित्युपसंहृतं, तददूरबिप्रकर्षेण, भवन्ति हीदृशा अपि वादा

॥ भाषा ॥

इत्यादि वाक्यों से पुराण का बिभाग यों दिखलाया है कि (१) ब्राह्म (२) पाद्म (३) बैष्णव (४) शैव (५) भागवत (६) नारदीय (७) मार्कण्डेय (८) आग्नेय (९) भविष्य (१०) ब्रह्मबैवर्त (११) लैङ्ग (१२) बाराह (१३) स्कान्द (१४) बामन (१५) कौर्म (१६) मात्स्य (१७) गारुड (१८) ब्रह्माण्ड। ये अष्टादशपुराण हैं एक २ पुराणों की, अनुष्टुप् श्लोक के अनुसार श्लोकों की सङ्ख्या भागवत में "ब्राह्म दश०" इत्यादि श्लोकों से यह कहा है कि ब्राह्म १०००० । पाद्म ५५००० । बैष्णव २०००० । शैव २४००० । भागवत १८००० । नारदीय २५००० । मार्कण्डेय ९००० । आग्नेय १५४०० । भविष्य १४५०० । ब्रह्मबैवर्त १८००० । लैङ्ग ११००० । बाराह २४००० । स्कान्द ८११०० । बामन १०००० । कौर्म १७००० । मात्स्य १४००० । गारुड १९००० । ब्रह्माण्ड १२००० । इस रीति से सब पुराणों की मिलित श्लोकसङ्ख्या ४००००० चार लक्ष है इति । मत्स्यपुराण में तो उक्तगणना से अधिक, आग्नेयपुराण की ६०० तथा ब्रह्माण्डपुराण की २०० सङ्ख्या कह कर यह कहा है कि पुराणों के श्लोकों की सङ्ख्या ४००००० है । सो यह

यत्किञ्चिन्न्यूनाधिकं शतं लब्ध्वा शतं मया लब्धमिति । एवं भागवतीयमपि चतुर्लक्षवचनं व्याख्येयम् । याऽपि विष्णुपुराणे ब्रह्माण्डमादाय वायवीयत्यागेन या च ब्रह्मवैवर्त्ते वायवीयमुपादाय ब्रह्माण्डपुराणपरित्यागेनाष्टादशसङ्ख्योक्ता सा कल्पभेदेन व्यवस्थापनीया । काशीखण्डादयस्तु स्कान्दान्तर्गता एव तथाच —

प्रभासखण्डम् ।

स्कान्दन्तु सप्तधा भिन्नं वेदव्यासेन धीमता ।
एकाशीतिसहस्राणि शतं चैकं च सङ्ख्यया ॥
तस्याद्यो यो विभागस्तु स्कन्दमाहात्म्यसंयुतः ।
माहेश्वरः समाख्यातो द्वितीयो वैष्णवः स्मृतः ॥
तृतीयो ब्राह्मणः प्रोक्तः सृष्टिसङ्क्षेपसूचकः ।
काशीमाहात्म्यसंयुक्तश्चतुर्थः परिपठ्यते ॥
रेवायाः पञ्चमो भागः सोज्जयिन्याः प्रकीर्तितः ।
षष्ठस्तस्य विभागस्तु तयोर्माहात्म्यसूचकः ॥
सप्तमो यो विभागोऽयं स्मृतः प्राभासिको द्विजाः । इति ।

एतद्भिन्नान्युपपुराणानि । तथा च महापुराणान्युक्त्वोक्तं —

कौर्मे महापुराणे,

अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितानि तु ।
अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा सङ्क्षेपतो द्विजाः ॥
श्रुत्वा कथितानीत्यन्वयः । तानि च ।

तत्रैव —

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परम् ।
तृतीयं नान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ।

॥ भाषा ॥

कहना वैसा ही है जैसा कि लोक में १०० से २-४ अधिक वा न्यून पाने पर भी कहा जाता है कि १०० मैंने पाया । यद्यपि उक्त विष्णुपुराण में बायुपुराण को त्याग कर उस के स्थान में ब्रह्माण्डपुराण की तथा ब्रह्मवैवर्त्त में ब्रह्माण्डपुराण को त्याग कर उस के स्थान में बायुपुराण की गणना है तथापि कल्पभेद के अनुसार दोनों गणनाएं ठीक ही हैं क्योंकि किसी कल्प (ब्रह्मा का एक दिन) में बायुपुराण को और किसी कल्प में ब्रह्माण्डपुराण को ले कर १८ पुराण प्रचलित रहते हैं । और काशीखण्ड आदि तो पृथक् पुराण नहीं हैं किन्तु स्कन्दपुराण ही में हैं क्योंकि प्रभासखण्ड के "स्कान्दन्तु०" इत्यादि श्लोकों में यह कहा है कि ८११०० स्कन्दपुराण, की सङ्ख्या है जिस में व्यास ने ७ विभाग कर दिया (१) माहेश्वर खं० (२) बैष्णव खं० (३) ब्राह्म खं० (४) काशी खं० (५) रेवा खं० (६) रेवामाहात्म्य खं० (७) प्रभास खं० । ऐसे ही कौर्म महापुराण में पूर्वोक्त अठारह महापुराणों की गणना के अनन्तर "अन्यान्युप०" इत्यादि श्लोकों से १८ उपपुराणों की गणना की है जो यह है (१) सनत्कुमार, (सनत्कुमार का रचित) (२) नारसिंह (३) नान्द (नन्दी का माहात्म्य) (स्वामिकार्तिकेय का रचित) (४) शिवधर्म, (नन्दीश्वर का

दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् ॥
कापिलं मानवं चैव तथैवोशनसेरितम् ।
ब्रह्माण्डं वारुणं चैव कालिकाह्वयमेवच ॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम् ।
पाराशरोक्तमपरं मारीचं भार्गवाह्वयम् ॥ इति
ब्रह्मवैवर्त्तेऽपि,

आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं द्वितीयकम् ।
तृतीयं नारसिंहाख्यं शैवधर्मं चतुर्थकम् ॥
दौर्वासं पञ्चमं षष्ठं कापिलेयमतः परम् ।
सप्तमं मानवं प्रोक्तं शौक्रमष्टममेवच ॥
वारुणं नवमं प्राहुर्ब्रह्माण्डं दशमं स्मृतम् ।
कालीपुराणं च तत एकादशमसुच्यते ॥
वासिष्ठलैङ्गं द्वादशमं माहेशं तु त्रयोदशम् ।
साम्बं चतुर्दशं प्रोक्तं सौरं पञ्चदशं स्मृतम् ॥
पाराशर्यं षोडशमं मारीचं तु ततः परम् ।
अष्टादशं भार्गवाख्यं सर्वधर्मप्रवर्त्तकम् ॥
एतान्युपपुराणानि सर्ववेदमयानि च ।

उपपुराणान्तर्गते नारदीयब्रह्माण्डपुराणे भिन्ने । एतान्युपपुराणानि पुराणेभ्य एव निर्गतानीति याज्ञवल्क्येन पुराणत्वेन संगृहीतानि । तथाच—मात्स्ये,

पाद्मे पुराणे यत्प्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम् ।
तदष्टादशसाहस्रं नारसिंह मिहोच्यते ॥
नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्णितम् ।
नन्दापुराणं तल्लोके नन्दाख्यमिति कीर्तितम् ॥

॥ भाषा ॥

रचित) (५) आश्चर्य (दुर्वासा का रचित) (६) नारदीय (नारद का रचित) (७) कापिल (कपिल का रचित) (८) मानव (मनुरचित) ९) औशनस (शुक्राचार्य रचित) (१०) ब्रह्माण्ड (११) वारुण (१२) कालिका (१३) माहेश्वर (१४) साम्ब, (१५) सौर (१६) पाराशर (पराशररचित) (१७) मारीच (मरीचिरचित) (१८) भार्गव, (भृगुरचित) । ब्रह्मवैवर्त्त में भी "आद्यं सनत्कुमारञ्च०" इत्यादि श्लोकों से इन १८ उपपुराणों की गणना है । उपपुराणों में जो नारदीय और ब्रह्माण्ड कहे हुए हैं वे, महापुराणों में कहे हुए नारदीय और ब्रह्माण्ड से भिन्न हीं हैं । यह उपपुराण, पूर्वोक्त महापुराणों ही से निकले हैं इसी से याज्ञवल्क्यमहर्षि ने 'पुराणन्यायमीमांसा०' इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक में 'पुराण' शब्द से इन उपपुराणों का भी सङ्ग्रह कर लिया है और इसी से "पाद्मे पुराणे०" इत्यादि श्लोकों से मत्स्यपुराण में यह कहा है कि पद्मपुराण में जो नरसिंह का वर्णन है उसी का बिस्तार यह १८००० नारसिंह उपपुराण है और पद्मपुराण में जो नन्दा [गङ्गा] का माहात्म्य कहा हुआ है उसी का बिस्तार स्वामिकार्तिकेय का कहा हुआ है वही लोक में नान्द

यत्तु साम्बं पुरस्कृत्य भविष्येऽपि कथाऽऽनकम् ।
प्रोच्यते तत्पुनर्लोके साम्बमेव मुनिव्रताः ॥
एवमादित्यसञ्ज्ञा च तत्रैव परिगद्यते ।
अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्तु दृश्यते ॥
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम् ।

कथानकम् कथा । विनिर्गतम् समुद्धृतम् । यथा महाजनपरिगृहीतनन्दिकेश्वरपुराणादिपुराणदेवीपुराणादीति सङ्क्षेपः ।

अथ धर्मशास्त्राणि ।
तत्र तत्प्रणेतॄनाह ।
याज्ञवल्क्यः ।

मन्वत्रिविष्णुहारीत-याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसंवर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥

प्रयोजकाः कर्त्तारः
पैठीनसिः,

तेषां मन्वङ्गिरोव्यास गौतमात्र्युशनोयमाः ।
वसिष्ठदक्षसंवर्त्त-शातातपपराशराः ॥
विष्णवापस्तम्बहारीताः शङ्खः कात्यायनो भृगुः ।
प्रचेता नारदो योगी बौधायनपितामहौ ॥
सुमन्तुः कश्यपो बभ्रुः पैठीनो व्याघ्र एव च ।

॥ भाषा ॥

उपपुराण कहा जाता है तथा भविष्यपुराण में जो साम्ब की कथा है उसी से साम्ब उपपुराण निकला है और भविष्यपुराण ही में सूर्य की कथा से सौर उपपुराण निकला है । हे मुनिगण ! मेरे कहने का यह तात्पर्य है कि १८ महापुराणों से अन्य नन्दिकेश्वर पुराण, आदि पुराण, देवी पुराण, और १८ उपपुराण आदि जितने कथा के ग्रन्थ हैं वे सब १८ महापुराणों ही से निकले हैं ।

धर्मशास्त्र ग्रन्थों के कर्ता आचार्यों को "मन्वत्रिविष्णु०" इत्यादि श्लोकों से याज्ञवल्क्य ने गिनाया है । (१) मनु, (२) अत्रि, (३) विष्णु, (४) हारीत, (५) याज्ञवल्क्य, (६) उशना [शुक्र] (७) अङ्गिरा, (८) यम, (९) आपस्तम्ब, (१०) संवर्त्त, (११) कात्यायन, (१२) बृहस्पति, (१३) पराशर, (१४) व्यास, (१५) शङ्ख, (१६) लिखित, (१७) दक्ष, (१८) गौतम, (१९) शातातप, (२०) वसिष्ठ,। शङ्ख और लिखित दोनों भ्राता हैं उन का रचित एक ही धर्मशास्त्र है। तथा पैठीनसिमहर्षि ने इस रीति से गिनाया है (१) मनु (२) अङ्गिरा (३) व्यास (४) गौतम (५) अत्रि (६) उशना (७) यम (८) वशिष्ठ (९) दक्ष (१०) संवर्त्त (११) शातातप (१२) पराशर (१३) विष्णु (१४) आपस्तम्ब (१५) हारीत (१६) शङ्ख (१७) कात्यायन (१८) भृगु (१९) प्रचेता (२०) नारद (२१) योगी (याज्ञवल्क्य) (२२) बौधायन (२३) पितामह (ब्रह्मा) (२४) सुमन्तु (२५) कश्यप (२६) बभ्रु

सत्यव्रतो भरद्वाजो गार्ग्यः कार्ष्णाजिनिस्तथा ॥
जाबालिर्जमदग्निश्च लौगाक्षिर्ब्रह्मसम्भवः।
इति धर्मप्रणेतारः षट्त्रिंशदृषयस्तथा ॥
ब्रह्मसम्भवो ब्रह्मगर्भः।
शङ्खलिखितौ।

स्मृतिर्धर्मशास्त्राणि तेषां प्रणेतारो मनुविष्णुयमदक्षाङ्गिरोऽत्रिबृहस्पत्युशनआपस्तम्बवसिष्ठकात्यायनपराशरव्यासशङ्खलिखितसम्वर्त्तगौतमशातातपहारीतयाज्ञबल्क्यप्राचेतसादयः इति। प्रचेता एव प्राचेतसः आदिशब्देन कल्पतरौ बुधदेवलसोमजमदग्निविश्वामित्रप्रजापतिनारदपैठीनसिपितामहबौधायनच्छागलेयजाबालच्यवनमरीचिकश्यपा उक्ताः।

एवं च—

मन्वादिस्मृतयो यास्तु षट्त्रिंशत्परिकीर्तिताः।

इत्यत्र एताः षट्त्रिंशद्बोध्याः। अविगानेन सर्वपरिग्रहादिति कल्पतरुः। योगियाज्ञवल्क्यवृद्धमनुवृद्धशातातपवृद्धवसिष्ठलघुहारीतस्मरणानि षट्त्रिंशत्स्मृतिकारकर्तृकाण्येव अवस्थाभेदेन तैरेव करणात्। अतएव याज्ञवल्क्येनोक्तम् 'योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तमि' ति। योगियाज्ञवल्क्यग्रन्थे

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्यस्त्वयोक्तं पुराऽनघ।

इति योगियाज्ञवल्क्यं प्रति ऋषिप्रश्ने याज्ञवल्क्यग्रन्थोक्तस्नानानुवादाच्च। एवं वृद्धमन्वादीनामपि मन्वाद्यभेदः शिष्टप्रसिद्ध्यादिभिरवगन्तव्यः। यानि गृह्यतत्परिशिष्टादीनि

॥ भाषा ॥

(२७) पैठीनसि (२८) व्याघ्र (२९) सत्यव्रत (३०) भरद्वाज (३१) गार्ग्य (३२) कार्ष्णाजिनि (३३) जाबालि (३४) जमदग्नि (३५) लौगाक्षि (३६) ब्रह्मगर्भ, । तथा शङ्ख और लिखित महर्षियों ने "मनुविष्णु०" इत्यादि वाक्य से यों कहा है कि (१) मनु (२) विष्णु (३) यम (४) दक्ष (५) अङ्गिरा (६) अत्रि (७) बृहस्पति (८) उशना (९) आपस्तम्ब (१०) वसिष्ठ (११) कात्यायन (१२) पराशर (१३) व्यास (१४) शङ्ख (१५) लिखित (१६) संवर्त्त (१७) गौतम (१८) शातातप (१९) हारीत (२०) याज्ञवल्क्य (२१) प्रचेता आदि महर्षि, धर्मशास्त्र के कर्ता हैं। कल्पतरुनामक ग्रन्थ में यह कहा है कि शङ्ख लिखित इस वाक्य में "आदि" शब्द से (२२) बुध (२३) देवल (२४) सोम (२५) जमदग्नि (२६) विश्वामित्र (२७) प्रजापति (दक्ष), (२८) नारद (२९) पैठीनसि (३०) पितामह (ब्रह्मा), (३१) बौधायन (३२) छागलेय (३३) जाबाल (३४) च्यवन (३५) मरीचि (३६) कश्यप का ग्रहण है। और "मन्वादिस्मृतयः" इस वाक्य में जो ३६ स्मृतियां कही हैं वे ये ही हैं यह भी कल्पतरु ने कहा है। और योगि-याज्ञवल्क्य, वृद्ध-मनु, वृद्ध-शातातप, वृद्ध-वसिष्ठ, और लघु-हारीत के नाम से जो स्मृतिग्रन्थ बने हैं वे भी पूर्वोक्त छत्तीस स्मृतिकारों में से परिगणित याज्ञवल्क्य आदि ही के बनाये हैं। तात्पर्य यह है कि याज्ञवल्क्य ही ने जब योगाभ्यास किया तब योगि-याज्ञवल्क्य कहलाने लगे ऐसे ही वृद्ध-मनु आदि नाम भी अवस्थाविशेष के अनुसार मनु आदि ही के नाम हैं न कि किसी अन्य ऋषि के। तथा गृह्यसूत्र और गृह्यपरिशिष्ट आदि जो ऋषियों के बनाये हैं वे पुराणों के नाईं इन छत्तीस स्मृतियों की अपेक्षा अन्य ही हैं और धर्म

तानि भिन्नकोटीन्येव पुराणवत्प्रमाणानि । तथा बिष्णुधर्मोत्तरमहाभारतरामायणादीन्यपि ।

अष्टादशपुराणेषु यानि वाक्यानि भारत ।
तान्यालोच्य महाबाहो तथा स्मृत्यन्तरेषु च ॥
मन्वादिस्मृतयो याश्च षट्त्रिंशत्परिकीर्तिताः ।
तासां वाक्यानि क्रमशः समालोच्य ब्रवीमि ते ॥

इति भविष्यपुराणे षट्त्रिंशत्स्मृतिभिन्नस्मृत्यन्तराभिधानात् ।

अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितं तथा ।
बिष्णुधर्मादिशास्त्राणि शिवधर्माश्च भारत ॥
कार्ष्णं च पञ्चमं वेदं यन्महाभारतं स्मृतम् ।
सौराश्च धर्मा राजेन्द्र मानवोक्ता महीपते ॥
जयेति नाम एतेषां प्रवदन्ति मनीषिणः ।
इति विशिष्य रामचरितादेस्तत्रैवाभिधानाच्च ॥

कार्ष्णं कृष्णेन ब्यासेन प्रणीतम् । अत्र जयति सर्वोत्कर्षेण बर्त्तते इति ब्युत्पत्त्या धर्मप्रमाणत्वं लभ्यते शब्दे प्रमाणत्वरूपोत्कर्षस्यैवौचित्यात् । स्पष्टं चेदं,

श्राद्धशूलपाणौ भविष्यपुराणे—

चतुर्णामपि बर्णानां यानि प्रोक्तानि श्रेयसे ।
धर्मशास्त्राणि राजेन्द्र शृणु तानि नृपोत्तम ॥
अष्टादश पुराणानि चरितं राघवस्य च ।
रामस्य कुरुशार्दूल धर्मकामार्थसिद्धये ॥
तथोक्तं भारतं बीर पाराशर्येण धीमता ।
बेदार्थं सकलं योज्य धर्मशास्त्राणि च प्रभो ॥ इति

॥ भाषा ॥

में प्रमाण भी हैं । ऐसे ही बिष्णुधर्मोत्तर, महाभारत, रामायण आदि भी धर्म में प्रमाण और उक्त स्मृतियों से भिन्न ही हैं । जैसा कि भविष्यपुराण में "अष्टादशपुराणेषु०" इत्यादि साढ़े चार (४½) श्लोकों से कहा है जिन का यह अर्थ है कि, "हे भारत ! १८ अठारह पुराणों में जो वाक्य हैं और मनु आदि की ३६ छत्तीस स्मृतियों में जो वाक्य हैं तथा अन्यान्य स्मृतियों में जो वाक्य हैं उन सब को समझ कर मैं तुम से कहता हूं"। "१८ अट्ठारह पुराण, रामचरित (रामायण) बिष्णुधर्म शिवधर्म आदि शास्त्र, और कृष्णद्वैपायन ब्यास का रचित महाभारत तथा सौरधर्म (सौर उपपुराण) और मनु का धर्मशास्त्र इन ग्रन्थों को पण्डित लोग "जय" कहते हैं अर्थात् धर्म के बिषय में प्रमाण होने से ये ग्रन्थ अन्यग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय हैं । तथा श्राद्धशूलपाणि नामक ग्रन्थ में उद्धृत "चतुर्णामपि०" इत्यादि श्लोकों से भी उक्त ही बिषय कहा गया है कि "हे राजेन्द्र ! चारो बर्णों के हितार्थ जो धर्मशास्त्र हैं उन को मैं तुम से कहता हूं । १८ अष्टादशपुराण और राघवचरित (रामायण) जिस से कि अर्थ, धर्म, काम की सिद्धि होती है। तथा पराशर के पुत्र ब्यास का रचित 'भारत' जिस में कि बेद के अर्थों और धर्मशास्त्रों की योजना ब्यास ने की है"। ऐसे ही प्रामाणिक ग्रन्थों में "अत्र स्मृतिः" (इस बिषय

यद्यपि स्मर्तृनाम अनिर्दिश्य 'अत्र स्मृतिः' 'अत्र श्लोकः' इत्यादि प्रामाणिकलिखनम्। तदप्यविगीतमहाजनपरिगृहीतत्वेन प्रमाणं 'स्मृत्यन्तरेषु चे' त्यनेनैव सङ्गृहीतं वेदितव्यम्। षट्त्रिंशन्मतादिकं तु कैश्चिदेव परिगृहीतत्वाद्विगीतत्वादप्रमाणमित्युक्तं कल्पतरुणा। विज्ञानेश्वरापरार्कशूलपाणिप्रभृतीभिस्तु प्रमाणत्वेन गृहीतम् युक्तं चैतत्। यतः अन्येऽपि स्मृतिकर्तारः प्रयोगपारिजातादौ परिगण्यन्ते यथा—

प्रयोगपारिजाते।

मनुर्बृहस्पतिर्दक्षो गौतमोऽथ यमोऽङ्गिराः। योगीश्वरः प्रचेताश्च शातातपपराशरौ॥
संवर्त्तोशनसौ शङ्खलिखितावत्रिरेव च। विष्णवापस्तम्बहारीता धर्मशास्त्रप्रवर्त्तकाः॥
एते ह्यष्टादश प्रोक्ता मुनयो नियतव्रताः। जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षिकाश्यपौ॥
व्यासः सनत्कुमारश्च शन्तनुर्जनकस्तथा। व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातूकर्ण्यः कपिञ्जलः॥
बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च। पैठीनासिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायकाः॥
वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः। विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः॥
जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वत्स एव च।
पारस्करश्चर्ष्यशृङ्गो वैजावापस्तथैव च। इत्येते स्मृतिकर्त्तार एकविंशतिरीरिताः॥
एतैर्यानि प्रणीतानि धर्मशास्त्राणि वै पुरा। इति।

॥ भाषा ॥

में स्मृति है) "अत्र श्लोकः" (इस विषय में श्लोक है) इस रीति से जो वाक्य लिखे जाते हैं वे भी प्रमाण हैं क्यौंकि यद्यपि वहां स्मृतिकर्ता का नाम, विशेषरूप से नहीं लिखा रहता तथापि शिष्टलोग उन वाक्यों को भी सादर स्वीकार करते हैं। और पूर्वोक्त भविष्यपुराण में जो "अन्यान्य स्मृति" लिखा है उसके अनुसार वे वाक्य अन्यस्मृतियों (जो अब प्रचलित नहीं हैं) के हैं इस लिये वे प्रमाण हैं। पं० कल्पतरु ने यह कहा है कि "षट्त्रिंशत् मत," आदि के नाम से जो वाक्य अनेक ग्रन्थों में उद्धृत हैं वे प्रमाण नहीं हैं क्यौंकि उन को बिरले ही मनुष्यों ने स्वीकार किया है। परन्तु विज्ञानेश्वर, अपरार्क और शूलपाणि आदि पण्डितों ने कल्पतरु से विपरीत अर्थात् उन वाक्यों को भी प्रमाण कहा है। और यही मत उचित भी है न कि कल्पतरु का, क्यौंकि प्रयोगपारिजात और मदनरत्न इन दोनों ग्रन्थों में "मनुर्बृहस्पतिः" इत्यादि श्लोकों से, ३६ छत्तीस स्मृतिकारों से अन्य अनेक स्मृतिकारों का नाम भी यों कहे हुए हैं कि (१) मनु (२) बृहस्पति (३) दक्ष (४) गौतम (५) यम (६) अङ्गिरा (७) योगीश्वर (याज्ञवल्क्य) (८) प्रचेता (९) शातातप (१०) पराशर (११) संवर्त्त (१२) उशना (१३) शङ्ख (१४) लिखित (१५) अत्रि (१६) विष्णु (१७) आपस्तम्ब (१८) हारीत ये १८ अठारह ऋषि धर्मशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य हैं॥ (१) जाबालि (२) नाचिकेत (३) स्कन्द (४) लौगाक्षि (५) काश्यप (६) व्यास (७) सनत्कुमार (८) शन्तनु (९) जनक (१०) व्याघ्र (११) कात्यायन (१२) जातूकर्ण्य (१३) कपिञ्जल (१४) बौधायन (१५) काणाद (१६) विश्वामित्र (१७) पैठीनसि (१८) गोभिल ये १८ अठारह ऋषि उपस्मृतियों के कर्त्ता हैं॥ (१) वशिष्ठ (२) नारद (३) सुमन्तु (४) पितामह (ब्रह्मा) (५) विष्णु (६) कार्ष्णाजिनि (७) सत्यव्रत (८) गार्ग्य (९) देवल (१०) जमदग्नि (११) भरद्वाज (१२) पुलस्त्य (१३) पुलह (१४) क्रतु (१५) आत्रेय (१६) गवेय (१७) मरीचि (१८) वत्स (१९) पारस्कर (२०) ऋष्यशृङ्ग (२१) वैजावाप,

एते एवोपस्मृतिकर्त्तारो मदनरत्नेऽप्युक्ताः ।

इति स्मृतयः ।

इयं च स्मृतिः पञ्चविधा । तथा च—

भविष्यपुराणे ।

दृष्टार्था तु स्मृतिः काचिददृष्टार्था तथाऽपरा ।
दृष्टादृष्टार्थरूपाऽन्या न्यायमूला तथाऽपरा ॥
अनुवादस्मृतिस्त्वन्या शिष्टैर्दृष्टा तु पञ्चमी ।
सर्वा एता बेदमूला दृष्टार्थाः परिहृत्य तु ॥

एतासां लक्षणानि—

तत्रैव,

षड्गुणस्य प्रयोज्यस्य प्रयोगः कार्य्यगौरवात् ।
सामादीनामुपायानां योगो ब्याससमासतः ॥
अध्यक्षाणां च निःक्षेपः कण्टकानां निरूपणम् ।
दृष्टार्थेयं स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्गरुडात्मज ॥
सन्ध्योपास्या सदा कार्या श्रुतो मांसं न भक्षयेत् ।
अदृष्टार्था स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्ज्ञानकोबिदैः ॥
पालाशं धारयेद्दण्ड-मुभयार्थां बिदुर्बुधाः ।
बिरोधे तु बिकल्पः स्या-ज्जपहोमश्रुतौ यथा ॥
श्रुतौ दृष्टं यथा कार्य्यं स्मृतौ यत्तादृशं यदि ।
अनूक्तवादिनी सा तु पारिब्राज्यं यथा गृहात् ॥ इति ।

षड्गुणाः सन्धिबिग्रहादयो वक्ष्यन्ते । प्रयोगः कार्यगौरवात् षड्गुणस्यैव ब्याससमासाभ्यां कर्तव्यः । सामादीनामपि कार्यगौरवाद्व्याससमासाभ्यां योगः प्रयोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः । जपहोमश्रुताविति । सूर्योदयावधि सावित्रीजपोऽनुदितहोमबिषयो यथा । अनूक्तवादिनी

॥ भाषा ॥

ये इक्कीस २१ भी धर्मशास्त्र के कर्त्ता हैं । भविष्यपुराण में यह कहा है कि स्मृतिवाक्यों का पांच ५ बिभाग है (१) दृष्टार्थ, अर्थात् जिन में बिधान किये हुए कामों का फल लोक में प्रत्यक्ष है जैसे नीतिसम्बन्धी सन्धि बिग्रह आदि तथा सामदान आदि उपायों के ब्याख्यान करने वाले स्मृतिवाक्य, (२) अदृष्टार्थ, जिस में कहे हुए काम का फल परलोक हीं में अनुभव करना होता है न कि इस लोक में, जैसे "सन्ध्योपासन प्रतिदिन करै", "कुत्ते का मांस न खाय," इत्यादि बिधि और निषेध के वाक्य, (३) दृष्टादृष्टार्थ, जिस में कहे हुए काम का फल, लौकिक और पारलौकिक दोनों हैं जैसे "पलाश के दण्ड को धारण करै" इत्यादि, क्योंकि दण्डधारण का शत्रुशूकर-निबारणरूपी प्रयोजन लौकिक है और दण्ड के बिषय में पलाशरचित होने के नियम का प्रयोजन पारलौकिक है, (४) न्यायमूलक, जैसे "सूर्योदयपर्यन्त जो गायत्री का जप करना कहा है वह उसी के लिये है जो कि नियम से सूर्योदय के प्रथम अग्निहोत्र करता है।" इत्यादि ब्यवस्था करने वाले वाक्य । (५) अनुवादक, बेद में कहे हुए "यदि बेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रब्रजेत् गृहाद्वा बनाद्वा"

अनूदितवादिनी । यथा 'यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वे' त्यनयाऽनूदितं, 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहादि' ति मनुस्मृतिर्वदति विधत्ते इत्यर्थः इति ।

तथा तत्रैव—ननु साङ्ख्ययोगपञ्चरात्रपाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न । आद्ये 'धर्मस्य च चतुर्दशे' ति सङ्ख्याव्याकोपः । द्वितीयेऽविगीतमहाजनपरिग्रहविरोधः । उच्यते तेऽपि वेदाविरुद्धाः प्रमाणमेव । तथाच ।

योगियाज्ञवल्क्यः,

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात् ॥
दुर्बोध्यं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते ।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम् ॥
पुराणन्यायमीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
अतिप्रमाणान्येतानि हेतुभिर्न विरोधयेत् ॥ इति ॥

अत्र साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रमित्युपक्रम्य हेतुभिर्नविरोधयेदित्युक्तेस्तेषामदूष्यत्वमात्रे

॥ भाषा ॥

(यदि उत्कट बैराग्य हो जाय तो अपनी इच्छा के अनुसार जिस आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य बा गृहस्थाश्रम बा बानप्रस्थ को छोड़ कर सन्यास ले) इस श्रुति के अर्थ को "ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्" (ब्राह्मण गृहस्थाश्रम से संन्यास को ले) यह मनुवाक्य बिधान करता है ॥

प्र०—साङ्ख्य, योग, पञ्चरात्र, पाशुपत, आदि शास्त्र, धर्म के विषय में प्रमाण हैं अथवा नहीं ? यदि हैं तो याज्ञबल्क्य ने पूर्वोक्त वाक्य में "धर्मस्य च चतुर्दश" से धर्म के विषय में १४ ही बिद्याओं को क्यों प्रमाण कहा ? क्योंकि साङ्ख्य आदि बिद्याओं की सङ्ख्या बढ़नी चाहिये । और यदि साङ्ख्यादिशास्त्र, धर्म में प्रमाण नहीं हैं तो क्यों बड़े लोग इन शास्त्रों को सादर प्रमाण स्वीकार करते चले आते हैं ?

उ०—साङ्ख्य आदि शास्त्र भी जिस अंश में बेदबिरुद्ध नहीं हैं उस अंश में प्रमाण ही हैं । इसी से योगी याज्ञबल्क्यमहर्षि ने "न बेदशास्त्रा०" इत्यादि चार ४ श्लोकों से यह कहा है कि "बेदरूपी शास्त्र से अन्य कोई, शास्त्र नहीं है क्योंकि इसी बेदरूपी सनातनशास्त्र से सब शास्त्र निकले हुए हैं बात यह है कि बेद का शब्दपाठ बहुत अधिक तथा उस का भावार्थ भी बहुत सूक्ष्म है इस से समस्त बेद को कोई पढ़ नहीं सकता इस लिये लोकोपकारार्थ उस के अंशों को उद्धृत कर अनेक प्रकार के शास्त्रों की रचना की गई है । पुराण, न्याय मीमांसा, आदि से सहित ४ बेद रूपी १४ बिद्यायें, ज्ञान और धर्म के मूल हैं । ४ बेद, साङ्ख्य, योग, पञ्चरात्र, और पाशुपत, ये शास्त्र अतिप्रमाण हैं इन के बिरुद्ध अनुमान बा तर्क नहीं करना चाहिये" यहां अपरार्क ने यह कहा है कि "उक्त अन्तिमवाक्य का इतना ही तात्पर्य है कि युक्तियों से साङ्ख्यादि का खण्डन नहीं करना चाहिये और यह तात्पर्य नहीं है कि साङ्ख्यादिशास्त्र धर्म में प्रमाण हैं" यह अपरार्क की भूल है क्योंकि उसी वाक्य में स्पष्ट यह कहा है कि "ये अतिप्रमाण हैं" और महाभारत में भी

तात्पर्यं नतु प्रामाण्ये इत्यपरार्कोक्तमनादरणीयम्, अतिप्रमाणानीत्यभिधानात् तथा— महाभारते ।

पञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः ।
प्रापणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते चात्र भोजनम् ॥
तस्य प्रशासतो राज्यं धर्मेणामित्रघातिनः ।
नानृता वाक्समभवत् मनो दुष्टं नचाभवत् ॥

इति उपरिचरराजप्रशंसामुखेन पञ्चरात्रस्य प्राशस्त्यमुक्तम् । प्रापणं नैवेद्यम् । तथा,

साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते ।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥
अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते ।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥
उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः ।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥
पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान् स्वयम् ।

बृहत्पराशरोऽपि,

वैदिकं तु जपं कुर्यात्पुराणं पाञ्चरात्रिकम् ।
यो वेदस्तानि चैतानि यान्येतानि च सा श्रुतिः ॥
पञ्चरात्रविधानेन स्थण्डिले बाऽथ पूजयेत् ।

विष्णुधर्मोत्तरेऽपि,

साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
कृतान्तपञ्चकं विद्धि ब्रह्मणः परिमार्गणे ॥

॥ भाषा ॥

राजा उपरिचर, की प्रशंसा के द्वारा "पञ्चरात्रविदो०" इत्यादि श्लोकों से पञ्चरात्र की प्रशंसा ऐसे की है कि "राजा उपरिचर के कोट में पञ्चरात्र के मुख्य २ पण्डित नैवेद्य भोजन करते हैं और धर्म से प्रजापालन करते हुए राजा उपरिचर ने अपने जीवन भर में एक वाक्य भी मिथ्या नहीं कहा और पाप की चिन्ता कदापि नहीं किया तथा महाभारत में "साङ्ख्यस्य०" इत्यादि श्लोकों से यह कहा है कि "साङ्ख्य के कर्त्ता कपिलमहर्षि कहे जाते हैं। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) से अन्य कोई योगशास्त्र का प्राचीन ज्ञाता नहीं है। वेद के ज्ञाताओं में अपान्तरतमा ऋषि आचार्य कहे जाते हैं जिन को प्राचीनगर्भ भी कहते हैं। ब्रह्मा से प्रकट हुए शिव जी ने सावधानी से इस पाशुपतशास्त्र की रचना की है जिन शिव जी को उमापति, भूतपति और श्रीकण्ठ भी कहते हैं। सब पञ्चरात्र का वक्ता तो नारायण स्वयं हैं"। और बृहत्पराशरमहर्षि ने भी "वैदिकन्तु०" इत्यादि श्लोकों से यह कहा है कि वेदोक्त वा पुराणोक्त अथवा पञ्चरात्रोक्त मन्त्र को जपै, क्योंकि पुराण और पञ्चरात्र भी वेद ही हैं और वेद भी पुराण और पञ्चरात्र ही हैं। (तात्पर्य यह है कि वेद अपौरुषेय है और पुराण, पञ्चरात्र भी वेद ही से निकले हैं इस से वे भी वेद के तुल्य ही हैं) अथवा वेदी पर पञ्चरात्र के विधान से पूजा करे"। तथा विष्णुधर्मोत्तर में भी "साङ्ख्यं योग:०" इत्यादि श्लोक

कृतान्तः सिद्धान्तः ।

कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मणि ।

इति त्रिकाण्डीस्मरणात् । किञ्च पाशुपतागमानां तावद्वैदिकावैदिकभेदेन द्वैविध्यमवश्यं वाच्यम् ।

निर्मितं हि मया पूर्वं व्रतं पाशुपतं शुभम् ।
गुह्याद्गुह्यतमं सूक्ष्मं वेदसारं विमुक्तये ।

इत्यारभ्य—

एष पाशुपतो योगः सेवनीयो मुमुक्षुभिः ।
भस्मच्छन्नैर्हि सततं निष्कामैरिति हि श्रुतिः ॥

इति वेदसारमयत्वमेकस्याभिधाय—

अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकेऽस्मिन्मोहनानि वै ।
वेदवादविरुद्धानि मयैव कथितानि तु ॥
वामं पाशुपतं सोमं लाङ्गलं चैव भैरवम् ।
न सेव्यमेतत्कथितं वेदवाह्यं तथेतरत् ॥

इति वेदविरुद्धस्यान्यस्य कौर्मेऽभिधानात् ।

वायुसंहितायां तु,

शैवागमोऽपि द्विविधः श्रौतोऽश्रौतश्च संस्मृतः ।
श्रुतिसारमयः श्रौतः स्वतन्त्र इतरो मतः ॥

' स्वतन्त्रोदशधापूर्वमि ' त्यारभ्य—

श्रुतिसारमयोऽन्यस्तु शतकोटिप्रविस्तरः ।
परं पाशुपतं यत्र व्रतं ज्ञानं च कथ्यते ॥

इत्यन्तेन श्रौताश्रौतविभागः स्पष्टीकृतः ' अत्र शैवागमोऽपि द्विविधः ' इत्यपिना स्वसमानयोगक्षेमवैष्णवपञ्चरात्राद्यागमानामपि श्रौताश्रौतभेदेन द्वैविध्यमुक्तं भवति । उक्तं च पञ्चरात्रादेवैदिकत्वं—

॥ भाषा ॥

से यह कहा है कि साङ्ख्य, योग, पञ्चरात्र, वेद, और पाशुयत ये पांच सिद्धान्त, परब्रह्म के ज्ञान में उपाय हैं । पाशुपत शास्त्र दो २ प्रकार का है इसी से कूर्मपुराण में "निर्मितं हि मया०" इत्यादि श्लोकों में यह कहा है कि पूर्व हीं मैं (श्रीशिव) ने मोक्ष के लिये वेद का सारांशरूपी अतिगोप्य और कल्याणकारी पाशुपतशास्त्र को बनाया । श्रुति में भी यह कहा है कि मोक्ष के लिये बिरक्तों को इस पाशुपत योग का अभ्यास सदा करना चाहिये । लोक में तामस जीवों को मूढ करने के लिये वेद के विरुद्ध अन्यान्य शास्त्र भी मेरे ही कहे हुए हैं जैसे (१) बाम, (२) पाशुपत, (३) सोम, (४) लाङ्गल, (५) भैरव, ये शास्त्र उत्तम लोगों के योग्य नहीं हैं क्योंकि बेदवाह्य हैं" । वायुसंहिता में तो "शैवागमोऽपि०" इस श्लोक से स्पष्ट ही यह कहा है कि "पाशुपतशास्त्र भी बैदिक और अवैदिक २ प्रकार का होता है" । यहां "भी," कहने से यह तात्पर्य है कि बैष्णव और पञ्चरात्र आदि भी दो २ (बैदिक और अवैदिक) प्रकार के होते हैं । इसी हेमाद्रिग्रन्थ में उद्धृत

हेमाद्रौ विष्णुधर्मोत्तरे,

साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
कृतान्तपञ्चकं विद्धि ब्रह्मणः परिमार्गणे ॥
संसारक्षपणे स्वर्गभावोपकरणेषु च ।
सेतुरावैष्णवाद्धर्मात्सारमेतत्प्रकीर्त्तितम् ॥
एतावानेव सकलो वेदमार्गस्त्वदीरितः । इति ।
भावः ऐश्वर्य्यम् सेतुर्मार्गः । एवं च—

कौर्मे,

कापालं पञ्चरात्रं च यामलं बाममार्हतम् ।
एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु ॥

इति पञ्चरात्रस्य यन्मोहकत्वाभिधानं तदवैदिकपञ्चरात्रपरम् ।

यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन् बिबिधानि तु ।
श्रुतिस्मृतिबिरुद्धानि निष्ठा तेषां हि तामसी ॥

इति तत्रैव बेदबिरुद्धानामेवोपक्रमे श्रवणात् । 'बिरोधे त्वनपेक्षंस्यादि' ति मीमांसाधिकरणं च 'यान्येतानि त्रयीबिद्भिर्न परिगृहीतानी' त्यादिग्रन्थदर्शनादवैदिकागमविषयत्वेनाप्युपपत्तेर्नावश्यमागममात्रस्याप्रामाण्यमापादयति । कथं तर्हि 'धर्मस्य च चतुर्दशेति' सङ्ख्यानिर्देश उपपद्यते । उपलक्षणमात्रतयेति ब्रूमः अन्यथा रामायणशिष्टाचारादीनामप्यनुपसङ्ग्रहादप्रामाण्यापत्तेः । यदि तु 'तथा स्मृत्यन्तरेषु चे' तिपूर्वोदाहृतभविष्यत्पुराणवचनेन तदुपसङ्ग्रहः तदा स प्रकृतेऽपि तुल्यः । यत्तु साम्बपुराणे,

श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्तप्रायश्चित्ते भयं गतः ।
क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत् ॥ इति

॥ भाषा ॥

विष्णुधर्मोत्तर के "साङ्ख्यं योगः०" इत्यादि श्लोकों से यह कहा है कि साङ्ख्य, योग, पञ्चरात्र, बेद, पाशुपत, ये पांच ब्रह्मज्ञान के उपाय हैं । संसार के छूटने (मोक्ष) अथवा स्वर्ग के लाभ में वैष्णव-धर्मपर्यन्त यह राजमार्ग कहा गया है. ये सब बेदमार्ग आप के कहे हुए हैं" तथा कूर्मपुराण के "कापालं पञ्चरात्रं च०" "यानि शास्त्राणि०" इन श्लोकों में यह कहा हुआ है कि इस लोक में जो श्रुति और स्मृति के बिरुद्ध अनेक प्रकार शास्त्र देखे जाते हैं उन से इस लोक में तो लाभ होता है परन्तु परलोक में बड़ी ही हानि होती है । कापाल, पञ्चरात्र, यामल, बाम और आर्हत (जैन शा०) और ऐसे २ अन्यान्य शास्त्र भी लोगों को मूढ करने के लिये हैं ।

प्र०—जब उक्त रीति से साङ्ख्यादि भी धर्म में प्रमाण हैं तो यह क्यों कहा गया है कि धर्मविद्यायें १४ ही हैं ?

उ०—१४ बिद्याओं में धर्मशास्त्रों की गणना पूर्व में हो चुकी है तथा धर्मशास्त्र को स्मृति भी कहते हैं और पूर्वोक्त भविष्यपुराण के बचन में यह भी कहा है कि उक्त स्मृतियों से अन्यान्य स्मृतियां भी हैं इस रीति से साङ्ख्य आदि शास्त्र धर्मशास्त्र ही में अन्तर्गत हैं इस लिये धर्मविद्याओं की सङ्ख्या १४ ठीक ही है । कतिपय पण्डितों का यह मत है कि जिन लोगों को स्वाभाविक अथवा किसी कारण से बेद में अधिकार नहीं है उन्हीं का पञ्चरात्र आदि में अधि-

यच्च कौर्मे,

अथांशुः सात्वतो नाम विष्णुभक्तः प्रतापवान् ।
महात्मा दाननिरतो धनुर्वेदविदां वरः ॥
स नारदस्य वचनाद्वासुदेवार्चने रतः ।
शास्त्रं प्रवर्त्तयामास कुण्डगोलादिभिः श्रितम् ॥
तस्य नाम्ना तु विख्यातं सात्वतं नाम शोभनम् ।
प्रवर्तते महाशास्त्रं कुण्डादीनां हितावहम् इति ॥

श्रीभागवतेऽपि,

तेनोक्तं सात्वतं तन्त्रं यद् ज्ञात्वा मुक्तिभाग्भवेत् ।
यत्र स्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः ॥

इत्यादिवचनैः श्रुतिभ्रष्टादीनामेवागमेष्वधिकारप्रतिपादनाद्वेदविदामनधिकार इति कैश्चिदुक्तं, तन्न न्यायविदामभिधानम् । तथाहि श्रुतिभ्रष्टादिवाक्येषु न तन्त्रमुद्दिश्य कर्त्तारो विधीयन्ते । राजसूयोद्देशेन राजेव येनान्येषामनधिकारः स्यात्, किन्तु श्रुतिभ्रष्टादीनुद्दिश्य तन्त्रं विधीयते । तथा च—

' स्त्री शूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।

॥ भाषा ॥

कार है न कि वेदाधिकारियों का । इसी से साम्बपुराण में "श्रुतिभ्रष्टः०" इस श्लोक से यह कहा है कि "जो मनुष्य वेदाधिकार से च्युत हो गया और वेदोक्त प्रायश्चित्त करने से डरता है वह क्रम से वेदाधिकार के लाभ के लिये तन्त्रोक्तमार्ग का धारण करे" और कूर्मपुराण में भी "अथांशुः०" इत्यादि श्लोक से यह कहा है कि "विष्णुभक्त और महात्मा तथा धनुर्वेद का पण्डित एक अंशु-नामक प्रतापी पुरुष था जिस को सात्वत भी कहते हैं उस ने नारद देवर्षि की आज्ञानुसार एक सात्वत नामक शास्त्र बनाया जिस में कि कुण्ड (सधवा स्त्री का, व्यभिचार से उत्पन्न पुत्र) और गोलक (व्यभिचार से उत्पन्न, विधवा स्त्री का पुत्र) आदि नीच मनुष्यों का अधिकार है" तथा भागवत में भी "तेनोक्तं०" इस श्लोक से यह कहा है कि "उस ने सात्वततन्त्र को बनाया जिस के ज्ञान से मुक्ति होती है और जिस में स्त्री, शूद्र और दासों, के लिये वैष्णवसँस्कार कहा है" इति । परन्तु यह मत न्यायानुसारी नहीं है क्योंकि जैसे राजसूययज्ञ को उद्देश्य कर क्षत्रिय वर्ण रूपी अधिकारी के विधान करने से यह निषेध निकलता है कि क्षत्रिय से अन्य का राजसूय करने का अधिकार नहीं है प्रकृत विषय में भी वैसा तब होता यदि " श्रुतिभ्रष्टः० " आदि वाक्यों में तन्त्र के उद्देश से श्रुतिभ्रष्टः० आदि का विधान होता, अर्थात् तब " श्रुतिभ्रष्टः " आदि का विधान होता अर्थात् तब " श्रुतिभ्रष्टः " आदि को ही का तन्त्र में अधिकार होता न कि वेदाधिकारियों का, परन्तु यहां ऐसा नहीं है किन्तु उस से उलटा है अर्थात् श्रुतिभ्रष्ट आदि को उद्देश्य बना कर तन्त्र ही का विधान है जिस से यही निकलता है कि श्रुतिभ्रष्ट० आदि का अधिकार तन्त्र ही में है न कि वेद में, और यह किसी प्रकार से नहीं निकल सकता कि तन्त्र में श्रुतिभ्रष्ट आदि को ही का अधिकार है न कि वेदाधिकारियों का, जैसे " स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां० " इस वाक्य के अनुसार यद्यपि स्त्री, शूद्र, आदि के लिये महाभारत बना तथापि उस में वेदाधिकारियों का भी अधिकार होता ही है

अतो भारतमाख्यानमि' ति वचनात् स्त्रीशूद्रादीन्प्रति भारतप्रवृत्तावपि अन्येषां भारताधिकारवदागमेष्वप्यविरुद्धेष्वविहतोऽधिकारः । इति

इति स्मृतिप्रामाण्यम् ।

अथ विशेषतः पुराणेतिहासप्रामाण्यम् ।

प्रामाण्ये धर्मविद्यानामेवमुक्ते महर्षिणा ।
अर्थापिते च बहुशो मानैस्तर्कैरनेकशः ॥
पूर्वाचार्यैः पक्षपात-रहितैर्देवदर्शनैः ।
किञ्चिदण्वपि वक्तुं न यद्यपीहावशिष्यते ॥
तथाप्याचार्यवचसां भावगाम्भीर्यशालिनाम् ।
दुश्चुम्बश्चुम्बकैरद्धा प्रभावो भावसम्भवः ॥
आद्यत्विकैस्तु विद्वद्भिरुपेक्षन्तेऽद्य नास्तिकाः ।
दूषयन्ति च ते विद्वन्मानिनोऽप्यास्तिकान्नरान् ॥
प्रामाण्ये हि पुराणानां विवादादेष विप्लवः ।
बोभूयतेऽतस्तन्मन्द-बोधायाम्रेड्यतेऽधुना ॥

तत्र वेद एव तावत् पुराणानां प्रामाण्यं प्रमापयति तथा च श्रूयते ।

(१) स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् (मन्त्र १० अथ० कां० १५ अनु० १ सू० ६)

॥ भाषा ॥

ऐसे ही वेदाधिकारियों का भी उन तन्त्रों में अधिकार अवश्य है जो कि वेदविरुद्ध नहीं हैं । यहाँ तक स्मृतियों के प्रमाणता का निरूपण हो चुका अब पुराण और इतिहास रूपी स्मृतियों के प्रमाणता का विशेषरूप से निरूपण किया जाता है ।

यद्यपि अनन्तरोक्त प्रकरण में सब धर्मविद्याओं का प्रमाण होना "पुराणन्याय०" इस याज्ञवल्क्यमहर्षि के वाक्य से कहा गया और तदनन्तर शवरस्वामी और कुमारिलभट्ट आदि, पक्षपातरहित प्राचीन आचार्यों के कहे हुए दृढतर अनेक प्रमाणों और तर्कों से भी धर्मविद्याओं की प्रमाणता अटल कर सिद्ध कर दी गयी और पुराण तथा इतिहास भी उन्हीं विद्याओं में परिगणित हैं इस लिये पुराण की प्रमाणता के विषय में अब कुछ कहने का काम नहीं है तथापि पूर्व आचार्यों के वाक्यों का तात्पर्य, बहुत गम्भीर है इस से उस तात्पर्य के प्रभाव को चुम्बक (इधर उधर से से अनेक ग्रन्थों के दो २ चार २ बातों के जानने वाले पण्डितमानी) लोग चूम भी नहीं सकते और आज कलह के उत्तम विद्वान् लोग उन चुम्बक नास्तिकों (जो पुराण और इतिहास नहीं प्रमाण हैं इत्यादि अनेक निर्मूल वाक्य बका करते हैं) के ओर अनादर से देखते भी नहीं और वे नास्तिक, अधपढ़े और अनपढ़े अन्यान्य आस्तिकों को प्रतिदिन अपने बकवाद से ऐसा बिगाड़ते जाते हैं कि जैसे विकृत रुधिर, अच्छे रुधिर को बिगाड़ता है । और लोक की इस बहुत बड़ी हानि में मूल कारण यही है कि जो पुराण और इतिहासों के प्रामाण्य में नास्तिकों के निर्मूल विवादों का समूल उन्मूलन नहीं किया जाता अर्थात् उन बिवादों की जड़ खोद कर फेंक नहीं दी जाती इस लिये मन्दबुद्धियों को समझने के अर्थ, पुराण और इतिहास का प्रामाण्य अब दोबारा विशेष और स्पष्टरूप से कहा जाता है कि इतिहास और पुराण के प्रमाण होने में प्रमाण ये हैं कि—

(प्रमा०—१) "स बृहतीं०" वह परमेश्वर बड़ी दिशा की ओर चले ।

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् (मन्त्र ११)

(२) इतिहासस्य च वै सपुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद (मन्त्र १२) इति ।

(३) छान्दोग्योपनिषदि ७ प्र० सनत्कुमारनारदाख्यायिकायाम् ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳहोवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥ १ ॥ सहोवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥ सोऽहं भगवोमन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳ होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥ नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवोनिधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्यानामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥४॥ स यो नाम, ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥५॥

एवम् नित्यब्रह्मयज्ञविधाने 'य एवं विद्वान्स्वाध्यायमधीते' इति प्रकृत्य श्रूयते ।

(४) यदृचोऽधीते यद्यजूंषि यत्सामानि यद्ब्राह्मणानि यदितिहासपुराणानि यत्कल्पानिति ।

॥ भाषा ॥

"तमितिहासश्च०" उन के पीछे इतिहास, और पुराण, तथा गाथा, और नाराशंसी भी चले ।

(प्रमा०—२) "इतिहासस्य च०" जो उक्त विषयों को जानता है वह इतिहास और पुराण तथा गाथा और नाराशंसियों का प्रिय स्थान होता है ।

(प्रमा०—३) ॐ 'अधीहि०' नारद, सनत्कुमार के समीप जा कर कहते हैं कि हे भगवन् ! मुझे पढ़ाइये, सनत्कुमार कहते हैं कि जो पढ़ चुके हो उस को बतलाओ तब पढ़ाऊंगा ॥ १ ॥ ना० हे भगवन् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्ववेद इतिहास और पुराण पांचवाँ वेदों का वेद इत्यादि विद्याओं को मैं पढ़ चुका हूं ॥ २ ॥ इस से मैं वेद तो जानता हूँ परन्तु आत्मज्ञानी नहीं हूं और श्रीमान् के ऐसे महापुरुषों से यह सुना है कि आत्मज्ञानी, संसाररूपी शोक को तर जाता है इस से अब भगवान् (आप) मुझे शोक से पार करें । स० तुम ने जो कुछ पढ़ा है वह सब 'नाम' अर्थात् शब्द ही है ॥ ३ ॥ क्योंकि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद चौथा अथर्ववेद पांचवाँ इतिहास, पुराण, वेदों का वेद इत्यादि विद्याएं नाम हीं हैं ॥ ४ ॥ जो नाम को ब्रह्म समझ कर उपासना करता है उस को नाम के फल की अपेक्षा अधिक फल नहीं होता । ना०—नाम से भी अधिक कोई वस्तु है ? सन०—हां है । ना०—उसी का उपदेश, भगवान् (आप) मेरे लिये करें ॥५॥ (छा० उ० प्र० ७, सनत्कुमार और नारद की आख्यायिका) ।

(प्रमा०—४) नित्य ब्रह्मयज्ञ (प्रतिदिन वेदाध्ययन) के प्रकरण "य एवं०" (उक्त रीति से जो वेद पढ़ता है) में कहा है कि "यदृचो०" ऋक्, यजु, साम, मन्त्रों तथा ब्राह्मणों और

एवम् न्यायदर्शने ४ अध्याये १ आह्निके 'समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः' ६ इति सूत्रे वात्स्यायनीये भाष्ये उद्धृता—

आथर्वणिकी श्रुतिः।

(५) ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति।

किञ्च शतपथ ब्रा० १३ काण्डे आश्वमेधिके ३ प्रपा० श्रूयते।

(६) अथाष्टमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु सꣳस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति हं वै होतरित्येवाध्वर्युर्मत्स्यः सामवेदो राजेत्याह तस्योदकेचरा विशस्त इम आसत इति मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति कञ्चिदितिहासमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्याति न प्रक्रमां जुहोति कं० ॥ १२ ॥

अथ नवमेऽहन् एवमेवैतास्विष्टिषु सꣳस्थितास्वेषैवावृदध्वर्यविति ह वै होतरित्येवाध्वर्युस्तार्क्ष्यो वै पश्यतो राजेत्याह तस्य वयाꣳसि विशस्तानीमान्यासत इति वयाꣳसि च वयोविद्यिकाश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित्पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्याति न प्रक्रमां जुहोति कं० ॥ १३ ॥

(प्रमा० ७) स यथाऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि (श० कां० १४ अ० ६ ब्रा० ६ कं० ११)।

इतिहासपुराणशब्दौ ब्राह्मणभागवाचिनाविति तु क्षुद्रोपद्रवविद्रावणप्रकरणोपन्यस्ते महामोहविद्रावणे 'पुराणेतिहाससञ्ज्ञकत्वादि' ति भाष्याभासभूमिकोक्तप्रथमहेतुदूषणावसरे पूर्वमेव निराकृतम् ॥

(८) तथा—महाभारते।

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

इतिहासों तथा पुराणों और कल्पों को पढ़ा करे।

(प्रमा०—५) "ते वा खल्वेते०" ये अथर्वाङ्गिरस् लोग इतिहास और पुराण के प्रामाण्य को यों प्रत्यक्ष कहे हैं कि इतिहास और पुराण, वेदों का पांचवाँ वेद है। (न्या० द० अध्या० ४, आ० १, "समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः" सू० ६२ के वात्स्यायनभाष्य में उद्धृत अथर्ववेद की श्रुति)।

(प्रमा०—६) "अथाऽष्टमे०" अश्वमेध में आठवें दिन किसी इतिहास का पाठ करे क्योंकि इतिहास, वेद के तुल्य अर्थात् वेदानुसारी है। "अथ नवमे०" नवें दिन किसी पुराण का पाठ करे क्योंकि पुराण, वेद के तुल्य अर्थात् वेदानुसारी है। (शत० ब्रा० १३, आ० खं० प्र० ३)।

(प्रमा०—७) "स यथा०" ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस इतिहास और पुराण, परमेश्वर के श्वास के तुल्य हैं (श० कां० १४० अ० ६ ब्रा० ६ कं० ११)।

(प्रमा०—८) "पुराणं०" पुराण, मनु का धर्मशास्त्र, ६ अङ्गों से सहित वेद, और वैद्यशास्त्र

(९) मनुः अध्या० ३ श्लो० २३२।

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्रे धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥

(१०) याज्ञवल्क्यः

पुराणन्यायमीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

न्यायदर्शने ४ अध्याय १ आ० 'समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः' ६२ इति सूत्रे।

(११) भाष्ये भगवान् वात्स्यायनः।

चातुराश्रम्यविधानाचेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेष्वैकाश्रम्यानुपपत्तिः तदप्रमाणमितिचेन्न। प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते । ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति । इत्येवमादीनि पुराणप्रामाण्ये प्रमाणानि । पुराणप्रामाण्योपपादनसरणिस्तु पूर्वोपन्यस्ते 'अपि वा कर्तृसामान्यात्' (मी० द० अ० १ पा० ३ सू० २) इति सूत्रे।

वार्तिके।

तत्र यावद्धर्ममोक्षसम्बन्धि तद्वेदप्रभवम्। यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारपूर्वकमिति विवेक्तव्यम्। एषैवेतिहासपुराणयोरप्युपदेशवाक्यानां गतिः।

॥ भाषा ॥

ये चार स्वाभाविक प्रमाण हैं मनुष्य को अपनी बुद्धि से इन के विरुद्ध कोई युक्ति नहीं करनी चाहिये।

(प्रमा०—९) "स्वाध्यायं०" श्राद्ध में वेद, मानव आदि धर्मशास्त्रों, सौपर्ण, मैत्रावरुण आदि आख्यानों, महाभारत आदि इतिहासों, ब्राह्म आदि पुराणों, और श्रीसूक्त, शिवसङ्कल्प आदि खिलों, को ब्राह्मणों के लिये सुनावे।

(प्रमा०—१०) "पुराणन्याय०" विद्याओं और धर्म के ये १४ स्थान हैं पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, तथा शिक्षादि ६ अङ्ग और ४ वेद।

(प्रमा०—११) "चातुराश्रम्य०" "आश्रम १ ही है" यह मत ठीक नहीं है क्योंकि इतिहासों, पुराणों और धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य आदि ४ आश्रमों का विधान है। यह तो कह नहीं सकते कि इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, प्रमाण नहीं हैं क्योंकि ब्राह्मणभागरूपी इस प्रमाण से इतिहास, और पुराणों का प्रमाण होना सिद्ध है कि "तेवा खल्वेते०" (ये अथर्वाङ्गिरस लोग इतिहास और पुराण के प्रामाण्य को यों प्रत्यक्ष कहे हैं कि इतिहास और पुराण वेदों का पांचवाँ वेद है)। ऐसे २ और भी प्रमाण मिल सकते हैं परन्तु उन के लिखने से ग्रन्थविस्तार होगा इस लिये नहीं दिये जाते।

पुराणों के प्रामाण्य सिद्ध करने की युक्ति तो अनन्तरोक्त स्मृतिप्रामाण्य के प्रकरण में "अपि वा कर्तृसामान्यात्०" (मी० द० अ० १ पा० ३ सू० २) इस सूत्र के उद्धृत वार्तिक में कही जा चुकी है। तथा (मी० द० अ० १ पा० २) "विधिनात्वेकवाक्यत्वात्०" ॥ २ ॥ इस

उपाख्यानानि त्वर्थवादेषु व्याख्यातानि। यत्तु पृथिवीविभागकथनं तद्धर्माधर्मसाधनफलोपभोगप्रदेशविवेकाय किञ्चिद्दर्शनपूर्वकं किञ्चिद्वेदमूलम्। वंशानुक्रमणमपि ब्राह्मणक्षत्रियजातिगोत्रज्ञानार्थं दर्शनस्मरणमूलम्। देशकालपरिमाणमपि लोकज्योतिःशास्त्रव्यवहारसिद्ध्यर्थं दर्शनगणितसम्प्रदायानुमानपूर्वकम्। भाविकथनमपित्वनादिकालप्रवृत्तयुगस्वभावधर्माधर्मानुष्ठानफलविपाकवैचित्र्यज्ञानद्वारेण वेदमूलम् इति।

एवम् (मी०द० अध्या० १ पा० २) 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्' सू० २ इति सूत्रवार्त्तिके।

एवं भारतादिवाक्यानि व्याख्येयानि। तेषामपि हि 'श्रावयेच्चतुरोवर्णानि' त्येवमादिविध्यनुसारेण पुरुषार्थत्वान्वेषणादक्षरादिव्यतिक्रम्य धर्मार्थकाममोक्षाधर्मानर्थदुःखसंसारसाध्यसाधनप्रतिपत्तिरुपादानपरित्यागाङ्गभूताः फलम् तत्रापि तु दानराजमोक्षधर्मा-

॥ भाषा ॥

सूत्र के वार्तिक में भी इतिहास और पुराणों के उपाख्यानभाग के प्रामाण्य की युक्तियां यों कही हैं (इस सूत्र से वैदिक अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध होता है और इस का पूर्ण व्याख्यान वेददुर्गसज्जन में पूर्व हीं हो चुका है) कि—

'यावद्०' जिस रीति से वैदिक अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य अभी सिद्ध किया गया है उसी के तुल्यरीति से भारतादि के उपख्यानों का भी प्रामाण्य सिद्ध होता है।

प्रश्न—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (वेद पढ़े) इस वेदवाक्य के बल से वैदिक अर्थवादों का, स्वर्गादि पुरुषार्थ के प्रति कारण होना सिद्ध होता है और उसी के अनुसार उन अर्थवादों के अक्षरार्थ को उल्लङ्घन कर लक्षणावृत्ति के द्वारा स्तुति और निन्दारूपी अर्थ में उन अर्थवादों के तात्पर्य का निश्चय होता है और उक्त उपाख्यानों के विषय में तो कोई ऐसा वाक्य नहीं है कि जिस के अनुसार उक्त रीति से उन के तात्पर्य का निश्चय किया जाय तब कैसे उक्त उपाख्यानों का प्रमाण होना सिद्ध हो सकता है?

उ०—भारतादि के विषय में भी "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" (चारों वर्णों को सुनावे) इस विधिवाक्य के बल से भारतादि के उपाख्यानों का स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के प्रति कारण सिद्ध होता है और उस के अनुसार उन के अक्षरार्थ का उल्लङ्घन कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपायों के ग्रहण तथा अधर्म, अनर्थ, दुःख और संसार के कारणों के त्याग में उक्त उपाख्यानों के तात्पर्य का निश्चय होता है। इसी से भारत के आरम्भ ही में "धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ, यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित्" (हे भरतर्षभ अर्थात् जनमेजय! धर्म और अधर्म तथा काम और दुःख तथा मोक्ष और संसारबन्ध के विषय में जो इस महाभारत में कहा हुआ है वही अन्यान्य ग्रन्थों में मिलता है और जो यहां नहीं कहा है वह किसी ग्रन्थ में कहीं नहीं कहा है) ऐसा कहा है।

प्र०—भारत आदि में विधि और निषेध के जो वाक्य हैं उन का प्रामाण्य तो अनन्तरोक्त प्रकरण में पुराणों के अवसर पर कहा जा चुका है परन्तु उन में जो उपाख्यान (कथाभाग) हैं वह किस परम्परा से पुरुषार्थ के प्रति कारण हैं? क्योंकि उन के वाच्यार्थ, सिद्धरूपी हैं इस से वे किसी कर्म में पुरुष की प्रवृत्ति वा किसी कर्म में निवृत्ति नहीं करा सकते, तब कर्म के द्वारा वे पुरुषार्थ के कारण कैसे हो सकते हैं?

दिषु केचित्साक्षाद्विधयः केचित्पुनः परकृतिपुराकल्परूपेणार्थवादाः । सर्वोपाख्यानेषु च तात्पर्ये सति 'श्रावयेदि' ति विधेरानर्थक्यात्कथञ्चिद्गम्यमानस्तुतिनिन्दापरिग्रहः । तत्परत्वाच्च नातीवोपाख्यानेषु तत्त्वाभिनिवेशः कार्यः । वेदप्रस्थानाभ्यासेन हि वाल्मीकिद्वैपायनप्रभृतिभिस्तथैव स्ववाक्यानि प्रणीतानि । प्रतिपाद्यानां च विचित्रबुद्धित्वाद्युक्तमेवैतत् । इह केचिद्विधिमात्रेण प्रतिपद्यन्ते अपरे सार्थवादेन अपरेऽल्पेनार्थवादेनापरेमहता । सर्वेषां

॥ भाषा ॥

उ०—उपाख्यानों के विषय में यह विवेक है कि इतिहास और पुराणों में दो प्रकार के वाक्य होते हैं एक प्रकार यह कि दानधर्म, राजधर्म, मोक्षधर्म तथा तप आदि के सम्बन्धी धर्मों के साक्षात् विधान करने वाले वाक्य, और दूसरे यह कि पूर्वकाल के महात्माओं तथा दुरात्माओं के चरित्रवर्णनरूपी अर्थवादवाक्य, जिन को उपाख्यान कहते हैं । तथा उपाख्यानों का मुख्यतात्पर्य स्तुति और निन्दा ही में है न कि अपने अक्षरार्थ में, क्योंकि उन के अनुसार इस विधि और निषेध के वाक्य का अनुमान होता है कि "इस कर्म को करै क्योंकि महात्माओं ने इस को किया है" तथा "इस कर्म को न करै क्योंकि दुरात्माओं ने इस कर्म के करने से दुःख उठाया है"। और इसी रीति से सब उपाख्यान, विधि और निषेध वाक्यों के अङ्ग हो कर कर्मों के द्वारा अर्थवादों के नाईं पुरुषार्थ के प्रति उपयोगी हैं और इस में मूलकारण "श्रावयेत्०" यह अनन्तरोक्त वाक्य ही है । और जब उपाख्यानों का अपने अक्षरार्थ में मुख्यतात्पर्य नहीं है तब उन के अक्षरार्थ का सत्य होना उन के प्रमाण होने में उपयोगी नहीं है किन्तु स्तुति और निन्दारूपी लक्ष्यार्थ ही की सत्यता का उपयोग उन की प्रमाणता में है क्योंकि जिस वाक्य का जिस अर्थ में मुख्यतात्पर्य होता है उसी अर्थ की सत्यता से उस वाक्य की प्रमाणता और असत्यता से अप्रमाणता होती है । और प्रत्येक उपाख्यानों के अक्षरार्थ में सत्यता का बहुत सा आग्रह नहीं करना चाहिये ।

प्र०—वेद तो अपौरुषेय है इस से अनन्यगति हो कर उस के अर्थवादों का, उक्त अध्ययनविधि के अनुसार स्तुति और निन्दा में मुख्यतात्पर्य माना जाता है और उन के अक्षरार्थ की सत्यता वा असत्यता पर दृष्टि नहीं दी जाती परन्तु भारतआदि में यदि कतिपयउपाख्यानों का अक्षरार्थ सत्य नहीं है तो ऐसे झूठे उपाख्यानों के बनानेवालों को मूढ वा धूर्त क्यों न कहा जाय ?

उ०—वेदभागों के पढ़ने पढ़ाने और उस के अर्थविचार में दृढतर अभ्यास होने ही के कारण वाल्मीकि और व्यास आदि महर्षियों ने इतिहास और पुराण आदि में वेद ही के तुल्य वाक्यों की रचना की है इसी से वे मूढ वा धूर्त नहीं हैं ।

प्र०—यद्यपि व्यास आदि मूढ वा धूर्त नहीं हैं तथापि "अविमृश्यकारी" (समझे बिना काम करने वाला) क्यों नहीं हैं ? क्योंकि उन के समझ में यह नहीं आया कि ऐसे उपाख्यानों की रचना में क्या प्रयोजन है ?

उ०—श्रोताओं की बुद्धियां अनेक प्रकार की होती हैं अर्थात् कोई श्रोता केवल विधानवाक्य ही को सुन कर कर्म में प्रवृत्त अथवा उस से निवृत्त होता है और कोई श्रोता केवल विधिवाक्य से प्रवृत्त वा निवृत्त नहीं होता किन्तु अर्थवादसहित ही विधिवाक्य से तथा कोई थोड़े से अर्थवाद से और कोई बहुत से अर्थवादों से प्रवृत्त वा निवृत्त होता है और इतिहासपुराण आदि,

च चित्तं ग्रहीतव्यमित्येवमारम्भः। तत्र तु केचिद्विधिप्रतिषेधाः श्रुतिमूलाः केचिदर्थसुखा-दिषु लोकमूलास्तथार्थवादाः केचिद्वैदिका एव केचिल्लौकिका एव केचित्तु स्वयमेव काव्य-न्यायेन रचिताः। सर्वे च स्तुत्यर्थेन प्रमाणम् ये तु वाक्यशेषत्वं न प्रतिपद्यन्ते तेऽपि केचित्स्वयमेव श्रूयमाणा गन्धमादनादिवर्णकप्रभृतयः प्रीतिं जनयन्ति। ये तु युद्धवर्णकास्ते सर्वेषां शूराणां भीरूणां चोत्साहकराः पार्थिवानामुपयुज्यन्ते। यत्र तु न किञ्चिद्दृष्टमुपल-भ्यते तत्र विशिष्टदेवतादिस्तुतिद्वारमदृष्टं कल्पनीयमित्येषा दिक्। इति

॥ भाषा ॥

केवल एक ही प्रकार के श्रोताओं के लिये नहीं बने हैं किन्तु सब प्रकार के श्रोताओं के लिये, इसी से सब श्रोताओं के हृदयग्राही अनेक प्रकार के उपाख्यानों की रचना, व्यास आदि महर्षियों ने की है। इसी से वे अविमृश्यकारी कदापि नहीं हो सकते वरुक ऐसे विचारशील और लोक-चतुर हैं जैसे कि वे ही हैं अर्थात् अन्य कोई वैसा नहीं हो सकता।

प्र०—जो कुछ हो ? परन्तु जब असत्य उपाख्यानों की रचना भी व्यास आदि ने किया है तो उन के किसी वाक्य पर कैसे किसी को विश्वास हो सकता है ?

उ०—व्यास आदि के रचे हुए जितने धर्मादिसम्बन्धी, विधि और निषेध के वाक्य हैं उन सब के मूलवाक्य, वेद में हैं तथा उन के जो जो विधि और निषेध के वाक्य, अर्थ और काम आदि के सम्बन्धी हैं उन के मूल, प्रत्यक्ष और अनुमान आदि लौकिकप्रमाण हीं हैं अर्थात् वे वाक्य, लोकानुभवमूलक ही हैं। इसी से व्यास आदि महर्षियों की सत्यवादिता पर दृढ विश्वास होता है। और उपाख्यानों के विषय में भी वे असत्यवादी नहीं हो सकते क्योंकि बहुत से उपाख्यान वेदमूलक और बहुत से लोकमूलक हैं और अपनी उत्प्रेक्षामात्र से कल्पना कर जिन कतिपय उपाख्यानों की रचना व्यास आदि महर्षियों ने की है वे उपाख्यान भी काव्य आदि के नाईं लोकरञ्जन हीं के अभिप्राय से हैं न कि धूर्तता से लोकवञ्चना के लिये, इस से उन उपा-ख्यानों के बनाने के कारण भी, व्यास आदि महर्षि, असत्यवादी नहीं हो सकते।

प्र०—धर्मादि के सम्बन्धी वाक्य, वेदमूलक होने से प्रमाण हो सकते हैं, परन्तु जो उपाख्यान, वेदमूलक नहीं हैं वे कैसे प्रमाण हो सकते हैं ? क्योंकि किसी विधिवाक्य के साथ उन की एकवाक्यता जब नहीं हो सकती तब कैसे स्तुति और निन्दा रूपी अर्थ में उन का मुख्य-तात्पर्य हो सकता है ?

उ०—यह बात अर्थवादप्रकरण में कहा जा चुका है और यहां भी पुनः कहा जाता है कि जिन उपाख्यानों के समीप में विधि वा निषेध का वाक्य प्रत्यक्षपठित नहीं है वहां उन्हीं उपा-ख्यानों के अनुसार कल्पित, विधि और निषेध वाक्यों के साथ उन की एकवाक्यता होती है क्योंकि वैदिक अर्थवादों के विषय में यही रीति है और जहां भारत आदि में विधि और निषेध वाक्य के समीप उपाख्यान प्रत्यक्षपठित नहीं हैं वहां भी अन्यत्र पठित उपाख्यानों के साथ उन विधि, निषेध, वाक्यों की एकवाक्यता होती है। तथा जो उपाख्यान नदी, पर्वत आदि का वर्णन करते है वे लोगों की प्रीति के द्वारा उपयोगी हैं और जो युद्ध के उपाख्यान हैं वे शूर और भीरु (डरपोंक) अर्थात् सब मनुष्यों के उत्साह उत्पन्न करने के द्वारा राजाओं के उपयोगी हैं और जिन उपाख्यानों में देवता, ऋषि, आदि की स्तुतिमात्र है अर्थात् उस का लौकिक प्रयोजन नहीं मिल सकता उन उपाख्यानों का पारलौकिक प्रयोजन में उपयोग है इस रीति से भारत आदि के सब

अत्रेदमवधेयम् ।

पुराणानां व्यक्त्यनादित्वाभावेऽपि स्वसजातीयप्रतियोगिकध्वंसव्याप्यप्रागभाव-प्रतियोगित्वरूपं प्रवाहानादित्वमसन्दिग्धमेव उक्तेषु वेदवाक्येषु तेषां प्रमाणतयोपन्यसनात् । पुराणेतिशब्दस्वारस्याच्च । तत्तत्कालिकपुराणग्रन्थव्यक्तीनां तु तत्तत्कालिकतत्तद्व्यासनिर्मिततया सादित्वं न प्रवाहानादित्वेन विरुध्यते प्रागभावप्रतियोगित्वात्मकसादित्वस्य निरुक्तप्रवाहानादित्वापेक्षया सामान्यतया सामान्यविशेषयोश्च समावेशस्यैव सार्वलौकिकतयाऽनुभवेनैव विरोधस्य प्रत्यादेशात् । इयमेव च गतिः सर्वासूक्तासु विद्यासु वेदितव्या । पुराणानि च वेददेशीयान्येव भवन्ति तेषु विधिनिषेधमन्त्रार्थवादनामधेयोपनिषद्रूपाणां षण्णामेव भागानां वेदेष्विव विद्यमानत्वात् कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां च वेदवदेव पुराणेषु यथायथं निबन्धनाच्च यथार्थरञ्जकभयानकानां त्रयाणामपि भागानां वेदवदेव पुराणेषूपलम्भाच्च लोके प्रयोगानर्हाणामपि गृभीतादिवैदिकशब्दानां पुराणेषु बहुशः प्रयोगदर्शनाच्च

॥ भाषा ॥

उपाख्यान समूलक तथा अति उपयोगी हैं। और उपाख्यानों ही के विषय में प्रायः नास्तिक लोग झगड़ते हैं इस से वार्तिककार ने उपाख्यानों के विषय में यहां यह निर्णय किया है ।

यहां तक पुराण और इतिहास की प्रमाणता के विषय में सङ्क्षेप से प्रमाणों और युक्तियों का सङ्ग्रह कर दिया गया ।

अब इन प्रमाणों और युक्तियों के फलीभूत निर्णय के लिये लोकोपयोगी व्याख्यान किया जाता है इसे सावधानी से सुनना चाहिये कि—

पुराण और इतिहास के एक २ ग्रन्थ, यद्यपि अनादि नहीं हैं किंतु समय २ पर व्यास आदि महर्षियों के द्वारा रचित हुआ करते हैं तथापि इस में कुछ भी सन्देह नहीं है कि पुराण और इतिहास रूपी शास्त्रों की सम्प्रदायपरम्परा कदापि नवीन नहीं है किन्तु अनादि ही है क्योंकि यदि पुराण आदि अनादि न होते तो पूर्वोक्त पाठ वेदवाक्यों में प्रमाणता से उन का उपन्यास न होता और "पुराण" (पुराना अर्थात्—अनादि) नाम से भी उन का अनादि होना सूचित होता है। और यह रीति, पुराण आदि के विषय में कुछ नवीन नहीं निकाली जाती है किन्तु वेद से अन्य पूर्वोक्त प्रत्येक विद्याओं के विषय में यही रीति है अर्थात् वे सब विद्याएं अनादि ही हैं उन के विषय में केवल ग्रन्थ मात्र कभी किसी के और कभी किसी के रचित हो कर प्रचलित और लुप्त हुआ करते हैं परन्तु महाप्रलय से अन्य कोई ऐसा समय नहीं है जिस में कि उक्त विद्याओं के कोई ग्रन्थ प्रचलित न रहें ।

पुराण तो सब रीति से वेद ही के ऐसे हैं क्योंकि—

(१) जैसे वेद में विधि, निषेध, मन्त्र, अर्थवाद, नामधेय (कर्मों का वाजपेय आदि नाम), और उपनिषद्, ये छ भाग होते हैं वैसे ही पुराण आदि में भी ये ही छ भाग हैं ।

(२) और जैसे वेद में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड ये तीन काण्ड-विभाग हैं वैसे ही पुराण और इतिहास में भी ये ही तीन काण्डविभाग हैं ।

(३) तथा जैसे वेद में यथार्थ, (विधि और निषेध) रञ्जक, (अर्थवाद का प्रशंसा-भाग) और भयानक (अर्थवाद का निन्दाभाग) ये तीन भाग होते हैं वैसे ही पुराण आदि में भी ये तीन भाग रहते हैं ।

(४) और जिन "गृभीत" (गृहीत) आदि शब्दों का वैदिक व्याकरण के अनुसार लोक में प्रयोग नहीं होता किन्तु वेद ही में उच्चारण होता है उन सहस्रों शब्दों का पुराण आदि के अनेक स्थानों में अनेक बार प्रयोग देखे जाते हैं ।

'यदु ह वाबे' त्यादिकानां वैदिकीनां पदघटनामुद्राणां वैदिकस्य खल्वादिनिपातबाहुल्यस्य च पुराणेषु परिशीलनाच्च क्वचित्क्वचित् कियन्त्यपि पदानि विनिमाय क्वचित्क्वचिच्च व्यत्यस्य शूद्रादिश्रवणाधिकारसम्पिपादयिषाप्रयुक्तवैदिकानुपूर्वीभङ्गमात्रप्रयोजनकप्रयत्नातिशयेन वेदार्थानुवादिनां वाक्यानां पुराणेषु सहस्रशो जागरूकत्वाच्च यथाश्रुतवैदिकमन्त्राणामपि शूद्राद्यश्रवणादिरूपस्वाध्यायनियमप्रहापणमात्राभिप्रायेण प्रायेण पुराणेषूपबन्धनाच्च ।

तथा च—

स्वप्नेश्वरीये ।

शाण्डिल्यमहर्षिप्रणीतभक्तिमीमांसासूत्रभाष्ये ।

तदुक्तमाचार्यैः—

तानेव वैदिकान्मन्त्रा-न्भारतादिनिवेशितान् ।
स्वाध्यायनियमं हित्वा लोकबुद्ध्या प्रयुञ्जते ॥ इति

एवं च यादृशी पुराणेषु साधर्म्योद्रेकधुरीणा वेदस्य प्रत्यासत्तिः क्षीरनीरन्यायेन विस्पष्टसुश्लिष्टा प्रत्यक्षलक्ष्या न तथा कस्यामपीतरस्यां विद्यायामिति स्पष्टमेव । अतएव 'पुराणन्यायमीमांसे' त्यादिस्मृतिवाक्ये भगवान् याज्ञवल्क्यः प्राधान्यात्प्रणवमिव मन्त्रेभ्यो ऽन्योपाङ्गविद्याभ्यः प्रथममेव पुराणं निर्दिदेश । एतदभिप्रायेणैव च 'पुराणं मानवो धर्मः'

॥ भाषा ॥

(५) तथा वेद की "यदुह वा" इत्यादि वाक्यारम्भ की बोल चाल तथा (खलु, वै, तु,) आदि निपातनामक शब्दों का जैसे वेद में प्रायः प्रयोग होता है वैसे ही बोल चाल की रीति और "खलु" आदि निपातों का प्रयोग पुराण आदि में प्रायः रहता है ।

(६) और पुराण आदि में सहस्रों स्थानों पर ठीक २ वेदवाक्य ही पढ़े हुए हैं परन्तु वेदवाक्य के श्रवण में शूद्रादिकों को अधिकार नहीं है इस कारण उन वेदवाक्यों में कहीं २ कोई २ पद बदल दिये गये और कहीं २ पद तो वही रहे किन्तु आगे पीछे होने का क्रम मात्र ही बदला गया है ।जिस से यह स्पष्ट ही विदित होता है कि केवल शूद्रादिकों के उपकारार्थ ही इतना वैषम्य किया गया नहीं तो वे वेदवाक्य ही ज्यों के त्यों पुराणों में रख दिये गये हैं ।

(७) यहां तक कि वैदिकमन्त्र भी केवल इतने ही अभिप्राय से पुराणों में रख दिये गये हैं कि जिस में उन मन्त्रों के श्रवण का अधिकार शूद्रादिकों को हो । जैसा कि भक्तिमीमांसादर्शन के स्वप्नेश्वरभाष्य में उद्धृत 'तानेव' (भारतादि में उद्धृत किये हुए उन्हीं वैदिकमन्त्रों को वेदसम्बन्धी नियमों के बिना हीं लौकिकवाक्यों के नाईं लोग पढ़ते और सर्वसाधारण को सुनाते हैं) यह श्लोक है ।

(८) अब इतने से यह स्पष्ट हो गया कि वेद की जितनी गाढ़ी तुल्यता और क्षीर नीर के नाईं हेल मेल, पुराण और इतिहास में प्रत्यक्ष देखी जाती है उतनी किसी अन्यविद्या में नहीं है । और इसी से यह भी स्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि अन्य सब विद्याओं की अपेक्षा पुराण और इतिहास, वेद के बहुत ही अन्तरङ्ग सम्बन्धी हैं ।

(९) इसी से जैसे प्रधान समझ कर सब मन्त्रों के प्रथम शिररूपी ओङ्कार पढ़ा जाता है वैसे ही "पुराणन्यायमीमांसा" इस पूर्वोक्त श्लोक में याज्ञवल्क्यमहर्षि ने अन्य उपाङ्ग विद्याओं से प्रथम, पुराण हीं का नाम लिया है ।

इत्यादिभारतीयवाक्ये मानवधर्मादपि पुराणं प्रथममुपात्तम् । किं बहुना यत्र 'इतिहासपुराणं पञ्चमं बेदानां बेदम्' 'इतिहासपुराणः पञ्चमो बेदानां बेदः' 'इतिहासपुराणं पञ्चमं बेदानां बेदः' 'तानुपदिशति पुराणं बेदः सोऽयमिति किञ्चित्पुराणमाचक्षीत' इत्याद्याः श्रुतय एव, मुखं चन्द्रइत्यादिरूपकन्यायेन सादृश्यातिशयमूलकमभेदाध्यारोपमभिप्रयन्त्यः पुराणेषु प्रतिपदोक्तं बेदशब्दमेव निर्दिशन्ति अर्थापयति च तदेव श्रौतेन बेदशब्दव्यवहारेण बेदत्वमेव पुराणानां मा प्रसाङ्क्षीदिति श्रौतस्य, पुराणपरस्यानेकशः प्रयुक्तस्य बेदपदस्य च सादृश्यातिशयमूलकाभेदारोपपरतामभिव्यङ्क्तुं बेदार्थबेदकतया बेदत्वमित्यभिव्यञ्जत् 'इतिहासपुराणाभ्यां बेदार्थमुपबृंहयेत्' इति वाक्यम् । एवं यथा बेदे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति वाक्यं स्वस्वेतरसमस्तबेदवाक्येषु पुरुषार्थानुबन्धितां सत्यापयदाम्नायते तथैव 'पिवत भागवतं रसम्' 'श्रावयेच्चतुरोबर्णान्' इत्यादि वाक्यमपि स्वस्वेतरयावत्तत्पुराणादिवाक्येष्वक्षराध्ययनश्रवणवाक्यार्थग्रहणतदर्थानुष्ठानाद्विद्वारिकां पुरुषार्थानुबन्धितां प्रमापयत्प्रकाश्यत इति किमतः परमप्यस्ति किञ्चित्सौसादृश्यम् । वाक्यं ह्येतत् 'निषादस्थपतिं याजये' दितिवाक्यवणिजर्थाविवक्षया श्रवणमेव बिदधाति नतु श्रावणाम् चतुःशब्दश्चेह बेदानाधिकारिणः शूद्रादीनुपसङ्गृह्णंस्तेषामुपकारएव पुराणादीनामसाधारणं प्रयोजनमिति स्फुटतरमेवाभिव्यनक्ति । एवं 'एतादितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन्' इत्याथर्वणिकी श्रुतिरेतदिति शृङ्गग्राहिकाङ्काहयन्ती प्रामाण्यमिति प्रतिपदोक्तमेव

॥ भाषा ॥

(१०) और " पुराणं मानवो धर्मः " इस पूर्वोक्त, महाभारत के श्लोक में भी पुराण हीं का नाम प्रथम लिया है।

(११) अधिक कहना ही क्या है ? जब कि ' इतिहासपुराणं पञ्चमं बेदानां बेदः" " तानुपदिशति बेदः सोयमिति किंञ्चित् पुराणमाचक्षीत" इतिहासपुराणः पञ्चमो बेदानां बेदः' इत्यादि पूर्वोक्त बेदवाक्य ही, जैसे ' यह मुख, चन्द्र है' इस वाक्य में चन्द्रमा के अतितुल्य होने से मुख को भी चन्द्र कहा जाता है वैसे ही बेद के अतितुल्य होने से पुराण और इतिहास को ' बेद ' शब्द ही से साक्षात् कहते हैं।

(१२) और यह भी कहते हैं कि इतिहास और पुराण बेदों का बेद है अर्थात् बेदों के अर्थ का बेदन (निश्चय) कराने वाला है।

(१३) तथा जैसे बेद में ' स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ' यह वाक्य है इस के अनुसार सम्पूर्ण बेद का स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के प्रति कारण होना सिद्ध होता है वैसे ही ' श्रावयेच्चतुरो बर्णान्' इत्यादि वाक्यों से पढ़ने, सुनने, अर्थसमझने और उस के अनुसार काम करने आदि के द्वारा स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के प्रति, इतिहास और पुराणों का कारण होना पूर्णरूप से सिद्ध होता है।

अब इस से अधिक, बेद की तुलयता (जो कि इतिहास और पुराण के बिषय में कही गई) क्या हो सकती है ? और इस अनन्तरोक्त वाक्य में ' चतुः ' (चारो बर्णों को) इस शब्द से यह भी स्पष्ट हो गया कि इतिहास और पुराण के श्रवणादि में सर्बसाधारण को अधिकार है।

(१४) ऐसे ही ' एतद् इतिहासपुराणस्य प्रमाण्यमभ्यवदन् ' यह पूर्वोक्त अथर्बबेद का वाक्य, इतिहास और पुराण का प्रमाण होना मुक्तकण्ठ हो कर ऐसा स्पष्टरूप से कहता है जैसा

पुराणानां प्रामाण्यमाचष्टे ईदृशं च प्रतिपदोक्तं प्रामाण्यं वेदेनापि दुर्लभमिव किमुत विद्यान्तरैः नहि 'वेदाः प्रमाणमि' त्याकारिका श्रुतिः काचित्प्रत्यक्षा किन्त्वनुमीयतएवप्रामाण्यमीश्वरोक्तत्वादपौरुषेयत्वाद्वा वेदानाम्। तथा च यथा परिहितानिर्णिक्तविविक्तप्रतनुवसनोऽन्तरन्तश्चक्षुर्लक्ष्यपरसाक्षात्कृतपरिधानशून्यत्रिचतुरतत्तत्प्रतीकश्चैत्रः केवलात्स्वस्मादन्यइव भवन्नपि चैत्र-एवायमिति विवेचकैः प्रत्यभिज्ञायते तथैव तत्तत्पदविनिमयव्यत्यासव्यवधापितनिजार्थतया साक्षात्कारितत्तन्निजपदतया च प्रयुक्तया पुराणसञ्ज्ञयाऽऽत्मानं व्यवधाय स्थितोऽपि वेदः स्वीयेनैव वेदशब्देन श्रितगुणवृत्तिना शास्त्रतात्पर्यपर्यालोचनकुशलैः पण्डितरूपैश्च, पुराणमिति सामान्यैराख्यातोऽपि वेदइत्येव प्रत्यभिज्ञायते नास्तिकानां तु परिहितचित्रवसनालङ्कारत्वान्नायं चैत्रइति बालानामिव, पुराणं न प्रमाणमिति व्यामोहकोलाहलः स्थाने स्थाने समुल्लसन्नस्थानेऽपि स्थाने एव इत्थं च वेदस्य 'प्रामाण्यमभ्युपगम्यते नतु पुराणानामि'ति केषाञ्चिदुक्तिर्यदि पूर्वोक्तपुराणस्वरूपतत्त्वविवेकसहचरी तदा कैतवोक्तिरेव। नो चेत् तर्हि बालोक्तिरेवेत्युभयथाऽप्युपेक्षणीयैव प्रेक्षावद्भिः चरितार्थश्चैतादृशोक्तिशालिषु 'सोऽयं शिरश्छेदेऽपि शतं न ददाति विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छती'तिन्यायः नहि विव्रियमाणार्थकवाक्यप्रामाण्यमनुगम्यमानेन विवरणवाक्यस्याप्रामाण्यमुपवर्णयितुं शक्यते तयोरर्थस्यैकत्वेन तत्र बाधितत्वाबाधितत्वरूपविरुद्धधर्मयोरभ्युपगमासम्भवात् तदध्यासाभ्युपगमे त्वर्थभेदापत्त्या

॥ भाषा ॥

कि वेदों के प्रमाण होने को भी कोई वाक्य स्पष्ट नहीं कहता, क्योंकि ' वेद प्रमाण है ' " ऐसा कोई वेदवाक्य प्रत्यक्षपठित नहीं है किन्तु अनादि और अपौरुषेय होने से वेद की प्रमाणता का अनुमान ही होता है जो कि वेददुर्गसज्जन में पूर्व हीं कहा जाचुका है।

अब यह सिद्ध हो चुका कि जैसे कोई (देवदत्त) अपना बेष परिवर्तन कर देने से साधारण मनुष्यों के देखने में अन्य पुरुष ज्ञात हो तब भी परीक्षक लोग उस की अभिज्ञा (पहचान) सहज में कर लेते हैं वैसे ही वेद ही अपने बेष को बदल कर इतिहास और पुराण के बेष में यद्यपि प्रकट हुआ है और सामान्य मनुष्य उस को वेद नहीं कहते किन्तु इतिहास ही पुराण कहते हैं तथापि पूर्वोक्त विचार के द्वारा उत्तम पण्डितों को यह निश्चय होना कठिन नहीं है कि वेद ही अपना बेष बदल कर इतिहास और पुराण, अपने को कहलाता है।

और नास्तिकों का तो ' इतिहास और पुराण, नहीं प्रमाण हैं ' इस प्रकार के अनेक कोलाहल जो स्थान २ पर उठते रहते हैं वे सब वैसे ही हैं जैसे कि बेष बदले हुए देवदत्त के विषय में 'यह देवदत्त नहीं हैं' इत्यादि बालकों के कोलाहल होते हैं।

तथा यह कथन, कि "बेद तो प्रमाण है परन्तु इतिहास और पुराण नहीं प्रमाण हैं" यदि पूर्वोक्त विचार के समझने के अनन्तर है, तो जान बूझ कर अपने किसी अर्थ से मिथ्याभाषण ही है और यदि पूर्वोक्त बिचार के समझे बिना ही उक्त कथन है तो कथन क्या ? वह बालकों की लीला ही है। और इस विषय में यह दृष्टान्त बहुत ही उचित और सँलग्न है कि 'गला कटने पर भी सौ रुपये न दूंगा पांच बीस रुपये तो जब चाहो मुझ से ले लो' अर्थात् गला कटने पर भी इतिहास और पुराण को प्रमाण न मानूंगा बेद को तो जब चाहो मुझ से प्रमाण मनवा लो। क्योंकि जो पुरुष मूल को प्रमाण मानता ह वह कब उस की टीका (व्याख्यान) को प्रमाण नहीं मान सकता। और इस में कारण भी यही है कि मूल और टीका का अर्थ एक ही है तो एक ही अर्थ

बिवरणत्वस्यैव भङ्गप्रसङ्गात् तदेतत्सकलमभिप्रेत्यैव न्यायभाष्ये भगवान्बात्स्यायनोऽपि ब्राह्मणभागवाक्यानुसारेण पुराणप्रामाण्यमुपवर्णयामास। एवं बेदप्रामाण्येऽभ्युपगतेऽनन्तरोक्तानां पुराणप्रामाण्यप्रमापकाणां बेदवाक्यानामपि प्रामाण्यमभ्युपगतमेव अतश्च तत्प्रमापिते पुराणप्रामाण्ये कथमपलापावकाशसम्भावनाऽपि तदपलापे हि तत्प्रमापकस्य बेदस्यैव प्रामाण्यमपलपितं स्यात् ततश्च तदभ्युपगमरूपस्वक्रियाव्याघातरूपो दण्डो न खण्डयितुं शक्येत ब्राह्मणभागानामेव पुराणसञ्ज्ञेति तु यद्यपीदं बात्स्यायनीयं भाष्यमुपन्यस्य महामोहबिद्रावणे पूर्वं निराकृतमेव तथापि तत्र श्रुत्यादिबिरोधोऽपि दुर्बारोऽवधारणीयः 'पुराणं बेदानां पञ्चमो बेद' इत्येवंजातीयाभिः श्रुतिभिर्हि पुराणस्य पञ्चमत्वमभिदधतीभिर्बेदचतुष्टयातिरिक्तत्वं पुराणस्य स्पष्टमेवोट्टङ्क्यते उक्तब्रह्मयज्ञश्रुतौ च ब्राह्मणानि पुराणेभ्यः पृथगेव दर्शितानि । एवं बेदात्पृथक् पुराणं परिगणयन्त्यावनन्तरोक्ते मनुयाज्ञवल्क्यस्मृती अपि बेदपुराणयोर्मिथोभेदमेवासन्दिग्धमभिव्यङ्क्तः । ब्राह्मपाद्मादिपुराणीयतात्विकतात्पर्यनिचयानाबिबिञ्चद्भिश्चुम्बकापसदैस्तूच्यमाने बेदस्य पुराणत्वे तेषां क्षेत्रिये रोगे घूकावलोकिते दिवातमसीव घूकदेहत्यागायमानात् जन्मान्तरे भाविनि भूयः

॥ भाषा ॥

को सत्य और मिथ्या दोनों कैसे कोई कह सकता है ?। और यदि मूल और टीका के अर्थ में भेद है तब तो वह टीका ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि बेद, मूल है इतिहास और पुराण टीका हैं तीनों का अर्थ एक ही है तो ऐसी दशा में यदि वह अर्थ सत्य है तो वे भी प्रमाण हैं और यदि मिथ्या है तो बेद भी प्रमाण नहीं है, परन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि बेद तो प्रमाण है और इतिहास, पुराण, प्रमाण नहीं।

(१५) इन्हीं सब उक्तयुक्तियों के अभिप्राय से भगवान् बात्स्यायनमहर्षि ने पूर्वोक्त 'चातुराश्रम्य०' इस वाक्य से ब्राह्मणभाग के वाक्यानुसार पुराणों के प्रामाण्य को सिद्ध किया है।

(१६) और समझने की बात है कि जब बेद प्रमाण है और बेद ही के पूर्वोक्त वाक्य, इतिहास और पुराण को प्रमाण कहते हैं तो इतिहास पुराण के प्रामाण्य में सन्देह ही कैसे हो सकता है क्योंकि इतिहास और पुराण प्रमाण नहीं हैं तो उन को प्रमाण कहने वाला बेद, मिथ्याभाषी है इस से वही कैसे प्रमाण हो सकता है ?। "ब्राह्मणभाग ही का नाम पुराण है" यह स्वामी का कथन तो क्षुद्रोपद्रवबिद्रावण में उद्धृत महामोहबिद्रावणग्रन्थ में अनन्तरोक्त बात्स्यायनवाक्य के बिरोध से यद्यपि पूर्व ही खण्डित हो चुका है तथापि "इतिहासपुराणं बेदानां पञ्चमो बेदः" इत्यादि पूर्वोक्त बेदवाक्यों का बिरोध भी उस मत में दुर्बार ही है क्योंकि यदि बेद ही के भाग का नाम पुराण है तब पुराण, चार बेद ही में अन्तर्गत हो गया पुनः बेद पाँचवां कैसे हो सकता है ? तथा पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञश्रुति का भी बिरोध उस मत में है क्योंकि उस में पुराणों से पृथक् ब्राह्मणभाग कहा हुआ है और "पुराणं मानवो धर्मः" तथा "पुराणन्यायमीमांसा" इन मनु और याज्ञवल्क्य के पूर्वोक्त वाक्यों का बिरोध भी उक्त मत में पड़ता है क्योंकि इन में भी बेद से पृथक् पुराण कहे हुए हैं॥ और पुराणों के वास्तविकतात्पर्य को समझे बिना, स्वामी ने जो बेद ही को पुराण कह दिया यह उन का भ्रम वैसा ही है जैसा कि सूर्य के प्रकाश में उल्लुओं को अन्धकार का भ्रम होता है और वह भ्रम उल्लू के जन्म में नहीं छूटता किन्तु वह जब मर कर जन्मान्तर पाते हैं तब ही छूटता

शास्त्राध्ययनादितरो न कश्चित्प्रतीकार इति किमत्र क्रियताम् ।

अथाधुनातननिखिलजना निर्वर्णितसकललोकानुभवदूरबाधितताद्दशार्थबोधकानामपि ब्राह्मपाद्मादिपुराणानां कस्मादकस्मादेतावतींमहतीमारभटीमारचय्य प्रमाणशिरोमणीनां वेदानामिव प्रामाण्यमुपवर्ण्यते । कथं च क्वचिच्छिवात्क्वचिन्नारायणात्क्वचिद्गणेशादेश्च विश्वसृष्टिरित्येवमादिकमर्थसहस्रमन्योन्यव्याहतमेषु बहुशः प्रतिपाद्यमानमपि न मनागप्यनुसन्धीयते । कथं वा पौरुषेयेष्वमीषु भ्रमप्रमादविप्रलिप्साप्रभृतिपुंसाधारणदोषराशिवशंवदमप्यप्रामाण्यमवधीर्यते । नच तद्भयात्पुराणप्रामाण्यप्रमापकाः श्रुत्यादय उपचरितार्थतयाऽन्यथैवार्थाप्यन्ते । वैसर्जनहोमीयवासोग्रहणस्मृतिवच्चामीषु स्फुरन्तीमपि दृष्टलोभादिमूलकतामनवकल्प्य कथन्नाम श्रद्धाजाड्याद्वेदमूलकता कल्प्यते । यच्चाधुनिका बञ्चकचुम्बका निर्मूलानपि ताँस्तानर्थान्पुरस्कृत्य निबन्धाभासान् निर्माय पुराणीकृत्य प्रमाणीकृत्य च सुकरेण मुद्रणादिनोपायेन निर्विघ्नमेवानर्गलानपि स्वमनोरथान्पूरयन्तो दृश्यन्ते ततोऽपि वा

॥ भाषा ॥

है। तात्पर्य यह है कि स्वामी का उक्त भ्रम क्षेत्रिय (एक जन्मियां) रोग था जिस का औषध जन्मान्तर ही में तब हो सकता था जब कि वह शास्त्रों को अच्छी रीति से पढ़ते ।

(प्र० १) इस का कोई कारण नहीं ज्ञात होता कि प्रमाणों के शिरोमणि वेदों, के तुल्य बना कर इतिहास और पुराणों का प्रमाण्य क्यों इतने परिश्रम और बल से सिद्ध किया जा रहा है ? क्योंकि इतिहास और पुराण में अनेक स्थान में ऐसे समाचार कहे हुए हैं कि जो इस समय के सकल मनुष्यों के अनुभवों से बहुत ही दूर अर्थात् आश्चर्यरूप हैं अर्थात लोगों के अनुभव से सर्वथा विरुद्ध हैं ।

(२) और क्यों इस पर ध्यान नहीं दिया जाता कि उन में से किसी में जगत् की सृष्टि, नारायण से और किसी २ में गणेश आदि से कही हुई है तथा ऐसी ही सहस्रों बातें उन में हैं जो स्पष्ट ही अन्योन्य में विरुद्ध हैं ?

(३) तथा जब वे पुरुषों के रचित हैं और भ्रम, प्रमाद, धूर्तता, आदि दोष पुरुषों के स्वभाव हैं इस लिये उन का प्रमाण न होना सहज में सिद्ध है तो ऐसी दशा में कारण नहीं ज्ञात होता कि उन को क्यों न अप्रमाण कहा जाय ?

(४) तथा पूर्वोक्तयुक्ति के अनुसार जब वे सर्वथा अप्रमाण ही हैं तब उन के प्रमाण होने के विषय में जो २ वेदवाक्यादि प्रमाण पूर्व में कहे गये हैं उन का अक्षरार्थ क्यों न बदल दिया जाय ?

(५) और यद्यपि पुराण आदि स्मृतिरूप हैं तथापि जब उन के अर्थ, बाधित (मिथ्या) हैं तब उन को लोभादिमूलक कहना चाहिये पुनः ऐसी दशा में विश्वास से जड हो कर उन को वेदमूलक क्यों कहा जाता है ?

(६) और जब यह बहुत बड़ी हानि प्रत्यक्ष है कि इस समय के कोई २ अधपढ़े बञ्चक अनेक विषयों में अपना मनमाना ग्रन्थ बना २ कर और उन को पुराण के नाम से प्रमाण कर मुद्रण आदि के द्वारा सहज में प्रचलित कर अपने २ दुष्ट मनोरथों को पूर्ण करते हुए देखे जाते हैं तो ऐसी दशा में इतिहास और पुराण को प्रमाण सिद्ध करना, उन दुष्टों को दुष्टमार्ग दिखलाना

कथं न भीयते उपप्लाव्यते च नास्तिकैरिव पुराणमूलताकल्पनेनाजानिकमपि वेदानां प्रामाण्यं स्वारूढशाखास्वयंछेदन्यायेनेति किमेतदाश्चर्यमिति चेत् ।

अत्रोच्यते—

न तावत् पुराणानि साम्प्रतिकनिखिलजनादृष्टार्थत्वेन प्रामाण्यमपहातुमर्हन्ति तथासति सर्वजगद्व्यवस्थाविलोपप्रसङ्गात् तथाहि—स्वपुरुषचतुष्टयादुपरितनाः पुरुषा वेदानीन्तनै दृश्यन्ते ततश्च चतुर्थपुरुषाणामजारजत्वनिर्णायकप्रमाणाभावादाद्यात्विकानिखिलमनुजकुलानां जारजत्वापत्तिः जाराणां च पञ्चमपुरुषाणां जातिनिर्णयस्येदानीं दुष्करतया—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ॥ १ ॥

इति न्यायेन सर्वेषामेव सङ्करजातीयत्वापत्तिश्च । ततश्च लुप्येरन्नेव सकला वर्णाश्रमधर्माः उत्सीदेदेव च तत्प्रतिपादकानां श्रुतिस्मृत्यादीनां प्रामाण्यम् प्रसरेदेव च पशुमैथुनन्यायो मनुष्येषु एवं पितापुत्रभावव्यवस्थाऽपि लुप्येत केन हि नाम स्त्रीजठरे प्रविश्य दृश्यतेऽस्यैव पुरुषस्य रेतसाऽऽरब्धेन कललेनैतच्छरीरमारब्धमिति मात्राऽपि हीदं दुर्दर्शं किमुतान्येन मातृवाक्यमपि चैवमस्मिन्नर्थे प्रमाणं नैव स्यात् तथाच स्यादेव जगदान्ध्यम्

॥ भाषा ॥

नहीं है तो क्या है ?

(७) तथा जैसे कोई अपनी चढ़ी हुई वृक्षशाखा के मूल को अपनी गाढ़ी मूर्खता से छेदन करता है वैसा ही इतिहास और पुराण को प्रमाण सिद्ध करना है क्योंकि ऐसी २ झूठी बातों के कहने वाले इतिहास और पुराणों की प्रमाणता को पूर्वोक्त बेदवाक्य कह रहे हैं तो वे बेद भी अपनी प्रमाणता से क्या हाथ नहीं धो बैठे ? बड़े आश्चर्य की बात है कि जो इस मूलनाश पर दृष्टि न दे कर पुराण और इतिहासों को प्रमाण, सिद्ध किया जाता है ।

उ०—(१) इस समय के मनुष्यों के प्रत्यक्ष में, पुराण और इतिहास के बहुत से समाचार नहीं आते इतने मात्र से पुराण और इतिहास अप्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि यदि ऐसा हो तो जगत् के सब व्यवहार लुप्त ही हो जायंगे क्योंकि अपनी चार पीढ़ी से ऊपर के पुरुष इस समय के मनुष्यों को प्रत्यक्ष नहीं होते जिस से कि यह निश्चय हो कि चौथा पुरुष (जारज) व्यभिचार से उत्पन्न) नहीं था क्योंकि पञ्चम आदि पुरुष (जो कि प्रत्यक्ष नहीं हैं) की जाति का ठीक २ निर्णय नहीं हो सकता जैसा कि "अनादाविह" इस श्लोक में नास्तिकों ने कहा है कि जब संसार अनादि है और कुल के मूल स्त्रियां हीं हैं तथा कामदेव का बेग दुर्वार है तो जातिपांति की कल्पना कदापि नहीं हो सकता इति । तब तो वर्ण और आश्रम के धर्म सब झूठे ही हैं और उन धर्मों के प्रतिपादक बेद शास्त्र आदि का प्रामाण्य तो दूर ही भागैगा तथा पशुमैथुन की रीति से, बिना किसी नियम के मैथुनव्यवहार प्रचलित हो जायगा और पिता पुत्र की व्यवस्था भी लुप्त हो जायगी क्योंकि स्त्रियों के पेट में घुस कर कौन देख सकता है कि किस पुरुष के बीर्य के साथ उस स्त्री के रुधिरमेलन से कौन लड़का उत्पन्न हुआ क्योंकि यह बात तो उस स्त्री को भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकती, और इस बिषय में माता का वाक्य भी अप्रमाण ही हो जायगा तथा एक चार्वाकदर्शन ही शास्त्र रह जायगा और जगत् की सृष्टि संहार कहनेवाले बेदवाक्य, अप्रमाण हीं हो

दर्शनं च चार्वाकमतशेषमेव स्यात्। किंच पुरातनेदानीन्तननिखिमनुजादृष्टविश्वसृष्टिसंहारादि-बोधकवेदवाक्यानामप्रामाण्यमेव स्यात् अपि च कुलमाहात्म्यं वंशपरपरानिर्देशश्चेत्युभयमपि सकलजातीयपुरुषसाधारणं प्रमाणाभावाद्विप्लवेततराम् सर्वे चेतिहासग्रन्थाः संस्कृत-वाङ्मया अन्यभाषामयाश्च दूरादेव प्रामाण्यं परिहरेयुः इदानीन्तनमनुजादृष्टार्थप्रतिपादक-त्वात्। एवं चागत्येदानीन्तननिखिलमनुजादृष्टार्थकानां ग्रन्थानामपि प्रामाण्येऽभ्युपगम्यमाने किमिति पुराणैरेवापराद्धम्। किंच इदानीन्तनमनुजदृष्टार्थकस्यैव शब्दस्य प्रामाण्यं नतु पुरातनमनुजदृष्टार्थकस्येत्यत्र बिनिगमनाविरहो दुर्वार एव चार्वाकमतमेवास्त्विति तु दर्शन-काण्डे निराकरिष्यते ॥ एवं बाधितार्थकत्वमपि न पुराणानां प्रामाण्ये बाधकम् तथा हि पौराणिकानां विधिनिषेधवाक्यानां तावद्ब्रह्ममन्वादिस्मृतिस्थविधिनिषेधवाक्यानामिव धर्म-मोक्षसम्बन्धिनां वैदिकविधिनिषेधमूलकतया, अर्थसुखबिषयाणां चाबाधितलोकव्यवहार-मूलकतया प्रामाण्यमश्नुवानानामर्थेषु क्वचिद्बाधगन्धोऽपि नोद्भावयितुं शक्यते उपयोगोऽपि च तेषां प्रवृत्तिनिवृत्त्योः स्पष्टएव

तथाच वार्त्तिकम्—

"तत्र यावद्धर्ममोक्षसम्बन्धि तद्वेदप्रभवम् यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारमूलकमिति

॥ भाषा ॥

जायँगे क्यौंकि आधुनिक किसी मनुष्य ने जगत् की सृष्टि वा संहार को नहीं देखा है तथा सब पुरुष (चाहे वे कोई जाति हों) अपने २ कुलों का माहात्म्य और वंशपरम्परा को जो कहते हैं वह सब कहना लुप्त ही हो जायगा क्यौंकि इस में कुछ प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है तथा संस्कृत वा अन्यान्य भाषाओं के जितने इतिहास के ग्रन्थ हैं सभी झूठे हो जायँगे क्यौंकि विषय, आधुनिक-मनुष्यों को प्रत्यक्ष नहीं हैं। इस रीति से जगत् ही एक ओर से अन्धकार में मग्न हो जायगा ! इस उक्त महादोष के निबारणार्थ सब को अनन्यगति हो कर यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि जिन के अर्थों को आधुनिकमनुष्य प्रत्यक्ष से नहीं देखते ऐसे शब्द भी प्रमाण हैं। तो ऐसी दशा में इतिहास और पुराण ने क्या बिशेष अपराध किया है ? कि जिस से ये प्रमाण न माने जायँ।

उ०—(२) इस में भी कोई प्रमाण नहीं है कि " इसी समय के मनुष्यों के प्रत्यक्ष हुए समाचारों के कहने वाले शब्द प्रमाण हैं न कि पूर्बसमय के मनुष्यों के प्रत्यक्ष हुए समाचारों के कहने वाले शब्द भी " क्यौंकि मनुष्य चाहे किसी समय के हों, परन्तु उन का प्रत्यक्ष एक सा ही होता है और ऐसी दशा में पूर्वसमय के मनुष्यों के प्रत्यक्ष किये हुए समाचारों को कहने वाले इतिहास और पुराण, अन्यान्यभाषा के इतिहासग्रन्थों के नाईं अवश्य ही प्रमाण हैं। और चार्वाक-दर्शन की चर्चा तो इस अवसर पर नहीं करने योग्य है और उस का खण्डन भी दर्शनकाण्ड में पूर्णरूप से किया जायगा।

उ०—(३) इतिहास और पुराणों में जितने बिषय कहे हुए हैं उन में से एक बिषय भी लोकानुभव से बिरुद्ध नहीं है क्यौंकि ऐसा करो, ऐसा न करो, इत्यादि जितने वाक्य धर्म और मोक्ष से सम्बन्ध रखते हैं वे बेदमूलक, और जो अर्थ वा सुख से सम्बन्ध रखते हैं वे लोक-मूलक हैं उन का फल भी अच्छे कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति और दुष्ट कर्मों से निवृत्ति है। इस से

विवेक्तव्यम् एषैवेतिहासपुराणयोरप्युपदेशवाक्यानां गतिः” इति । मन्त्रभागेऽपि च विधेयस्मारके पाठजपमात्रेणादृष्टजनके वा वेदमूलके बाधो न सम्भवत्येव । पुण्यकादीनां नामधेयानामपि स्वार्थसमर्पणेन विधिवाक्यार्थबोधमुपार्जयतामर्थेषु बाधासम्भवः सुज्ञान एव जीवेश्वरब्रह्मतत्त्वशोधनप्रधानानां वैदिकोपनिषन्मूलिकानां पौराणिकोपनिषदामर्थेभ्योऽपि तत्तद्दर्शनोक्तमानतर्ककलापप्रतापप्रत्याख्यातो दूरत एवापसरति पापोऽसौ बाधवराकः । तस्मात् पौराणिकार्थवादभागमात्रस्य प्रामाण्यमुपपादयितुमवशिष्यते बाधश्च तदर्थेभ्य उद्धर्तुम्, भूयाँश्चायमेव भागः पुराणेषु, एतेनैव च भागेनान्यविधाव्यावृत्तेन पुराणमितिसञ्ज्ञाऽपि नियम्यते । मल्लग्रामवद्भूयसैव भागेन व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात् ।

तदुक्तम् —

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ इति ।

अस्य चार्थवादभागस्य प्रामाण्यं वैदिकार्थवादभागवत् अर्थे बाधोद्धरणमपि वैदिकार्थ-

॥ भाषा ॥

ऐसे वाक्यों के अर्थ में लोकानुभव के बिरोध का गन्ध भी नहीं हो सकता । ऐसे ही इतिहास और पुराण के मन्त्रभाग में भी लोकानुभव का बिरोध नहीं हो सकता क्योंकि कोई मन्त्र, बिहितकर्मों का स्मारक होता है और कोई पाठ और जप मात्र से फल देता है उस में वैदिकमन्त्रों के नाईं लोकानुभव का बिरोध हो ही नहीं सकता । ऐसे ही ‘ पुण्यक ’ आदि जो व्रतविशेष आदि के नाम हैं उन में भी उक्त बिरोध का सम्भव नहीं है । तथा इतिहास और पुराण के उपनिषद्भाग में भी लोकबिरोध के बारण के सहस्रों दृढतर प्रकार वे ही हैं जो कि वेदान्तदर्शन के ग्रन्थों में वैदिक उपनिषदों के लिये कहे हुए हैं । ऐसे इतिहास के बिधि, निषेध, मन्त्र, नामधेय, उपनिषद्, इन पाँच भागों में प्रमाणता, सिद्ध हो चुकी तथा लोकानुभव के बिरोध का बारण भी हो गया । अब पुराण आदि का एक ही अर्थवादभाग (जिस को उपाख्यान कहते हैं) अवशिष्ट है अर्थात् इसी एक भाग की प्रमाणता सिद्ध करना और इसी के बिषय में लोकानुभव के बिरोध का बिशेषरूप से बारण करना अवशिष्ट है जो अब किया जाता है, और इसी एक भाग के बिषय में अधपढ़ों और नास्तिकों के बिवाद भी बिशेषरूप से हुआ करते हैं तथा इसी भाग के कारण से ‘ पुराण ’ यह नाम भी प्रसिद्ध है क्योंकि इस में पुराने समाचार हैं । जैसे जिस ग्राम में दुर्बलपुरुष भी रहते हैं वह, मल्लों के अधिक और प्रधान होने से मल्लग्राम कहा जाता है वैसे ही पुराणों में यद्यपि अन्यान्य बिषय भी है तथापि पुराने उपाख्यानों के अधिक और प्रधान होने से उन का पुराण नाम ही पड़ गया है तथा यही उपाख्यानरूपी छठाँ भाग (जिस के बिषय में अब बिचार होगा) पुराणों के सब भागों में बड़ा और प्रधान भी है और इस में पाँच भाग हैं (१) जगत् का सृष्टिभाग (२) संहारभाग (३) बड़ों के बंश का भाग (४) मनुओं के अन्तर (अधिकारसमय) का भाग (५) उक्त बंशों के चरित्र का भाग । और इन भागों में भी प्रथम चार भागों के बिषय में बिवाद बहुत न्यून है किन्तु चरित्रभाग के बिषय में बिवाद अधिक है और यह उपाख्यानभाग इतिहास और पुराणों का अर्थवादभाग है इसी से जिस रीति के अनुसार वैदिकअर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध होता है वैसे ही इतिहास और पुराण के उपाख्यानभाग का भी, और जैसे वैदिकअर्थवादों के बिषय में लोकानुभव के बिरोध का बारण किया जाता है वैसे ही इन उपाख्यानों के बिषय में भी ।

वादार्थवद्बोध्यम् । तत्र बैदिकार्थवादानां प्रामाण्यं तदर्थे बाधोद्धारस्तेषामुपयोगश्च वेद-दुर्गसज्जनेऽर्थवादाधिकरणे करतलामलकवत्सप्रपञ्चमधस्तादुपदर्शितानि । प्रकृते तु दार्ष्टान्तिके तन्न्यायातिदेशमात्रमवशिष्यते अतस्तदेवेदानीं प्रदर्श्यते तथा हि—"पिवत भागवतं रसम्" "श्रावयेच्चतुरो वर्णानिति" सर्वतत्तत्पुराणेतिहासव्यापिभिः श्रवणविधिभिर्हि पुराणीयानां भागान्तराणामिवार्थवादभागस्यापि पुरुषार्थपर्यवसायिता स्फुटतरमेव प्रत्याय्यते। सा च नान्तरेण विधिनिषेधवाक्यैकवाक्यतां सम्भवतीति पौराणिकानामर्थवादानामपि पौराणिकैर्विधिनिषेधवाक्यैः सहैकवाक्यता सिध्यति । सा च प्रवृत्तिनिवृत्त्युपकारिणोः स्तुतिनिन्दारूपयोरर्थवादवाक्यानां लक्षणां विना नोपपद्यत इति श्रवणविधिबलादेवार्थवाद-वाक्यानां स्ववाच्यार्थद्वारेण स्तुतिनिन्दयोर्द्वारिणोरर्थयोर्यथायथं लक्षणाऽङ्गीक्रियते ।

न चैवं विधिनिषेधवाक्यसन्निधिपठितानां पौराणिकानामुपाख्यानार्थवादानामुप-योगेऽपि विधिनिषेधवाक्यासन्निहितानामेककर्तृकचरितकथनात्मकानां परकृतिसमाख्याना-मनेककर्तृकचरितकथनात्मकानां पुराकल्पाख्यानां चोपाख्यानार्थवादानां कथङ्कारमुपयोगः

॥ भाषा ॥

(प्र०) बैदिकअर्थवादों के दृष्टान्तमात्र से पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों की प्रमाणता कैसे सिद्ध हो सकता है जब तक कि कोई युक्ति, विशेषरूप से न दरसाई जाय ?

(उ०) बैदिकअर्थवादों के प्रामाण्य, उक्त बिरोध का बारण और उन के उपयोग में जो २ युक्तियां हैं उन का विशेषरूप से निरूपण, वेददुर्गसज्जन के अर्थवादप्रकरण में पूर्व हीं हो चुका है । अब प्रकृत अर्थात् उपाख्यानों के विषय में उन युक्तियों को विशेषरूप से लगा देना ही केवल अवशिष्ट है जिस की रीति यह है कि "पिवत भागवतं रसम्" (हे भक्तजन तुम भागवत अर्थात् इस पुराण के रस को पान करो) "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" (चार वर्ण महाभारत को सुनैं) इत्यादि अनेक बिधिवाक्य ऐसे हैं कि जो, जैसे पुराण और इतिहास के अन्यान्य भागों की पुरुषार्थ के प्रति, कारणता को बतलाते हैं वैसे ही उपाख्यानभाग की भी पुरुषार्थ के प्रति, कारणता को । और वह कारणता, उपाख्यानों में तब ही हो सकती है कि जब पौराणिक और ऐतिहासिक बिधिवाक्य वा निषेधवाक्य के साथ उक्त उपाख्यानों की एकवाक्यता (हेल मेल) अर्थात् सम्बन्ध हो और यह एकवाक्यता भी तभी हो सकती है कि जब उपाख्यानों के अक्षरार्थ का उल्लङ्घन कर लक्षणावृत्ति के द्वारा, स्तुति वा निन्दा उन उपाख्यानों का अर्थ माना जाय क्योंकि उक्त उपाख्यानों के अक्षरार्थ सिद्धरूपी होते हैं इस कारण उन से पुरुष की प्रवृत्ति वा निवृत्ति नहीं हो सकती और जब उक्त रीति के अनुसार, विधिवाक्यों से विहित कर्मों की स्तुति उन का अर्थ है तब उन कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है और उस कर्म के अनुष्ठानद्वारा स्वर्गादि पुरुषार्थ का लाभ होता है इसी रीति से पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यान, स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के कारण होते हैं तथा निषेधवाक्यों से निवारित ब्रह्महत्यादि कर्मों की निन्दारूपी अपने अर्थ के द्वारा उक्त उपाख्यान, पौराणिक आदि निषेधवाक्यों के साथ मिल कर ब्रह्महत्यादि पापों से पुरुषों की निवृत्ति के द्वारा नरक आदि दुःखों के अभावरूपी पुरुषार्थ के प्राप्ति का कारण होते हैं ।

(प्र०) जिन उपाख्यानों के समीप में बिधिवाक्य वा निषेधवाक्य पठित हैं उन की प्रमाणता और उपयोग यद्यपि उक्त रीति से हो सकता है किन्तु जिन के समीप में वैसे वाक्य

स्यात् असन्निधानेनैव तेषां विधिनिषेधैकवाक्यताया वक्तुमशक्यत्वादिति वाच्यम्। सन्निधौ विध्यश्रवणेऽपि रात्रिसत्रन्यायेन यस्मात्पूर्वैर्महात्मभिरेवं कृतं तस्मादन्यैरपि कर्तव्यमित्यनुमितविधिशेषतया तेषामप्युपयोगस्य सुवचत्वात्। नच कस्य प्रमाणस्य बलादेषा क्लिष्टकल्पनाऽऽश्रीयत इति वाच्यम्। तत्तच्छ्रवणविध्यन्यथानुपपत्तेरेव बलत्वात्। नच पारायणादृष्टकल्पनामात्रेण कथं न सन्तुष्यत इति वाच्यम्। वैदिकार्थवादन्यायादेव दृष्टोपयोगकल्पनेन श्रवणविधिसार्थक्यं सम्भवति तस्य गौरवेणैवान्याय्यत्वात्। अथैवमपि वाधितानामर्थानां तत्र तत्रोपन्यासात्कथमुपाख्यानानां प्रामाण्यसम्भव इति चेत् "आदित्यो वै यूपः" "यजमानः प्रस्तरः" "धूमएवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः" इत्यादीनां वैदिकार्थवादानामिवेति श्रूयताम्।

॥ भाषा ॥

पठित नहीं हैं उन उपाख्यानों की क्या गति है अर्थात् उन की एकवाक्यता किस के साथ होगी?

(उ०) जैसे "प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति" (जो लोग रात्रिसत्र नामक यज्ञ करते हैं वे प्रतिष्ठा पाते हैं) इस वैदिकअर्थवाद के समीप में यद्यपि कोई विधिवाक्य नहीं है तथापि "प्रतिष्ठाकामाः सत्रमासीरन्" (प्रतिष्ठा चाहने वाले रात्रिसत्र को करें) इस विधिवाक्य की कल्पना कर उक्त अर्थवाद की एकवाक्यता होती है वैसे ही विधिवाक्य और निषेधवाक्य की कल्पना कर उन्हीं के साथ उन पौराणिक आदि उपाख्यानों की भी एकवाक्यता होती है कि जिन के समीप में विधिवाक्य वा निषेधवाक्य पठित नहीं हैं अर्थात् उन उपाख्यानों से ऐसे वाक्यों की कल्पना होती है कि "अमुक कर्म को कर अमुक ने अमुक सुख पाया इस से अमुक कर्म करै" तथा "अमुक ने अमुक कर्म करने से अमुक दुःख को पाया इस से अमुक कर्म को न करै"

(प्र०) ऐसी कल्पना किस प्रमाण के बल से होती है?

(उ०) पूर्वोक्त "पिवत भागवतं रसम्" "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इन पूर्वोक्त विधिवाक्यों ही के बल से।

(प्र०) इन विधिवाक्यों से इतना ही निकाल कर क्यों नहीं सन्तोष किया जाता कि पौराणिक आदि उपाख्यान केवल अपने पाठमात्र के द्वारा पुरुषार्थ के कारण हैं?

और जब इतने ही से वे विधिवाक्य चारितार्थ हो जाते हैं तो क्यों उक्त उपाख्यानों से विधिवाक्य और निषेधवाक्य की कल्पना होती है?

(उ०) जैसे "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वाक्य के रहते भी वैदिकअर्थवादों के पाठमात्र से फल की कल्पना इस कारण नहीं होती कि पाठमात्र से फल होना लोक में प्रसिद्ध नहीं है वैसे ही पौराणिक आदि उपाख्यानों के पाठमात्र से भी फल की कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि उक्त उपाख्यानों के पाठपात्र से स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ का लाभ लोक में प्रसिद्ध नहीं है।

(प्र०) जिन उपाख्यानों का अक्षरार्थ लोकानुभव से विरुद्ध है वे उपाख्यान कैसे प्रमाण हो सकते हैं?

(उ०) जैसे "यजमानः प्रस्तरः" (कुशों की अँटिया यजमान है) इस वैदिकअर्थवाद का अक्षरार्थ यद्यपि लोकानुभव से विरुद्ध है क्योंकि प्रस्तर कुशरूपी अचेतन है वह यजमान नहीं हो सकता तथापि यजमान शब्द का अक्षरार्थ वहां नहीं लिया जाता किन्तु यजमान के सदृशरूपी गौण अर्थात् अमुख्य ही अर्थ वहां यजमान शब्द का है और उसी के अनुसार उक्त

अथैतेषु वैदिकेष्वर्थेषु बाधपरिहाराय गुणवाद आश्रीयते । तथाच बेददुर्गसज्जने उपन्यस्तं व्याख्यातं च जैमिनिसूत्रम् 'गुणवादस्तु' इति । एतद्रीतिरपि तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गरूपा प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे भगवता जैमिनिनैव प्रपञ्चिता। तथाच गुणवृत्त्यैव वैदिकार्थवादानां प्रामाण्यम् इह तु कथं तदिति चेत् तद्वदेव गुणवृत्त्यैवेति सन्तुष्यताम् । एवं पदानां गौण्या वृत्या बाधपरिहारः कार्यः एवं च पदसमन्वयलभ्यो वाक्यार्थः सर्वोपाख्यानेषु प्रायो निर्बाध एव स एव च द्वारभूतो वाक्यार्थः । नच तस्य योग्यानुपलब्ध्या कथं न बाधः स्यात् नहि नृसिंहशरीरं, स्तम्भाद्वा तदुत्पत्तिरित्यादयोऽर्था औपाख्यानिका इदानीन्तनानां विश्वासपदवीमध्यासितुं समर्था इति वाच्यम् ।

"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिने" तिरीत्याऽतिक्रान्तवृत्तान्तानामिदानीन्तन-

॥ भाषा ॥

अर्थवाद का यह अर्थ होता है कि प्रस्तर, यजमान के सदृश है अर्थात् जैसे यज्ञ करने में यजमान प्रधान होता है वैसे ही प्रस्तर भी, और इसी अर्थ में उक्त अर्थवाद का तात्पर्य होता है। वैसे ही उक्त उपाख्यानों में जहाँ किसी वाक्यों का अक्षरार्थ लोकानुभव से विरुद्ध होता है वहाँ अक्षरार्थ को छोड़ कर गौण अर्थ की कल्पना से उक्त अनुभवविरोध का वारण किया जाता है । इस रीति से उक्त उपाख्यानों के किसी वाक्य का अर्थ ऐसा नहीं है कि जिस में लोकानुभव का विरोध हो और पौराणिक तथा ऐतिहासिक सब उपाख्यान, वैदिकउपाख्यानों के समान अपने अर्थ में ठीक २ प्रमाण हैं ।

(प्र०) पौराणिक आदि उपाख्यानों के अर्थ प्रायः लोक के अनुभव से बाधित होते हैं क्योंकि नरसिंह का शरीर और स्तम्भ से उन का प्रादुर्भाव इत्यादि उपाख्यानों पर लौकिकों का विश्वास कैसे हो सकता है ? ।

(उ०) अभाव के निश्चय का नाम बाध है और यह निश्चय, तब होता है कि जब किसी स्थान पर प्रत्यक्ष के योग्य किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष न हो । तथा प्रत्यक्ष के योग्य वही पदार्थ है कि जो वर्तमानसमय में नेत्रादि इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है और जिस के प्रत्यक्ष में कोई विघ्न नहीं है जैसे जिस समय उंजियाले में घड़ा रक्खा हुआ है और उस के साथ नेत्र का सम्बन्ध हुआ तो अन्धकारादि विघ्नों के न रहने से घड़ा प्रत्यक्ष के योग्य है और उंजियाले में यदि घड़ा प्रत्यक्ष नहीं होता तो नेत्रादि इन्द्रियों से घड़े के अभाव का निश्चय होता है कि 'यहां घड़ा नहीं है' क्योंकि यदि होता तो अवश्य प्रत्यक्ष होता और अन्धकार में तो घड़े के अभाव का निश्चय इस कारण नहीं होता कि उस समय अन्धकाररूपी विघ्न से घड़ा, प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है इसी से अन्धकार में घड़े के अभाव का निश्चय नहीं होता । और यह भी नियम है कि जिस इन्द्रिय से जो पदार्थ प्रत्यक्ष होता है उस पदार्थ के अभाव का निश्चय भी उसी इन्द्रिय से होता है इसी से शब्द के अभाव का निश्चय नेत्र से नहीं होता । अभाव के निश्चय की रीति यही है । और नरसिंहशरीर वा स्तम्भ से उन का प्रादुर्भाव आदि अर्थों को हुए अनेकों युग बीत गये इस कारण जब वे अर्थ वर्तमानसमय में हुई नहीं हैं तो वे इस समय प्रत्यक्षके योग्य नहीं हैं और ऐसी दशा में उन के प्रत्यक्ष न होने से उन के अभाव का निश्चय नहीं हो सकता कि "उस समय में भी वे न थे" ।

लौकिकप्रत्यक्षयोग्यताविरहेण योग्यानुपलब्धेरनवतारात् । न च पूर्वमपि नोपालम्भिषतेति वाच्यम् । तथासति तन्निबन्धनानुपपत्त्यापत्तेः । नच मिथ्यैव तन्निबन्धनमिति वाच्यम् । बाधकाभावात् । नचेदानीन्तनकार्यकारणभावमर्यादाविरोध एव बाधक इति वाच्यम् । एकर्तुकार्यकारणभावमर्यादाविरोधेनापरर्तुकार्यकारणभावस्यापि तथैव बाधप्रसङ्गात् । नचोभयोरपि कार्यकारणभावयोरनुभवसिद्धत्वान्नोक्तबाधप्रसङ्ग इति वाच्यम् । वैशेषिकस्य युगान्तरीयकार्यकारणभावस्यापि तदानीन्तनानुभवसिद्धतयैव तद्बाधायोगात् । नचैतद्युगीय-युगान्तरीयवैशेषिककार्यकारणभावयोर्नैकपुरुषानुभवसिद्धत्वमिति वाच्यम् । अनुभव

॥ भाषा ॥

(प्र०) यह क्यों नहीं कह सकते कि उस समय भी उन अर्थोंका प्रत्यक्ष नहीं हुआ-था अर्थात् वे अर्थ सर्वथा ही झूठे हैं।

(उ०) प्रश्नकर्ता को यह कहना पड़ेगा कि नरसिंहशरीरादि इस समय के लोगों को प्रत्यक्ष नहीं थे ? वा उस समय के लोगों को ? प्रथमपक्ष से कोई हानि नहीं है क्योंकि इस समय के लोगों को पृथ्वीराज प्रत्यक्ष नहीं थे क्योंकि उस समय इस समय के लोग ही नहीं थे, तो इतने से यह निश्चय नहीं हो सकता कि उस समय पृथ्वीराज न थे ऐसे ही इस समय के लोगों के प्रत्यक्ष न होने से यह निश्चय नहीं हो सकता कि उस समय भी नरसिंहादि पदार्थ न थे । द्वितीयपक्ष तो सर्वथा मिथ्या ही है क्योंकि यदि उस समय भी नरसिंहादि पदार्थ उस समय के लोगों को प्रत्यक्ष न होते तो पुराणों में उन की कथा ही न लिखी जाती क्योंकि जो विशेष-पदार्थ किसी समय में किसी को प्रत्यक्ष होता है उस पदार्थ को प्रत्यक्षकर्ता पुरुष अन्यान्य पुरुषों से कहता है अथवा उस पदार्थ के विषय में कोई ग्रन्थरचना कर देता है इसी रीति से उस पदार्थ के ज्ञान की परम्परा बहुत पीछे तक यथासम्भव चली आती है और ग्रन्थों में भी वे पदार्थ लिखे जाते हैं । इसी से यह कहा जाता है कि " मूल के बिना, प्रसिद्धि नहीं होती " तो ऐसी दशा में नरसिंहादि पदार्थ यदि सर्वथा झूठे ही अर्थात् उस समय में भी किसी को प्रत्यक्ष नहीं होते तो कैसे आज तक पुराणों में उन की कथा लिखी चली आती ?

प्र०—यह क्यों नहीं कह सकते कि पुराणों में उन की कथा झूठी ही लिखी हुई है ?

उ०—उन कथाओं के सत्य होने में जब कोई बाधक प्रमाण नहीं दिखलाया जाता तो झूठा कहने से वे पदार्थ झूठे नहीं हो सकते क्योंकि यदि ऐसे २ झूठे पदार्थ ऐसे ग्रन्थों में लिखे जायं तो बन्ध्या का पुत्र, खरहे का सींग, कछुही का दूध, अन्धों का प्रत्यक्ष, गूंगों का बोलना, इत्यादि झूठों की कथा क्यों पुराणों में नहीं लिखी गयीं ?

प्र०—लोक में कार्य और कारण की जो रीति प्रसिद्ध है उस के विरोध पड़ने से नरसिंहशरीरादि पदार्थ मिथ्या ही हैं क्योंकि लोक में कार्य कारण की रीति यह है कि सिंह से सिंह और मनुष्य से मनुष्य उत्पन्न होता है न कि स्तम्भ से ।

उ०—यदि ऐसा विरोध डाला जाय तो यह भी विरोध पड़ सकता है कि जब जाड़ों में अन्न उत्पन्न होने का नियम है तो गर्मियों में क्यों अन्न उत्पन्न होता हैं ? यदि इस का यह उत्तर दिया जाय कि अन्न उत्पन्न होने का एक ही नियम नहीं है किन्तु अनेक नियम हैं अर्थात् समय के शक्तियों की घटनाएं बहुत विचित्र हुआ करती हैं इसी से कोई अन्न किसी समय में उत्पन्न होता है न कि सब एक समय में अर्थात् एक २ वस्तु के कार्यकारणभाव निराले होते हैं,

सिद्धत्वमात्रस्यैव बाधाभावप्रयोजकतयैकपुरुषीयत्वस्याकिञ्चित्करत्वात् । नच युगान्तरेष्वपि न तादृशकार्यकारणभावानां प्रत्यक्षसिद्धत्वमासीदिति वाच्यम् । तथा सत्युपाख्यानेषु तन्निबन्धनानुपपत्तेः । नच तन्मिथ्यैवेति पुनरपि वाच्यम् । तादृशनिबन्धनस्य मिथ्यात्वे युगान्तरीयाणां कार्यकारणभावविशेषाणां तदानीन्तनप्रत्यक्षसिद्धत्वाभावसिद्धिः तस्यां च सत्यां तादृशनिबन्धस्य मिथ्यात्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । तथाच युगान्तरीय-तादृशकार्यकारणभावविशेषाणामुक्तरीत्या बाधाभावरूपं सत्यत्वमर्थादेव सिद्धम् । नचैवं पुराणाद्यनुक्तमपि किञ्चिदाश्चर्यभूतं युगान्तरीयत्वेन स्वग्रन्थे निबध्येदानीन्तनो जनः

॥ भाषा ॥

तब तो यह भी अवश्य कह सकते हैं कि उस समय की ऐसी ही शक्ति थी कि स्तम्भ से नरसिंह-शरीर उत्पन्न हुआ ।

प्र०—उस २ समयविशेष में उस २ अन्न उत्पन्न होने का नियम लोक में प्रत्यक्ष-सिद्ध है परन्तु स्तम्भ से नरसिंहशरीर उत्पन्न होने का नियम जब किसी समय में प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है तो कैसे वह सत्य कहा जा सकता है ?

(उ०) अभी कहा जा चुका है कि स्तम्भ से नरसिंहशरीर का उत्पन्न होना उस समय के लोगों के प्रत्यक्ष से सिद्ध है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो पुराणों में उन की कथा क्यों लिखी जाती ?

(प्र०) यह भी तो कहा जा चुका है कि वे कथाएं झूठी ही हैं तो इस पर क्यों न ध्यान दिया जाय ?

(उ०) इस पर ध्यान न देने का कारण अन्योन्याश्रय " जिस का सामान्य स्वरूप पूर्व हीं लिखा जा चुका है " रूपी अटल दोष ही है क्योंकि जब यह सिद्ध हो जाय कि उस काल में स्तम्भ से नरसिंहशरीर का उत्पन्न होना किसी को प्रत्यक्ष नहीं था तब ही यह सिद्ध हो सकता है कि " पुराणादि में लिखी हुई उस की कथा मिथ्या ही है " और जब उक्त कथा का झूठी होना सिद्ध हो जाय तब ही यह सिद्ध हो सकता है कि स्तम्भ से नरसिंहशरीर का उत्पन्न होना उस समय के लोगों को प्रत्यक्ष नहीं था । तात्पर्य यह है कि प्रश्नकर्ता को प्रथम अन्यान्य उक्तियों से यह सिद्ध करना चाहिए कि स्तम्भ से नरसिंहशरीर का उत्पन्न होना उस समय के लोगों को प्रत्यक्ष न था । पश्चात् यह कहना चाहिए कि पुराणलिखित उस की कथा मिथ्या है । परन्तु प्रश्नकर्ता, जो कि अभी आज का उत्पन्न है कदापि किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं कर सकता कि स्तम्भ से नरसिंहशरीर का उत्पन्न होना (जिस के पश्चात् अनेक युग व्यतीत हो चुके) उस समय के लोगों को प्रत्यक्ष नहीं था और विशेषतः ऐसी दशा में कि जब उस समय के लोगों के रचित पुराणों में उस की कथा आज तक उजागर है ।

(प्र०) यदि ऐसी २ कथा सत्य होने लगीं तब तो अच्छा हुआ क्योंकि अब जो पुरुष चाहेगा एक किसी आश्चर्यरूपी झूठे वृत्तान्त को कल्पना कर ग्रन्थरूप से लिख डालैगा और यह कह कर उस को प्रमाण कर देगा कि यह अमुक महर्षि का रचित है तथा इस में बहुत प्राचीन बातें लिखी हुई हैं और इस रीति से वह अपना बहुत सा अनुचित काम चला लेगा क्योंकि उस को कोई कैसे मिथ्या कह सकता है ?

प्रमाणीकुर्यादिति वाच्यम् । तत्र बिस्रम्भकारणाभावात् । नच पौराणिकेष्वपि तादृशोपाख्यानेषु किं बिस्रम्भकारणम् पौरुषेयत्वाबिशेषादिति वाच्यम्। पुराणप्रामाण्ये प्रमाणतया पूर्वमुपवर्णितानां बेदवाक्यानामेव तत्र कारणत्वात् मन्वादिस्मृत्युक्तयुगान्तरीयकालिकः शक्तिबिशेषाणां युगान्तरेषु योगाभ्यासभूम्ना तपोमहिम्ना चाणिमादिसिध्याबिर्भावप्रयुक्तः बिशेषसहस्राणां च सत्वेनोपाख्यानानामसम्भावनास्पर्शासम्भवाच्च । अथेदानीन्तनमनुजशक्त्यनुसारिव्यवहारमात्रदर्शिनः कथमेवम्बिधेषूपाख्यानेषु प्रामाण्यसम्भावनाऽपि स्यादिति चेत् । तर्हि चरितार्थोऽत्र "सोयम्पवनतनयबार्तामुपश्रुत्य स्पर्द्धमानो बालबानरः कियदपि महार्णवे समुत्प्लुत्य निपतितः प्राह अपारएवायमकूपारो मिथ्या रामायणमि" ति न्यायः।

॥ भाषा ॥

(उ०) ऐसे ग्रन्थों के सत्य होने में कोई कारण ही नहीं है कि जिस से उस पर परीक्षकों का विश्वास हो सके । और यदि अल्प दिनों के लिये किसी को उस पर विश्वास भी हो जाय तो ऐसे ग्रन्थ के वास्तविक कर्ता की लोभादिरूपी पोल, बिना प्रसिद्ध हुए न रहैगी। तथा जब पुराणादि के नाम और सङ्ख्या बिशेषरूप से शास्त्रों में कहे हुए हैं (जैसा कि पूर्व प्रकरण में लिखा जा चुका है) तब उक्त प्रकार के ग्रन्थ पर (जो कि परिगणितसङ्ख्या से बहिर्भूत है) कदापि किसी को विश्वास नहीं हो सकता ।

(प्र०) पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों पर भी विश्वास करनें का क्या कारण है ?

(उ० १) पुराण और इतिहास के बिषय में जो बहुत से बैदिकवाक्य और स्मृतिवाक्य भी प्रमाण दिखलाये गये हैं वे ही पुराणादि के उपाख्यानों पर बिश्वास करने के कारण हैं ।

(उ० २) तथा जब मनु आदि की स्मृतियों मे अन्ययुगों के पदार्थों की बिचित्र २ शक्तियां कही हुई हैं और अन्ययुगों में योगाभ्यास तथा तपस्या आदि की महिमा से अणिमा आदि अनेक सिद्धियों के सहस्रों बिशेष होते हैं, तब स्तम्भ से नरसिंहशरीर का उत्पन्न होना आदि अर्थों के उपाख्यानों पर बिश्वास न करने ही का कोई कारण नहीं है ।

(प्र०) इस समय के मनुष्यों और पदार्थों की शक्ति को देखने वाले को कैसे आश्चर्यरूपी उक्त उपाख्यानों पर बिश्वास हो सकता है ?

(उ०) एक सामान्य बानर ने रामायण में हनुमान् जी के समुद्र के उल्लङ्घन करने की कथा सुन कर यह निश्चय किया कि हनुमान् के नाई मैं भी बानर हूं, अब इस कथा की सत्यता की परीक्षा कर लूं, अर्थात् देखूं कि मैं कूद कर समुद्र के पार जा सकता हूं वा नहीं, और ऐसा बिचार कर वह बानर समुद्र के तट से कूद कर समुद्र के जल में दश हाथ पर गिरा तदनन्तर उस ने यह कहा कि समुद्र का कहीं पार नहीं है, रामायण सब मिथ्या ही है । तो क्या उस बानर के इस कहने से रामायण मिथ्या हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि इस समय के पुरुषों का यह समझना कि " अन्ययुगों में भी पदार्थों की ऐसे ही शक्ति थी जैसी की अब है " मिथ्या ही है ।

(प्र०) समयों की शक्ति के बिचित्र होने में तो कोई सन्देह नहीं हैं परन्तु पदार्थों की शक्तियाँ तो प्रत्येक युगों में एक सी ही होती हैं क्योंकि किसी युग में धान के बीज बोने से गेहूँ नहीं उत्पन्न हो सकता, ऐसे ही स्तम्भ से सिंह नहीं उत्पन्न हो सकता तो ऐसी दशा में पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यान क्यों नहीं मिथ्या हैं ?

किञ्च तण्डुलीयकं शाकं शाकान्तरसामान्यात्प्राप्तां स्वबीजकारणतामुल्लङ्घ्य तण्डुलकणाद्भवति तथैव वृश्चिको गोमयात् कदलीकाण्डानि दावदग्धबेत्रबीजादित्यादिरीत्येदानीन्तन्योऽपि-कार्यकारणभावमर्यादा यथौत्सर्गिक्यो वैशेषिकैः कार्यकारणभावैः स्वस्वविषये बाध्यन्ते तथैव युगान्तरेष्वप्यबाध्यन्ते तत्र को नाम विस्मयावकाशः ।

अपिच अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः ।
कामिन्यः केशशूलिन्यो भविष्यन्ति कलौ युगे ॥

॥ भाषा ॥

(७०१)-कार्य और कारण की सब रीतियों में सामान्य और विशेष होते हैं जैसे तण्डुलीयक शाक, "चौराई" शाक होने के कारण, अन्य शाकों के नाईं प्रायः चौराई के बीज से उत्पन्न हुआ करता है परन्तु विशेष यह है कि चावल जिस भूमि पर प्रतिदिन धोये जाते हैं उस भूमि पर बीज के बिना ही चावल के कणों से चौराई उत्पन्न होता है इसी से गावँ की बोली में इस को चौराई कहते हैं क्योंकि गावँ के लोग चावल को चाउर कहते हैं। तथा यह सामान्य है कि बिच्छू से बिच्छू उत्पन्न होता है परन्तु विशेष यह है कि गोबर से भी बिच्छू उत्पन्न होता है। तथा कदली के पौधे से कदलीवृक्ष, सामान्यतः उत्पन्न होते हैं परन्तु विशेष यह है कि बेंत के बन में दावानल "बनडाढ़ा" लगने से बेंत के बीज जो दग्ध हो जाते हैं उन से थोड़े ही काल के अनन्तर हरे २ कदलीवृक्ष उत्पन्न होते हैं। और गोह स्त्री "गोधिका" में गोह पुरुष से सामान्यतः गोह उत्पन्न हुआ करते हैं, किन्तु विशेष यह है कि गोह स्त्री में कालसर्प "गोहुअँन" पुरुष से गोह पैदा होते हैं जिन को संस्कृत में "गौधेर" और भाषा में विषखोपड़ा कहते हैं और कालसर्प से उत्पन्न होने हीं के कारण उन में विष अधिक होता है। तथा सामान्यतः घोड़े से घोड़ी में घोड़ा और गदहे से गदही में गदहा उत्पन्न होता है किन्तु विशेष यह है कि गदहे से घोड़ी में खच्चर उत्पन्न होता है और ऐसे ही वैद्यशास्त्र में कही हुई औषधियों के मेल से अनन्त प्रकार के विचित्र कार्य होते ही हैं। तथा जलजन्तु आदि सूक्ष्मकृमि पदार्थों की अनेक बिचित्र शक्तियों से ऐसे २ अनेक नवीन रोग समय २ पर उत्पन्न हुए देखे जाते हैं कि जिन के निदान और औषध का निश्चय ही दुर्घट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कार्य और कारण की सामान्य और विशेष रीतियों की सङ्ख्या नहीं हो सकती और न उन सब रीतियों को कोई जीव पूर्णरूप से कदापि जान सकता किन्तु उन सब रीतियों को यथार्थ जानने वाले एक परमेश्वर ही हैं तो ऐसी दशा में "प्रह्लाद" ऐसे महाभक्त के वैसी दृढभक्ति और बिश्वास तथा उस युग की शक्ति आदि सब कारणों से सहित स्तम्भ से यदि नरसिंह उत्पन्न हुये तो इस में आश्चर्य ही क्या है ? और क्या असम्भव है ? क्योंकि उक्त कारणों की वैसी घटना होने पर किस ने देखा है कि नरसिंह नहीं उत्पन्न हुए ? क्योंकि वैसे सब कारणों की घटना जब आज तक पुनः नहीं हुई तो उस समय के अनन्तर स्तम्भ से नरसिंह का उत्पन्न न होना उचित ही है।

(७०२)—"अट्टशूला" (कलियुग में वैश्य से अन्य प्रजा भी अन्नविक्रय कर जीवैंगी तथा ब्राह्मण भी वेदविक्रय से जीवैंगे और स्त्रियाँ भी भगविक्रय से जीवैंगी) इत्यादि पुराणों की भविष्यत् बाणियां भी जब इस समय की घटना के अनुसार सत्य हो रही हैं तब नरसिंह आदि के व्यतीत वृत्तान्तों के वर्णन करने वाली उक्त उपाख्यानरूपी पुराण और इतिहास की बाणियों

इत्यादीनां पुराणीयभविष्यद्वादानामपीदानीन्तनैर्यथा सत्यत्वमनुभूयते तथा पुराणीयभूतार्थोपाख्यानानामपि सत्यत्वमेवाङ्गीकरणीयम् ।

अन्यत्र अद्यापि कलिकातादिनगरगतेष्वाश्चर्यालयेषु साम्प्रतिककुञ्जरादिद्व्यद्व्यसान्याधुनिकानेककुञ्जरादिसमायामविस्ताराणि द्वापरान्तिकानि कुञ्जरादिकङ्कालपञ्जराणि बलीयसाऽप्याधुनिकपुरुषेण स्थानादपि चालयितुमशक्यानि धनूंषि तथा बहव एवम्विधा अपरेऽपि पदार्था युगान्तरीयातिशयविशेषसंवादका दृश्यन्त एवेति न नास्तिक्येनापि तादृशोपाख्यानाप्रामाण्यशङ्काया ईषदप्यवकाशः ।

॥ भाषा ॥

के सत्य होने में क्या सन्देह हो सकता है ? क्योंकि जो समाचार हुए ही नहीं हैं किन्तु होने वाले हैं उन को भी जिस ने सत्य २ कह दिया उस के लिये यह बहुत ही सहज है कि हुए २ समाचारों को सत्य २ कह दे ।

(उ० ६)—वर्तमानसमय में भी कलकत्ताआदि प्रधाननगरों के आश्चर्यालय "म्यूज़ियम् वा अजायबघर" में हाथी की हड्डियों की समूची ठटरी रक्खी हैं जो कि इस समय के हाथियों से दो गुनी ऊँची और चौगुनी लम्बी है तथा ऐसे २ सींग आदि के बने हुए धनु और खड्ग आदि रक्खे हुए हैं कि जिन को इस समय के बलवान् मनुष्य उठा तक नहीं सकते और उन से काम लेना तो इस समय बहुत ही दूर है और ऐसे २ बहुत से पदार्थ इन आश्चर्यालयों में आज भी स्थित हैं जो इस समय के मनुष्यों के उपयोग में आने योग्य नहीं हैं जिस से यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि पूर्वकाल के पदार्थों तथा पुरुषों के सामर्थ्य किस प्रकार के होते थे तो ऐसी दशा में कोई नास्तिक भी ऐसा नहीं कह सकता कि पूर्वकाल के वस्तुओं का स्वभाव और पुरुषों का सामर्थ्य इस समय की अपेक्षा अनेक गुण अधिक नहीं था । और ये उक्त पदार्थ भी कुछ बहुत अधिक समय के नहीं हैं, किन्तु चार ही पाँच सहस्र वर्षों के भीतर के हैं इस से यह भी अनुमान ठीक २ होता है कि उस से भी पूर्वसमय के वस्तुओं का स्वभाव और पुरुषों का सामर्थ्य, उस समय की अपेक्षा भी कहीं अधिक था । इस रीति से ज्यों २ पूर्व २ समयों पर दृष्टि दी जाती है त्यों २ वस्तुओं का स्वभाव और पुरुषों का सामर्थ्य अधिक से अधिक सिद्ध होता चलता है । और यह ध्यान तो सर्वथा उलटा ही है कि पूर्वकाल के वस्तुओं और पुरुषों की अपेक्षा इस काल के वस्तुओं का स्वभाव और पुरुषों का सामर्थ्य, अधिक होता है तात्पर्य यह है कि थोड़े २ वर्षों के लिये यह अनुमान नहीं है किन्तु युगों के लिये है तो ऐसी दशा में पूर्वयुगों के वस्तुस्वभाव और पुरुषसामर्थ्य के अनुसारी पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों के सत्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता । उन्नति को अनन्त कहने वाले प्रथम २ अपने २ शरीरों ही पर ध्यान दें पश्चात् दिन में सूर्य के प्रकाश पर, तदनन्तर जङ्गली वृक्षों पर, तब वृक्षों के फलों पर, और उत्पन्न पदार्थ को किसी ने नित्य होते नहीं देखा है । तथा उन्नति और अवनति, पुनः उन्नति और पुनः अवनति के उदाहरण लोक में बहुत से हैं इसी से श्रीवेदव्यास का वाक्य है कि "पतनान्ताः समुच्छ्रयाः" अर्थात् उन्नति का अन्त अवनति है । मेरे समझ में तो यह आता है कि भाविनी अवनति के ध्यान से लोगों के उन्नति के उत्साह में शिथिलता के वारणार्थ ही उक्त महाशय, उन्नति को अनन्त कहते हैं जैसा कि योरप के महाशयों का प्रायः निश्चय है कि "उन्नति की परम्परा अनन्त ही होती है" ।

किञ्च आधुनिकान्यपि तडित्तन्त्रीधूमध्वजस्यन्दनादीनि दैववशाद्यदि तिरोहितानि भवेयुर्द्रष्टारश्च तेषां क्लृप्तक्रमेण कालिकीं गतिमनुगच्छेयुः सहस्रपरिवत्सरान्ते च तेषां पुस्तकान्येव परिशिष्येरन् क्रमेण च कलिकालप्रतापोद्रेकवशात् "स्वल्पायुषः स्वल्पसत्वा" इत्युक्तपारमर्षन्यायेन शक्तिबुद्ध्यादिह्रासप्रणाल्योऽस्मादपि कालादतितमां विजृम्भेरन् तदा तदातना जना आधुनिकतडित्तन्त्र्याद्युपाख्यानेषु पुस्तकस्थेषु स्वबुद्धिशक्त्यादिनिदर्शनानुसारेणाप्रामाण्यमेव मन्वीरँस्तर्हि किमेतेषां बाध एव तदनुसाराद्ध्यवसेयो बुद्धिमता ? आहोस्वित् तेषां बाधबुद्धेरेवाप्रामाण्यमध्यवसेयमिति पक्षपातमुत्सार्य विचार्यताम् । तथैवाधुनिकैरपि युगान्तरीयातिक्रान्तविषयकोपाख्यानेष्वप्रामाण्यवर्णनमेवात्यन्तमप्रामाणिकमित्येव मन्तव्यम् । अपिच जम्बूद्वीपदक्षिणक्षारोदसमुद्रे चत्वारिंशत्क्रोशविस्तृतः क्रोशचतुःशतसमायतः सेतुर्भगवता श्रीरामेण निर्मापितः । तत्र च भगवतः श्रीचन्द्रमौलेर्लिङ्गं रामेश्वराख्यं तेनैव स्थापितमिति रामायणे पुराणादौ च सुप्रसिद्धम् । वृत्तान्तश्चायमस्मिन् वैवस्वतमन्वन्तरे चतुर्विंशस्य त्रेतायुगस्य तत्रैव श्रीरामावतारस्य प्रतीतेः ।

तथाच हरिवंशे—

चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरःसरः ।
जज्ञे दशरथस्याथ पुत्रः पद्मायतेक्षणः ॥ (खं० १ अ० ४१ श्लो० १२१) इति

कलियुगंचेदमष्टाविंशमित्यधुनाऽपि सङ्कल्पवाक्यैरभिलप्यते इति चतुर्विंशात्त्रेतायुगादिदानींयावदुपोनाविंशानि युगानि तद्वर्षसङ्कलनया च पादोनकोटित्रयमितानि वर्षाणि भवन्ति । एतावन्ति च वर्षाणि पूर्वोक्तसेतुश्रीभगवल्लिङ्गयोरेकाकारा सकललोकव्यापिनी श्रीरामोपज्ञ-

॥ भाषा ॥

(उ०४)—परमेश्वर ऐसा न करै, किन्तु तार रेलगाड़ी आदि इस समय के अनूठे पदार्थ काल की दुर्घटना से किसी समय में यदि पूर्णरूप से मिट जायँ (जैसा कि सदा से होता आया है) और इन पदार्थों के देखने वाले सब मनुष्य भी काल के प्रताप से लीन हो जायँ तथा ऐसा ही दो चार सौ वर्ष तक रह जाय अर्थात् ये उक्त पदार्थ पुस्तकों ही में रह जायँ तब उस के अनन्तर उत्पन्न हुए मनुष्यों का सामर्थ्य और बँच बँचाए वस्तुओं के अतिन्यून स्वभाव को देख कर उस के अनुसार उस समय के लोग उक्त पुस्तकों को झूठा बतलावैं तो क्या उस से इस काल के ये अनूठे पदार्थ मिथ्या हो सकते हैं ? कदापि नहीं । ऐसे ही इस काल के मनुष्यों के असम्भव २ कथन से, पूर्वयुग के अनूठे २ वृत्तान्तों के पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यान भी कदापि मिथ्या नहीं हो सकते ।

(उ०५)—रामायण, पुराणों और इतिहासों में यह प्रसिद्ध है कि जम्बूद्वीप के दक्षिणसमुद्र में भगवान् श्री राम ने, ४००कोस लम्बा और ४० कोस चौड़ा सेतु बंधवाया और उस पर भगवान् श्री शिव जी का रामेश्वर नामक लिङ्ग का स्थापन किया जिस को पौने तीन कोटि वर्षों के लगभग हुआ क्योंकि इस अट्ठाईसवीं त्रेता में रामावतार नहीं हुआ किन्तु चौबीसवीं त्रेता में, जैसा कि "चतुर्विंशे युगे चापि०" (हरिवं० खं० १ अ० ४१ श्लो० १२१) में कहा है और यह कलियुग इस मन्वन्तर (वैवस्वत) में अट्ठाईसवां है जैसा कि सङ्कल्पवाक्यों में कहा जाता है इस के अनुसार रामावतार हुए उन्नीस युगों के लगभग हुआ । और उक्त प्रसिद्धि, सेतु की

मुक्तवृत्तान्तस्य प्रसिद्धिधारा निर्बाधमनुधावन्ती यावन्महाकल्पं धाविता तस्य च सेतोर्भागस्तच्च श्रीभगवल्लिङ्गमद्यापि जागृत एव। अद्यापि च भारतरणभूमौ हस्तमात्रीं भूमिं राजकर्मचारिभ्यो रूपकशतकादिकं साम्वत्सरिकं मूल्यं राजग्राह्यं दत्वा खनन्तो हिरण्मयानि त्सरुप्रभृतीनि महागुरूणि महामूल्यानि चायुधाङ्गानि भूषणगणप्रत्युप्तानि वज्रादीनि च भारतयुद्धवीरैरपविद्धानि साम्प्रतिकैरतिदुर्वहाणि परमदुर्लभानि च लभमाना उपलभ्यन्ते। नास्तिकास्तु भारतयुद्धमेव नाभूत् बादरायणेन तु भारतमाख्यायिकाकल्पं स्वकपोलकल्पनयैव जल्पितम् इत्यादिकं लोकप्रत्यक्षबाधितं जल्पन्तः परीक्षकैरुपेक्ष्या एव। एवं च पौराणिकस्य चरित्रभागस्य प्रामाण्यं न शक्यमपह्नोतुम्। नयने निमील्य नास्तिक्यादेव वेदप्रामाण्यमाक्षिप्य-तद्बोधितपुराणप्रामाण्याक्षेपे तु वेददुर्गसज्जनप्रकरणे पूर्वमुक्ता वेदप्रामाण्योपपादिका युक्तीराह्वास्यामः। एवमेव पुराणमूलभूतस्य ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमाक्षिप्य पुराणप्रामाण्याक्षेपे-ऽपि क्षुद्रोपद्रवविद्रावणे पूर्वमुपदर्शिता ब्राह्मणभागस्य वेदत्वोपपादिका युक्तीराकारयिष्यामः।

॥ भाषा ॥

रचनासमय से आज तक सब लोगों में अविच्छिन्न चली आती है तथा आगामी समय में भी चलती रहैगी। और उस सेतु का भाग तथा वह शिवलिङ्ग भी आज तक हैं और रहैंगे। आज कल्ह भी भारतरणभूमि अर्थात् कुरुक्षेत्र में हस्तमात्रभूमि के लिये राजकर्मचारियों को सौ रुपये आदि उपयुक्तवार्षिक राजकर दे कर व्यापारीलोग भूमि को खन कर सुवर्णमय खड्गमुष्टि आदि भारी व बहुमूल्य आयुधों के टुकड़ों को और सुवर्णकुण्डल आदि में बिधे हुए हीरे तथा मानिक आदि रत्नों को भी (जो कि आज कल्ह के मनुष्यों के लिये भारी होने के कारण ढोने के अयोग्य और अतिदुर्लभ हैं) पाते हुए देख पड़ते हैं। नास्तिकलोग जो यह कहते हैं कि भारतयुद्ध कभी हुआ ही नहीं, व्यासदेव का यह महाभारत तो उन की कपोलकल्पना की लीला अथवा कहानी ही है सो लोक और प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण सुविचारकसज्जनों से किसी तरह आदर पाने के योग्य नहीं है। इस से भी रामायण, पुराणों और इतिहासों के चरित्रभागों की प्रमाणता सिद्ध है।

प्र०—यदि कोई नास्तिक यह कहै कि "जब वेद नहीं प्रमाण है तो उस के प्रमाण कहे हुए इतिहास और पुराण भी नहीं प्रमाण हैं" तब क्या किया जायगा ?

उ०—यही किया जायगा कि पूर्व हीं वेददुर्गसज्जन में कही हुई सैकड़ों दुर्भेद्य युक्तियों में से दो ही चार युक्तियों को सुना कर उस नास्तिक के मुख को विमुद्रित कर दिया जायगा और यदि उस के पूर्वपुण्य सहाय हुए तो उस की नास्तिकता को नाश कर उस को आस्तिक कर दिया जायगा।

प्र०—यदि कोई स्वामी का अनुयायी ऐसा कहै कि "जब ब्राह्मणभाग वेद ही नहीं है तो ब्राह्मणभाग के पूर्वोक्त वाक्यों के बल से इतिहास और पुराण कैसे प्रमाण हो सकते हैं" तब क्या किया जायगा ?

उ०—यही किया जायगा कि पूर्व हीं "क्षुद्रोपद्रवविद्रावण" में जो, सहस्र प्रमाण ब्राह्मणभाग की वेदता में दिये गए हैं उन में से दो ही चार प्रमाणों को सुना कर स्वामी के अनर्गल मुख में अर्गला 'गजबरन' समर्पण कर दिया जायगा जिस से पुनः ऐसे २ दुष्टवाक्य उस के मुखद्वार से निकल न सकैंगे।

अपि च वेदगतानां लुङादीनां क्षुद्रोपद्रवविद्रावणे पूर्वमुक्तेन प्रकारेण भूतकालार्थत्वाभावेऽप्यनादौ विश्वसृष्टिप्रलयप्रवाहे वैदिकोपाख्यानविषयाणां वृत्तान्तानां प्रायः कदाकदाचिदनादिकालप्राबल्यवशादाविर्भूतानां त्रिकालदर्शिना भगवता द्वैपायनेन पौराणिकोपाख्यानेषु निबन्धनं कृतम्। वैदिकार्थवादाभ्यासप्रयुक्तस्त्वयानेव विशेषो यत्कचिद्भूतार्थभागप्रबन्धे वैदिकार्थवादस्थस्य कस्य कस्यचिदभूतस्याप्यर्थांशस्याख्यायिकान्यायेन निबन्धनं तेन कृतम् नच तावन्मात्रेणाप्रामाण्यम्पौराणिकोपाख्यानानामित्यनुपदमेव वक्ष्यते।

अन्यत्र पृथ्वीराजस्य शब्दवेधिशरप्रयोगोपाख्यानं क्षुद्रजनप्रणीतं प्रामाणिकमर्जुनादिब्रह्मास्त्रादिप्रयोगोपाख्यानन्तु भगवता कृष्णद्वैपायनेन प्रणीतमप्रमाणिकमिति को नाम चेतनो वक्तुमर्हति ऋते वेदपुराणद्वेषदूषितेभ्यः प्रज्ञाचक्षुर्भ्यः कोहीदानीन्तनः पृथ्वीराजस्य तादृशशरप्रयोगं साक्षादकृत यस्तदुपाख्यानस्य प्रामाण्यमनुमन्यते। को वा, धनुर्वेद इदानीं लुप्त इति तदानीमपि नासीदिति वदन् विश्वसनीयवचनो भवितुमर्हति। एवं च धनुर्वेदाभ्यासप्रयुक्तानां युगान्तरीयाणां पौराणिकोपाख्याननिवेशितानां कार्यकारणभावविशेषाणामप्रामाणिकत्वमाचक्षणः को नाम नोन्मत्तवदुपेक्षणीयः स्यात् तस्माद् द्वारभूतः पौराणिकानामुपाख्यानानां वाक्यार्थो न बाधेन स्प्रष्टुमपि शक्यते। पौराणिकविधिनिषेधान्यतरवाक्यैकवाक्यतां पौराणिकेष्वर्थवादेषु घटयन् श्रवणाधिलभ्यः स्तुतिनिन्दान्यतररूपो

॥ भाषा ॥

विश्व की सृष्टि और प्रलय का प्रवाह जब अनादि है तब वैदिकउपाख्यानों में कहे हुए कल्पित-समाचार भी कभीं न कभीं होते ही हैं और त्रिकालदर्शी व्यासों ने यदि उन्हीं वैदिकउपाख्यानों को अपने पुराण और इतिहास में बांध दिया तो वैदिकउपाख्यानों से पौराणिकउपाख्यानों की एकता स्पष्ट ही है। विशेष इतना हीं हो सकता है कि किसी उपाख्यान में वैदिकउपाख्यान का कोई ऐसा अर्थांश भी लिखा जाता है जो कि उस व्यास के समय तक नहीं हुआ रहता किन्तु उस से पश्चात् कभीं होता है। इस लिये उस अर्थ के विषय में लौकिक और वैदिक कल्पितआख्यायिकाओं की नाईं वह उपाख्यान आख्यायिकारूप होता है परन्तु इतने मात्र से उस उपाख्यान के प्रामाण्य में कोई विघ्न नहीं हो सकता जैसा कि अभीं आगे चल कर कहा जायगा।

(उ० ६) जब कि पृथ्वीराजादि के शब्दवेधी बाण के प्रयोगादि का उपाख्यान (जो कि सामान्य मनुष्यों के रचित हैं) इस समय प्रमाण माने जाते हैं, तो भगवान् कृष्णद्वैपायनव्यास के रचित अर्जुनादि के ब्रह्मास्त्रप्रयोगादि के उपाख्यानों को शास्त्रविद्वेष के बिना इस समय का कौन मनुष्य अप्रामाणिक कह सकता है? और कौन यह कह सकता है कि जैसे धनुर्वेद का प्रचार इस समय नहीं है ऐसे ही पूर्व में भी कभीं नहीं था?

इतने विचार से अब यह सिद्ध हो गया कि पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों के अक्षरार्थ के अनुसारी जितने समाचाररूपी वाक्यार्थ हैं उन में से एक भी मिथ्या नहीं है और इन्हीं वाक्यार्थों को 'द्वारी अर्थ कहते हैं। और जैसे कि वैदिक अर्थवादों के द्वार अर्थ, पूर्व में कहे जा चुके हैं वैसे ही पौराणिकादिउपाख्यानों के भी उक्त वाक्यार्थरूपी द्वार अर्थ होते हैं।

(उ० ७) अब पौराणिकादिउपाख्यानों के 'द्वारी' अर्थ का वर्णन किया जाता है कि जैसे "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस उक्त वैदिकविधिवाक्य के बल से अन्यान्य विधिवाक्य और

मुक्तवृत्तान्तस्य प्रसिद्धिधारा निर्बाधमनुधावन्ती यावन्महाकल्पं धाविता तस्य च सेतोर्भागस्तच्च श्रीभगवल्लिङ्गमद्यापि जागृत एव। अद्यापि च भारतरणभूमौ हस्तमात्रीं भूमिं राजकर्मचारिभ्यो रूपकशतकादिकं साम्वत्सरिकं मूल्यं राजग्राह्यं दत्वा खनन्तो हिरण्मयानि त्सरुप्रभृतीनि महागुरूणि महामूल्यानि चायुधाङ्गानि भूषणगणप्रत्युप्तानि वज्रादीनि च भारतयुद्धवीरैरपविद्धानि साम्प्रतिकैरतिदुर्वहाणि परमदुर्लभानि च लभमाना उपलभ्यन्ते। नास्तिकास्तु भारतयुद्धमेव नाभूत् बादरायणेन तु भारतमाख्यायिकाकल्पं स्वकपोलकल्पनयैव जल्पितम् इत्यादिकं लोकप्रत्यक्षबाधितं जल्पन्तः परीक्षकैरुपेक्ष्या एव। एवं च पौराणिकस्य चरित्रभागस्य प्रामाण्यं न शक्यमपह्नोतुम्। नयने निमील्य नास्तिक्यादेव वेदप्रामाण्यमाक्षिप्य-तद्बोधितपुराणप्रामाण्याक्षेपे तु वेददुर्गसज्जनप्रकरणे पूर्वमुक्ता वेदप्रामाण्योपपादिका युक्तीराहास्यामः। एवमेव पुराणमूलभूतस्य ब्राह्मणभागस्य वेदत्वमाक्षिप्य पुराणप्रामाण्याक्षेपे-ऽपि क्षुद्रोपद्रवविद्रावणे पूर्वमुपदर्शिता ब्राह्मणभागस्य वेदत्वोपपादिका युक्तीराकारयिष्यामः।

॥ भाषा ॥

रचनासमय से आज तक सब लोगों में अविच्छिन्न चली आती है तथा आगामी समय में भी चलती रहेगी। और उस सेतु का भाग तथा वह शिवलिङ्ग भी आज तक हैं और रहेंगे। आज कल्ह भी भारतरणभूमि अर्थात् कुरुक्षेत्र में हस्तमात्रभूमि के लिये राजकर्मचारियों को सौ रुपये आदि उपयुक्तवार्षिक राजकर दे कर व्यापारीलोग भूमि को खन कर सुवर्णमय खड्गमुष्टि आदि भारी व बहुमूल्य आयुधों के टुकड़ों को और सुवर्णकुण्डल आदि में बिंधे हुए हीरे तथा मानिक आदि रत्नों को भी (जो कि आज कल्ह के मनुष्यों के लिये भारी होने के कारण ढोने के अयोग्य और अतिदुर्लभ हैं) पाते हुए देख पड़ते हैं। नास्तिकलोग जो यह कहते हैं कि भारतयुद्ध कभी हुआ ही नहीं, व्यासदेव का यह महाभारत तो उन की कपोलकल्पना की लीला अथवा कहानी ही है सो लोक और प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण सुविचारकसज्जनों से किसी तरह आदर पाने के योग्य नहीं है। इस से भी रामायण, पुराणों और इतिहासों के चरित्रभागों की प्रमाणता सिद्ध है।

प्र०—यदि कोई नास्तिक यह कहे कि "जब वेद नहीं प्रमाण है तो उस के प्रमाण कहे हुए इतिहास और पुराण भी नहीं प्रमाण हैं" तब क्या किया जायगा?

उ०—यही किया जायगा कि पूर्व हीं वेददुर्गसज्जन में कही हुई सैकड़ों दुर्भेद्य युक्तियों में से दो ही चार युक्तियों को सुना कर उस नास्तिक के मुख को विमुद्रित कर दिया जायगा और यदि उस के पूर्वपुण्य सहाय हुए तो उस की नास्तिकता को नाश कर उस को आस्तिक कर दिया जायगा।

प्र०—यदि कोई स्वामी का अनुयायी ऐसा कहे कि "जब ब्राह्मणभाग वेद ही नहीं है तो ब्राह्मणभाग के पूर्वोक्त वाक्यों के बल से इतिहास और पुराण कैसे प्रमाण हो सकते हैं" तब क्या किया जायगा?

उ०—यही किया जायगा कि पूर्व हीं "क्षुद्रोपद्रवविद्रावण" में जो, सहस्र प्रमाण ब्राह्मणभाग की वेदता में दिये गए हैं उन में से दो ही चार प्रमाणों को सुना कर स्वामी के अनर्गल मुख में अर्गला 'गजबरन' समर्पण कर दिया जायगा जिस से पुनः ऐसे २ दुष्टवाक्य उस के मुखद्वार से निकल न सकेंगे।

अपि च वेदगतानां लुङादीनां क्षुद्रोपद्रवविद्रावणे पूर्वमुक्तेन प्रकारेण भूतकालार्थत्वाभावेऽप्यनादौ विश्वसृष्टिप्रलयप्रवाहे वैदिकोपाख्यानविषयाणां वृत्तान्तानां प्रायः कदाकदाचिदनादिकालप्राबल्यवशादाविर्भूतानां त्रिकालदर्शिना भगवता द्वैपायनेन पौराणिकोपाख्यानेषु निबन्धनं कृतम्। वैदिकार्थवादाभ्यासप्रयुक्तस्त्वियानेव विशेषो यत्किञ्चिद्भूतार्थभागप्रबन्धे वैदिकार्थवादस्थस्य कस्य कस्यचिदभूतस्याप्यर्थांशस्याख्यायिकान्यायेन निबन्धनं तेन कृतम् नच तावन्मात्रेणाप्रामाण्यम्पौराणिकोपाख्यानानामित्यनुपदमेव वक्ष्यते।

अन्यत्र पृथ्वीराजस्य शब्दवेधिशरप्रयोगोपाख्यानं क्षुद्रजनप्रणीतं प्रामाणिकमर्जुनादिब्रह्मास्त्रादिप्रयोगोपाख्यानन्तु भगवता कृष्णद्वैपायनेन प्रणीतमप्रमाणिकमिति को नाम चेतनो वक्तुमर्हति ऋते वेदपुराणद्वेषदूषितेभ्यः प्रज्ञाचक्षुर्भ्यः कोहीदानीन्तनः पृथ्वीराजस्य तादृशशरप्रयोगं साक्षादकृत यस्तदुपाख्यानस्य प्रामाण्यमनुमन्यते। को वा, धनुर्वेद इदानीं लुप्त इति तदानीमपि नासीदिति वदन् विश्वसनीयवचनो भवितुमर्हति। एवं च धनुर्वेदाभ्यासप्रयुक्तानां युगान्तरीयाणां पौराणिकोपाख्याननिवेशितानां कार्यकारणभावविशेषाणामप्रामाणिकत्वमाचक्षणः को नाम नोन्मत्तवदुपेक्षणीयः स्यात् तस्माद् द्वारभूतः पौराणिकानामुपाख्यानानां वाक्यार्थो न बाधेन स्प्रष्टुमपि शक्यते। पौराणिकविधिनिषेधान्यतरवाक्यैकवाक्यतां पौराणिकेष्वर्थवादेषु घटयन् श्रवणशिथिलभ्यः स्तुतिनिन्दान्यतररूपो

॥ भाषा ॥

विश्व की सृष्टि और प्रलय का प्रवाह जब अनादि है तब वैदिकउपाख्यानों में कहे हुए कल्पित-समाचार भी कभीं न कभीं होते ही हैं और त्रिकालदर्शी व्यासों ने यदि उन्हीं वैदिकउपाख्यानों को अपने पुराण और इतिहास में बांध दिया तो वैदिकउपाख्यानों से पौराणिकउपाख्यानों की एकता स्पष्ट ही है। विशेष इतना हीं हो सकता है कि किसी उपाख्यान में वैदिकउपाख्यान का कोई ऐसा अर्थांश भी लिखा जाता है जो कि उस व्यास के समय तक नहीं हुआ रहता किन्तु उस से पश्चात् कभीं होता है। इस लिये उस अर्थ के विषय में लौकिक और वैदिक कल्पितआख्यायिकाओं की नाईं वह उपाख्यान आख्यायिकारूप होता है परन्तु इतने मात्र से उस उपाख्यान के प्रामाण्य में कोई विघ्न नहीं हो सकता जैसा कि अभीं आगे चल कर कहा जायगा।

(उ० ६) जब कि पृथ्वीराजादि के शब्दवेधी बाण के प्रयोगादि का उपाख्यान (जो कि सामान्य मनुष्यों के रचित हैं) इस समय प्रमाण माने जाते हैं, तो भगवान् कृष्णद्वैपायनव्यास के रचित अर्जुनादि के ब्रह्मास्त्रप्रयोगादि के उपाख्यानों को शास्त्रविद्वेष के बिना इस समय का कौन मनुष्य अप्रामाणिक कह सकता है? और कौन यह कह सकता है कि जैसे धनुर्वेद का प्रचार इस समय नहीं है ऐसे ही पूर्व में भी कभीं नहीं था?

इतने विचार से अब यह सिद्ध हो गया कि पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों के अक्षरार्थ के अनुसारी जितने समाचाररूपी वाक्यार्थ हैं उन में से एक भी मिथ्या नहीं है और इन्हीं वाक्यार्थों को 'द्वारी अर्थ कहते हैं। और जैसे कि वैदिक अर्थवादों के द्वार अर्थ, पूर्व में कहे जा चुके हैं वैसे ही पौराणिकादिउपाख्यानों के भी उक्त वाक्यार्थरूपी द्वार अर्थ होते हैं।

(उ० ७) अब पौराणिकादिउपाख्यानों के 'द्वारी' अर्थ का वर्णन किया जाता है कि जैसे "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस उक्त वैदिकविधिवाक्य के बल से अन्यान्य विधिवाक्य और

लक्ष्यो वाक्यार्थस्तु, देवासुरसङ्ग्रामोपाख्यानस्य स्वर्गेऽपि दुःखाक्रान्तत्वाद्धेय इति निन्दायां वैराग्योपयोगिन्याम्, क्षीराधिमन्थनोपाख्यानस्य, हरिचरणपराङ्मुखानां करकलितोऽप्यर्थो नश्यति। यथा दैत्यानाममृतमिति निन्दायां भगवदुपासनोपयोगिन्याम्, भरतैणपोषणोपाख्यानस्य 'कृपयाऽपि कृतः सङ्गः पतनायैव योगिनः, इति प्रदर्शयन्नाह भरतस्यैणपोषणम्'। इत्युक्तरीत्या सङ्गनिन्दायां तादृश्याम् रासे रमाद्युपाख्यानस्य, 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' इत्युक्तरीत्या धैर्यकाष्ठाप्रशंसायाम्, अजामिलोपाख्यानस्य च, हरिनामोच्चारणमाहात्म्यस्तुतावुपासनोपयोगिन्याम्, नरसिंहस्तम्भनिर्गमोपाख्यानस्य

॥ भाषा ॥

निषेधवाक्य के साथ वैदिकअर्थवादों की एकवाक्यता के लिये उन अर्थवादों का वेदविहित और वेद-निषिद्ध कर्मों की स्तुति और निन्दा में लक्षणावृत्ति के अनुसार मुख्यतात्पर्य्य स्वीकार किया जाता है जैसा कि अर्थवाद के प्रकरण में पूर्व ही कहा जा चुका है और उसी स्तुतिनिन्दारूपी लक्ष्यार्थ को द्वारी अर्थात् मुख्य अर्थ कहते हैं। वैसे ही "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इत्यादि पूर्वोक्त ऐतिहासिक और पौराणिक विधिवाक्यों के बल से पौराणिक और ऐतिहासिक अर्थवादरूपी उपाख्यानों की अन्यान्य पौराणिकादि विधिवाक्यों और निषेधवाक्यों के साथ एकवाक्यता (मेल) के लिये इन उपाख्यानों का भी पुराणादिविहित और पुराणादिनिषिद्ध कर्मों की स्तुति और निन्दा में लक्षणा-वृत्ति के द्वारा मुख्यतात्पर्य स्वीकार किया जाता है और यही स्तुतिनिन्दारूपी लक्ष्यार्थ, पुराणादि के उपाख्यानों का मुख्यार्थ अर्थात् द्वारी अर्थ कहलाता है। और पौराणिकादिउपाख्यानों का मुख्यार्थ अर्थात् द्वारी अर्थ के निकालने की रीति भी यही है कि—

देवता और दैत्य के युद्धों के उपाख्यान का इस निन्दा में तात्पर्य है कि जब स्वर्ग भी अनेक उपद्रवों से किसी किसी समय में आकुल व्याकुल हो जाता है तब दूसरे लोकों की गणना ही क्या है इस लिये लौकिक सभी सुख त्यागने के योग्य हैं। और इस निन्दा का उपयोग, विषय-वैराग्य में है।

समुद्रमन्थन के उपाख्यान का इस निन्दा में तात्पर्य है कि परमेश्वर से विमुखों के हाथ में आये हुये पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं जैसे दैत्यों का अमृत, अर्थात् देवताओं की अपेक्षा दैत्यलोग समुद्रमथन में यद्यपि अधिक परिश्रम किये थे इस से अमृत में उनका भाग अधिक होना चाहता था तथा दैत्यलोग अपनी प्रबलता से अमृत को देवताओं के हाथ से छीन भी लिये थे तथापि वे भगवद्विमुख थे इस लिये मोहनीमूर्त्ति ने दैत्यों के हाथ से अमृत निकाल, देवताओं को दे दिया। इस निन्दा का भगवद्भक्ति में उपयोग है।

भरत ऋषि के, हरिणबालक के पालन के उपाख्यान का इस निन्दा में तात्पर्य है कि योगी हो कर भी जो कोई दया से भी किसी का संग करता है वह योगभ्रष्ट हो कर अनेक दुःख पाता है जैसे भरत ने दया के कारण हरिणपालन से दुःख पाया-इस से योगी के लिये संग, बहुत ही अनर्थकारी है। इस निन्दा का वैराग्य में उपयोग है।

कृष्णभगवान् के रास के उपाख्यानों का इस प्रशंसा में तात्पर्य है कि बिगाड़ की सामग्री रहते भी जो मन की धीरता नहीं बिगड़ती उसी धीरता को धीरता कहते हैं। और बिगाड़ की सामग्री न रहने पर तो सभी धीर ही हैं और कहावत भी है कि "स्त्री के बिना ब्रह्मचारी" इस निन्दा का वैराग्य ही में उपयोग है—

सर्वशक्तिमत्तया भगवतस्तद्भक्तेश्च स्तुतावुक्तोपयोगिन्याम्, रामादिचरितोपाख्यानस्य च सर्वस्यैव, ऐहिकामुष्मिकसकलपुरुषार्थौपयिक्यां शिक्षायां तात्पर्यमित्यादिरीत्या सर्वत्रैवोन्नेयः। अयमेव द्वारी वाक्यार्थ इत्युच्यते मुख्यश्चासौ मुख्यतात्पर्यविषयत्वादेव । एवंविधेभ्यश्च द्वारिभ्यो मुख्यवाक्यार्थेभ्यः पौराणिकेभ्यः, श्रौतेभ्यस्तेभ्य इव दूरत एवापसरति बाधशङ्काबराकी, एवं चोक्तरीत्या द्वयोरपि द्वारद्वारिणोरर्थयोरबाधितत्वात्पौराणिकार्थवादानां प्रामाण्यं श्रौतार्थवादानामिवाव्याहतमेव ।

नन्वेवमपि शैववैष्णवादिसम्प्रदायेषु प्रत्येकमेकप्रशंसाऽन्यनिन्दयोस्तत्र तत्र पुराणेषूपलम्भेन परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादकतया कथमत्रांशे पुराणानां प्रामाण्यमिति चेन्न "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ती" त्यादिवैदिकनिन्दार्थवादवाक्यानामिवैकानिन्दावाक्यानांतन्निन्दायां

॥ भाषा ॥

अजामिलादि के उपाख्यान का हरिभक्ति और हरिनाम के उच्चारण की स्तुति में तात्पर्य है और इस स्तुति का भगवान् की उपासना में उपयोग है। स्तम्भ से नरसिंह के प्रादुर्भावादि विचित्र-समाचारों के वर्णक सभी उपाख्यानों का ऐसी स्तुतियों में तात्पर्य है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् और करुणामूर्ति हैं और उन के एकान्तभक्त लोग बड़े महानुभाव होते हैं तथा उन में भक्ति करने से विषयसुख और मोक्षसुख अर्थात् सब आनन्दों का लाभ होता है। और इस प्रशंसा का भी भगवान् की उपासना में उपयोग है। रामचरितादि के उपाख्यानों का ऐसी प्रशंसा में तात्पर्य है कि वेद और शास्त्र के अनुसार सब कामों के करने का यह फल है कि लोक में कीर्ति होती है और परलोक में पूर्ण सुख होता है। इस प्रशंसा का लोकशिक्षा में उपयोग है इत्यादि।

और इन्हीं स्तुति तथा निन्दारूपी अर्थों को द्वारी वाक्यार्थ कहते हैं और ये ही अर्थ मुख्य भी हैं क्योंकि पौराणिकादिउपाख्यानों का मुख्यतात्पर्य इन्हीं अर्थों में है। और जैसे बैदिकउपाख्यानों के स्तुति और निन्दारूपी द्वारी अर्थ में लोकविरोधादि दोषों की शंकामात्र भी नहीं हो सकता वैसे ही पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों के अनन्तरोक्त स्तुति और निन्दारूपी द्वारी अर्थ में भी।

इस रीति से जब बैदिकउपाख्यानों के नाईं पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों के द्वार और द्वारी दोनों वाक्यार्थ, बाध और विरोध से शून्य हैं तब इस में कुछ भी सन्देह नहीं है कि जैसे बैदिकउपाख्यान प्रमाण हैं वैसे ही पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यान भी प्रमाण ही हैं।

प्र०—जब कि पुराणों में बैष्णवसम्प्रदाय के अवसर पर शैवादिसम्प्रदायों की और शैवसम्प्रदाय के प्रकरण में बैष्णवादिसम्प्रदाय की निन्दा प्रत्यक्ष लिखी हुई है तो इस अंश में पुराण कैसे प्रमाण हो सकते हैं ? क्योंकि अन्योन्य के बिरोध से वे दोनों प्रकार की निन्दाएं मिथ्या ही हो जाती हैं।

उ०—(जैसे) "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्" (सूर्योदय से पूर्व जो अग्निहोत्र करते हैं, वे प्रति प्रातःकाल झूठ बोलते हैं, अर्थात् जैसे प्रतिदिन प्रातःकाल झूठ बोलना अतिनिन्दित है वैसे सूर्योदय के पूर्व अग्निहोत्र करना भी) यह अर्थवादवाक्य यद्यपि स्पष्टरूप से अनुदितहोम की निन्दा करता हुआ प्रतीत होता है तथापि वैसा नहीं है क्योंकि "तस्मादुदिते होतव्यम्" (इस कारण सूर्योदय के अनन्तर होम करै) इस बिधि का, उक्त अर्थवाद, वाक्यशेष है अर्थात् उक्तबिधि के साथ इस की एकबाक्यता होती है इसी से अनुदितपक्ष की निन्दा इस

तात्पर्यविरहेणान्यस्तुतिमात्रतासमर्पकतया विरोधाभावात् । एकसम्प्रदायप्रशंसायाश्चान्यसम्प्रदायप्रशंसया सह विरोधे मानाभावात् । प्रपञ्चितश्चैतद्वेददुर्गसज्जनेऽर्थवादप्रकरणे पूर्वमेव । अथैवमपि गृध्रगोमायुहंसकाकादिसंवादप्रायाणाम् पौराणिकोपाख्यानानां वाक्यार्थबाधस्य कथमुद्धार इति चेत् न "वनस्पतयः सत्रमासत" "गावो वा सत्रमासत" इत्यादिवैदिकार्थवादवाक्यवदेव तत्र द्वारभूतवाक्यार्थे बाधोद्धारविरहेऽपि क्षतिविरहात् । तथाहि सत्यपि क्वचिद् द्वारवाक्यार्थबाधे न पौराणिकानामुपाख्यानार्थवादानां प्रामाण्यं केनापि कटाक्षयितुं शक्यते न हि लौकिकानां क्षुद्रजननिर्मितानामपि ।

पर्वताग्रे रथो याति भूमौ तिष्ठति सारथिः ।
भ्रमँश्च वायुवेगेन पदमेकं न गच्छति ॥ १ ॥

इत्यादिवाक्यानां मुख्यतात्पर्याविषयस्य वाच्यार्थस्य बाधेऽपि क्वचित्केनचिदप्रामाण्यं

॥ भाषा ॥

का अर्थ नहीं है किन्तु यही अर्थ है कि उदितहोम प्रशस्त है क्योंकि यदि अनुदितपक्ष की निन्दा इस से होती तो उदितहोम के विधिवाक्य के समीप में इस का पाठ न होता और अनुदितहोम के विधिवाक्य से विरोध भी पड़ जाता क्योंकि कहां विधान और कहां निन्दा ? (पूर्व ही वेददुर्गसज्जन के अर्थवादप्रकरण में इस विषय का पूर्णरूप से निरूपण हो चुका है) (वैसे ही) पुराणों में जो बैष्णवसम्प्रदाय के प्रकरण में शैवादिसम्प्रदायों की निन्दा लिखी हुई है उस का तात्पर्य, निन्दा में नहीं है किन्तु बैष्णवसम्प्रदाय की प्रशंसा ही में तात्पर्य है क्योंकि यदि निन्दा में तात्पर्य होता तो बैष्णवसम्प्रदाय के प्रकरण में ऐसे निन्दावाक्य न पढ़े जाते किन्तु जिस की निन्दा है उस के प्रकरण में पढ़े जाते और अन्यपुराण में जो शैवादिसम्प्रदायों का विधान है उस के साथ इन निन्दावाक्यों का विरोध भी हो जाता इस लिये बैष्णवसम्प्रदाय की प्रशंसा ही उक्त निन्दावाक्यों का द्वारी अर्थ है अर्थात् उसी में इन का मुख्यतात्पर्य है । और प्रशंसारूपी अर्थ में किसी का विरोध नहीं पड़ सकता क्योंकि उन २ सम्प्रदायों के प्रकरण में उन सम्प्रदायों की प्रशंसा उचित ही है ।

प्र०—यह तो सब हुआ, परन्तु गीध और गीदड़ का, तथा हंस और काग का संवाद आदि रूपी पौराणिकउपाख्यानों का द्वारवाक्यार्थ (अक्षरार्थ) तो बाधित (झूठा) ही है ?

उ०—जैसे 'वनस्पतयः सत्रमासत' (वृक्षों ने यज्ञ किया) 'गावो वा सत्रमासत' (गौओं ने यज्ञ किया) इत्यादि बैदिकअर्थवादों का तथा कादम्बरी आदि आख्यायिकाओं का और मालतीमाधवादि नाटकों का तथा अन्यान्य भाषा में बने हुए अनेक उपन्यासों का द्वारवाक्यार्थ के बाधित होने से उन की प्रमाणता में कोई हानि नहीं होती वैसे ही उक्त कतिपयउपख्यानों की भी क्योंकि उन के द्वारी अर्थ बाधित नहीं होते । प्रसिद्ध ही है कि लौकिक सामान्यपुरुषों की बनाई हुई 'पर्वताग्रे' (पहाड़ की चोटी पर रथ चलता है, और सारथी भूमि पर खड़ा है, तथा रथ, बायु के नाईं बेग से चलता है तथापि अगाड़ी को एक पद भी नहीं रख सकता) इत्यादि लौकिक पहेलियों के द्वार अर्थ के मिथ्या होने पर भी कहीं कोई इन पहेलियों को अप्रमाण नहीं कहता और अप्रमाण न कहने में कारण भी यही होता है कि इन का जब अपने द्वार अर्थ में मुख्यतात्पर्य ही नहीं है तब उस के मिथ्या होने से इन की प्रमाणता में कोई हानि नहीं हो सकती बरुक उलटे (पर्वत अर्थात् कुम्भकार की खूंटी के अग्रभाग पर, रथ अर्थात् कुलालचक्र चलता है और उस का सारथी अर्थात् चलानेवाला कुलाल भूमि पर रहता है, तथा

व्यवाह्रियते मुख्यतात्पर्यविषयस्य लक्ष्यार्थस्य तमसा तपनस्येव बाधेन कालत्रयेऽपि स्प्रष्टुमशक्यत्वात् प्रत्युतैतादृशवाक्यमुख्यतात्पर्यविषयार्थप्रतिभाभाजां पाण्डित्यमेव व्यपदिश्यते लोकैः। यथा—

पञ्चभर्त्री न पाञ्चाली द्विजिह्वा नच सर्पिणी।
श्यामास्या न च मार्जारी यो जानाति स पण्डितः ॥ १ ॥

इत्यादौ, बोधस्तु बाधितस्यापि द्वारवाक्यार्थस्य "अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" इति न्यायेन शब्दशक्तिस्वाभाव्यादुल्लसन्नदण्डवारित इतित्वन्यदेतत्, ईदृशादेव च बाधितार्थादपि बोधाच्चमत्कृतिरनुभूयते लोके, अनुगृह्णात्येव च प्रत्युत वाच्यार्थबाधोऽर्थान्तरबोधप्रसोत्रीं लक्षणाम्। वाक्यार्थ एव चामीषामीदृशे सन्दिहाना उद्विजमानाश्च बालबुद्धयः केचनाक्षिपन्त्यपि। एवमेव बाधितद्वारवाक्यार्थान्पौराणिकान्काँश्चिदुपाख्यानार्थवादानुद्दिश्य यदि मुष्टिना गगनमिव गृह्णानां अनधीतशास्त्रत्वात्पौराणिकार्थवादमुख्यतात्पर्यपर्यालोचनशक्तिशून्याः केचनाधुनिकाः पण्डितम्मन्या वेदबाह्या आक्षेपरूक्षाण्यक्षराणि शिष्टजनसमक्षमाचक्षते, प्रत्याचक्षते च तान् द्वारवाक्यार्थाबाधदुराग्रहग्रहवशंवदाः प्रज्ञाचक्षुषः केचन वैदिकम्मन्या मन्यामुन्नमय्य "नास्तिकाःस्थे" त्यादिभीरौक्ष्यसन्धुक्षिततरै-

॥ भाषा ॥

रथ, वायु के नाईं बेग से घूमता है परन्तु एक पद भीआगे को नहीं चलता) इत्यादि द्वारी अर्थ के सत्य होने से ये पहेलियां लोक में प्रमाण गिनी जाती हैं। और इतना ही नहीं है कि ये प्रमाण गिनी जाती हैं किन्तु इन के द्वारी अर्थ के समझने वाले मनुष्य की प्रशंसा भी होती है जैसे "पञ्चभर्त्री०" (जिस के पांच भर्ता हैं परन्तु वह द्रौपदी नहीं है और दो जिह्वा हैं किन्तु वह सर्पिणी नहीं है तथा उस का मुख काला है परन्तु वह बिल्ली नहीं है उस को अर्थात् लेखनी को जो समझता है वह पण्डित है) इति। तात्पर्य यह है कि शब्दशक्ति के अनुसार इन पहेलियों से द्वार अर्थ का बोध होता ही है तथा उस मिथ्या अर्थ के बोध से भी श्रोताओं के हृदय में चमत्कार भी होता है और उस द्वार अर्थ के ठीक न बैठने से बालक सब यह भी कहते हैं कि यह झूठा है, यह सब दूसरी बातें हैं। परन्तु द्वार अर्थ के मिथ्या होने पर भी वे पहेलियां अप्रमाण नहीं गिनी जाती हैं क्योंकि द्वार अर्थ में इन का मुख्यतात्पर्य ही नहीं है और द्वारी अर्थ के सत्य होने से प्रमाण गिनी जाती हैं क्योंकि उन में इन का तात्पर्य है। और जब लौकिक छोटे २ वाक्यों में यह दशा है तब पौराणिक और ऐतिहासिक उक्त कतिपयउपाख्यानों में यदि द्वार अर्थ मिथ्या भी हैं तो उन की प्रमाणता में कैसे कुछ सन्देह हो सकता है ? क्योंकि जिस में उन का मुख्यतात्पर्य है वह निन्दा वा स्तुति रूपी उन का द्वारी अर्थ तो किसी प्रमाण से बाधित नहीं है किन्तु सर्वथा सत्य ही है। और यह भी है कि जैसे पहेलियों के गूढ अर्थ को न समझने वाले धृष्ट बालक, इन के अर्थों में सन्देह करते २ निश्चय न होने से उद्विग्न हो कर उन को असत्य कह बैठते हैं वैसे ही उक्त कतिपय उपाख्यानों के द्वार अर्थ को झूठा समझ कर उन के सत्य द्वारी अर्थ के न समझने से शास्त्र के अनपढ़, वेदबाह्य और पण्डितमानी मनुष्य, मानों आकाश को मूठ में पकड़ते हुए, शिष्टजनों के समक्ष "यह उपाख्यान मिथ्या है" इत्यादि, आक्षेप से रूक्ष अक्षर यद्यपि प्रायः बोल बैठते हैं और इन उपाख्यानों के द्वार अर्थ की सत्यता पर दुराग्रह करने वाले पौराणिकमानी प्रज्ञाचक्षु (अन्धा) कोई २ मनुष्य गर्दन ऊंची कर "तुम नास्तिक हो" इत्यादि रूक्षतर अक्षरों को उन के

र्दुरक्षरनिकरैः, सन्धुक्षतेतरां चायमाक्षेपप्रत्याक्षेपकक्ष्याशृङ्खलित उभयोः पक्षप्रतिपक्षयोर्महामोहकलहकलकलः तदा को नाम तत्र पौराणिकानान्तादृशोपाख्यानार्थवादानां मन्तुनुमन्तुमर्हः, नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति न्यायात्। स्तुतिनिन्दे अपि सद्भ्यामारोपिताभ्यामसद्भ्यां च गुणदोषाभ्यां घटमाने न सर्वत्रैव द्वारवाक्यार्थसत्यतायामागृह्णीत इति न तयोरपि तत्र कश्चिदपराधः। एवं च द्वारवाक्यार्थस्याबाधितत्वं न क्वचनोपाख्यानप्रामाण्योपयोगि तदेतत्सकलमभिप्रेत्यैवोक्तम्।

वार्तिके।

सर्वोपाख्यानेषु च तात्पर्ये सति "श्रावयेदिति" विधेरानर्थक्यात् कथञ्चिद्गम्यमानस्तुतिनिन्दापरिग्रहः तत्परत्वाच्च नातीवोपाख्यानेषु तत्त्वाभिनिवेशः कार्य इति।

भट्टसोमेश्वरोऽपि।

अन्यपरत्वादेव स्वार्थसत्यत्वमनावश्यकमित्याह *तत्परत्वाच्चेति* इति व्याचष्ट। अत्र च 'सर्वेषु उपाख्यानेषु च' उपाख्यायमानेषु सिद्धेषु द्वारवाक्यार्थेष्वेवेति यावत्, 'तात्पर्ये सति' उपाख्यानार्थवादानां मुख्ये तात्पर्ये स्वीकृते सति स्तुतिनिन्दयोर्लक्षणाया अनङ्गीकारे सतीति यावत् "श्रावयेदिति विधेः आनर्थक्यात्" सिद्धार्थस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुपयोगितयोपाख्यानार्थवादानां तद्द्वारेण विधिनिषेधैकवाक्यत्वाप्रसक्त्या परम्परयाऽपि विधेयनिषेध्यविषयकप्रवृत्तिनिवृत्तिस्पर्शाभावेन पुरुषार्थपर्यवसायिताया दूरनिरस्ततया तत्पर्यवसायिनः श्रवणविधेर्बाधितार्थत्वप्रसङ्गात्। तद्वारणाय "कथञ्चित्" उक्तश्रवणविधिबलात्स्तुतिनिन्दयोर्लक्षणास्वीकारेण, 'गम्यमानयोः' लक्षणया बोध्यमानयोर्मुख्यतात्पर्यविषययोः 'स्तुतिनिन्दयोः' (परिग्रहः) विध्येकवाक्यतायामुपायत्वेनाङ्गीकारः "तत्परत्वाच्च" उक्तलक्ष्यार्थयोरेव मुख्यतात्पर्याच्च।

'उपाख्यानेषु' उपाख्यायमानेषु द्वारवाक्यार्थेषु (तत्त्वाभिनिवेशः) सर्वत्रैवाबाधितत्वदुराग्रहः (अतीव) द्वारवाक्यार्थस्य क्वचिदपि बाधितत्वे प्रामाण्यमेवोपाख्यानार्थवादानां नोपपद्येतेति सम्भाव्य प्रत्येकं पदार्थे वाक्यार्थे चाबाधितत्वमेव वक्तव्यमिति श्रद्धाजाड्येन (न कार्यः) मुख्यतात्पर्यार्थस्यैवाबाधेन सर्ववाक्यानां प्रामाण्यस्याभ्युपगमात्प्रकृतेऽपि तथैव तस्य स्वीकरणीयत्वादिति वार्तिकार्थः। नचैवमसत्योपाख्यानांशे कथं तत्प्रणेतृणा-

॥ भाषा ॥

उत्तर में कह भी बैठा करते हैं और उन दोनों का पक्ष, प्रतिपक्ष, को ले कर महामोह से आक्षेप और प्रत्याक्षेप रूपी कलह भी हुआ करता है तथापि उस कलह में इन उपाख्यानों का क्या अपराध है? क्योंकि गड़े हुए खूंट (अर्थात् कीले) पर यदि अन्धे ठोकर खा कर गिरते हैं तो क्या खूंटा अपराधी होता है?

इन्हीं गीध, शृगालादि उपाख्यानों के विषय में पूर्वोक्त युक्तियों के अभिप्राय से मीमांसावार्तिक में कुमारिलभट्टपाद ने यह कहा है कि "जब उपाख्यानों के मुख्यतात्पर्य, स्तुति और निन्दारूपी द्वारी अर्थ में हुआ करते हैं तब इन उपाख्यानों के प्रत्येक द्वार अर्थ में सत्यता का दुराग्रह नहीं करना चाहिये" और अनन्तरोक्त प्रकरण में भट्टपाद के अन्यान्य वाक्यों के साथ इस वाक्य को उद्धृत कर अन्यान्य विषयों में भी पुराण आदि का प्रामाण्य भली भांति सिद्ध कर दिया गया है इसी से इस अवसर पर केवल उपाख्यानों हीं के विषय में विशेष विचार इस कारण किया

माप्तत्वमवधारणीयमिति वाच्यम् । उपाख्यानानामपि बहूनां वैदिकोपाख्यानमूलकत्वस्य बहूनां च लोकमूलकत्वस्य दर्शनेन लोकरञ्जनार्थेषु स्वोत्प्रेक्षितेषु काव्यप्रायेषु पुरञ्जनोपाख्यान-प्रभृतिषु मुख्यतात्पर्यार्थस्तुत्यादिरूपसत्यार्थकतयैव पूर्वोक्तरीत्योपपादितप्रामाण्येषु वैदिकेन्द्रप्रतर्दनाद्याख्यायिकावत् लौकिकमालतीमाधवप्रबोधचन्द्रोदयादिनाटकवत् तादृश-वासवदत्ताद्याख्यायिकावत् भाषामयचन्द्रकान्ताद्युपन्याससहस्रवच्च विप्रलिप्साविरहेणैवा-प्तत्वावधारणस्याप्रत्यूहत्वात् । एवं पौराणिकार्थवादानां सर्गप्रतिसर्गादिप्रतिपादकाः पूर्वोक्ताः पञ्चविधा अप्यंशाः प्रत्येकं प्रामाण्योपयोगाभ्यां प्रतिपादिता इति न तेष्वप्रामाण्य-नैरर्थक्ययोरवकाशः । पुराणानामुपपुराणानां च पूर्वमेवार्षैर्वाक्यैः परिगणितत्वान्न चुम्बक-वञ्चनाभीतिसम्भवः । तस्मात् पुराणेष्वप्रामाण्यमारोपयित्री रसना,द्वेषजाड्यनिबिडितैव । यथा वेदस्थानां लुङ्लङ्लिटां न कालविशेषार्थकत्वं एवं वशिष्ठवामदेवदुष्यन्तपरीक्षिता-दिनाम्नामपि वेदगतानां यत्किञ्चित्कालविशेषाविशेषितव्यक्तिप्रतिपिपादयिषया तत्र निबन्धनमाख्यायिकान्यायाद्बोधसौकर्यमात्रार्थमेव तथा पुराणेषु न नियमः । पुराणव्यक्ते-राधुनिकत्वात् । नापि नामादिसाम्यमात्रमनुसृत्य पुराणनिबद्धनाम्नामेव पुरुषविशेषाणां वेदे निर्देश इत्यादिकं तु क्षुद्रोपद्रवविद्रावणे पूर्वमभिहितमेव । यथा च ब्राह्मणभागेषूपक्रमो-

॥ भाषा ॥

जाता है कि इन के विषय में अज्ञानियों के झगड़े बहुत अधिक हुआ करते हैं ।

प्र०—इन उपाख्यानों पर सत्यता का विश्वास क्यों कर हो सकता है ?

उ०—वाह क्या अच्छा प्रश्न है, इस प्रश्न के सुनने से एक और प्रश्न का स्मरण होता है कि एक बुद्धिवैताल महाशय ने रामायण की सब कथा सुन कर अपने व्यास से पूछा कि महाराज ! सब रामायण का अर्थ आप के कृपा से मुझे निश्चित हो गया, परन्तु एक ही सन्देह थोड़ा सा रह गया है कि रामचन्द्र राक्षस थे अथवा रावण ? वही दशा इस प्रश्न की है, क्योंकि जब इतिहास और पुराणों में सहस्रों उपाख्यान ऐसे भी हैं कि जिन का मूल लोकानुभव ही है और कतिपयउपाख्यान ऐसे भी हैं कि जिन का द्वार अर्थ यद्यपि बाधित है तथापि द्वारी अर्थ सत्य ही है और जिन के दृष्टान्त में इन्द्रप्रतर्दन नारद सनत्कुमार आदि वैदिक सैकड़ों उपाख्यान और मालतीमाधव, प्रबोधचन्द्रोदय, आदि अनेक नाटक तथा अन्यान्य भाषाओं में चन्द्रकान्तादि उपन्यास प्रसिद्ध ही हैं और पूर्व में अनेक रीति से यह भी वर्णन हो चुका है कि भ्रम, प्रमाद और धूर्तता आदि के कारण से ये उपाख्यान रचित नहीं हुए तथा यह भी अभी कहा गया है कि इन उपाख्यानों का द्वारी अर्थ बाधित नहीं है, तो ऐसी दशा में भी यदि यह प्रश्न पुनः होता है तो इस के उत्तर में इतना ही कहना योग्य है कि 'इस का उत्तर हो चुका'।

इस रीति से पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों के सृष्टिसंहारादि पूर्वोक्त पाँचो भागों की प्रमाणता भली भांति वर्णित हो चुकी ।

इस लिये जो जिह्वा पुराणों और इतिहासों पर अप्रमाण के कलङ्क का आरोप करती है उस को यही समझना चाहिये कि वह अपने वश में नहीं है किन्तु नास्तिकों के वश में है । और पुराणों के विषय में कुछ अधिक युक्तियां भी क्षुद्रोपद्रवविद्रावण में वेदवाक्यों के मतखण्डन के अवसर पर पूर्व ही कही जा चुकी हैं इसी से पुनः यहाँ वे नहीं लिखी गयीं ।

पसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्तिभिः षड्भिः प्रमाणैस्सिद्धार्थोपदेशवाक्यानां तात्पर्यनिर्णयो भवति तथैव पौराणिकानामपि तादृशोपदेशवाक्यानाम् एषैव रीतिरितिहासेष्वपि बोध्या,केचित्त्वाधुनिकाः प्रतिपादितां शास्त्रीयां पुराणप्रामाण्योपपादनसरणिं स्वप्नेऽप्यश्रुतवन्तः पुराणप्रामाण्यं प्रति सम्प्रति प्रचरितान् नास्तिकानामाक्षेपानाकर्ण्याप्रतिभाततत्प्रतिविधाना गलितवयस्कतया लब्धप्रतिष्ठतया च शास्त्रीयगूढतात्पर्यनिवेदकग्रन्थानामुपाध्यायेभ्योऽध्ययनापत्रपमाणा दौष्कर्यशङ्कया च ततो बिभ्यतो गत्यन्तरविरहाद्बिडालव्रतमेवास्थाय नवनीतकमनीयपुराणेतिहासनिदानं ब्राह्मणभागम् असौ वेद एव नेति दुग्धमेव निश्शेषं पिबन्तिस्मेति त्वन्यदेतत् । पुराणीयेषु केषु केषुचिदुपाख्यानस्थलेषु काँस्काँश्चिद्बाधान् दर्शयन्त आधुनिकाः केचन भाषामया ग्रन्थास्तु भाषामयैरेवाधुनिकैस्तत्प्रतिविधानग्रन्थैर्डुण्डुभा इव गरुडैः कवलिता यक्षानुरूपो बलिरिति न्यायादतः कृतं तेषु कटाक्षनिःक्षेपेणेति दिक् ।

इति विशेषतः पुराणप्रामाण्यनिरूपणम् ।

अथ सदाचारात्मतुष्ट्योः प्रामाण्यं निरूप्यते ।

अपि बा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥ (मी. द. अ. १ पा, ३ सू. ७)

अर्थः ।

कारणानाम् लोभादीनामप्रामाण्यकारणानाम् अग्रहणे अदर्शने प्रयुक्तानि अनुष्ठितानि

॥ भाषा ॥

(उ० ७)—तथा जगत् की सृष्टि और संहार सहस्रों बार हो चुके तब यह कोई असम्भव की बात नहीं है कि कोई सृष्टि नारायण से और कोई सृष्टि शिव से और कोई शक्ति से तथा कोई गणेश से हुई और उसी के अनुसार पुराणों में उन सृष्टियों का बर्णन है तो क्या बिरोध है ?

और दो एक आधुनिक पुरुष (जिन ने कि पुराण के प्रमाणता की पूर्वोक्त उक्तियों को स्वप्न में भी नहीं सुना तथा इतिहास और पुराण पर नास्तकों के पूर्वाक्षेपों को सुन कर उद्विग्न हुए और बिचार करने पर भी उन का बारण नहीं कर सके और अवस्था तथा प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण पुनः शास्त्र पढ़ने में लज्जा और असाध्यता समझा) ने तो अनन्यगति हो कर नास्तिकों के आक्षेपों से बँचने के लिये, बिडालव्रत को स्वीकार कर इतिहास और पुराण रूपी कोमल मधुर, बलवर्द्धक और सुखदायी सच्चे नवनीत (नैनू) के आदिकारण ब्राह्मणभागरूपी दुग्ध ही को पी गये अर्थात् यही कह दिया कि ब्राह्मणभाग बेद ही नहीं है । और यह तो दूसरी बात है कि दो एक पुराणों के किसी २ अंश में छोटे २ बिरोध के दिखलाने वाले जो आज कल्ह के भाषामय ग्रन्थ हैं उन को तो सनातनधर्मियों के आज कल्ह के भाषामय ग्रन्थों ने ऐसा निगल लिया है कि जैसे गरुडपक्षी डुण्डुभों (जल में रहनेवाले निर्विषसर्प) को निगला करते हैं । इसी से जैसा देव वैसी पूजा समझ कर मैं उन भाषाग्रन्थों में कहे हुए आक्षेपों पर यहाँ दृष्टि नहीं देता हूं ।

यहां तक पुराण और इतिहास के प्रामाण्य का बिशेषरूप से निरूपण समाप्त हो गया ।

अब धर्म के बिषय में सदाचार और आत्मतुष्टि (दूसरा और तीसरा परिखा अर्थात् खाई) के प्रामाण्य का निरूपण किया जाता है । इस के बिषय में मीमांसाबार्तिककार कुमारिलभट्टपाद ने " अपि बा कारणाग्रहणे प्रतीयेरन् " (पू० मी० द० अ० १ पा० ३ सू ७) इस सूत्र (जिस का अर्थ आगे किया जायगा) के तन्त्रबार्तिक में अधिकरणरूप से बिचार किया है (जो कि ऊपर संस्कृतभाग में लिखा है) कि यद्यपि धर्म के बिषय में सदाचार का प्रमाण होना जब श्रुति स्मृति

आचरणानि प्रतीयेरन् प्रमाणं स्युरिति ।

अत्र वार्तिकम् ।

अत्र सदाचारानुदाहृत्य त्रिवर्गसिद्ध्यर्थं विचार्यते । तद्विपरीतसङ्कीर्णव्यवहारिषु शिष्टेष्वपथ्यकारिषु वैद्यातुरवदविस्रम्भणीयचरितत्वात्सम्भाव्यमानवेदमूलत्वाच्च धर्मसंशयं दर्शयित्वा "धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्ष्यमि" ति पूर्वः पक्षः क्वचिच्च 'विरोधे त्वनपेक्ष्य' मित्येतन्न्यायानुसारेण सदाचारेषु हि 'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्' प्रजापतीन्द्रवशिष्ठविश्वामित्रयुधिष्ठिरकृष्णद्वैपायनभीष्मधृतराष्ट्रवासुदेवार्जुनप्रभृतीनां बहूनामद्यतनानां च । प्रजापतेस्तावत् "प्रजापतिरुषसमभ्यैत्स्वांदुहितर" मिति अगम्यागमनरूपा-

॥ भाषा ॥

और युक्तियों से सिद्ध ही है जो कि आगे चल कर सिद्धान्त के निरूपण में कही जायँगी इस से धर्म के विषय में आचार के प्रमाण न होने का सन्देह ही नहीं हो सकता और ऐसे ही पूर्वपक्ष भी उस का नहीं हो सकता, इस लिये अधिकरण की रचना इस विषय में नहीं हो सकती तथापि अच्छे लोगों का भी आचार, जब धर्म, अर्थ, काम से विरुद्ध और अधर्म, अनर्थ, दुःख के कारणरूप आत्मघातआदि दुराचारों से हिला मिला देखा जाता है तब यह कैसे धर्म में प्रमाण हो सकता है ? क्योंकि जैसे स्वयं रोगग्रस्तवैद्य के अपथ्य आचार को देख कर रोगी लोग उस वैद्य की क्रिया पर बिश्वास नहीं करते वैसे ही स्वयं पाप करते हुए मनुष्य के आचार पर धर्म में प्रमाण होने का विश्वास कौन कर सकता है ? और आचार का धर्म में प्रमाण होना वेद और धर्मशास्त्रों से कहा जाता है । इस कारण धर्म के विषय में सदाचार के प्रमाण न होने और होने का सन्देह अवश्य हो सकता है कि—

(सं०) धर्म के विषय में सदाचार प्रमाण नहीं है अथवा प्रमाण है ?

(पू०) धर्म के विषय में सदाचार, प्रमाण नहीं है क्योंकि पूर्व ही स्मृति के अधिकरण में "धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्" इस पूर्वपक्षसूत्र से स्मृतियों के अप्रमाण होने में जो कारण दिखलाया गया है वह कारण सदाचारों के विषय में भी है अर्थात् धर्म, वेद ही से ज्ञात हो सकता है और आचार तो न वेद हैं न वेदमूलक, क्योंकि आचार अनन्त प्रकार के हैं उन सब का एक वेदवाक्य मूल नहीं हो सकता और एक २ आचार के एक २ वेदवाक्य यदि मूल हों तो अनन्त वेदवाक्यों की कल्पना करनी पड़ेगी इस से ये धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते । तथा वेदवाह्य बुद्धादि की स्मृतियों के प्रामाण्यखण्डन का जो कारण, "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" इस पूर्वोक्तसूत्र से दिखलाया गया है वह सदाचारों के विषय में भी है क्योंकि सदाचार में भी श्रुति आदि का विरोध देखा जाता है जैसा कि गौतममहर्षि ने अपने धर्मशास्त्र में कहा है कि— "दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः । साहसं च महताम्" इस का यह अर्थ है कि, धर्मव्यतिक्रम अर्थात् लोभ आदि दोषों के वशीभूत होने से अवश्यभावी दुःखरूपी अनर्थ को न देख कर अधर्म करना, और साहस अर्थात् अनर्थरूपी प्रत्यक्षफल को देख कर भी बल के अभिमान से उस का अनदर कर अधर्म करना, ये दोनों अर्थात् धर्मव्यतिक्रम और साहस बड़े लोगों में भी देखे गये हैं इति ।

इस के उदाहरण भी थोड़े से दिखलाये जाते हैं ।

"प्रजापतिरुषसमभ्यैत् स्वां दुहितरम्" (प्रजापति, उषा नामक अपनी बेटी के अभिमुख जाता है) इस वेदवाक्य से विश्व के कर्ता और लक्षाध्यायी स्मृति के बनाने वाले ब्रह्मा का भी

दधर्माचरणाद्धर्मव्यतिक्रमः" इन्द्रस्यापि तत्पदस्थस्य च नहुषस्य परदाराभियोगाद्धर्मव्यतिक्रमः। तथा बशिष्ठस्य पुत्रशोकार्तस्य जलप्रवेशात्मत्यागसाहसम्। बिश्वामित्रस्य चाण्डालयाजनम्। बशिष्ठवत्पुरूरवसः प्रयोगः। कृष्णद्वैपायनस्य गृहीतनैष्ठिकब्रह्मचर्यस्य बिचित्रवीर्यदारेष्वपत्योत्पादनप्रसङ्गः। भीष्मस्य च सर्वाश्रमधर्मव्यतिरेकेणावस्थानम्। अपत्नीकस्य च रामवत् क्रतुप्रयोगः। तथान्धस्य धृतराष्ट्रस्येज्यापाण्डुवर्जितैर्धनैरित्यनधिकृतक्रिया।

॥ भाषा ॥

धर्मव्यतिक्रम स्पष्ट है।

तथा गौतममहर्षि की पत्नी अहल्या के गमन से इन्द्र का भी धर्मव्यतिक्रम है।

और जिस समय ब्रह्महत्या के कारण अपने अधिकार से च्युत हो कर स्वर्ग लोक से इन्द्र निकल गये थे उस समय उन के आसनस्थित राजा नहुष का इन्द्राणी के समीप गमन के लिए उद्योग करने से धर्मव्यतिक्रम हुआ।

तथा जिस समय बशिष्ठमहर्षि के शक्ति नामक ज्येष्ठपुत्र को राक्षस ने भक्षण किया उस के अनन्तर पुत्रशोक से जलप्रवेश आदि के द्वारा आत्मघात करने का साहस बशिष्ठ का स्पष्ट ही है।

ऐसे ही बिश्वामित्र का चाण्डालयाजन साहस है क्यौंकि ब्राह्मण के कन्याहरण से कुपित हुए पिता के शाप से चाण्डाल हुए राजा त्रिशङ्कु से बिश्वामित्र ने यज्ञ करवाया।

ऐसा ही राजा पुरूरवा का आत्मघात में प्रवृत्त होना साहस है क्यौंकि उर्वशी नामक अप्सरा के बिरहशोक से उन्हों ने आत्मघात का उद्योग किया।

और कृष्णद्वैपायनव्यास का धर्मव्यतिक्रम यह है कि उन्हों ने अपने अपुत्र छोटे भाई, बिचित्रवीर्य की पत्नी अम्बिका में धृतराष्ट्र को और चित्राङ्गद की पत्नी अम्बालिका में पाण्डु को तथा अम्बालिका की प्रेषित दासी में बिदुर को उत्पन्न किया। इस में प्रथम अनुचित यह है कि बिधवा के साथ नियोग भी ब्रह्मचारी के लिए सदा ही निषिद्ध है, दूसरा अनुचित यह है कि नियोग का बिधान एक ही अपत्य के लिए है परन्तु उन्हों ने अनेक अपत्यों को उत्पन्न किया।

तथा भीष्म के दो धर्मव्यतिक्रम हैं एक नैराश्रम्य (किसी आश्रम में न रहना) दूसरा स्त्रीरहित हो कर भी अश्वमेधयज्ञ करना क्यौंकि भारत में "स एष भीष्मः" यह कहा हुआ है कि भीष्म ने तीस अश्वमेध किया। दाशरथि राम का धर्मव्यतिक्रम यह है कि सीता के त्यागसमय में उन्हों ने यज्ञ किया।

और राजाधृतराष्ट्र का एक धर्मव्यतिक्रम यह है कि वह अन्ध होने से यज्ञ करने के अधिकारी न थे परन्तु यज्ञ किया। यह तो कह नहीं सकते कि जन्मान्ध का कोई अंश नहीं होता और वह जन्मान्ध थे इस से उन के पास कोई धन ही नहीं था तो उन्हों ने यज्ञ कहां से किया? क्यौंकि उन्हों ने पाण्डुराज अपने भाई के अर्जित धन से यज्ञ किया जैसा कि भारत में कहा है "तस्य बीरस्य बिक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः। अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः" (उस बीर अर्थात् पाण्डु के पराक्रम से उपार्जन किये हुए लाखों रुपयों से धृतराष्ट्र ने अनेक अश्वमेधयज्ञ किया) और यह भी नहीं कह सकते कि पाण्डु के धन को, बिना उन के दिये ले लेना एक दूसरा धर्मव्यतिक्रम हुआ, क्यौंकि भारत ही में "सुहृदश्चापि धर्मात्मा धनेन समतर्पयत्" (धर्मात्मा पाण्डु ने भाई, बन्धु, और मित्रों को भी धन से पूर्ण कर दिया) इस वाक्य से धृतराष्ट्र के लिए

तथा युधिष्ठिरस्य कनीयोऽर्जितभ्रातृजायापरिणयनमाचार्यब्राह्मणवधार्थमनृतभाषणं च । वासुदेवार्जुनयोः प्रतिषिद्धमातुलदुहितृरुक्मिणीसुभद्रापरिणयन 'मुभौ मध्वासवक्षीवावि' तिसुरापानाचरणम् । अद्यत्वेऽप्यहिच्छत्रमथुरानिवासिब्राह्मणीनां सुरापानम् । केसर्य्यश्वाश्वतरखरोष्ट्रोभयतोदद्दानप्रतिग्रहाविक्रयव्यवहारभार्य्याऽपत्यमित्रसहभोजनाद्युदीच्यानाम् ।

॥ भाषा ॥

पाण्डु का धन देना कहा हुआ है । और दूसरा धर्मव्यतिक्रम यह है कि अपने छोटे भाई पाण्डु के धन से अपना काम चलाना धृतराष्ट्र को उचित न था ।

तथा राजा युधिष्ठिर के दो धर्मव्यतिक्रम हैं एक यह कि अपने छोटे भाई अर्जुन की जीती हुई द्रौपदीरूपी भ्रातृवधू (भयहू) के साथ विवाह करना, क्योंकि " इदं सज्जं धनुः कृत्वा सज्जेनानेन सायकैः । अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लभेत सुतामिमाम् " (इस धनुष को सुसज्जित कर इस के द्वारा बाणों से इस मत्स्यरूपी लक्ष्य को जो आगे बढ़ कर मारै वह मेरी इस द्रौपदीरूपी पुत्री को पावैगा) द्रुपद की इस घोषणा के अनन्तर अर्जुन ने वैसा ही किया तदनन्तर राजा द्रुपद ने द्रौपदी को अर्जुन के अधीन कर दिया । तथा यह भी था कि द्रौपदी के भ्राता ने द्रौपदी को " विद्ध्येत य इमं लक्ष्यं तं वृणीष्व वरानने " (हे वरानने ! इस मत्स्यरूपी लक्ष्य को जो मार दे उस को तू वरण अर्थात् स्वीकार कर) यह आज्ञा दी थी जिस के अनुसार द्रौपदी ने मत्स्यवेध के अनन्तर ही अर्जुन का वरण कर लिया । इस कारण, विवाहविधि होने से पूर्व ही अर्जुन के शास्त्रीय भार्यासम्बन्ध का आरम्भ हो चुका था और अर्जुन, युधिष्ठिर के छोटे भाई थे । और दूसरा धर्मव्यतिक्रम यह है कि राजायुधिष्ठिर यह भली भांति जानते थे कि, द्रोण, ब्राह्मण और हमारे धनुर्वेदाचार्य हैं तथा जब तक इन के हाथ में शस्त्र रहै तब तक इन को कोई नहीं मार सकता और अपने पुत्र अश्वत्थामा के मारे जाने पर यह अवश्य शस्त्र त्याग कर देंगे तब भी आचार्य जी से शस्त्र त्याग कराने के लिये उन्होंने यह मिथ्याभाषण किया कि " अश्वत्थामा हतः "

तथा वासुदेव और अर्जुन के दो २ धर्मव्यतिक्रम हैं एक यह है कि वासुदेव ने रुक्मिणी और अर्जुन ने सुभद्रा, अपनी २ मातुलकन्या के साथ विवाह किया । और दूसरा सुरापान है जैसा कि " उभौ मध्वासवक्षीवौ दृष्टौ मे माधवार्जुनौ " केशव और अर्जुन दोनों को मैं ने मधु आसव से मत्त देखा) यह भारत में सञ्जय ने कहा है ।

ऐसे ही आज कल्ह (भट्टपाद के समय) के लोगों का भी धर्मव्यतिक्रम है । जैसे कि अहिच्छत्र और मथुरा के ब्राह्मणियों का सुरापान ।

और उदीच्यों (विन्ध्य पहाड़ के उत्तरवासी) में धर्मव्यतिक्रम घोड़ा, खच्चर, गदहा, ऊंट, आदि का लादना, प्रतिग्रह और विक्रयादिव्यवहार है क्योंकि " न केसरिणोददाति " (केसरी अर्थात् गर्दन के बड़े बाल वालों को दान न करै) " नोभयतोदतः प्रतिगृह्णाति" (जिन पशुओं के ऊपर नीचे दोनों ओर दांत होते हैं उन का दान न ले) ये वेदवाक्य हैं, तथा " व्रीहियवाजाश्वभूमिधेन्वनडुहश्चैके " (धान, जव, बकरी, घोड़ा, भूमि, धेनु, और बैलों को न बेंचै) यह गौतमऋषि का वाक्य है और " उभयतो दद्भिर्न व्यवहारः " (जिन पशुओं के नीचे ऊपर दोनों ओर दांत होते हैं उन के दान प्रतिग्रहादि का व्यवहार न करै) यह बोधायनऋषि का वाक्य है तथा पत्नी, लड़का और मित्र के साथ एक पात्र में भोजन करना इत्यादि उदीच्यों का धर्मव्यतिक्रम है ।

मातुलदुहितृद्वाहासन्दीस्थभोजनादीनि दाक्षिणात्यानाम् । मित्रस्वजनोच्छिष्टस्पृष्टभोजनं सर्ववर्णपरस्परस्पृष्टताम्बूलादनतदवसानानाचमननिर्णेजकधौतवस्त्रगर्दभारूढवस्त्रपरिधानब्रह्महत्याऽतिरिक्तमहापातककार्यपरिहरणादीन्युभयेषामतिस्थूलानि । प्रतिपुरुषजातिकुलावस्थितसूक्ष्मस्वधर्मव्यतिक्रमणानि त्वनन्तभेदानि सर्वत्र विगानहेतुदर्शनानि च प्रायेणैव सम्भवन्तीति नैवंजातीयकमिश्रसदाचारधर्मत्वाध्यवसानसम्भवः । किंच ।

के शिष्टा ये सदाचाराः सदाचाराश्च तत्कृताः ।
इतीतरेतराधीननिर्णयत्वादनिर्णयः ॥
(ननु) सदाचारप्रमाणत्वं मन्वादिभिरपि स्मृतम् ।
आत्मतुष्टिः स्मृताऽन्या तैर्धर्मे सा चानवस्थिता ॥

यथाभ्यासं ह्याशयवैचित्र्येण शुभाशुभोभयहीनक्रियानुष्ठायिनामात्मतुष्टिरपि विचित्रैव भवति ॥

॥ भाषा ॥

और दाक्षिणत्यों (विन्ध्य से दक्षिणदेशवासी) का मातुलकन्याविवाह और सामान्यासन पर बैठ कर भोजन करना इत्यादि धर्मव्यतिक्रम है ।

दाक्षिणात्य उदीच्य दोनों के और भी धर्मव्यतिक्रम हैं जैसे मित्रादि जब उच्छिष्ट (अपवित्र) रहते हैं तब भी उनका छूआ खाना, सब वर्णों के छूए हुए ताम्बूल का भक्षण तदनन्तर आचमन न करना, धोबी के छूये, गदहे पर लादे, वस्त्र का धारण, ब्रह्महत्या से अन्य महापातक करने वालों का त्याग न करना इत्यादि ये मोटे २ धर्मव्यतिक्रम हैं ।

और सूक्ष्म २ धर्मव्यतिक्रमों के भेद तो अनन्त हैं कहां तक गिनाये जा सकते हैं ।

इस उक्तरीति से यह सिद्ध हो गया कि आचारों में श्रुति और स्मृतियों का विरोध है ।

सदाचार के प्रमाण न होने में यह भी कारण है कि अन्योन्य में एक दूसरे के आचार की निन्दा किया करता है और स्वार्थ लोभ आदि दुष्ट कारण भी आचारों के देखे जाते हैं ।

तथा इस कारण भी शिष्टों के आचार प्रमाण नहीं हो सकते कि उन के प्रमाण मानने में अन्योन्याश्रय दोष पड़ता है क्योंकि यदि यह प्रश्न किया जाय कि शिष्ट कौन हैं ? तो इस का उत्तर यही है कि जिन के आचार अच्छे हैं वे ही शिष्ट हैं पुनः यह प्रश्न होगा कि आचार किन के अच्छे हैं ? और इस का उत्तर यह होगा कि शिष्टों के ।

(स) जब कि मनु आदि स्मृतियों का प्रमाण होना पूर्व में सिद्ध हो चुका है और मनु ने "वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनां" इस वाक्य से श्रुति और स्मृति के नाईं सदाचार को भी धर्म में प्रमाण कहा है तब कैसे उस के प्रमाण होने का खण्डन किया जाता है ?

(खं०) यदि उक्तस्मृति के अनुसार सदाचारों को प्रमाण माना जाय तो शिष्टों की आत्मतुष्टि (अपनी इच्छा) को भी प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि जिस मनुस्मृति के श्लोक के तीन चरण समाधान में कहे गये हैं उसी का चतुर्थचरण यह है कि " आत्मनस्तुष्टिरेव च " (शिष्टों की अपनी इच्छा भी धर्म में प्रमाण है)

(स०) धर्म में आत्मतुष्टि के प्रमाण होने से हानि क्या है ?

(खं०) हानि यह है कि यह नियम नहीं है कि आत्मतुष्टि धर्म ही में होती है क्योंकि

तथाहि ।

कस्य चिज्जायते तुष्टिरशुभेऽपि हि कर्मणि ।
शाक्यस्येव कुहेतूक्तिर्वेदब्राह्मणदूषणे ॥

(तथा) पशुहिंसादिसम्बद्धे यज्ञे तुष्यन्ति हि द्विजाः ।
तेभ्य एव हि यज्ञेभ्यः शाक्याः क्रुध्यन्ति पीडिताः ॥

(तथा) शूद्रान्नभोजनेनापि तुष्यन्त्यन्ये द्विजातयः ।
स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति ॥
अन्ये तु सव्यलीकेन मनसा तन्न कुर्व्वते ।

ततश्चानवस्थितत्वाद्धर्थवात्मनस्तुष्टिरेवचेत्येतन्मनुवचनं कथमन्यथा नेतव्यमेव'माचारश्चैव साधूनामि'त्येतदपीति ॥

स्वयमज्ञातमूलाश्च शिष्टाचारप्रमाणताम् ।
वदन्तोऽपि न शोभन्ते स्मृतिकारास्ततोऽधिकाः ॥

॥ भाषा ॥

आत्मतुष्टि अधर्म में भी बहुतों की देखी जाती है तो वह यदि धर्म में प्रमाण हो तो अधर्म भी धर्म और धर्म भी अधर्म हो जायगा । जैसे बेद और ब्राह्मण के खण्डन और दुष्टयुक्तियों के करने में जैनों की आत्मतुष्टि होती है तो क्या वह धर्म है ? तथा यज्ञों में पशुहिंसा के बिषय में जैनों की आत्मतुष्टि नहीं है प्रत्युत द्वेष है तो क्या यज्ञ, धर्म नहीं है ?

(स०) जब कि साधुओं (शिष्टों) हीं की आत्मतुष्टि को उक्तवाक्य से मनु ने धर्म में प्रमाण कहा है तो जैनादि की आत्मतुष्टि से धर्म में क्या प्रयोजन है ?

क्योंकि साधु नाम बैदिकों का है और जैनादिक तो वैदिक नहीं हैं किन्तु बेदविरुद्ध हैं ।

(खं०) जब कि बैदिकों की भी आत्मतुष्टि एक सी नहीं होती किन्तु अन्योन्य में बिरुद्ध होती है जैसे शूद्रान्न के भोजन से भी बहुत से ब्राह्मण सन्तुष्ट होते हैं और अपनी मातुल-कन्या के साथ बिवाह करने से दाक्षिणात्य लोग सन्तुष्ट होते हैं तथा इन्हीं कामों को अन्य लोग बुरी दृष्टि से देख कर नहीं करते, ऐसी दशा में साधुओं की आत्मतुष्टि, धर्म में कैसे प्रमाण हो सकती है ?

(प्र०) यदि ऐसा है तो सदाचार और आत्मतुष्टि को प्रमाण बतलाने वाले मनुवाक्य का क्या अर्थ है ?

(उ०) यही अर्थ है कि जो आचार और आत्मतुष्टि श्रुति और स्मृति के अनुसारी हैं वे ही प्रमाण हैं ।

(प्र०) यदि ऐसा है तब कैसे आचार और आत्मतुष्टि के प्रमाण होने का खण्डन किया जाता है ?

(उ०) प्रश्नकर्ता ने खण्डन के आशय को नहीं समझा, क्योंकि जो आचार और आत्मतुष्टि श्रुति और स्मृति के अनुसारी अर्थात् उन में बिधान किये हुए हैं उन के प्रमाण होने का खण्डन यहां नहीं किया जाता है क्योंकि वे तो श्रुति और स्मृति में हीं आ गये इस लिये वे पृथक् प्रमाण ही नहीं हो सकते । किन्तु उन आचार और आत्मतुष्टि के प्रमाण होने का खण्डन यहां किया

स्मृतिकारवचनार्थो हि शिष्टैराचरितव्यः शिष्टत्वायान्यथा हि तदनपेक्षाः स्वातन्त्र्येण व्यवहरमाणा दुष्टा भवेयु र्न शिष्टाः ॥

नच तेषां श्रुतिर्मूलं व्यवहारस्य दृश्यते ॥
यदि च स्यात्परोक्षाऽपि स्मर्येतैव ह्यसौ ध्रुवम् ॥
अपि बा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्निति ॥
दृष्टकारणहीनानि यानि कर्माणि साधुभिः ।
प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्धर्मत्वेनेह तान्यपि ॥
शरीरस्थितये यानि सुखार्थं बा प्रयुञ्जते ।
अर्थार्थं बा न तेष्वस्ति शिष्टानामेव धर्मधीः ॥
धर्मत्वेन प्रपन्नानि शिष्टैर्यानि तु कानि चित् ।
बैदिकैः कर्तृसामान्यात्तेषां धर्मत्वमिष्यते ॥
प्रदानानि जपो होमो मातृयज्ञादयस्तथा ।
शक्रध्वजमहोयात्रा देवतायतनेषु च ॥

॥ भाषा ॥

जाता है कि जिन का बिधान श्रुति स्मृति में नहीं है ।

(उ० पूर्वोक्त उत्तर में जो अर्थ उक्त मनुवाक्य का किया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि आचार के मूलभूत बेदवाक्य को मनु ने देखा था बा नहीं ? यदि नहीं देखा था तो अब के लोग कैसे उस को देख सकते हैं ? इस लिये जब आचारों का बेदवाक्यरूपी मूल ही नहीं है तब मनु ने कैसे उन को प्रमाण कहा ! इस लिये उक्त मनु बाक्य का कोई दूसरा ही अर्थ करना चाहिये और यदि दूसरा अर्थ न हो सकै तो भी यही कहना चाहिये कि बिना बेदरूपी मूल के, मनु ने जो आचारों को प्रमाण कहा है यह बहुत ही अनुचित है इस से उन के उस कथन को नहीं मानना चाहिए । और यदि आचारों के मूलभूत बेदवाक्यों को मनु ने देखा था तो जैसे अन्य बेदवाक्यों के अर्थ को अपने स्मृतिवाक्यों में बांध दिया वैसे ही आचार के मूलभूत बेदवाक्यों के अर्थों को क्यों नहीं अपने वाक्यों में बांधा ? इस प्रश्न का क्या उत्तर है ?

इस लिये सदाचार और आत्मतुष्टि, धर्म के विषय में कदापि नहीं प्रमाण हो सकते ।

सि०—"अपि बा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्" (पू० मी० द० अध्या० १ पा० ३ सू० ७) (अप्रमाण होने के लोभादिरूपी दृष्टकारण के बिना, जो आचार, केवल धर्मबुद्धि से साधुओं के किये हुए हैं वे धर्म में प्रमाण होंगे) इस से यह निकलता है कि जो अपने शरीर की स्थिति, बा सुख, अथवा किसी अपने अर्थ के लिये जो आचार किये जाते हैं वे भोजनादि के नाईं धर्म में प्रमाण नहीं हैं । और उन के करने वाले शिष्ट ही लोग उन को धर्म नहीं मानते । तथा जो आचार केवल धर्म समझ कर शिष्टबैदिकों के किये हुए हैं वे तो अवश्य धर्म हैं क्योंकि जैसे स्मृतियों के कर्ता मनु आदि बैदिक हैं वैसे इन आचारों के कर्ता भी । वे आचार ये हैं जैसे—देना, जप, होम, मातृयज्ञ, (देवीपूजा) इन्द्रध्वज का उत्सव, (सुबृष्टि के लिये यह किया जाता है और वर्तमानसमय में भी नेपालनगर में प्रत्येक बर्षा ऋतु में होता है और जहां यह उत्सव होता है उस चौक का नाम ही 'इन्द्रचौक' है जो कि राजभवन से थोड़ी दूर है और इसी के न होने से इस देश में अवर्षण से दुर्दशा छाई रहती है) देवमन्दिरों की यात्रा, कार्तिकशुक्लचतुर्थी तिथि में

कन्यकानां च सर्वासां चतुर्थ्याद्युपवासकाः ।
प्रदीपप्रतिपद्दानमोदकापूपपायसाः ॥

अनग्निपक्वमाघसप्तमीपौर्णमासीफाल्गुनीप्रतिपद्वसन्तोत्सवादीनां नियमक्रियाप्रमाणं न शास्त्रादृते किञ्चिदस्ति । स्मृतिकाराश्चा'चाराश्चैव साधूनां देशकालकुलजातिधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणमि'ति वेदाविरुद्धानामाचाराणां सामान्यतः प्रामाण्यमनुमन्यन्ते । तथाऽनध्यायाधिकारे 'ऊर्ध्वं भोजनादुत्सव' इति देशनगरोत्सवप्रामाण्याश्रयणम् । वेदेऽपि च महाव्रते 'प्रेङ्खमारुह्य होता शंसती' त्येतद्वाक्यशेषे श्रूयते, 'यदा वै प्रजामह आविशन्ति प्रेङ्खं तर्ह्यारोहन्तीति' महःशब्दवाच्योत्सवप्रसिद्धिरनूदिता । यत्तु परिमितशास्त्रप्रमेयत्वात् धर्माधर्मयोरिह च तदसम्भवादित्युक्तं तद्वेदमूलत्वानुमानात् पूर्ववदेव प्रत्याख्येयम् । न च स्मृतिर्निर्मूला, विस्तारवचनानामपि प्रपाठकमात्रेणोपसंहारात्किमुतसङ्क्षेपवचनस्य । शक्यं

॥ भाषा ॥

सब वर्णों की कन्याओं का उपवासव्रत, और कार्तिकशुक्लप्रतिपदा तिथि में दीपदान और लड्डू, पूआ, खीर का दान और भोजन तथा कालपक्व वस्तुओं का दान भोजन, माघसुदी अचलासप्तमी का उत्सव, फाल्गुन की पूर्णिमा में होलिका और उस के अनन्तर प्रतिपद् तिथि में बसन्तोत्सव (फगुआ) इत्यादि । इन आचारों के नियम से अनुष्ठान में लोभ आदि कोई दृष्टकारण नहीं है तथा स्मृतिकर्ता महर्षिलोग भी ऐसे आचारों को प्रमाण मानते हैं जैसा कि मनु के पूर्वोक्त वाक्य में "आचारश्चैव साधूनाम्" यह सामान्यरूप से कहा है और अन्यस्मृति में भी "देशकुलजातिधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्" (देशाचार, कुलाचार, जात्याचार व धर्म में प्रमाण हैं जो कि वेद से विरुद्ध नहीं है) ऐसा कहा है । और अन्य स्मृति में भी अनध्याय के प्रकरण में "ऊर्ध्वंभोजनादुत्सवे" (देश वा नगर के उत्सव के दिन, भोजन के अनन्तर पढ़ने का अनध्याय है) यह कहा है । और वेद में भी "यदा वै प्रजा महआविशन्ति प्रेङ्खं तर्ह्यारोहन्ति" (जब प्रजाएं उत्सव करती हैं तब झूले पर चढ़ती हैं) इस वाक्य के 'मह' शब्द से उत्सवरूपी आचार का अनुवाद है । इन प्रमाणों से सदाचार का धर्म में प्रमाण होना सिद्ध है । और पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि "आचारों के विषय में मूलवेद की कल्पना नहीं हो सकती" इस का उत्तर वही है जो कि स्मृतियों के विषय में मूल वेदवाक्य की सिद्धि के लिये स्मृति के अधिकरण में कहा गया है अर्थात् अन्य मूल की कल्पना की अपेक्षा वेदवाक्यरूपी मूल की कल्पना में लाघव है इति । तथा जब यह, स्मृति के अधिकरण में सिद्ध हो चुका कि "मनु आदि की स्मृतियां वेदमूलक हैं" और मनु ने अपनी स्मृति में "आचारश्चैव साधूनाम्" इस वाक्य से सदाचार को धर्म में प्रमाण कहा है तब सदाचार के मूलभूत वेदवाक्य के अनुमान में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि वेदमूलक हुए बिना आचार कैसे धर्म में प्रमाण हो सकते हैं ?

प्र०—जब कि आचार के भेद अनन्त हैं तब उन के मूलभूत वेदवाक्य भी अनन्त ही होंगे इस कारण उन वेदवाक्यों का पाठ नहीं हो सकता इस लिये जब वे पठित नहीं हैं तब आचारों के मूल कैसे हो सकते हैं ?

उ०—अनन्त आचारों का भी एक ही वाक्य से सङ्क्षेप हो सकता है जैसे कि "सदाचाराः प्रमाणम्" इस एक लौकिकवाक्य से, इस लिये मूलभूत एक ही वेदवाक्य का अनुमान

च स्मृत्यनुरूपमेव बेदवचनमनुमातुम् ।

तथाहि ।

शिष्टैराचार्यमाणानां सतां गोदोहनादिवत् । फलसम्बन्धमप्राप्तं बोधयच्छास्त्रमर्थवत् ॥

नहि तदेवैकं शास्त्रं प्रमाणं यस्य स्वरूपमपि तत एवावगन्तव्यम् । अनेकाकारस्य हि प्रमेयस्य कश्चिदेवाकारः केनचित्प्रमाणेन प्रमीयते । तत्र प्रत्यक्षाद्यवगम्येऽप्याचारस्वरूपे दधिगोदोहनादिवत् फलसम्बन्धः शास्त्रेणावगम्यते । यागादिष्वपि च नैव स्वरूपज्ञानेन

॥ भाषा ॥

आचारों के बिषय में हो सकता है ।

प्र०—यदि आचारों के बिषय में "आचारश्चैव साधूनाम्" इस स्मृति के अनुसार किसी बेदवाक्यरूपी मूल की कल्पना होगी तो वह भी सदाचार से उपलक्षित ही होगी । ऐसी दशा में यदि उस शास्त्र के प्रचार से प्रथम भी शिष्टों के आचार होते आये तो वह पूर्ववाक्य ही व्यर्थ हो जायगा क्योंकि शिष्टों ने उस वाक्य के अनुसार से आचार नहीं किया । और यदि यह माना जाय कि उस वाक्य के उत्तरकाल में शिष्टों ने उस के अनुसार आचार आरम्भ किया, तो अन्योन्याश्रय दोष पड़ेगा क्योंकि जब सदाचार का आरम्भ हो जाय तब उसके उपलक्ष्य मूलवाक्य की सिद्धि हो, और जब उस मूलवाक्य की सिद्धि हो जाय तब उस के अनुसार आचार की सिद्धि हो, तो ऐसी दशा में मूलवाक्य की कल्पना कैसे हो सकती है ?

(उ०) बेद के अर्थ दो प्रकार के होते हैं एक वह कि जिसका स्वरूप, और किसी फल के प्रति साधन होना ये दोनों बेद ही से ज्ञात होते हैं जैसे अग्निष्टोमादि यज्ञ, क्योंकि वे पूर्व और पर की सङ्गति से बंधी हुई क्रियाओं के समूहरूपी हैं और उन के इस स्वरूप का ज्ञान प्रथम २ बेद ही से होता है तथा उन यज्ञों का स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के प्रति कारण होना बेद ही से ज्ञात होता है । और द्वितीय अर्थ यह है कि जिस का स्वरूप प्रत्यक्षादि लौकिकप्रमाण से सिद्ध है इसी से पुरुषार्थ के प्रति उसका कारण होना मात्र बेद ही से ज्ञात होता है जैसे "दध्ना जुहोति" इत्यादि बेदवाक्यों में दधि का होम करना आदि प्रत्यक्ष से सिद्ध है इस लिये उन होमादि में स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के प्रति कारण होना मात्र बेद ही से सिद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि यज्ञादिरूपी क्रियाओं का स्वरूपमात्र तो किसी समय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी ज्ञात होता है परन्तु स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के प्रति उन का कारण होना मात्र बेद ही से ज्ञात होता है ऐसे ही दानादिक्रियारूपी आचारों का स्वरूप भी प्रत्यक्षादिरूपी प्रमाणों के द्वारा पूर्व ही से सिद्ध होता है अर्थात् उस के ज्ञान में मूलभूत बेदवाक्य की अपेक्षा नहीं रहती इसी से अन्योन्याश्रयदोष नहीं हो सकता क्योंकि अन्योन्याश्रयदोष वहां होता है जहां अन्योन्य के ज्ञान में अन्योन्य की अवश्य अपेक्षा होती है ।

प्र०—यदि मूलभूत बेदवाक्य के बिना ही आचारों में शिष्टों की प्रवृत्ति होती है तो जैसे भोजनादि में तृप्ति आदि फल के प्रति कारण होना ज्ञात रहता है इसी से भोजन में लोगों की प्रवृत्ति होती है वैसे ही दानादिरूपी सदाचारों में फल के प्रति साधन होना भी प्रथम ही से ज्ञात हुआ क्योंकि यदि ऐसा नहीं है तो शिष्टों की प्रवृत्ति, उन आचारों में कैसे हुई इस रीति से जब सदाचारों का स्वरूप के नाईं, फल के प्रति कारण होना भी मूलभूत बेदवाक्य के बिना अर्थात् लौकिक प्रमाण ही से ज्ञात हो गया तो वह मूल बेदवाक्य व्यर्थ क्यों नहीं हुआ ?

(उ०) मूलभूत बेदवाक्य जैसे अनादि है वैसे ही शिष्टाचारों की परम्परा भी, तथा

शास्त्रमपेक्षितम् । फलसम्बन्धमात्रस्यैवातीन्द्रियत्वेन तदपेक्षितत्वादतो न नामोपलक्षणान्तरेण शास्त्रं प्रवृत्तमुपलभ्य शिष्टाः प्रवृत्ताः सर्वकालं तु शिष्टव्यवहारशास्त्रयोराविभागात् व्यवहारादेवापोद्धृत्य केचित्स्वर्गादिसाधनत्वेन नियम्यमानाः कादाचित्कत्वपरित्यागेन नित्यप्रयोज्या विज्ञायन्ते । तेषां चार्यावर्तनिवासिशिष्टप्रयोज्यत्वमेवोपलक्षणं वेदेनापि सरस्वतीविनशनप्लक्षप्रस्रवणादिवदुपात्तमितिशक्यमनुमातुम् ॥

ननु शास्त्रार्थकारित्वाच्छिष्टत्वं गम्यते तदा । शिष्टत्वेन च शास्त्रोक्ति रित्यन्योन्याश्रयं भवेत् । नैव तेषांसदाचार-निमित्ताशिष्टता मता । साक्षाद्विहितकारित्वाच्छिष्टत्वे सति तद्वचः ॥

प्रत्यक्षवेदविहितधर्मक्रियया हि लब्धशिष्टत्वव्यपदेशाः यत्परम्पराप्राप्तमन्यदपि

॥ भाषा ॥

अनादिकाल से शिष्टाचार और उस के मूलभूत बेद का अन्योन्य सम्बन्ध भी चला आता है इसी से इस बिषय में अन्योन्याश्रय अथवा मूलवाक्य के व्यर्थ होने का आशङ्का नहीं हो सकती और आचारों ही में से बहुत से आचार जिन की परम्परा अनादि है स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के साधक होने से सदा ही करने के योग्य हैं और उन्हीं के मूलभूत बेदवाक्य का कल्पना की जाती है ।

(प्र०) मातुलकन्याबिवाहादि जो आचार निन्दित हैं वे भी मूल बेदवाक्य के उपलक्षण क्यों न हों ?

(उ०) जब वे आचार स्मृतिबिरुद्ध होने के कारण स्मृति के मूलभूत बेद से बिरुद्ध हैं तब वे मूलबेदवाक्य के उपलक्षण नहीं हो सकते किन्तु आर्य्याबर्त के निवासी शिष्टों के आचार (जो कि स्मृतियों में प्रशस्त कहे हैं) ही मूलबेदवाक्य के उपलक्षण हो सकते हैं और उन्हीं के उपलक्ष्य बेदवाक्य की कल्पना होती है और ऐसी कल्पना में प्रमाण भी वे स्मृतिवाक्य ही हैं जो कि आर्य्याबर्त देश की प्रशंसा करते हैं ।

(प्र०) शिष्टाचार के प्रमाण होने में जो अन्योन्याश्रयदोष पूर्वपक्ष में दिया गया है उस का क्या उत्तर है ?

(उ०) यही उत्तर है कि यदि सदाचार ही के धारणमात्र से वे शिष्ट कहलाते और शिष्टों ही के करने मात्र से वे आचार, सदाचार, कहलाते तब तो अन्योन्यश्रयदोष होता परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि बेद में प्रत्यक्षपठित अनेकवाक्यों से बिधान किये हुए अन्योन्यकर्मों के करने से वे पुरुष शिष्ट कहे जाते हैं और वे ही लोग केवल धर्मबुद्धि से पूर्वोक्त दानादि आचारों (जिन का कि बर्त्तमान बेदभाग में बिधान नहीं मिलता) को करते हैं इसी से ये आचार शिष्टाचार कहे जाते हैं । इस रीति से जब पूर्वोक्त आचारों ही के करने से वह, शिष्ट नहीं कहलाते तब अन्योन्याश्रयदोष कैसे पड़ सकता है ?

(प्र०) यदि बेदबिहित कर्मों के करने से वे शिष्ट हैं तो शिष्ट होने में बेद की अपेक्षा आ गई तथा उन के किये हुए आचार के अनुसार मूलभूत बेदवाक्य का जब अनुमान हुआ तब बेद में भी शिष्टों की अपेक्षा हो गई इस रीति से जब शिष्ट और बेद में अन्योन्य में अपेक्षा है तब अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं है ?

(उ०) बृक्ष की उत्पात्ति में बीज की अपेक्षा होती है और बीज की उत्पात्ति में बृक्ष की, तो यहां अन्योन्याश्रयदोष क्यों नहीं पड़ता ? यह तो कह नहीं सकते कि अन्योन्याश्रयदोष

धर्मबुद्ध्या कुर्वन्ति तदपि स्वर्ग्यत्वाद्धर्मरूपमेव ।

तद्यथाशुश्रुवान्विद्वाननूचानश्च वैदिकः । पुनस्तल्लक्षितो वेदे तेनैवाध्ययनादिषु ॥

तेनाहोरात्रपौर्वापर्यवदनादित्वाद्वेदतदर्थानामितरेतराश्रयत्वाप्रसङ्गः । स्मृतिरप्याचारं वेदवचनं वोपलभ्याभ्यनुज्ञानायैवप्रवृत्तेत्यदोषः ।

यत्तु हेत्वन्तरं दृष्ट्वा वेदमूलनिवारणम् । प्रत्यक्षवेदमूलेऽपि तद्दृष्टेस्तदकारणम् ॥

॥ भाषा ॥

पड़ने से कुछ हानि नहीं है, क्योंकि यह हानि प्रत्यक्ष ही है कि वृक्ष और बीज दोनों में से किसी की उत्पत्ति न होगी क्योंकि साधारणमनुष्य भी प्रायः यह प्रश्न किया करते हैं कि प्रथम वृक्ष कि प्रथम बीज? तो ऐसी दशा में प्रश्नकर्ता यदि वृक्ष और बीज के अन्योन्याश्रयदोष का बारण कर दें तो शिष्ट और बेद के अन्योन्याश्रय का भी बारण हो जायगा ।

(प्र०) वृक्ष और बीज के अन्योन्याश्रय का यह समाधान है कि वृक्ष और बीज की परम्परा अनादि चली आती है और जिस बीजव्यक्ति की उत्पत्ति जिस वृक्षव्यक्ति से होती है उस वृक्षव्यक्ति की उत्पत्ति जैसे बीजव्यक्ति से नहीं होती किन्तु अन्य ही बीजव्यक्ति से होती है इस से अन्योन्य में अपेक्षा नहीं होती । तात्पर्य यह है कि जब बीज और वृक्ष की परम्परा अनादि है तो यह प्रश्न ही नहीं हो सकता, कि, प्रथम बीज हुआ अथवा वृक्ष, परन्तु शिष्ट और बेद के उक्त अन्योन्याश्रय का क्या समाधान है ।

(उ०) यही समाधान है कि जो प्रश्नकर्त्ता ने किया है क्योंकि शिष्टों की परम्परा और बेद, ये दोनों अनादि हैं इस से यह प्रश्न नहीं हो सकता कि, 'प्रथम बेद कि प्रथम शिष्ट'? तथा शिष्ट होने में प्रत्यक्षपठित ही बेदवाक्य की अपेक्षा है न कि कल्पना किये हुए बेदवाक्य की। और प्रत्यक्षपठित बेदवाक्य में भी शिष्टों की अपेक्षा नहीं है तो अन्योन्याश्रय कैसे हो सकता है ?

(प्र०) पूर्वपक्ष के अन्तिम उत्तर (२) के अन्त में जो खण्डन किया गया है उस का क्या समाधान है ?

(उ०) यह समाधान है कि यह कोई नियम नहीं है कि मनु आदि स्मृतिकार लोग बेद की सब शाखाओं को पढ़े थे और ऐसी दशा में यदि आचार के मूलवाक्य को मनु आदि ने बेद में प्रत्यक्ष नहीं देखा तो इतने से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि बेद में वह मूलवाक्य ही नहीं है । और यदि यह मान लिया जाय कि आचारों के मूलवाक्यों को मनु आदि ने बेद में देखा, तब भी यह प्रश्न नहीं हो सकता कि अपनी स्मृतियों में उन वाक्यों के अर्थों को उन्हों ने बिशेषरूप से क्यों नहीं लिखा ? क्योंकि जब मनु ने 'आचारश्चैव साधूनाम्' इस अपने वाक्य में आचार-सम्बन्धी बेदवाक्यों के अर्थों को सामान्यरूप से लिख दिया है तब बिशेषरूप से नहीं लिखा तो क्या हानि है ? और बिशेषरूप से न लिखने का एक यह भी कारण है कि यदि वैसा लिखते तो ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता। और उन मूलबेदवाक्यों का तात्पर्य भविष्योत्तरपुराणादि में लिखा भी है क्योंकि उन में होलिका आदि उक्त सदाचारों का बिस्तर से निरूपण है ।

(प्र०) उक्त आचारों के विषय में सामान्यरूपी एक ही मूलबेदवाक्य की कल्पना होती है अथवा पृथक् २ एक २ आचार के एक २ मूल बेदवाक्य की ?

(उ०) दोनों प्रकार की कल्पना हो सकती है क्योंकि दोनों प्रकार की कल्पनाएं निर्दोष हैं।

(प्र०) जब कि पूर्वोक्त सदाचारों से लौकिक सुखादिफल भी होते हैं तब तो सुख

वेदेपि हि बहून्येव दृष्टार्थगन्धस्पृष्टानि विधीयन्त इति न तावता वेदमूलत्वाभावः। यानि तु म्लेच्छादिसामान्यानि नियतानियतक्रियाण्यर्थसुखसाधनकृषिसेवावाणिज्यादीनि मिष्टान्नपानमृदुशयनासनरमणीयगृहोद्यानालेख्यगीतनृत्यगन्धपुष्पादिकर्माणि प्रतिषिद्धानि-तेषु नैव कस्यचिद्धर्मत्वाशङ्कास्तीति न तत्सामान्यतोदृष्टेनेतरनिराक्रियोपपत्तिः केषांचिद्धा धर्मत्वाभ्युपगमान्न सर्वेषामेव तत्प्रसङ्गः। किन्तु।

देवब्राह्मणपूजादि यत्तेषामपि किञ्चन। तत्रेष्टमेव धर्मत्वं शिष्टाचारमतं हि तत्॥

लोके हि कश्चिदाचारः शिष्टत्वेन विशिष्यते। कश्चित्तु प्राणिसामान्यप्राप्तस्तैरपि सङ्गतः॥

तत्र यः कार्यरूपेण शिष्टानेवानुवर्तते। स एव केवलो धर्मो नेतरः प्राणिमात्रगः॥

एतेन वैदिकानन्त-धर्मधीसँस्कृतात्मनाम्। आत्मतुष्टेः प्रमाणत्वं प्रसिद्धं धर्मशुद्धये॥

तथैव बहुकालाभ्यस्तवेदतदर्थज्ञानाहितसँस्काराणां वेदनियतमार्गानुसारिप्रतिभानां

॥ भाषा ॥

के लोभ से उन का किया जाना प्रसिद्ध ही है, इसी से जब लोभादिमूलक हैं तब उन को वेदमूलक कहना कैसे उचित है ?

(उ०) जब कि वेद में भी बहुत से ऐसे कर्मों का विधान किया जाता है कि जिस का फल लौकिक है जैसे 'चित्रा' आदि योगों का पशु लाभ आदि फल है तो ऐसी दशा में पूर्वोक्त आचार, यदि लौकिकफलों की कामना से किये जाते हैं तो भी उन के वेदमूलक होने में कोई असम्भव नहीं है।

(प्र०) यदि ऐसा है तो अर्थाचार और कामाचार की अपेक्षा धर्मरूपी आचार में क्या विशेष है ? और यदि यह विशेष कहा जाय कि कृषि, सेवा, वाणिज्यादिरूपी अर्थाचार, तथा अपनी स्त्री का सेवनादिरूपी कामाचार, म्लेच्छादि सब लोगों में साधारण है इस लिये वे धर्म नहीं हैं और उन की अपेक्षा उक्त धर्माचारों में यही विशेष है कि ये सब साधारण नहीं हैं, तो दान, दया, देवपूजा आदि आचार भी धर्म नहीं कहलावैंगे क्योंकि म्लेच्छ आदि में भी अपने देव की पूजा, दान, दया आदि प्रसिद्ध ही हैं। तथा यह भी नहीं कह सकते कि म्लेच्छ आदि के किये हुए दान आदि, धर्म नहीं हैं, क्योंकि तब "दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मलक्षणम्" इत्यादि स्मृतियों से विरोध हो जायगा क्योंकि इन स्मृतियों में सर्वसाधाण के लिये दान आदि धर्मों का विधान है।

(उ०) अर्थाचारों और कामाचारों की अपेक्षा पूर्वोक्त धर्माचारों में यही विशेष है कि ये शिष्टों के आचार हैं तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त दान आदि आचारों को शिष्ट त्रैवर्णिक ही करते हैं और यदि शूद्रादि भी इन आचारों को करते हैं तो शिष्ट ही बनने के लिये, इसी से शूद्रादि के किये हुए देवपूजा आदि कर्म भी शिष्टाचार के अनुसारी होने से धर्म कहला सकते हैं। और अन्य अर्थात् सामान्य दान और दया आदि में तो मनुष्यमात्र का अधिकार है इसी से वे जैसे शिष्ट त्रैवर्णिकों के धर्म हैं वैसे ही अन्यलोगों के भी इस लिये पूर्वोक्त शिष्टाचार धर्म में अवश्य प्रमाण हैं

ऐसे ही वेद के द्वारा अनन्तधर्मों के ज्ञान से जिन के अन्तःकरणों का सँस्कार दृढ हो चुका है ऐसे साधुओं अर्थात् शिष्टों का आत्मतुष्टि भी वहां धर्मनिर्णय में मूल हो सकती हैं जहां कि धर्म में कोई सन्देह हो, क्योंकि जैसे वेदरूपी मूल के बिना पूर्वोक्त सदाचार नहीं हो सकते इस लिये वे सदाचार, वेदमूलक हैं ऐसे ही वैदिक साधुओं का आत्मतुष्टि भी वेदरूपी मूल के बिना नहीं हो सकती इस लिए वह भी वेदमूलक है। और पूर्वोक्त "आचारश्चैव साधूनाम्" इस

नोन्मार्गेण प्रतिभानं सम्भवतीत्याश्रित्योच्यते। 'यदेव किञ्चनानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवती'ति वैदिकवासनाजनितत्वाद्वेदएव स भवति ॥

॥ तथाहि ॥

यथा रुमायां लवणाकरेषु मेरौ यथा बोज्वलरुक्मभूमौ।
यज्जायते तन्मयमेव तत्स्यात् तथा भवद्वेदविदात्मतुष्टिः ॥
इदं च विद्वद्वचनाद्विनिर्गतं प्रसिद्धरूपं कविभिर्निरूपितम्।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

बहुदिनाभ्यस्तधर्मव्याप्तात्मनो हि न कथञ्चिदधर्मकरणरूपात्मतुष्टिरन्यत्र सम्भवतीति

॥ भाषा ॥

वाक्य के "साधूनाम्" इस शब्द का "आत्मनस्तुष्टिरेव च" इस वाक्य में भी सम्बन्ध होने से यह अर्थ स्पष्ट ही निकलता है कि साधुओं 'बेदाभ्यासी शिष्टों' ही की आत्मतुष्टि धर्म में प्रमाण है न कि अन्यों की। और यहां शिष्ट उसी को कहा है जो कि बेद से बेदार्थ का भली भांति निश्चय कर उस के अनुसार कर्मों को करता है क्योंकि ऐसे मनुष्य की प्रतिभा बेदविरुद्ध मार्ग पर नहीं जा सकती। जैसा कि "यदेव किञ्चनानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति" (बेद से बेदार्थ के ज्ञान का सदा अभ्यास रखने वाला पुरुष, धर्म के सन्देह में अपनी प्रतिभा से जो कुछ निर्णय कर देता है वह बेद ही है) इस बेदवाक्य में साक्षात् ही कहा हुआ है। और ठीक भी यही है क्योंकि जैसे लवण के खाते में जो कुछ उत्पन्न होता है वह लवणमय ही होता है, तथा सुवर्ण के पर्वत अर्थात् सुमेरु में जो कुछ उत्पन्न होता है वह सुवर्णमय ही होता है वैसे ही बेदार्थ के अभ्यासी अनन्तरोक्त साधु के अन्तःकरण में प्रतिभा के द्वारा जो कुछ निर्णय होता है वह बेदमय ही होता है। और इस विषय को अनेक बिद्वानों ने कहा है तथा कवियों ने भी इस विषय का प्रसिद्धरूप से निरूपण किया है जैसा कि अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में शकुन्तला को देख कर "यह कन्या मेरे बिवाह के योग्य है वा नहीं"? इस सन्देह के अनन्तर दुष्यन्त ने "असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यं स्यामभिलाषि मे मनः" (इस में कुछ सन्देह नहीं है कि यह कन्या क्षत्रिय के बिवाहने योग्य है क्योंकि मेरा निर्दोष हृदय इस कन्या को चाहता है) इस पूर्व श्लोकार्द्ध में आत्मतुष्टि (अपनी इच्छा) ही के अनुसार उक्त सन्देह के निवारण से निर्णय किया और "अपनी इच्छामात्र से धर्म का निर्णय कर लेना कैसे उचित है"? इस शङ्का को "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" (ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि जिस विषय में धर्म के होने और न होने का सन्देह होता है वहां साधुओं की अन्तःकरण की प्रवृत्ति अर्थात् आत्मतुष्टि प्रमाण हुआ करती है अर्थात् सन्देह को दूर कर निश्चय कराती है तो जब मेरी आत्मतुष्टि इस कन्या के बिवाह में हो चुकी तब इस के बिवाह में धर्म और अधर्म का सन्देह कैसे ठहर सकता है?) इस उत्तरार्द्ध से साधुओं की आत्मतुष्टि को धर्म में प्रमाण बतला कर उक्त शङ्का को भी निवृत्त किया। इन उक्त प्रमाणों और युक्तियों से यह सिद्ध हो गया कि साधुओं की आत्मतुष्टि, धर्म से अन्य अर्थात् अधर्म में नहीं जाती और इस में कारण भी बेद से बेदार्थज्ञान का सदा अभ्यास ही है इस लिये साधुओं की आत्मतुष्टि भी सदाचार के नाईं धर्म में प्रमाण है। इन्हीं सब तात्पर्यों को मन में ले कर मनुजी ने कहा है कि "आत्मनस्तुष्टिरेव च" जिस का यह अर्थ है कि साधुओं की

धर्मत्वेनाभ्यनुज्ञायते ॥

यद्वा शिष्टात्मतुष्टीनां वचनादेव धर्मता । पुण्यकृद्ध्यानवत्तस्मादाचारेष्वपि सा तथा ॥
यथा वा वरदानाद्वा देवताराधनोद्भवे । यद्वक्ष्यसि स मन्त्रस्ते विषघ्न इति मन्त्रिते ॥
लोकः स्मरति तं मन्त्रं विषापहरणादिषु । यथा वा सर्पसिद्धान्ते नकुलो यां किलौषधिम् ।
दन्तैर्गृह्णाति तामाहुः समस्तविषहारिणीम् । यथा वा यां श्रुतं कश्चिदध्यावसति पुण्यकृत् ।
तत्सम्पर्कपवित्रत्वात्सेव्यते पुण्यकारणम् । तथाचारात्मतुष्ट्यादि धर्म्यं धर्ममयात्मनाम् ।
वेदोक्तमिति निश्चित्य ग्राह्यं धर्मबुभुत्सुभिः ॥ इति ॥

यत्तु प्रजापतिरुपसमभ्यैत्स्वां दुहितरमहल्यायां मैत्रेय्यां इन्द्रो जार आसीदित्येवमादि-दर्शनादितिहासदर्शनाच्च शिष्टाचारेषु धर्मातिक्रमं पश्यद्भिः शिष्टाचारप्रामाण्यं दुरध्यवसान-मिति तत्रोच्यते ॥

श्रुतिसामान्यमात्राद्वा न दोषोऽत्र भविष्यति ।
मनुष्यप्रतिषेधाद्वा तेजोबलवशेन वा ॥
यथा वा न विरुद्धत्वं तथा तद्गमयिष्यति ।

॥ भाषा ॥

आत्मतुष्टि भी धर्ममूल अर्थात् सन्देह होने पर धर्म के निश्चय का कारण है ।

इस बात पर ध्यान देना भी अत्यावश्यक है कि साधुओं के भी वे ही आचार और आत्मतुष्टि धर्म में प्रमाण हैं जो कि श्रुति और स्मृति से विरुद्ध न हों तथा वे ही आचार और आत्मतुष्टि श्रुति और स्मृति से विरुद्ध नहीं होते जो कि लोभ और शोक आदि लौकिककारण से उत्पन्न नहीं होते । इसी से " अपि वा कारणाग्रहणे " इस पूर्वोक्त सिद्धान्तसूत्र में जैमिनिमहर्षि ने स्पष्ट कहा है कि " जिन आचारों और आत्मतुष्टियों का लोभादिरूपी दृष्टकारण नहीं हैं वे धर्म में प्रमाण होंगे " इसी से उक्त मनुवाक्य का भी यही तात्पर्य है कि साधुओं के वे ही आचार और आत्मतुष्टि धर्म में प्रमाण हैं जो कि श्रुति और स्मृति से विरुद्ध नहीं हैं । और यदि वे आचार और आत्मतुष्टि, श्रुति और स्मृति में प्रत्यक्ष विशेषरूप से विहित नहीं हैं तो वे ' श्रुति ' और 'स्मृति' कहने में विशेष से अन्तर्गत नहीं हो सकते इसी लिये मनु ने उन को पृथक् प्रमाण कहा है ।

यद्यपि पूर्वपक्ष में जो धर्मव्यतिक्रम और साहस बड़ोंके दिखलाये गये वे यदि सत्य भी हों तो प्रकृत में कोई हानि नहीं हो सकती क्योंकि उन सब के, कामशोकादि अनुचित मूलकारण प्रत्यक्ष हैं इस लिये वे सदाचार धर्म में प्रमाण नहीं हैं और जो दीपदानादिरूपी सदाचार धर्म के विषय में प्रमाण कहे गये हैं उन का कोई मूलकारण अनुचित नहीं है तथापि प्रसंग से पूर्वोक्त धर्मव्यतिक्रमों और साहसों में सत्यासत्य का विवेक भी किया जाता है ।

प्रजापति का धर्मव्यतिक्रम जो श्रुति से दिखलाया गया, वह सत्य नहीं है क्योंकि श्रुति में 'प्रजापति' शब्द का सूर्य अर्थ है क्योंकि सूर्य प्रजापालन करते हैं और सूर्यरूपी अर्थ होने में प्रमाण भी उसी श्रुति में कहा है कि 'उषा' (प्रातः काल) अर्थात् प्रातःकाल में सूर्य का उदय होता है । और उषा को जो दुहिता 'पुत्री' कहा है उस का भी पुत्री अर्थ नहीं है किन्तु "पुत्री के सदृश" अर्थ है अर्थात् जैसे पिता से पुत्री उत्पन्न होती है वैसे उषा भी सूर्य्य से उत्पन्न है । अब इस श्रुति में प्रातःकाल के सूर्योदय का वर्णन स्पष्ट है और धर्मव्यतिक्रम का सम्बन्ध इस श्रुति में

प्रजापतिस्तावत्प्रजापालनाधिकारादादित्यएवोच्यते । स चारुणोदयवेलामुषसमुद्यन्नभ्यैत् सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते तस्यां चारुणकिरणाख्य बीजनिक्षेपात्स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः । एवं समस्ततेजाः परमैश्वर्यनिमित्तेनेन्द्रशब्दवाच्यः सावितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्यायाः क्षयात्मकजरणहेतुत्वाज्जीर्यत्यस्मादनेनैवोदितेनेत्यादित्यएवाहल्या जारइत्युच्यते नतु परस्त्रीव्यभिचारात् । नहुषेण पुनः परस्त्रीप्रार्थनानिमित्तानन्तरकालाजगरत्वप्राप्त्यैवात्मनोदुराचारत्वं प्रख्यापितम् शच्याश्च पतिभक्तिनिमित्तपुण्यातिशयजानेतन्निराकरणावाप्तप्रभावंलाभःख्यात एव ॥

बशिष्ठस्यापि यत्पुत्रशोकव्यामोहचेष्टितम् । तस्याप्यन्यनिमित्तत्वान्नैव धर्मत्वसंशयः ॥

॥ भाषा ॥

कुछ भी नहीं है किन्तु उषा में सूर्य्य अपने किरणरूपी बीज को डालते हैं इसी से सूर्य्य और उषा में पुरुष और स्त्री का रूपक लगा कर उपाख्यान में प्रजापतिशब्द को ब्रह्मपरक बना कर आख्यायिकारूप से कल्पित कथा लिखी हुई है जिस का केवल यही तात्पर्य है कि ब्रह्मा से भी अपराध हो जाता है इस लिये बहुत चैतन्य हो कर अपराधों से बचना चाहिये । और इसी उक्त रीति से उस उपाख्यान का यही श्रुति मूल है ।

ऐसे ही इन्द्र का धर्मव्यतिक्रम भी असत्य ही है क्योंकि उस की कथा का मूल यह श्रुति है "अहल्यायां मैत्रेय्यामिन्द्रो जार आसीत्" (इन्द्र अहल्या के जार हैं) यहां अहल्या रात्रि को कहते हैं क्योंकि 'अहन्' [दिन] में जो लीन हो "नष्ट हो" उसे अहल्या कहते हैं और रात्रि, दिन में लीन हो जाती है इस लिये वही अहल्या है तथा 'इन्द्र' शब्द का यहां सूर्य्य अर्थ है क्योंकि इन्द्र शब्द का बड़ा ऐश्वर्यवाला अर्थ होता है और जार का जरण [नाश] करनेवाला अर्थ है इस से इस श्रुति का यह अर्थ हुआ कि "सूर्य्य रात्रि का नाश करनेवाला है" अर्थात् उस के उदय से रात्रि नष्ट हो जाती है ।

परन्तु इन्द्र शब्द का देवराज अर्थ भी हो सकता है और जार शब्द का उपपति (व्यभिचार करनेवाला) भी अर्थ होता है तथा अहल्या शब्द स्त्रीलिङ्ग होने से स्त्री का भी नाम हो सकता है इसी से मालतीमाधवादि नाटक के नाईं इन्द्र के व्यभिचार तथा गौतम के शाप से उन के शरीर में सहस्र भग होने और गौतम के अनुग्रह से उन भगों के नेत्ररूपी होने की कथा पौराणिक उपाख्यानों में रचित है जिस का केवल यही तात्पर्य है कि परस्त्रीगमन का दुःखरूपी फल इन्द्र को भी हुआ इस लिये परस्त्रीगमन नहीं करना चाहिये । तथा बाल्मीकीयरामायण में जो अहल्या के उद्धार की कथा है वह भी श्रीरामचन्द्र जी के माहात्म्यवर्णन के लिये कल्पित आख्यायिका ही है । और अनन्तरोक्त प्रकरण में पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानों के लिये जो व्यवस्था दिखलायी गई है उस के अनुसार वही निर्णय उचित है जो यहां किया गया और उक्त उपाख्यान यदि उक्तश्रुतिमूलक नहीं और सत्य ही अर्थात् स्वतन्त्र है तो भी इन्द्र के दुराचार का जब दुःखफल इसी में कहा है इस से इस को कोई सदाचार नहीं कहता है ।

तथा नहुष का धर्मव्यतिक्रम सत्य ही है और उन्हों ने उस का फल भी पाया कि अजगर हुए । तथा बाशिष्ठ का पूर्वोक्त धर्मव्यतिक्रम सत्य ही है इसी से वह धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि जो आचार केवल धर्मबुद्धि से किया जाता है वही धर्म के लिये आदर्श (दर्पण) होता है।

यो हि सदाचारः पुण्यबुद्ध्या क्रियते स धर्मादर्शत्वं प्रतिपद्येत यस्तु कामक्रोधलोभ-मोहशोकादिनोपलभ्यते स यथाविधिप्रतिषेधं वर्तिष्यते तेन विश्वामित्रस्यापि यद्रागद्वेष-पूर्वकमपि तपोबलारूढस्य चरितं तत् 'सर्वं बलवतः पथ्य' मित्यनेन न्यायेन महान्ति च तपांसि कृत्वा तानि क्षयं नयत उत्तरकालं वा पापशुद्धिं प्रायश्चित्तैः कुर्वाणस्य जीर्यत्यपि। मन्दतपसां तु गजैरिव महावटकाष्ठादिभक्षणमात्मविनाशायैव स्यात् द्वैपायनस्यापि 'गुरु-नियोगादपतिरपत्यलिप्सुर्देवरान्' 'गुरुप्रेरितानृतुमतीयाया' दित्येवमागमान्मातृसम्बन्धभ्रातृ-जायापुत्रजननं प्राक्कृतपश्चात्करिष्यमाणतपोबलेन नातिदुष्करम्। अन्योऽपि यस्तादृक्तपो-बलोनिर्वहेत्स कुर्यादेव। रामभीष्मयोस्तु स्नेहापितृभक्तिवशात् विद्यमानधर्ममात्रार्थदारयोरेव साक्षाद्व्यवहितापत्यकृतपित्रानृण्ययोर्यागसिद्धिः। हिरण्मयसीताकरणं च लोकापवादभिया-

॥ भाषा ॥

और जो आचार काम, क्रोध, लोभ, मोह और शोकादि के कारण से होता है वह श्रुति और स्मृति के विधि और निषेध के अनुसार कोई धर्म का आदर्श और कोई अधर्म का आदर्श होता है।

ऐसे ही विश्वामित्र का उक्त आचार भी अधर्म ही है क्योंकि उन्हों ने तीन कारण से वैसा किया एक तो आपत्काल में त्रिशङ्कु ने उन के कुटुम्ब का पालन किया उस का बदला उन को देना था दूसरे उन को अपना प्रभाव दिखलाना था कि चाण्डाल को भी यज्ञ करा कर उसी शरीर से उस को मैं स्वर्ग पहुंचा सकता हूं और इस कर्म से जो पाप है उस को अपने क्लेशरूपी अनेक तपस्याओं के थोड़े से अंश को प्रायश्चित्तरूप से दे कर नाश भी कर सकता हूं। तीसरे बशिष्ठ के कथनानुसार पिता के शाप से त्रिशङ्कु चाण्डाल हुए थे, और बिश्वामित्र को बशिष्ठ से उस समय द्वेष था।

कृष्णद्वैपायनब्यास का भी धर्मव्यतिक्रम इतने अंश में सत्य है कि ब्रह्मचारी को वैसा नहीं करना चाहिए तथा यद्यपि वागूदत्ता बिधवा स्त्री में देवर का नियोग कलि से अन्य युग में शास्त्रबिहित है तथापि चित्राङ्गदादि, ब्यास के कनिष्ठभ्राता थे तथा अम्बालिकादि का बिवाह उन के साथ पूर्णरूप से हो चुका था न कि वागूदानमात्र, इस से उन स्त्रियों के साथ ब्यास का वह काम अनुचित ही था परन्तु केवल वंशच्छेद से बचने और माता की आज्ञा पालने के निमित्त उन्हों ने ऐसा किया न कि अपने कामसुख के लिये। तथा अपने सागराकार तपोराशि के बिन्दुतुल्य एक छोटे से अंश को प्रायश्चित्तरूप से दे कर उस धर्मव्यतिक्रम का नाश भी कर दिया। और अब भी यदि कोई वैसा तपस्वी हो तो वैसी दशा में एक बार वैसा कर के भी पापदुःख से बँच सकता है।

ऐसे ही श्रीरामचन्द्र जी का धर्मव्यतिक्रम मिथ्या ही है क्योंकि बिवाह के तीन प्रयोजन हैं (१) पुत्र (२) यज्ञ का अनुष्ठान (३) रतिसुख, ये तीनों यद्यपि श्री सीता से उन के सिद्ध थे और रतिसुख के लिये उन्हों ने एक स्त्री का व्रतधारण भी किया था तथापि सीता के त्याग-समय में केवल यज्ञ के लिये द्वितीय बिवाह उन्हों ने अवश्य किया। रामायणादि में यद्यपि इस बिवाह की चर्चा नहीं है तथापि थोड़े ही समझने की बात है कि ऐसे मर्य्यादापुरुषोत्तम हो कर बिना पत्नी के वह यज्ञ कैसे कर सकते थे?

(प्र०) यदि ऐसा था तो यज्ञ के समय में अपने समीप श्रीरामचन्द्र जी ने सुवर्ण की सीता बनवा कर क्यों स्थापित किया था?

(उ०) लोगों को यह चेतावने के लिये सुबर्ण की सीता स्थापित किया था कि मैं

त्यक्तसीतागतानृशंस्याभावाशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । भीष्मश्च ।

भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् । सर्वे तेनैव पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥

इत्येवं विचित्रवीर्यक्षेत्रजपुत्रलब्धपितृॠणत्वः केवलयज्ञार्थपत्नीसम्बन्ध आसीदित्यर्थापत्त्याऽनुक्तमपि गम्यते ॥

यो वा पिण्डं पितुः पाणौ विज्ञातेऽपि न दत्तवान् ।
शास्त्रार्थातिक्रमाद्भीतो यजेतैकाक्यसौ कथम् ॥

॥ भाषा ॥

निर्मूल लोकापवाद को भी नहीं चाहता इसी लिये केवल मैंने सीता का त्याग किया नहीं तो वास्तव में सीता में कोई अपराध न था इसी से सीता में मेरा प्रेम अब भी पूर्ववत् है जिस कारण सुवर्ण की सीता यह मेरे समीप स्थापित हैं । ऐसे ही भीष्म का भी पूर्वोक्त धर्मव्यतिक्रम मिथ्या ही है क्योंकि भीष्म ने सत्यवती के पिता के समक्ष यह प्रतिज्ञा की थी " अपत्यहेतोरपि च करोम्येवद्विनिश्चयम् अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति " (हे दाश मल्लाह) अपने लड़के के लिये भी मैं यह निश्चय करता हूं कि आज से मेरा ब्रह्मचर्य ही रहेगा अर्थात् मैं स्त्रीसङ्ग न करूंगा जिस से कि मेरे पुत्र न होगा इस वाक्य में " अद्य प्रभृति " (आज से) इस शब्द से स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि इस प्रतिज्ञा से पहिले उन का ब्रह्मचर्य न था किन्तु विवाह हुआ था और उन की स्त्री वर्तमान थी (नहीं तो यह कहते कि मैं बिवाह न करूंगा) परन्तु पुत्र न था तो ऐसी दशा में अपनी पत्नी के साथ यज्ञ करना उचित ही था ।

(प्र०) तब भी ऋतुकाल में पत्नीगमन न करने से उन का धर्मव्यतिक्रम क्यों नहीं हुआ ?

(उ०) जैसे वेदाध्ययन नित्यकर्म है परन्तु नैमित्तिक आशौच से उस का बाध होता है अर्थात् आशौच में वेदाध्ययन नहीं किया जाता ऐसे ही ऋतुकाल में पत्नीगमन नित्य है परन्तु पितृभक्ति से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करना नैमित्तिक है इस कारण उक्तप्रतिज्ञा से उक्तगमन का बाध ही होता है इसी से ऋतुकाल में पत्नीगमन न करने से उन का धर्मव्यतिक्रम नहीं हुआ ।

(प्र०) भीष्म के बिवाह का उपाख्यान भारत में क्यों नहीं लिखा गया ?

(उ०) भीष्म के बिवाह में कोई अद्भुत वृत्तान्त नहीं था इस लिये यह नहीं लिखा गया ।

(प्र०) तब किस प्रमाण से यह ज्ञात होता है कि उन का बिवाह हुआ था ?

(उ०) " आज से मेरा ब्रह्मचर्य होगा " यह भीष्म की पूर्वोक्त प्रतिज्ञा ही उन के बिवाह होने में प्रथम प्रमाण है क्योंकि इस से स्पष्ट बिदित होता है कि इस प्रतिज्ञा से पूर्व भीष्म गृहस्थ थे और द्वितीय प्रमाण यह है कि जो भीष्म, शास्त्र पर ऐसा बिश्वास रखते थे कि भूमि से साक्षात् निकले हुए, अपने पिता के हस्त का भी अनादर कर उस पर श्राद्धपिण्ड नहीं दिया किन्तु शास्त्रानुसार कुशों ही पर दिया जैसा कि भीष्म ने स्वयं कहा है कि " श्राद्धकाले मम पितुर्मया पिण्डः समुद्यतः । तं पिता मम हस्तेन भित्त्वा भूमिमयाचत ॥ नैष कल्पविधिर्दृष्ट इति निश्चित्य चाप्यहम् । कुशेष्वेव तदा पिण्डं दत्तवानविचारयन् " ॥ (श्राद्ध के काल में जब पिता के लिये मैंने पिण्ड उठाया उसी समय भूमि को भेदन कर अपना हाथ निकाल पिता ने साक्षात ही पिण्ड को माँगा परन्तु शास्त्र में पिता के हाथ पर पिण्ड देने का कोई बिधान नहीं है इस लिये मैंने निस्सन्देह कुशों ही पर पिण्ड रख दिया) उन के बिषय में इस बात का सम्भव ही नहीं हो सकता कि पत्नी के बिना वे अश्वमेध किये होंगे ।

धृतराष्ट्रोऽपि व्यासानुग्रहादाश्चर्यपर्वणि पुत्रदर्शनवत्क्रतुकालेऽपि दृष्टवानेव। शापानुग्रहसमर्था हि महर्षयः श्रूयन्ते। तद्यथैव तद्वचनादसावन्धो जातो विज्ञायते तथा यज्ञानुष्ठानवचनात्तावति काले दृष्टवानित्यर्थापत्त्या सुज्ञानम्। यद्वा, यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेष्विति, दानार्थएवायं यजिर्भविष्यति। क्रतुफलसमानानि च दानतपश्चरणादीन्यपि श्रूयन्ते तत्कारणात्क्रतुक्रियोपचारः।

या चोक्ता पाण्डुपुत्राणामेकपत्नीविरुद्धता। साऽपि द्वैपायनेनैव व्युत्पाद्य प्रतिपादिताः॥

॥ भाषा ॥

धृतराष्ट्र का भी पूर्वोक्त धर्मव्यतिक्रम मिथ्या ही है क्योंकि जैसे व्यास ही के वाक्य से धृतराष्ट्र अंधे उत्पन्न हुए तथा भारतयुद्ध के समय कृष्णद्वैपायनव्यास ने युद्ध देखने के लिये उन को नेत्र देना चाहा और युद्ध के बहुत पश्चात् धृतराष्ट्र को नेत्रेन्द्रिय दे कर अपने तपःप्रभाव से उन के मृतपुत्रों को बुला कर व्यासजी ने उन को दिखला दिया (जैसी कि कथा आश्चर्यपर्व में लिखी है) वैसे ही यज्ञसमय में व्यास जी ने उन को अवश्य नेत्र दिया होगा जिस से कि उन्हों ने यज्ञ किया और पाण्डु के दिये हुए धन से यज्ञ करना उन का कुछ अनुचित नहीं है।

और पाण्डु के पुत्रों का जो धर्मव्यतिक्रम पूर्वपक्ष में कहा गया वह भी ठीक नहीं है क्योंकि उस के विषय में वही समाधान यथार्थ है जो कि महाभारत ही में कृष्णद्वैपायनव्यास ही का कहा हुआ है कि "कुमारी चैव तन्वङ्गी वेदिमध्यात्समुत्थिता। श्यामा पद्मपलाशाक्षी पीनोन्नतपयोधरा॥ द्रौपदेषा हि सा यज्ञे सुता ते देवरूपिणी। पञ्चानां विहिता पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता॥ स्वर्गश्री पाण्डवार्थाय समुत्पन्ना महामखे" (हे द्रुपद कुमारी पतली श्यामा, स्थूल और उच्च स्तन वाली और कमलपत्रों के समान नेत्र वाली तुम्हारी देवरूपिणी पुत्री यज्ञवेदी के मध्य से निकली इसी से कृष्णा स्वर्गलोक की श्री पार्षती, पाण्डवों के लिये यज्ञ में उत्पन्न हुई इस लिये वैदिकविधि के अनुसार यह पांचो की पत्नी है) जिस का तात्पर्य यह है कि युवावस्था की कन्या और यज्ञवेदी से उत्पन्न द्रौपदी, ब्राह्मणादिवर्ण में अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि योनिज नहीं है और योनिज ही के लिये वेद और शास्त्र में निषेधवाक्य हैं इसी से अश्वमेधादियज्ञों का यह फल है कि स्वर्गलोक में उर्वशी आदि स्त्रियों का भोग मिलता है क्योंकि यज्ञकर्ता का शरीर योनिज नहीं होता और वहां के उर्वशी आदियों का शरीर योनिज नहीं है तो ऐसी दशा में द्रौपदी के पांच पति होने से कोई धर्मव्यतिक्रम नहीं है।

(प्र०) यद्यपि द्रौपदी योनिज नहीं थी तथापि पाण्डव लोग योनिज होने से मनुष्य थे तो उन का धर्मव्यतिक्रम क्यों नहीं है ?

(उ०) इस का उत्तर भी भारत ही में व्यास ही जी ने दिया है कि "लक्ष्मीश्चैषा पूर्वमेवोपदिष्टा भार्या चैषां द्रौपदी दिव्यरूपा। कथं हि स्त्री कर्मणोऽन्ते महीतलात् समुत्तिष्ठेदन्यथा- दैवयोगात्" (मैं पूर्व ही यह कह चुका हूं कि दिव्यरूपवाली यह द्रौपदी लक्ष्मी और पांच पाण्डवों की भार्या विहित है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो दैव (प्रारब्धकर्म) की अद्भुतघटना के बिना, यज्ञकर्म के अन्त में पृथ्वीतल से यह कैसे निकलती) तात्पर्य यह है कि द्रौपदी लक्ष्मी थीं और लक्ष्मी का भोग अनेक पुरुष कर सकते हैं। और इसी से यह कथा भारत ही में है कि लक्ष्मी ने मनुष्यरूप धारण कर पति के लिये तप करते २ वृद्धा हो गई अन्त में श्रीशिवजी ने आ कर कहा कि वर मांगो, लक्ष्मी ने क्षोभ से पति पति ऐसा पांच बार कहा तदनन्तर शिवजी ने यह कहा कि

यौवनस्थैव कृष्णा हि वेदिमध्यात्समुत्थिता। सा च श्रीः श्रीश्च भूयोभिर्भुज्यमाना न दुष्यति॥

अतएव चोक्तम्।

इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं जगाद विप्रर्षिरतीतमानुषम्।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि॥ इति।

नहि मानुषीष्वेवमुपपद्यते तेनातीतमानुषमित्युक्तम्। अतएव वासुदेवेन कर्ण उक्तः "षष्ठे च त्वामहनि द्रौपदी पर्युपस्थास्यती"ति। इतरथा हि कथं प्रमाणभूतः सन्नेवं वदेत्। अथवा बह्व्य एव ताः सदृशरूपा द्रौपद्य एकत्वेनोपचरिता इति व्यवहारार्थापत्त्या गम्यते। यद्वा नार्यर्जुनस्यैव केवलस्य भविष्यति। साधारणप्रसिद्धिस्तु निश्छिद्रत्वाय दर्शिता॥

यथा युधिष्ठिरोपदेशात्सभामध्यमानीयमाना सहसैव रजस्वलावेषं सपुत्रकस्य धृतराष्ट्रस्यापयशउत्पादयितुमात्मानं प्रख्यापयितुं द्रौपदी कृतवती तथैव केवलार्जुनभार्याया एव सत्याः श्रीत्वं च जननेनाविदितं परस्परसन्धानातिशयं च भेदप्रयोगानवकाशार्थं दर्शयितुं

॥ भाषा ॥

तुम ने पांच बार जो 'पति' का उच्चारण किया इस लिये जन्मान्तर में तुम को पांच पति मिलैंगे। ऐसा सुन कर लक्ष्मी ने "यदि मे पतयः पञ्च बरमिच्छामि याचितुम्। कौमारमेव तत्सर्वं सङ्गमे सङ्गमे भवेत्" (यदि मेरे पांच पति होंगे तो मैं एक बर और मांगती हूं कि प्रत्येक पुरुष के सङ्गम के अनन्तर मैं सर्वथा कुमारी ही हो जाऊं अर्थात् मेरे किसी अंग में कोई बिकार रह न जाया करै लक्ष्मी ने यह बर मांगा और श्रीशिवजी ने दिया। भारत में यह भी कहा है कि 'इदञ्च तत्रा' (बिप्रर्षि अर्थात् व्यास ने वहां एक अति आश्चर्यरूप और अति उत्तम तथा मनुष्यस्वभाव से बिलक्षण यह बात भी कहा जिस से कि वह महानुभावा द्रौपदी प्रतिदिन कन्या हीं हो जाती थीं) तथा कृष्णभगवान् ने भी कर्ण को दुर्योधन के ओर से तोड़ने के लिये बहुत सा प्रलोभन दिखला कर यह कहा कि मातृसम्बन्ध के अनुसार तुम पाण्डवों के ज्येष्ठ भ्राता होते हौ इस लिये पाण्डवलोग इस राज्य को जीत तुम्हीं को इस का राजा बनावैंगे तथा द्रौपदी भी प्रत्येक छठवें दिन तुम्हारे समीप आया करैंगी। यदि द्रौपदी मनुष्य होती तो ऐसे समय में कृष्णभगवान् ऐसा न कहते और कर्ण भी अवश्य विशेषरूप से इस का खण्डन करते जो कर्ण ने नहीं किया। तात्पर्य यह है कि नास्तिकपुरुष इस अंश में धर्मव्यतिक्रम नहीं कह सकता क्यौंकि तब उस को यह अवश्य स्वीकार करना पडैगा कि 'बेदी के मध्य से युवावस्थावाली द्रौपदी निकली', और जब वह इस बात को सत्य मानैगा तो उक्त समाधानकथा को वह मिथ्या नहीं कह सकता और यदि द्रौपदी के उत्पत्ति के प्रकार को भी वह मिथ्या कहैगा तो पांच पति का होना भी उस के लिये मिथ्या ही है क्यौंकि वह भी तो उसी कथा में कहा है।

(अनन्तरोक्त प्रकरण में नरसिंह के प्रादुर्भाव के अवसर पर जो लौकिक रीतियां दिखलायी गयी हैं उन युक्तियों से नास्तिक के प्रति भी यह भली भांति सिद्ध किया जा सकता है कि द्रौपदी के बिषय में महाभारत का उक्त उपाख्यान सब सत्य ही है) और सब बिषय में यह साधारण नियम है कि जो २ व्यवहार धर्मबुद्धि से नहीं किये जाते किन्तु राग लोभादि से किये जाते हैं उन व्यवहारों का शिष्ट ही लोग धर्म में गणना नहीं करते इस लिये वे व्यवहार धर्म में प्रमाण नहीं हैं।

तथा युधिष्ठिर का मिथ्याभाषण जो पूर्व में कहा गया है उस का सदाचार न होना

साधारण्यप्रख्यापनमित्येवमादिविकल्पैः सुपरिहरत्वाद्रागलोभकृतव्यवहारस्य च शिष्टैरेव-धर्मत्वेनापरिग्रहस्योक्तत्वादनुपालम्भः ।

तया च द्रोणवधाङ्गभूतानृतवादप्रायश्चित्तं 'कामकृतेऽप्येक' इत्येवमन्तेऽप्यश्वमेधः प्रायश्चित्तत्वेन कृत एवेति न तस्य सदाचारत्वाभ्युपगमः । यत्तु वासुदेवार्जुनयोर्मद्यपानमातुल-दुहितृपरिणयनं स्मृतिविरुद्धमुपन्यस्तम् तत्रान्नविकारसुरामात्रस्य त्रैवर्णिकानां प्रतिषेधः ॥

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ इति. म. अ. ११ श्लो. ९३ ॥

मधुसीध्वोस्तु क्षत्रियवैश्ययोर्नैव प्रतिषेधः केवलब्राह्मणविषयत्वात् ' मद्यं निन्द्यं ब्राह्मणस्ये ' ति वचनात् ।

यदप्येतत्-गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ॥
यथैवैका तथा सर्वा न पेया ब्रह्मवादिभिः ॥ (म. अ. ११ श्लो. ९४)

॥ भाषा ॥

युधिष्ठिर ही को स्वीकृत था क्योंकि उसी के प्रायश्चित्त में उन्हों ने अश्वमेधयज्ञ किया ।

(प्र०) "कामतो ब्राह्मणबधे निष्कृतिर्न विधीयते" (जान बूझ कर की हुई ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त नहीं होता) इस स्मृतिवाक्य के विरुद्ध युधिष्ठिर ने क्यों प्रायश्चित्त किया ?

(उ०) कामकृतेऽप्येके' (जान बूझ कर की हुई ब्रह्महत्या का भी प्रायश्चित्त होता है एक आचार्य का ऐसा सिद्धान्त है) इस गौतमस्मृति के वाक्यानुसार उन्हों ने प्रायश्चित्त किया । ऐसे ही वासुदेव और अर्जुन का धर्मव्यतिक्रम मिथ्या ही है क्योंकि सुरा (तंडुल का विकार मद्य) ही त्रैवर्णिकों के लिये शास्त्र में निषिद्ध है जैसा कि मनु ने कहा है " सुरा वै मल " (सुरा ही अन्नों का मल है अर्थात् पाप है इसी से ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य, सुरा को न पीवें) तात्पर्य यह है कि अन्न ही की बनी हुई सुरा क्षत्रिय और वैश्य के लिये निषिद्ध है और माध्वी (महुआ की) तथा सीधु अर्थात् गौडी सुरा क्षत्रिय और वैश्य के लिये नहीं निषिद्ध है । इसी से गौतममहर्षि ने यह कहा है कि "मद्यं निन्द्यं ब्राह्मणस्य" (ब्राह्मण के लिये ग्यारहो प्रकार के मद्य निषिद्ध हैं) तथा पूर्वपक्ष में भी कृष्ण और अर्जुन के लिये 'मध्वासव' (माध्वी) ही का प्रमाण दिखलाया गया है इस से धर्मव्यतिक्रम नहीं है ।

(प्र०) जब कि मनु के "गौडी पैष्टी च०" (सुरा तीन प्रकार की होती है गौडी, (गुड की सुरा) पैष्टी २ माध्वी ३ जैसी एक वैसी सब, ब्रह्मवादी अर्थात् (वेदाधिकारियों के पानयोग्य नहीं हैं) इस वाक्य में "सर्वा न पेया ब्रह्मवादिभः" यह कहा हुआ है तब सभी सुरा त्रैवर्णिकों के लिये निषिद्ध हैं इस लिये पूर्वोक्त मनुवाक्य (सुरा वै०) में भी 'सुरा' शब्द का तीनों सुरा अर्थ करना चाहिये न कि " सुरा अन्नों का मल है " इतने कथनमात्र से वहां ' सुरा ' शब्द का केवल पैष्टी सुरा अर्थ करना चाहिये तब तो क्षत्रिय और वैश्य के लिये गौडी और माध्वी सुरा निषिद्ध है इस लिये वासुदेव और अर्जुन का धर्मव्यतिक्रम क्यों नहीं है ?

(उ०) 'मद्यं निन्द्यं ब्राह्मणस्य' इस गौतमवाक्य ही से अभी इसका उत्तर हो चुका है ।

(प्र०) हो तो चुका परन्तु " गौडी पैष्टी " इस मनुवाक्य की क्या गति होगी ? क्यों कि इस में सब ब्रह्मवादिओं अर्थात त्रैवर्णिकों के लिये तीनों सुराओं का निषेध है ?

(उ० उक्त मनुवाक्य की यही गति है जो कि " मद्यं निन्द्यं ब्राह्मणस्य " इस वाक्य

एतदपि ब्रह्मवादिशब्दस्य तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारित्वनिमित्तत्वात् प्रवचनाश्रयणेन ब्रुव्वदत्योरेकार्थत्वात् 'प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषा'मिति नियमाद्यस्यैव प्रवचनं स एव तच्छील-स्तद्धर्मा तत्साधुकारी वा भवति तस्माद्ब्राह्मणा एव ब्रह्मवादिनः। तथा च मद्यसामान्य-प्रतिषेधाङ्गनिन्दार्थवादेऽभिहितम् ॥

अकार्यमन्यत्कुर्याद्धि ब्राह्मणो मदमोहित, इति ॥

तस्मादेतदुक्तं भवति यथैवैकाऽन्नसुरा त्रयाणामप्यपेया तथा सर्वा ब्रह्मवादिभि-रपेयेति इतरथा 'यथैवैके'ति च 'ब्रह्मवादिभि'रिति चोभयमप्यनर्थकमेव स्यात्। श्लोकान्तर-निर्देशेनैव वर्णत्रयसम्बन्धलाभात्। तेनो 'भौमध्वासवक्षीबावि'त्यविरुद्धम्। तथा चान्यार्थ-

॥ भाषा ॥

की है अर्थात् जैसे उक्त गौतमवाक्य से ब्राह्मण ही के लिये सुरा से अतिरिक्त ताड़ी आदि मद्यों का निषेध है वैसे ही गौडी, पैष्टी, इस मनुवाक्य से भी ब्राह्मण ही के लिये तीनों का निषेध है।

(प्र०) यदि ऐसा है तो इस वाक्य में 'ब्रह्मवादिभिः' क्यौं कहा है? क्योंकि ब्रह्म अर्थात् बेद के वादी अर्थात् पढ़ने वाले तीनों बर्ण हैं।

(उ०) ब्रह्मवादी शब्द से तीनों वर्ण यहां नहीं लिये जाते क्यौंकि "ब्रह्मवेदिता" (बेद पढ़ने वाला) यहां नहीं कहा है किन्तु ब्रह्मवादी कहा है इस का यह अर्थ है कि "सदा भली भांति बेद पढ़ाने वाला और जिस का बेद पढाना धर्म है" और ऐसी दशा में 'ब्रह्मवादी' शब्द का ब्राह्मण हीं अर्थ हो सकता है क्यौंकि "प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषाम्" (इन तीनों वर्णों में ब्राह्मण ही पढावे) इस स्मृतिवाक्य से पढाने का अधिकार ब्राह्मणों हीं को है। और इस कारण भी यहां ब्रह्मवादी शब्द का ब्राह्मण ही अर्थ है कि "अकार्यमन्यत्कुर्याद्धि ब्राह्मणो मदमोहितः" (ब्राह्मण को कोई मद्य नहीं पीना चाहिए क्यौंकि मद से मोहित हो कर ब्राह्मण और भी बहुत सा पाप कर सकता है) इस श्रुति स्मृति में 'ब्राह्मण' शब्द ही कहा है और यह स्मृति भी "गौडी पैष्टी" इस उक्त मनुस्मृति की नाईं सब मद्यों के बिषय में है ॥

(प्र०) जब यह स्वीकार है कि पैष्टी सुरा का निषेध तीनों वर्णों के लिए है और उक्त मनु-वाक्य में भी 'सर्वा (सब) शब्द से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सब सुरा का निषेध है तब इस स्मृति को केवल ब्राह्मण ही के बिषय में लगाना कैसे ठीक हो सकता है?

(उ०) यदि 'गौडी पैष्टी' यह मनुवाक्य तीनों बर्णों के बिषय में हैं तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ैगा कि इतने ही के लिये इस वाक्य में 'ब्रह्मवादिभिः कहा गया कि जिस में शूद्रादि के लिये निषेध न हो, और इतना प्रयोजन तो "ब्रह्मवक्तृभिः" (बेदाध्ययन के अधिकारी) इतने मात्र से सिद्ध हो सकता था क्यौंकि शूद्रादि को बेदाध्ययन में अधिकार नहीं है तो ऐसी दशा में "ब्रह्मवादिभिः" (सदा बेद पढ़ाने वाला) कहना व्यर्थ ही हो जायगा। तथा "यथैवैका तथा सर्वा" (जैसी एक वैसी सब) यह कहना भी व्यर्थ ही हो जायगा। क्यौंकि तीनों बर्ण के बिषय में सुरापान का निषेध 'सुरा वै मल' इस पूर्व श्लोक ही से सिद्ध है।

(प्र०) यदि ऐसा है तो "गौडी पैष्टी" इस मनुवाक्य का क्या अर्थ है?

(उ०) यह अर्थ है कि जैसे एक अर्थात् पैष्टी सुरा तीनों बर्णों के लिये पानयोग्य नहीं है वैसे सब अर्थात् तीनों सुरा ब्राह्मणों के लिये पानयोग्य नहीं हैं। इस समय के मनुस्मृतिपुस्तकों में "गौडी पैष्टी" इस श्लोक के चौथे चरण का "न पातव्या द्विजोत्तमैः" यह पाठ नवीन है

दर्शनमभ्यनुज्ञानवचनम् यन्माल्यमासीत्तत्पश्चात्पर्यौहतसुरा वै माल्यं ततो राजन्यमसृजत तस्माज्ज्यायाँश्च स्नुषा च श्वशुरश्च सुरां पीत्वा विलपन्तश्चासते पाप्मा वै माल्यं तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत् पाप्मना न संसृज्या इति तदेतत् क्षत्रियो ब्राह्मणं ब्रूयान्नैनंसुरापीताहिनास्ति य एवं विद्वान् सुरां पिबतीति। मधुसीधुविवक्षयैतत्। यत्तु मातुलदुहितृपरिणयनंतयोस्तन्मातृस्वस्रीयादिसम्बन्धव्यवधानेऽपि भ्रात्रादिव्यवहारादविरुद्धम्। यद्यपि वासुदेवस्वसेति सुभद्रा ख्याता तथाप्युत्पत्तौ बलदेववासुदेवयोरेकानंशायाश्चनिजत्वान्वाख्यानान्मातृस्वस्रीया वा सुभद्रा तस्य मातृपितृस्वस्रीया दुहिता वेति परिणयनाभ्यनुज्ञाना द्विज्ञायते ॥

वसुदेवाङ्गजाता च कौन्तेयस्य विरुध्यते। नतु व्यवेतसम्बन्धप्रभवे तद्विरुद्धता ॥

(येन ह्यन्यत्रैवमुक्तम्) मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते। इति।

स कथं लोकादर्शभूतः सन् विरुद्धाचारं प्रवर्तयिष्यति। एतेन रुक्मिणीपरिणयनं व्याख्यातम्। यत्त्वद्यतनानामाहिच्छत्रकमाथुरब्राह्मणीनां सुरापानादि, दाक्षिणात्यानां मातुलदुहितृविवाहादि स्मृतिविरुद्धमुपन्यस्तम्। तत्र केचित्तावदाहुः। स्मृत्याचारयोरितरेतरनिरपेक्षवेदमूलत्वेन तुल्यबलत्वाद्विहितप्रतिषिद्धविकल्पानुष्ठानाश्रयणाददोष इति

॥ भाषा ॥

क्योंकि यदि यह प्राचीन होता तो वार्तिककार इतना परिश्रम न करते क्योंकि द्विजोत्तम ब्राह्मण ही है। इसी से वेद में भी ब्राह्मण के लिये पैष्टी सुरा के निषेध के द्वारा क्षत्रिय और वैश्य के लिये गौडी और माध्वी सुरा के पान की अनुज्ञा है "यन्माल्यमासीत् तत्पश्चात्पर्यौहत सुरा वै माल्यं ततो राजन्यमसृजत तस्माज्ज्यायाँश्च स्नुषा च श्वशुरश्च सुरां पीत्वा विलपन्तश्चासते पाप्मा वै माल्यं तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत् पाप्मना न संसृज्या इति तदेतत् क्षत्रियो ब्राह्मणं ब्रूयान्नैनं सुरा पीता हिनस्ति य एवं विद्वान् सुरां पिबति" क्षत्रिय ब्राह्मण से कहता है कि, जो माल्य "अर्थात् पाप था उस को प्रजापति ने पश्चात् निकाल दिया और माल्य सुरा ही है तदनन्तर क्षत्रियों की सृष्टि किया इसी से ब्राह्मण और उन की पतोहू तथा श्वशुर सुरा को पी कर रोते रहते हैं इसी से ब्राह्मण पाप से बचने के लिये सुरा न पीवै" क्योंकि जो क्षत्रिय इस विवेक से सुरा अर्थात् गौडी और माध्वी का पान करता है उस का वह पाप नहीं है।

ऐसे ही रुक्मिणी के साथ वासुदेव का और सुभद्रा के साथ अर्जुन का विवाह भी उचित ही था क्योंकि यह कहीं नहीं स्पष्ट लिखा है कि रुक्मिणी, कृष्ण की साक्षात् मातुलकन्या थीं और यह भी कहीं नहीं लिखा है कि सुभद्रा, कृष्ण की साक्षात् भगिनी थीं, और भगिनी आदि का व्यवहार तो अनेक परम्परासम्बन्धों से भी हो सकता है। तथा जो आधुनिकों के विषय में सुरापान और मातुलकन्याविवाहादिरूपी धर्मव्यतिक्रम पूर्वपक्ष में दिखलाये गये हैं उन के विषय में अब कहा जाता है कि कोई विद्वान् इस विषय में यह कहते हैं कि स्मृति और आचार ये दोनों तुल्य ही कक्षा के प्रमाण हैं क्योंकि दोनों का मूल वेद ही है और जब स्मृतियों में उक्त आचारों का निषेध है और वे आचार चिर काल से चले आते हैं तो उन के विषय में विकल्प ही उचित है अर्थात् करने वाला है करै वा न करै इति। परन्तु यह कथन उचित नहीं है क्योंकि आगे चल कर युक्तियों से यह सिद्ध किया

तत्तु वक्ष्यमाणबलाबलविभागाज्ञानादुक्तम् ॥

अन्यंत्वेवमाहुः । सर्बेषामेवमादीनां प्रतिदेशं व्यवस्थया ।
आपस्तम्बेन संहृत्य दुष्टादुष्टत्वमाश्रितम् ॥
येषां परम्पराप्राप्ताः पूर्वजैरप्यनुष्ठिताः ।
त एव तैर्नदुष्येयुराचारैर्नेतरे पुनः ॥

तथामनुनाऽप्युक्तम् ॥ येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न दुष्यति ॥

येषां तु यः पित्रादिभिरेवार्थो नाचरितः स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धश्च ते तं परिहरन्त्येव । अपरिहरन्तो वा स्वजनादिभिः परिह्रियन्ते । नतु गौतमेनाम्नायाबिरुद्धानामाचाराणामप्रामाण्यमुक्तम् ॥ आह ॥

यदि बेदबिरोधः स्यादिष्येतैवाप्रमाणता । स्मृतिराम्नायशब्देन न तु बेदवदुच्यते ॥

नत्वेतदपि युक्तम् स्मृतिग्रन्थेऽप्याम्नायशब्दप्रयोगात् । स्मार्तधर्माधिकारे हि शङ्खलिखिताभ्यामुक्तम् 'आम्नायः स्मृतिधारक' इति ग्रन्थकारगतायाः स्मृतेस्तत्कृतग्रन्थाम्नायः स्मृतिग्रन्थाध्यायिनां स्मृतिधारणार्थत्वेनोक्तः ततश्च मन्वादिवाक्यप्रतिषिद्धाचाराणां प्रामाण्य

॥ भाषा ॥

जायगा कि स्मृतियों की अपेक्षा आचार दुर्बल प्रमाण है ।

तथा अन्य पण्डितों का इस बिषय में यह मत है कि—

आपस्तम्बमहर्षि ने देशभेद से इस बिषय में व्यवस्था किया है कि जिस के कुल में जिस आचार की परम्परा बहुत काल से चली आती है वह आचार यदि स्मृतिबिरुद्ध भी हो तो उसी के लिये धर्म में प्रमाण है और अन्य के लिये वह आचार अधर्म ही है तथा मनु ने भी ' येनास्य पितरो ' (जिस पुरुष के पिता और पितामहादि जिन आचारों को करते आये उन सदाचारों को वह पुरुष किया करै) कहा है ।

(प्र०) "देशाचारकुलधर्मांश्चाम्नायैरबिरुद्धाः प्रमाणम्" (देशाचार और कुलाचार धर्म में प्रमाण हैं यदि आम्नाय (बेद) से बिरुद्ध न हों) इस गौतममहर्षि के स्मृतिवाक्य से जब बेदबिरुद्ध आचार का अप्रमाण होना सिद्ध है तब उक्त सुरापान आदि आचार कैसे धर्म हो सकते हैं ?

(उ०) उक्त आचारों में बेद का बिरोध नहीं है और स्मृति के बिरोध से वे अप्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि उक्त गौतमस्मृति में " आम्नाय " शब्द कहा है जिस का बेद ही अर्थ है न कि स्मृति इति ।

यह मत भी उचित नहीं है क्योंकि आम्नायशब्द से स्मृतियों को भी कहा जाता है जैसे कि—शङ्ख और लिखित की स्मृति के स्मार्तधर्मके प्रमाण में " आम्नायः स्मृतिधारकः " कहा है इस का यह अर्थ है कि (मनु आदि के स्मरण का धारण करने वाला ग्रन्थ अर्थात मनु आदि का धर्मशास्त्र आम्नाय है) इस से मेरा (भट्टपाद का) यह मत है कि स्मृतियों से बिरुद्ध होने के कारण उक्तसुरापानादि आचार अधर्म ही हैं और आपस्तम्ब के वचन का तो बौधायनमहर्षि ने निराकरण कर दिया क्योंकि उन्हों ने यह कहा है कि जो देशाचार वा कुलाचार स्मृति से बिरुद्ध हैं वे धर्म में प्रमाण नहीं हैं और " येनास्य पितरो याताः " इस पूर्वोक्त मनुवाक्य में भी "सतां मार्गम्" कहा है

मशक्यमभ्युपगन्तुम् । आपस्तम्बवचनन्तु बौधायनेन स्मृतिविरुद्धदुष्टाचारोदाहरणान्येव प्रयच्छता निराकृतम् । स्पष्टकामादिहेत्वन्तरदर्शनान्न विरुद्धाचाराणामापस्तम्बवचनस्य वा श्रुतिमूलत्वोपपत्तिः इति ॥

शिष्टाचारप्रामाण्ये शब्दप्रमाणं तु—

तैत्तिरीयोपनिषदि ११ अनुवाके ।

अथ यदि ते धर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः यक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः इति ।

अत्र भगवत्पादीयं भाष्यम् ।

यदि कदाचित् ते श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वा आचारलक्षणे विचिकित्सासंशयः स्यात् भवेत् ये तत्र तस्मिन्देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा आयुक्ता अपरप्रयुक्ता अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः धर्मकामा अदृष्टार्थिनः अकामहताः ते यथा तत्र तस्मिन्कर्मणि वृत्ते वा वर्त्तेरन् तथा त्वमपि वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु अभ्युक्त-दोषेण सन्दिह्यमानेन संयोजिताः केनचित् तेषु च यथोक्तं सर्वमुपनयेत् ये तत्रेत्यादि इति।

अत्रानन्दगिरिः ।

एवं कर्तव्यमर्थमुपदिश्यानुष्ठानकालोत्पन्नसंशयनिवृत्त्यर्थं शिष्टाचारः प्रमाणयितव्य इत्याह यथैवमित्यादिना इति ॥

सदाचारे बञ्चकव्यवहारत्वशङ्कातूदयनाचार्योक्तन्यायेन निरसनीया ।

॥ भाषा ॥

जिस का सदाचार अर्थ है न कि आचारमात्र, इस से यह स्पष्ट ही है कि जो सदाचार अर्थात् श्रुति और स्मृति के अविरुद्ध आचार, जिस के कुलपरम्परा से चला आता है वह उस को करना चाहिये और जैसे काम और लोभादि से उत्पन्न होने के कारण पूर्वोक्त सुरापानआदि आचार वेद-मूलक नहीं हैं वैसे ही उक्त आपस्तम्बवाक्य भी वेदमूलक नहीं हो सकता और यदि उस वाक्य पर अधिक आग्रह है तो यही कहना चाहिए कि उस का तात्पर्य केवल निन्दा के कारण मात्र में है ।

यहां तक वार्तिककार का व्याख्यान सदाचार और आत्मतुष्टि के विषय में पूर्ण हुआ ।

सदाचार के प्रमाण होने में (तैत्तिरीय उपनिषद् ११ अनुवाक) "अथ यदि ते०" यह वेदवाक्य भी प्रमाण है जिस का यह अर्थ है कि शिष्य से गुरू कहता है कि यदि कदाचित् तुम को श्रौत स्मार्त कर्म अथवा आचार में सन्देह हो तो उस देश वा काल में जो ब्राह्मण उद्यत हो कर अपना कर्म और आचार किसी अन्य की प्रेरणा के बिना किया करते हों तथा दयालु और परलोक के आस्तिक तथा लोभरहित हों वे लोग उस सन्दिग्ध काम वा आचार को जैसे करते हों वैसे ही तू भी कर इति ।

यह वेदवाक्य और इस का शङ्करभाष्य तथा भाष्य की आनन्दगिरिकृतटीका भी पूर्व हीं धर्मराजसज्जनप्रकरण में पूर्ण उद्धृत हो चुके हैं और यहां भी ऊपर संस्कृतभाग में उस का थोड़ा ही भाग उद्धृत है इस लिये यहां इस का अधिक विचार नहीं किया जाता है ।

तथाच — न्यायकुसुमाञ्जलौ १ स्तवके —

अस्तु दृष्टमेव सहकारिचक्रं किमपूर्वकल्पनयेतिचेन्न बिश्वबृत्तितः ।

बिफला बिश्वबृत्तिर्नो न दुःखैकफलाऽपि बा ।

दृष्टलाभफला नापि बिप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥ ८ ॥

यदि हि पूर्वपूर्वभूतपरिणतिपरम्परामात्रमेवोत्तरोत्तरानिबन्धनं, न परलोकार्थी कश्चिदिष्टापूर्तयोः प्रवर्तेत । नहि निष्फले दुःखैकफले बा कश्चिदेकोऽपि प्रेक्षापूर्बकारी घटते प्रागेव जगत् । लाभपूजाख्यात्यर्थमिति चेत्, लाभादय एव किंनिबन्धनाः नहीयं प्रबृत्तिः

॥ भाषा ॥

वेदमूलक किसी आचार पर यदि बञ्चना की शङ्का हो तो उस के बारण करने का प्रकार वैसा ही स्वीकार करना चाहिये जैसा कि न्यायकुसुमाञ्जलि के स्तबक एक में न्यायाचार्य उदयन ने कहा है, जो यह है कि 'अस्तु दृष्टमेव०' इत्यादि । इस का भावार्थ यह है कि—

(प्र०) नास्तिक० प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध जो पृथ्वी आदि कारणों के समुदाय हैं उन्हीं से सब कार्य हो सकते हैं उन कारणसमुदाय के चालन करने वाले हमी लोग हैं और उक्त बिलक्षणसमुदायों से बिलक्षणकार्यों का सिद्ध होना तुम (नैयायिक) ने सिद्ध किया है तो इस से क्या हुआ ? क्योंकि प्रत्यक्ष कारणसमुदाय (सामग्री) से प्रत्यक्ष कार्य का होना तो तुम भी मानते ही हो और जब इतने हीं से सब कार्यों का निर्बाह हो सकता है तो धर्म और अधर्म रूपी अदृष्टकारण की कल्पना में क्या मूलकारण ? और क्या प्रयोजन है ?

(उ०) कार्यों में लोगों की प्रबृत्ति ही अदृष्ट में प्रमाण है ॥

(प्र०) इस वाक्य का क्या बिबरण है ?

(उ०) यह बिवरण है कि यदि यह नियम है कि दृष्ट ही सामग्री से दृष्ट ही कार्य होता है तो कोई परलोकार्थी इष्ट (यज्ञ) अथवा पूर्त (बापी कूप तडागादि) कर्म में प्रबृत्त न होगा क्योंकि निष्फल अथवा केवल दुःखफलवाले कर्मों में सबको कौन कहे, एक भी बिवेकी प्रबृत्त नहीं हो सकता अर्थात् इष्ट और पूर्त्त का कोई फल उस के कर्त्ता को इस लोक में दृष्ट नहीं है किन्तु केवल परलोक ही के लिये इष्ट और पूर्त्त किये जाते हैं बरुक इस लोक में परिश्रम और धनब्ययरूपी दुःख ही उस का फल है तो ऐसी दशा में यदि परलोकरूपी अदृष्टफल (कार्य) मिथ्या ही है तो इष्ट और पूर्त्त निष्फल ही अथवा उन का केवल दुःख हीं फल है और ऐसे कार्यों में कोई एक बिबेकी भी प्रबृत्त नहीं हो सकता परन्तु इस के बिरुद्ध अनादिकाल से लाखों बिबेकी पुरुष इष्ट और पूर्त्त में प्रबृत्त होते और इष्ट पूर्त्त को करते चले आते हैं इस से यह सिद्ध होता है कि इष्ट और पूर्त्त का परलोकरूपी अदृष्टकार्य सर्वथा सत्य ही है इसी से इष्ट और पूर्त्त निष्फल नहीं हैं और उन का फल केवल दुःख ही नहीं है ।

(प्र०) अपने किसी लाभ बा पूजापाने बा यश के लिये इष्ट और पूर्त में लोगों की प्रबृत्ति होती है न कि अदृष्ट परलोक के लिये तब कैसे उस की सिद्धि हो सकती है ?

(उ० १) उक्त लाभादि, यज्ञ में प्रबृत्त होने का फल नहीं है क्योंकि यज्ञादि में प्रबृत्त होने से कोई लाभादि होते नहीं दिखलाई देते बरुक परिश्रम और द्रब्यनाश ही उस से होता देखा जाता है।

स्वरूपत एव तद्धेतुः, यतो वाऽनेन लब्धव्यं यो वैनं पूजयिष्यति, स किमर्थम् ? ख्यात्यर्थमनुरागार्थञ्च जनो दातरि मानयितरि च रज्यते, जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः इति चेत् न। नीतिनर्मसचिवेष्वेव तदर्थं दानादिव्यवस्थापनात्। त्रैविद्यतपस्विनो धूर्तबका एवेति चेत् न।

॥ भाषा ॥

(उ० २) यदि इस से लौकिकलाभ होता तो क्या नास्तिक इस को न करते ? क्योंकि वे तो लौकिकलाभरूपी गुड़ के मक्खी होते हैं।

(उ० ३) जिन पुरुषों का लौकिकबिषयों पर अनुराग न्यून होता है वे ही प्रायः यज्ञादिकर्मों को करते हैं इस लिये लौकिकलाभादि, यज्ञादिकों का फल नहीं है।

(उ० ४) लौकिकबिषयों से पूरे बिरक्त और बिरुद्ध ही लोग तत्त्वज्ञान और योगसाधन में प्रवृत्त होते हैं और अनेक लौकिकक्लेश उठाते हैं तो क्या योग और तत्त्वज्ञान, यज्ञादि बैदिककर्मों से बाह्य हैं ? अथवा क्लेश उठाने को भी कोई मूर्ख से भी मूर्ख मनुष्य कह सकता है कि यह लाभ है ?

(उ० ५) यज्ञादि करने वाले को यदि कोई कुछ देगा तभी उस को लाभ होगा और जो देगा उस को देने में क्या लाभ है ? किन्तु धन का व्यर्थ फेंकना परम हानि है और परलोकरूपी अदृष्टफल तो है ही नहीं कि जिस के लिये देगा तो ऐसी दशा में लाभादि, कदापि नहीं यज्ञादि का फल हो सकता।

(प्र०) यज्ञादिकर्ता को जो लोग दान देते वा पूजन करते हैं वे अपने नाम और अपने पर, लोगों के अनुराग उत्पन्न करने के लिये ऐसा करते हैं क्योंकि लोकानुराग से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं तो ऐसी दशा में उन दान और पूजन का भी लौकिकलाभ ही फल है न कि अदृष्ट परलोक, तब कैसे अदृष्ट की सिद्धि हो सकती है ?

(उ०) नाम और लोकानुराग के लिये नट भट आदि नीति और क्रीडा के सम्बन्धी पुरुषों ही को दान दिया जाता है जिस को शास्त्र में दृष्टार्थदान कहते हैं क्योंकि उसी प्रकार के पुरुष, दान से प्रसन्न हो कर देश २ में दाता की प्रशंसा करते हुए उस के नाम को प्रसिद्ध करते हैं जिस से कि दातापुरुष पर, लोगों का अनुराग उत्पन्न होता है तात्पर्य यह है कि यदि नाम और लोकानुराग के लिये कोई दान करता है तो नट भट आदि ही को देता है न कि यज्ञकर्ता को क्योंकि बनवासी तपस्वी को दान देने से कदापि नाम और लोकानुराग नहीं हो सकता किन्तु दुर्नाम और लोक का बिराग ही होगा कि यह मूर्ख व्यर्थ ही धननाश करता है । निदान यदि नाम के लिये कोई दान देता तो नटादि ही को देता न कि यज्ञादिकर्ताओं को । और यज्ञादिकर्ताओं को लोग दान देते हैं इस से यह सिद्ध होता है कि परलोकरूपी अदृष्टकार्य सत्य है । इस लिये यज्ञकर्ता को देना भी अदृष्ट परलोक की सिद्धि में प्रमाण है ।

(प्र०) बैदिक तपस्वी बकुलाभगत हैं । वे दूसरों के ठगने ही के लिये तपस्वी बन बैठते हैं, और यह भी एक बञ्चना का उपाय ही है तो क्या अच्छी परलोक की सिद्धि हुई ?

(उ०) बञ्चना का यह स्वभाव है कि वह किसी दृष्ट ही प्रयोजन के लिये की जाती है और बैदिकतपस्वी किसी दृष्टफल की इच्छा नहीं रखते अर्थात् प्रत्यक्षरूप से भी धन लेने की इच्छा जिन को नहीं रहती वह भी तप करता है तो ऐसे तपस्वियों में बञ्चना का सम्भव भी कैसे है ?

तेषां दृष्टसम्पदं प्रत्यनुपयोगात् । सुखार्थं तथा करोतीति चेत् न । नास्तिकैरपि तथाकरण-प्रसङ्गात् सम्भोगवत् । लोकव्यवहारसिद्धत्वादफलमपि क्रियते वेदव्यवहारसिद्धत्वात्सन्ध्योपासनवदिति चेत्, गुरुमतमेतत्, नतु गुरोर्मतम्, ततो नेदमनवसर एव वक्तुमुचितम् वृद्धैर्विप्रलब्धत्वाद्बालानामिति चेन्न, वृद्धानामपि प्रवृत्तेः । न च विप्रलम्भकाः स्वात्मानमपि विप्रलभन्ते । तेऽपि वृद्धतरैरित्येवमनादिरिति चेत् । न तर्हि विप्रलिप्सुः कश्चिदत्र,

॥ भाषा ॥

(प्र०) तब भी किसी न किसी लौकिक ही सुख के लिये वे तप करते हैं क्योंकि कोई मूर्ख भी निष्फल कार्य नहीं करता तब परलोक की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

(उ०) यदि लौकिक ही सुख के लिये तप होता तो नास्तिक भी जैसे लौकिकसुख के लिये कामिनीसम्भोगादि सुखकर्मों को करते हैं वैसे तप को भी अवश्य करते, परन्तु नास्तिक तप को नहीं करते इस से यह सिद्ध है कि तप का कोई लौकिकसुख फल नहीं है इस लिये तप भी परलोकरूपी अदृष्टकार्य में प्रमाण है ।

(प्र०) पूर्व २ वैदिकवृद्धों ने उत्तरोत्तर बालकों की वञ्चना की इसी से यह यज्ञादि वैदिक व्यवहार चलता है तब कैसे यह परलोक की सिद्धि में प्रमाण हो सकता है ?

(उ० १) जिस ने वञ्चना किया उस ने भूल से किया अथवा जान बूझ कर, यदि भ्रम से किया तो वह वञ्चना ही नहीं है अर्थात् जब लौकिकक्लेशरूपी महादुःखों से पूर्ण यज्ञादि वैदिककर्मों को पूर्ववृद्धों ने स्वयं किया तब चाहे भ्रम हीं से किया हो तो भी वे वञ्चक नहीं थे क्योंकि यदि अपने को उस क्लेश से बंचा कर अन्यों को उपदेश देते तो वे वञ्चक हो सकते और जब प्रथम वह आप ही तप आदि क्लेशों को कर चुके और पश्चात् उन्हों ने अन्यों को तप आदि करने के लिये उपदेश किया तो यह निश्चय है कि उन का अभिप्राय बहुत शुद्ध था, प्रसिद्ध ही है कि जिस भोजन में किसी दोष की शङ्का होती है उस को वृद्धलोग प्रथम आप खा कर पश्चात् लड़कों को खिलाते हैं। तथा यह भी नहीं कोई कह सकता कि वृद्धों ने भ्रम से स्वयं तप आदि किया क्योंकि परलोकरूपी फल सत्य है इस लिये यथार्थ ही ज्ञान से वृद्धों ने वैसा किया और परलोक के मिथ्या न होने पर तो इस समय विचार ही हो रहा है अर्थात् निर्णय नहीं हो चुका है तो इस समय कैसे परलोक को मिथ्या मान कर वृद्धों के ज्ञान को कोई भ्रम कह सकता है । और यह भी है कि सब ज्ञान स्वाभाविक यथार्थ ही होते हैं । जो पुरुष किसी ज्ञान को भ्रम कहता है उस को आवश्यक है कि उस ज्ञान के विषय में दोष दिखलावै और विषय का दोष, उस का मिथ्या होना ही है । और परलोक का मिथ्या होना इस समय विचार ही में है न कि उस का निर्णय हुआ तो ऐसी दशा में वृद्धों का परलोकज्ञान यथार्थ ही कहा जा सकता है न कि भ्रम और ऐसे ही जान बूझ कर भी वञ्चना का सम्भव नहीं है क्योंकि पूर्ववृद्धों ने यज्ञादिकर्मों को प्रथम स्वयं किया है और ऐसा कोई वञ्चक नहीं हो सकता जो अपनी वञ्चना करै ॥

(प्र०) क्या ऐसा नहीं हो सकता कि एक वृद्ध की वञ्चना उस के वृद्ध ने की और उस की वञ्चना उस के वृद्धों ने ? और ऐसे ही वञ्चकों की परम्परा चली आती है ? तो ऐसी दशा में अपना वञ्चक कैसे कोई हुआ ?

(उ०) वाह क्या अच्छा प्रश्न है, क्योंकि जब अनादिकाल से वञ्चना की परम्परा मानी जायगी तब यज्ञादि वैदिककर्मों की परम्परा भी अनादि माननी पड़ैगी और तब तो यह

यतः प्रतारणशङ्का स्यात् । इदं प्रथममेव कश्चिदनुष्ठायापि धूर्तः परानुष्ठापयतीति चेत्, किमसौ लोकोत्तर एव, यः सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखविमुखो ब्रह्मचर्येण

॥ भाषा ॥

बञ्चनाहीं नहीं है क्योंकि ऐसी बञ्चना आज तक किसी ने न देखा न सुना जो कि अनादि हो, बरुक इस के उलटे यही प्रसिद्ध है कि जो व्यवहार अनादिकाल से होता है वह निर्दोष और सत्य होता है जैसे जगत् की सृष्टि और प्रलय का प्रवाह आदि, और जो व्यवहार अनादि नहीं है अर्थात् किसी समय से किसी का चलाया हुआ है वह यदि अनादि व्यवहारों के बिरुद्ध नहीं है तभी सत्य होता है इस से उस की सत्यता का मूल भी अनादि ही व्यवहार है तथा जो नवीन व्यवहार अनादि व्यवहार के बिरुद्ध है वह अनादि व्यवहारमूलक नहीं हो सकता इसी से उस का मूल बञ्चना ही होता है, बञ्चना के निर्णय करने की यही रीति है और इस रीति से अनादि व्यवहार के बिरुद्ध उस का निन्दा करना ही बञ्चना है ।

(प्र०) यदि ऐसा माना जाय कि "किसी समय में किसी धूर्त ने प्रथम २ लोकबञ्चना के लिये यज्ञादिकर्मों का आरम्भ किया और तभी से यह अन्धपरमारा चली आती है" तो क्या असम्भव है ?

(उ० १) जब तक बिशेषरूप से यह सिद्ध न हो जाय कि "अमुक समय में अमुक पुरुष ने अमुक यज्ञादिकर्म का आरम्भ प्रथम २ किया और अन्यों को ठीक अमुक समय में अमुक यज्ञादिकर्म करने का उपदेश किया" तब तक अनन्तरोक्त प्रश्न का सम्भव ही नहीं हो सकता । और इस विषय के सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण न आज तक मिला न मिलता है और न आगे तक मिल सकैगा । बरुक इस के विरुद्ध बहुत से प्रमाण ऐसे मिले हैं जो कि पूर्व हीं बेददुर्गसज्जन में बिशेषरूप से दिखला दिये गए हैं जिन से कि यह सिद्ध हो चुका है कि "जैसे बिश्व की सृष्टि और प्रलय की परम्परा अनादि हैं वैसे ही बेद भी" तो ऐसी दशा में बैदिक यज्ञादिकर्मों के व्यवहार की परम्परा भी अनादि ही हो सकती है न कि नवीन ।

(उ० २) यह बार्त्ता, बेद धर्मशास्त्र इतिहास पुराण आदि में सहस्रशः प्रसिद्ध है कि बैदिक यज्ञादि के कर्त्ता महापुरुषों ने अपने २ पुत्रों को यज्ञादिकर्मों का उपदेश किया है जैसे ब्रह्मदेव ने नारद मनु आदि को इत्यादि और इस समय में भी प्रसिद्ध है कि बड़े लोग अपने पुत्रों को अच्छे कर्मों का उपदेश करते हैं तथा नीतिशास्त्र की आज्ञा भी यही है कि "सर्वतो जयमान्विच्छेत्पुत्रादेकं पराजयम्" पुरुष को चाहिए कि सब को जीतना चाहै परन्तु केवल पुत्र से हारना चाहै अर्थात यह चाहे कि पुत्र मुझ से भी अधिक गुणी हो) और धूर्तत्ता (बञ्चना) चतुर्य के बिना नहीं होती इस लिये नास्तिक को यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्मदेवादि यदि धूर्त थे तो चतुर अवश्य थे, अब थोड़े ही बिचार का काम रह गया कि अपने पुत्रों का बञ्चना वे लोग कैसे करते ?

(उ० ३) ऐसे बञ्चक को आज तक किसी ने न देखा कि जो सब के लिये अनेक सुखदायी जीविका का उपदेश करै और अपने तथा अपने कुटुम्ब के लिये खेतों में छूटे टूटे फूटे दानों से मरणपर्यन्त जीविका करै और उस का उपदेश भी दे । 'बिश्वजित् याग' में अपना सर्वस्व दाक्षिणा दे डालै और दूसरों को भी वैसा उपदेश दे, पराक आदि अनेक उपवासव्रत को प्रायः

तपसा श्रद्धया वा केवलपरवञ्चनकुतुहली यावज्जीवमात्मानमवसादयति । कथं चैनमेकं प्रेक्षापूर्वकारिणोऽप्यनुविदध्युः । केन वा चिह्नेनायमीदृशस्त्वया लोकोत्तरप्रज्ञेन प्रतारक इति निर्णीतः । नह्येतावतो दुःखराशेः प्रतारणसुखं गरीयः । यतः पाखण्डाभिमतेष्वप्येवं-दृश्यत इति चेत् न । हेतुदर्शनादर्शनाभ्यां विशेषात् । अनादौ चैवंभूतेऽनुष्ठाने प्रतायमाने

॥ भाषा ॥

किया करै और दूसरों को भी उस का उपदेश दे, 'सर्वस्वार' यज्ञ कर उस के मध्य में स्वयं अग्नि-प्रवेश कर जाय जैसा कि शरभङ्गमहर्षि ने श्रीराम जी के समक्ष किया (रामायण) और सब परिवार अर्थात् पुत्र पत्नी आदि तथा सब समृद्धि और लौकिकसुखों को छोड़ परमहंस हो कर यावज्जीव टुकड़ा मांग २ कर खाया करै ॥

(उ० ४) यदि उस आदिपुरुष को थोड़े समय के लिये वञ्चक भी मान लिया जाय तो इस का सम्भव कैसे होगा कि एक ओर से सब बुद्धिमान् पुरुष उसी के उपदेशानुसार आज तक यज्ञादिकर्मों को करते आते क्यों सब के सब अन्धे हो गये ? क्या जब उस ने उपदेश किया उस समय इस काल के नास्तिकबालक के ऐसा कोई एक भी विचारवान् नहीं था ? और सच भी है कि उस समय ऐसा महात्मा कोई नहीं था जैसा कि आज कल्ह के होते हैं ।

(उ० ५) नास्तिक ने किस चिन्ह के देखने से यह निश्चय किया कि वह आदिपुरुष वञ्चक था ? क्योंकि पूर्वोक्त यज्ञादिरूपी अनेक महादुःखों की अपेक्षा उस वञ्चना में क्या लाभ अधिक था ? जिस के लिये उन दुःखों को उठा कर उस ने वञ्चना किया ?

(प्र०) पाखण्डी भी क्या ऐसे नहीं होते कि जो अनेक दुःखों को उठा कर लोक-वञ्चना करैं ?

(उ० १) हां हो भी सकते हैं, परन्तु उन के व्यवहारो में स्वार्थ की पोल रहती है इसी से वे बहुत समय तक नहीं चलते और वैदिकव्यवहार में यदि कोई पोल होती तो आज तक वह नहीं चलती । इस से अनेक सहस्र युगों तक वैदिकव्यवहार का प्रचार ही इस बात को दृढ सिद्ध करता है कि उस का प्रचारक पुरुष कदापि वञ्चक नहीं था । पाखण्डी और अपाखण्डी के बिबेक करने का यही एकमात्र उपाय है जो कि अभी कहा गया है और नास्तिक को भी अनन्यगति हो कर इसी उपाय को स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि यदि वह इस उपाय को स्वीकार न करै तो उस को यह कहना पड़ैगा कि सभी पाखण्डी हैं और ऐसा कहने पर उस को अपने मुख से अपने को पाखण्डी कहना पड़ैगा क्योंकि सब के भीतर वह भी है और तब ऐसे पाखण्डी का प्रश्न, उत्तर देने के योग्य भी न होगा । अर्थात वह प्रश्न, केवल वायुचेष्टा हो जायगा ।

(उ० २) उक्त उत्तर तो यज्ञादि वैदिकव्यवहारों को नास्तिकमतानुसार नवीन मान कर दिया गया है परन्तु वास्तविक में पूर्वोक्त अटलयुक्तियों के अनुसार वह अनादि ही है और नास्तिकों की निन्दारूपी व्यवहार नवीन और वञ्चनारूपी है क्योंकि यदि प्रथम से यज्ञादिकर्मों का प्रचार न होता तो नास्तिक किस की निन्दा करते, अब ऐसी दशा में बिबेकी लोग सहज में यह निर्णय कर सकते हैं कि सनातन यज्ञादिकर्म और उन की निन्दारूपी नास्तिककर्म में से कौन एक धूर्तता और वञ्चनारूपी है ।

(उ० ३) यदि यज्ञादिरूपी वैदिकव्यवहार अनादि और निर्दोष नहीं है तो उस से अन्य कौन सा व्यवहार अनादि और निर्दोष है ? और यदि ऐसा व्यवहार दूसरा नहीं है तो कैसे

प्रकारान्तरमाश्रित्यापि बहुवित्तव्ययायासोपदेशमात्रेण प्रतारणा स्यात्, नत्वनुष्ठानागोचरेण कर्मणा। अन्यथा प्रमाणविरोधमन्तरेण पाखण्डित्वप्रसिद्धिरपि न स्यात्। इति।

अथैतेषां धर्मप्रमाणानां मिथोविरोधे बलाबलनिरूपणम्।
वीरमित्रोदये परिभाषाप्रकाशे।

अथैतेषां विरोधे बलाबलम्। तत्र श्रुत्योर्विरोधेऽगृह्यमाणविशेषत्वात् द्वयोरपि तुल्यबलत्वम् अनुष्ठाने परं विकल्पः। यथा षोडशिग्रहणाग्रहणादौ। एवं स्मृत्योराचारयोरपि विरोधे द्रष्टव्यम् तुल्यन्यायत्वात्। श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे तु श्रुतिर्बलीयसी निरपेक्षत्वात्। स्मृतेस्तु मूलभूतवेदानुमानसापेक्षत्वेन विलम्बितत्वात् दुर्बलत्वम्। यथौदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेदौदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्येति स्मृत्याचारयोर्विरोधे स्मृतिर्बलीयसी स्मृतेः साक्षाच्छ्रुत्यनुमापकत्वात्। आचारस्तु स्मृतिद्वारा तदनुमापकत्वात् दुर्बलः। यथा सूर्याविदे वधूवस्त्रं दद्यादितिस्मृत्या चतुर्थेऽह्नि वधूवस्त्रपरिधानाद्याचारो विरुद्धः। सूर्याः तद्देवत्या ऋचः। तथा मातुलकन्यापरिणयनम्, 'मातुलस्य सुतामूढ्वे'तिस्मृतिविरुद्धम्।

॥ भाषा ॥

उक्त वैदिकव्यवहार में वञ्चना की शङ्का हो सकती है ? क्योंकि जैसे भूख के निवारणार्थ अन्नभक्षण और प्यास के मिटाने के लिये जलपानादिव्यवहार अनादिकाल से चले आते हैं वैसे ही यज्ञादिव्यवहार भी सब सृष्टियों में अनादिकाल से आज तक चले आते हैं। इति॥

श्रुति स्मृति आदि धर्ममूलों के अन्योन्य में विरोध की दशा में एक के प्रबल और अन्य के दुर्बल होने का विवेक, यद्यपि मीमांसादर्शन के ग्रन्थों में कहा गया है तथापि वह बड़े विस्तार से है इस लिये वीरमित्रोदय नामक ग्रन्थ के परिभाषाप्रकरण में सङ्क्षेप से कहे हुए उक्त विवेक को उद्धृत कर यहां मैं दिखाता हूँ कि दो श्रुतियों में यदि अन्योन्यविरोध हो तो दोनों ही तुल्यप्रमाण हैं परन्तु उन के विधान किये हुए कर्मों के करने में कर्ता के इच्छानुसार विकल्प होता है जैसे "अतिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति" (अतिरात्रयज्ञ में षोड़शी नामक पात्र का ग्रहण करै) "नातिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति" (अतिरात्रयज्ञ में षोडशी नामक पात्र का ग्रहण न करै) यहां विकल्प से अनुष्ठान होता है अर्थात् यजमान चाहै तो षोडशी का ग्रहण करै और यदि न चाहै तो न करै।

ऐसे ही स्मृतियों में अन्योन्यविरोध वा आचारों में अन्योन्यविरोध की दशा में भी विकल्प ही होता है। तथा श्रुति और स्मृति के अन्योन्यविरोध की दशा में स्वतन्त्र होने के कारण श्रुति ही प्रबल है और श्रुतिमूलक होने के कारण स्मृति दुर्बल है जैसे "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" (गूलर की शाखा को स्पर्श कर गान करै) इस श्रुति के विरोध से "औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या (औदुम्बरी का वस्त्र से पूर्ण वेष्टन करै) यह स्मृति दुर्बल है क्योंकि पूर्ण वेष्टन करने पर औदुम्बरी का स्पर्श नहीं हो सकता (यह विरोध का उदाहरण, मीमांसादर्शन के भाष्यकार शबरस्वामी के मत से है, वार्तिककार भट्टपाद ने तो यहां अन्योन्यविरोध का खण्डन कर श्रुतिविरोध का यह उदाहरण दिया है कि श्रुतिविरोध के कारण बौद्धादि की स्मृतियाँ अप्रमाण हैं। जो कि इस ग्रन्थ में अनन्तरप्रकरण में उद्धृत हो चुका है) तथा स्मृति और आचार के अन्योन्यविरोध में स्मृति ही प्रबल है जैसे मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च। समानप्रवरां चैव त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्" (मातुल की कन्या का मातुलगोत्र के अथवा प्रवर की कन्या का विवाह यदि करले तो उस का त्याग कर चान्द्रायण करै) इस स्मृति के विरोध से दाक्षिणात्यों का मातुलकन्याविवाहरूपी आचार

श्रुत्यादीनां विशेषग्रहणे बाध्यबाधकभाव उच्यते । तथाहि सन्दिग्धमसन्दिग्धेन, बाध्यते । यथाऽक्ताः शर्करा इति तेजो वै घृतमित्यनेन । दुर्बलाश्रयं बलवदाश्रयेण । यथा वेदं कृत्वा वेदिं कुर्यादिति दुर्बलक्रमाश्रयं बलवत्पदार्थाश्रयेण क्षुतादिनिमित्ताचमनवाक्येन, उपसंहारस्थमुपक्रमस्थेन, यथोच्चैर्ऋचाक्रियत इत्युपसंहारस्थमृक्पदं त्रयो वेदा अजायन्तेत्युपक्रमस्थवेदपदेन । बहुबाधोऽल्पबाधेन यथा यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयादित्यत्र प्रतिग्रहीतुरिष्टिश्चेत् प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्सस्वान्देवतामार्च्छदिति वाक्ये, वरुणायेति चतुर्थी पञ्चम्यर्थे नयतिर्गृह्णात्यर्थो देवतापदं चाविवक्षितार्थमिति बहुबाधो, दातुरिष्टौ गृह्णातिरेकोदानलक्षणार्थ इत्यल्पबाधेन बाध्यते। वेदान्तरोत्पन्नं वेदान्तरविहितेन । यथा सामवेदोत्पन्नं वारवन्तीयाश्वयमुच्चैस्त्वमुपांशुयजुषेतिविनियोजकयजुर्वेदस्वरूपेणोपांशुत्वेन । अपरशाखाविहितमग्नीषोमीयादेर्द्वादशकपालत्वादि, स्वशाखाविहितेनैकादशकपालत्वादिना । नित्यं, पञ्चदशसामधेनीरनुब्रूयादिति पाञ्चदश्यं नैमित्तिकेन सप्तदश वैश्यस्येति साप्तदश्येन । द्विविधमप्येतत्क्रत्वर्थं चेत्पुरुषार्थेनैकविंशतिमनुब्रूयात्प्रतिष्ठाकामस्येत्याद्येकविंशत्वादिना । अनारभ्याधीतं सप्तदशसामधेनीरनुब्रूयादिति साप्तदश्यं प्राकरणिकेन पाञ्चदश्येन । यद्युद्गाताऽपच्छिन्द्याददक्षिणेन यजेत यदि प्रतिहर्ता सर्वस्वदक्षिणेनेत्यदाक्षिण्यसर्वस्वदाक्षिण्ययोर्निमित्तक्रमेण पौर्वापर्यप्राप्तौ परेण पूर्वस्य बाधः । कुशमयं बर्हिर्भवतीत्यतिदेशप्राप्तं शरमयं बर्हिर्भवतीति वैकृतेन ।औद्गात्रसमाख्याते श्येने अतिदेशप्राप्तेषु प्राकृतेष्वङ्गेषु प्रयोगवचनात्प्राप्तमुद्गातृमात्रकर्तृत्वं चोदकाश्रयेण नानर्त्विक्कर्तृकत्वेन । ब्राह्मणक्रमात्रगतमाग्नेयस्याग्नीषोमीयोत्तरत्वं मन्त्रक्रमात्रगतेनाग्नीषोमीयात्पूर्वत्वेन बाध्यते। आहवनीयेजुहोतीति होमसामान्ये विहित आहवनीयः पदेजुहोतीति होमविशेषविहितेन पदेन । यत्किञ्चित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशुचरन्तीति यत्किञ्चिदिति सर्वनाम्ना सावकाशेन दीक्षणीयादावपि प्रथितमुपांशुत्वं यावत्या वाचा कामयीत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयादिति निरवकाशेन दीक्षणीयामात्रे विहितेनोच्चैस्त्वेनेति । एवं स्मृतिष्वपि " नात्मानं घातयेत्प्राज्ञः " इत्याद्याप्तमन्वादिस्मृत्या "केदारे पातयेद्देह" मित्याद्यनाप्तपाखण्डस्मृतिर्बाध्यते । तथा भार्याश्चतस्रो विप्रस्येत्याप्तस्मृतिरपि ।

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रादारोपसङ्ग्रहः ।

॥ भाषा ॥

अप्रमाण और अधर्म है ।

श्रुतियों में अन्योन्यविरोध होने की दशा में अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ मीमांसादर्शन में भली भांति की हुई हैं जो कि यहाँ संस्कृतभाग में सङ्क्षेप से उद्धृत हैं परन्तु आधुनिकों के अति उपयोगी न होने के कारण उन का भाषानुवाद नहीं किया जाता है । स्मृतियों में अन्योन्यविरोध की दशा में व्यवस्थाएँ सङ्क्षेपरूप से ये हैं कि " नात्मानं घातयेत्प्राज्ञः " (बुद्धिमान् आत्मघात न करे) इत्यादि आप्त (यथार्थवादी) मनु आदि के स्मृतिवाक्यों से विरोध होने के कारण " केदारे पातयेद्देहम् " (केदार में देहत्याग करे) यह पाखण्डस्मृति अप्रमाण है । और " भार्याश्चतस्रो विप्रस्य " (चारो वर्णों की कन्याएँ, ब्राह्मण की भार्या हो सकती हैं) यह आप्त की स्मृति भी शूद्रकन्या के अंश में अप्रमाण ही है क्योंकि " यदुच्यते " (स्मृतियों में जो शूद्रकन्या के साथ

'न तन्ममत' मिति याज्ञवल्क्याद्यविगीतस्मृतिभिर्विगीता। तथा "न जातु ब्राह्मणं हन्या" दित्यदृष्टार्थया जिघांसन्तं जिघांसीयादित्यात्मरक्षणादिदृष्टार्था। तथा पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्बन्धूनाहूय राज्ञे निवेद्य निवेशनस्य मध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वा प्रतिगृह्णीयादिति होमादीतिकर्तव्यताविषयत्वाच्छ्रुतिप्रभवया न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ती' त्यादेः, शेषोऽपत्यनाम अपत्यमन्योत्पादितं नास्तीत्याद्यभिधायित्वेन दत्तपुत्रनिषेधलिङ्गत्वाचत्प्रभवा।

बीजिनो यस्य ये जातास्तस्य ते नेतरस्य तु, इत्याद्या।

तथा 'तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन् वाऽर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वाक्षदन्ते' इति मन्थनार्थवादप्रभवा।

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्, इत्याद्या।

"मागामनागामदितिंवधिष्ठे" ति विधिश्रुतिप्रभवया गोब्राह्मणानलान्नानि नोच्छिष्टो

॥ भाषा ॥

ब्राह्मणों का विवाह कहा है वह मेरा मत नहीं है क्योंकि पति, भार्य्या में साक्षात् पुत्ररूप से उत्पन्न होता है) इस याज्ञवल्क्यस्मृति से उक्तस्मृति की निन्दा की गयी है। तथा " न जातु ब्राह्मणं हन्यात् " (किसी दशा में ब्राह्मण को न मारे) यह स्मृति अदृष्टार्थ परलोक में दुःखवारण के लिये है, तथा " जिघांसन्तं जिघांसीयात् " (जो अपने को मारना चाहे उस को मारे) यह स्मृति दृष्टार्थ है क्योंकि इस का प्रयोजन आत्मरक्षा है जो कि प्रत्यक्ष है, और यह सिद्धान्त है कि दृष्टार्थस्मृति की अपेक्षा अदृष्टार्थस्मृति, प्रबल होती है क्योंकि दृष्टार्थस्मृति, साधारण लौकिकवाक्यों के तुल्य है और अदृष्टार्थस्मृति, वेद के तुल्य है। इस कारण " न जातु ब्राह्मणं " इस पूर्वोक्तस्मृति के विरोध से " जिघांसन्तं " यह स्मृति अप्रमाण ही है।

"पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन् बन्धूनाहूय राज्ञे निवेद्य निवेशनस्य मध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वा प्रतिगृह्णीयात्"

[जिस को दत्तकपुत्र लेना हो वह बन्धुओं को बुला राजा से निवेदन कर गृह के आंगन में 'भूः' आदि मन्त्रों से होम कर पुत्र को ले] यह स्मृति वेदमूलक है क्योंकि यज्ञों के ऐसी होमादिक्रिया का इस में विधान है। और "न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति" (हे अग्ने अन्य का उत्पन्न किया अपत्य अर्थात् पुत्र नहीं होता) इस श्रुति में दत्तक का निषेध ज्ञात होता है। और इसी श्रुति को मूल ले कर " बीजिनो यस्य ये जाता स्तस्य ते नेतरस्य तु " (जिस के वीर्य से जो उत्पन्न होता है उसी का वह पुत्र है अन्य का नहीं) इत्यादि स्मृति है जिस से कि दत्तकपुत्र का निषेध है परन्तु " पुत्रं प्रति " इस उक्त स्मृति के विरोध से " बीजिनो " यह उक्त स्मृति अप्रमाण है क्योंकि पूर्वस्मृति, विधानरूपी है कि, 'पुत्र ले' और दूसरी स्मृति तथा उस का मूलभूत वेद ये दोनों लोकानुभव का अनुवादमात्र करने से लौकिकवाक्य के तुल्य हैं। तथा 'तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन् वाऽर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वाक्षदन्ते " (जैसे मनुष्यराजा वा अन्य महात्मा के आने पर लोग बैल वा गौ को मारते हैं) इस अर्थवादश्रुतिरूपी मूल के अनुसार " महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत् " (श्रोत्रिय अर्थात् बड़े वैदिक के लिये बड़े बैल वा बड़े बकरे का बलि दे) इत्यादि स्मृति है तथा " मागा मनागा मदितिं वधिष्ठ " (इस निरपराध गौ को मत मारो) इस निषेध करनेवाली श्रुति को मूल ले कर " गो ब्राह्मणा० " (गौ, ब्राह्मण, अग्नि, और अन्न को अपनी अपवित्रता की दशा में मनुष्य स्पर्श न करे और पवित्रता की दशा में भी चरण से

न पदा स्पृशेत् । न निन्दाताडने कुर्यादित्याद्यया ।

एवमाचारेष्वपि अभियुक्ततराणामार्याणां पील्वादिशब्दस्य बृक्षविशेषे प्रयोगाचारेण, म्लेच्छानां हस्त्यादौ प्रयोगाचारो बाध्यते । आचारात्मतुष्टिसम्यक्सङ्कल्पजकामानां पूर्वपूर्व-बलीयस्त्वमिति मिताक्षरायाम् कचिद् दुर्बलेनापि बलवतो बाधः ।

यथा सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णातीति प्रत्यक्षश्रुतेरपि—

कलौ युगे त्विमान्धर्मान्बर्ज्यानाहुर्मनीषिणः । इतिस्मृत्या,

अन्यथाऽऽनर्थक्यापत्तेः । मनुबिरुद्धा स्मृतिरप्रमाणमित्याह बृहस्पतिः ॥

बेदार्थोपनिबन्धृत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।

मन्वर्थबिपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥ इति ।

कल्पतरुरप्येवम् ।

गौतमः, देशजातिकुलधर्मा आम्नायैरबिरुद्धाः प्रमाणम् ।

आम्नायैः बेदस्मृतिपुराणैः देशाद्याचाराणां बलवत्प्रमाणबिरुद्धानामपि आनर्थक्य-प्रतिहतानां बिपरीतं बलाबलमिति न्यायेन बलवत्त्वे प्राप्ते इदमुच्यते । एते देशादिधर्मा

॥ भाषा ॥

इन का स्पर्श न करै और इन की निन्दा न करै तथा ताडन भी न करै) यह स्मृति है । यहां द्वितीयस्मृति के बिरोध से प्रथमस्मृति अप्रमाण है क्यौंकि द्वितीयस्मृति की मूलभूत श्रुति निषेध करने वाली है " न मारो " और प्रथमस्मृति की मूलश्रुति अर्थवाद अर्थात् लोकानुवादमात्र है और यह सिद्धान्त है कि अर्थवाद की अपेक्षा बिधि और निषेध प्रधान तथा प्रबल होते हैं क्यौंकि प्रबृत्ति और निबृत्ति उन से साक्षात् ही होती हैं ।

ऐसे ही आचारों में भी समझना चाहिये जैसे आर्य लोग 'पीलु' शब्द का बृक्षबिशेष में प्रयोग करते हैं यह आर्य बैदिकों का आचार है और म्लेच्छ लोग हाथी में 'फील' प्रयोग करते हैं परन्तु बैदिक 'पीलु' शब्द के बिषय में आर्यों के आचार से बिरोध होने के कारण म्लेच्छ का आचार अप्रमाण है । कहीं दुर्बल से भी प्रबल का बाध होता है जैसे " सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति " (सौत्रामणि नामक यज्ञ में सुरा के पात्रों का ग्रहण करै) यह प्रत्यक्षश्रुति " कलौ युगे त्विमान्धर्मान्बर्ज्यानाहुर्मनीषिणः " (कलियुग में तो, बैदिक पण्डितलोग इन धर्मों को बर्जित कहते हैं) इस स्मृति के कारण उक्तश्रुति कलियुग में नहीं मानी जाती क्यौंकि यदि यह श्रुति कलियुग में मानी जाय तो उक्तस्मृति ब्यर्थ ही हो जायगी और कलियुग में उक्तस्मृति के स्वीकार करने पर भी उक्तश्रुति ब्यर्थ नहीं हो सकती क्यौंकि वह अन्ययुगों के लिये चरितार्थ है इस से उक्त-श्रुति और स्मृति दोनों को चरितार्थ करने के लिये यही ब्यवस्था करने के योग्य है कि कलियुग के लिये उक्तश्रुति को नहीं मानना चाहिये । और बृहस्पतिमहर्षि ने यह कहा है कि मनुस्मृति के बिरोध होने की दशा में अन्य कोई स्मृति नहीं प्रमाण होतीं जैसा कि उन का वचन है कि " बेदा-र्थोप० " (सब स्मृतिकारों में मनु प्रधान है क्यौंकि बेदों में उन का स्मृतिकार होना कहा है तथा मनु ने जितनी बातैं अपने धर्मशास्त्र में कहा है उन में से एक भी ऐसी बात नहीं है कि जो बेद का अर्थ नहीं है इस लिये जो कोई स्मृति, मनु के बिरुद्ध हो वह प्रमाण नहीं है) और कल्पतरु ने भी ऐसा ही कहा है । गौतममहर्षि ने यह कहा है कि 'देश जाति' (देशाचार, जात्याचार और कुलाचार तभी प्रमाण हो सकते हैं यदि वे बेद, स्मृति, बा पुराण, से बिरुद्ध न हों) और

आम्नायविरुद्धा न प्रमाणम् किन्तु प्रमाणाभासा वामागमवत् इत्यर्थः ।

स्मृतिरित्यनुवृत्तौ, भविष्यपुराणे—

श्रुत्या सह बिरोधे तु बाध्यते बिषयं बिना ।
ब्यवस्थयाऽबिरोधेन कार्योऽन्यत्र परीक्षकैः ॥

बिषयं बिना कुत्रापि विषयेऽवकाशमन्तरेण यतः स्मृतिर्बाध्यते बाधितार्थिका भवति अतस्तस्या अबिरोधेन ब्यवस्थयाऽबिरोधेन ब्यवस्थायै अन्यत्र बिरुद्धश्रुत्यदर्शनकालादौ बिषयः कार्योऽबाधितार्थकत्वं कल्पनीयमिति कल्पतरुस्वरसः । ब्यवस्थयेति चतुर्थ्यर्थे तृतीया । शवरानुसारिणस्तु बिषयं बिना बिषयबाधाद् बिरुद्धा स्मृतिर्बाध्यतएव । यत्र तु बिषयान्तर-कल्पनं सम्भवति तत्राह ब्यवस्थयेत्यादीत्याहुः । भाट्टास्तु बिरुद्धा स्मृतिर्बिषयं बिना श्रुतिमूलकत्वसन्देहेन प्रामाण्यसन्देहाद्बिषयनिश्चयं बिना बाध्यते तत्प्रतिपाद्यानुष्ठानं बाध्यत इत्याहुः ।

तत्राद्ये पक्षे बाधितार्थस्मृतिकर्तुर्भ्रमप्रमादादिदोषकल्पनादबिरुद्धस्मृत्याचारेष्वप्यना-श्वासप्रसङ्गः । द्वितीये तु स्मृतेः प्रमाणत्वात्तन्मूलकश्रुतेः क्वचित्केनापिपुरुषेणानुपलम्भस्य निष्प्रमाणत्वादनुपसंहरणीयार्थश्रुतिद्वयस्य च ग्रहणाग्रहणवत्सम्भवात् किंनिमित्तमनुष्ठानम् । न च श्रुतिविरुद्धा स्मृतिः किं "अङ्गं बा समभिब्याहारा" दितिवन्न्यायाभासमूला उताष्टकादि-स्मृतिवच्छ्रुतिमूलेत्यप्रामाण्यसंशयात्तदितिवाच्यम् । अबिरुद्धस्मृतिष्वपि तस्यानिबार्यत्वादिति ।

॥ भाषा ॥

यदि बिरुद्ध हों तो बाममार्ग के शास्त्रों के नाईं अप्रमाण हीं हैं । भविष्यपुराण में भी स्मृति के प्रकरण में " श्रुत्या स०" यह वाक्य है जिस का अर्थ कल्पतरु ने यह किया है कि श्रुति के साथ यदि स्मृति का बिरोध हो तो उस के हटाने के लिये परीक्षकों को उस स्मृति का ऐसा अर्थ करना चाहिये जिस से उस का ऐसा बिषय निकले कि जिस में श्रुति का बिरोध न पड़े। और मीमांसादर्शन के भाष्यकार शवरस्वामी के अनुयायी लोग उक्त वाक्य का यह अर्थ करते हैं कि श्रुति के साथ स्मृति के बिरोध होने पर स्मृति का बाध ही होता है अर्थात् उस का बिषय मिथ्या होता है परन्तु जहां कहीं स्मृति के एक बिषय के बाध होने पर भी अन्य बिषय की कल्पना हो सके वहां परीक्षकों को चाहिये कि ब्यवस्था से उस अन्यबिषय में उस स्मृति को प्रमाण कर दें । मीमांसादर्शन के बार्तिक-कार कुमारिलभट्टपाद के अनुयायी लोग तो इस वाक्य का यह अर्थ करते हैं कि श्रुतिबिरोध की दशा में यह सन्देह हो जाता है कि " यह स्मृति, श्रुतिमूलक है बा नहीं ? " और इस सन्देह से यह सन्देह होता है कि " यह स्मृति, प्रमाण है बा नहीं ? " इसी से जब स्मृति के बिषय का निश्चय नहीं होता तब उस में कहे हुये कर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता । यही उस स्मृति का बाध है । इन दो पक्षों में से प्रथमपक्ष में यह दोष है कि ऐसी मिथ्या स्मृति के कर्ता पुरुष में भ्रम प्रमाद आदि दोष की कल्पना अवश्य करनी पड़ैगी तब उस पुरुष के कहे हुए सत्य स्मृतिवाक्य पर भी बिश्वास न होगा । और द्वितीय पक्ष में यह दोष है कि जब श्रुतिबिरुद्ध स्मृति भी अन्य बिषय ले कर प्रमाण होने लगीं तब श्रुतिबिरोध ही कहां रह गया ? और जहां अन्य बिषय की कल्पना नहीं हो सकती वहां भी स्मृति से उस के मूलभूत श्रुति की कल्पना होगी और दोनों श्रुतियों में परस्पर बिरोध होने के कारण पूर्वोक्त षोडशीग्रह के नाईं उन दोनों श्रुतियों में कहे हुये कर्मों के अनुष्ठान में यजमान की इच्छा से बिकल्प हो जायगा ।

अत्र वदन्ति,

अतः स परमो धर्मो यो वेदादवगम्यते ।
अवरः स तु विज्ञेयो यः पुराणादिषु स्मृतः ॥

इति व्यासवचनाद्वेदस्मृत्यवबोधितयोर्धर्मयोरुत्कर्षापकर्षाववगम्यते । तथाच वैदिको धर्मो मुख्यः उत्कृष्टत्वात् स्मार्तोऽनुकल्पः अपकृष्टत्वात् । मुख्यासम्भवे चानुकल्पानुष्ठानात्फलं भवति न तत्सम्भवे ।

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् (मनु अ० ११ श्लो० ३०)

इति मनूक्तेः तथाच श्रुतिविरुद्धार्थानुष्ठाने फलाभाव एव बीजम् नतु अप्रामाण्यसन्देहादि । अविरोधे तु स्मृत्यर्थानुष्ठानादेव फलं तस्या अपि धर्मे प्रमाणत्वात् इति सर्वं सुस्थम् इति । आयुर्वेदादीनां चतसृणां बहिःपरिखाणां प्रामाण्यन्तु विप्रतिपत्त्यविषयत्वाद्धर्मप्रधानत्वाभावाच्च नेह विशेषतो निरूप्यते ।

इति परिखापरिष्कारः ।

इति धर्मप्रमाणप्रामाण्यनिरूपणं पूर्वार्द्धम् ॥

॥ भाषा ॥

यहां पण्डित लोग यह कहते हैं कि " अतःस० " (पूर्वोक्त कारण से मुख्य धर्म वह है कि जो वेद से ज्ञात होता है और जिस धर्म का पुराणादि में स्मरण है उस धर्म को अमुख्य समझना चाहिये) इस व्यासवचन के अनुसार यही सिद्ध होता है कि वैदिक धर्म मुख्य अर्थात् प्रथम कल्प है क्योंकि वेद स्वतन्त्र प्रमाण है और स्मार्त (स्मृति में कहा) धर्म अमुख्य अर्थात् अनुकल्प (मुख्यधर्म के स्थानापन्न अर्थात् उस का प्रतिनिधि है क्योंकि स्मृति, स्वतन्त्रप्रमाण नहीं होती किन्तु वेदमूलक ही होने से प्रमाण होती है) और अनुकल्प के अनुष्ठान से तभी फल हो सकता है जब कि मुख्यकल्प का अनुष्ठान न हो सके । जैसा कि " प्रभुःप्रथम० " (जो पुरुष प्रथमकल्प के कर्म करने में समर्थ होने पर भी अनुकल्प के कर्म को करता है उस दुर्मति (मूर्ख) को परलोक में उस कर्म का फल नहीं मिलता) इस वाक्य में मनु ने कहा है । तात्पर्य यह है कि श्रुति से विरुद्ध काम करने में यही बाधक है कि उस कर्म का फल नहीं होता और यह बाधक नहीं है कि उक्त कर्म के विधान करनेवाली स्मृति पर अप्रमाण होने का सन्देह होता है । और जहाँ श्रुति से विरोध नहीं है वहाँ तो स्मृति में कहे हुए कर्म के अनुष्ठान से फल होता ही है इस रीति के स्वीकार में कोई दोष नहीं पड़ता इति ।

और आयुर्वेदादि चार विद्याओं (जो कि वेददुर्ग की बाह्यपरिखाएं पूर्व में कही जाचुकी हैं) के प्रामाण्य का यहां विशेषरूप से निरूपण दो कारणों से नहीं किया जाता है, एक यह कि उन के प्रामाण्य में विवाद नहीं है तथा दूसरा यह कि यह धर्मग्रन्थ है और उन विद्याओं में धर्म, प्रधान नहीं है किन्तु अर्थ और काम ही प्रधान हैं । यहाँ तक परिखापरिष्कारप्रकरण समाप्त हो चुका ॥

और 'धर्मप्रमाणप्रामाण्यनिरूपण' नामक पूर्वार्द्ध भी समाप्त हुआ ।